पाण्डुलिपि विज्ञान

डॉ. सत्येन्द्र

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

विश्वविद्यालयों द्वारा की जाने वाली शोध और अनुसंधान में जिन विषयों में पांडुलिपि का उपयोग करना पड़ता है, उनके लिये तो यह अनिवार्य विषय है ही, स्वतंत्र रूप से पांडुलिपियों की खोज और अध्ययन करने वालों के लिये भी यह अत्यधिक उपादेय सिद्ध होगा।

इसमें पांडुलिपि विषयक विविध पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रामाणिक सामग्री संजोयी गयी है। ऐसे ग्रन्थ का अभाव बहुत समय से अनुभव किया जा रहा था, जिसकी पूर्ति अब हो रही है। एम. फिल. के छात्रों के लिये भी यह उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ में पहली बार पांडुलिपि विषयक वैज्ञानिक पद्धति का निरूपण हुआ है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

चतुर्थ संस्करण : 2013
(प्रतियाँ 550)

पाण्डुलिपि विज्ञान
ISBN 978-93-5131-027-3

मूल्य : 200.00 रुपये मात्र

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
प्लाट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र
जयपुर- 302 004
दूरभाष : 2711129, 2710341
Website : www.rajhga.com.

लेजर कम्पोजिंग :

जयकॉम कम्प्यूटर्स

मुद्रक :
रावत प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जयपुर

प्रकाशकीय

केन्द्र प्रवर्तित योजना के अन्तर्गत अकादमी लगभग चार दशक से माध्यम परिवर्तन की नीति की पालना कर रही है। इस निमित्त उच्च शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए विज्ञान, तकनीकी, सामाजिक विज्ञान, मानविकी, शिक्षा एवं कृषि आदि विषयों की पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध करवाने का महत्त्वपूर्ण कार्य अकादमी ने किया है। अक्टूबर, 2013 तक अकादमी के द्वारा 586 मौलिक एवं 90 अनूदित पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। इनमें पाठ्यपुस्तकें हैं तो सन्दर्भ ग्रन्थ भी हैं।

राजस्थान के विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में अकादमी द्वारा प्रकाशित 100 से अधिक पुस्तकें अनुशंसित हैं। इसके अलावा मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, हरियाणा एवं दिल्ली सहित हिन्दी भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में अकादमी की अनेक पुस्तकें अनुशंसित हैं।

अकादमी का सदैव प्रयास रहा है कि विद्यार्थियों को सस्ती एवं स्तरीय पुस्तकें उपलब्ध करवायी जा सकें। इसके लिए पूर्व में प्रकाशित पुस्तकों का पुनः मुद्रण करवाने से पहले आवश्यक संशोधन करवाया जाता है। निरन्तर संशोधन, परिवर्द्धन एवं परिष्कार से तैयार करवायी गयी 775 पुस्तकों के संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं।

पाण्डुलिपि विज्ञान की विशद जानकारी देने वाली प्रस्तुत पुस्तक एक सन्दर्भ पुस्तक है जिसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1978 में किया गया था। इस पुस्तक की उपादेयता व महत्ता इससे सिद्ध होती है कि इसका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करते हुए अकादमी स्व. विद्वान लेखक डॉ. सत्येन्द्र का श्रद्धापूर्वक स्मरण करती है।

डॉ. रमेश चन्द वर्मा
निदेशक

नवम्बर, 2013

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

लीजिये यह है पाण्डुलिपि विज्ञान की पुस्तक। आपने "पाण्डुलिपि" तो देखी होगी, उसका भी विज्ञान हो सकता है या होता है, यह बात भी जानने योग्य है।

इस पुस्तक में कुछ यही बताने का प्रयत्न किया गया है कि पाण्डुलिपि विज्ञान क्या है और उसमें किन बातों और विषयों पर विचार किया जाता है? वस्तुत: पाण्डुलिपि के जितने भी अवयव हैं, प्राय: सभी का अलग-अलग एक विज्ञान है और उनमें से कइयों पर अलग-अलग विद्वानों द्वारा लिखा भी गया है, किन्तु पाण्डुलिपि विज्ञान उन सबसे जुड़ा होकर भी अपने आप में एक पूर्ण विज्ञान है, मैंने इसी दृष्टि को आधार बनाकर यह पुस्तक लिखी है। कहीं-कहीं पाण्डुलिपि के अवयवों में आलंकारिकता और चित्र-सज्जा का उल्लेख पाण्डुलिपि निर्माण के उपयोगी कला-तत्त्वों के रूप में भी हुआ है।

पर, यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि पाण्डुलिपि मूलत: कलात्मक भावना से व्याप्त रहती है। पहले तो उपयोगी कलात्मकता का स्पर्श उसमें रहता है। लिप्यासन सुन्दर हो, जिस पर साफ-साफ लिखा जा सके। लेखनी अच्छी हो, स्याही भी मन को भाने वाली हो, और लिखावट ऐसी हो कि आसानी से पढ़ी जा सके। यह भी दृष्टि रहती है कि लिखावट को देखकर उसे पढ़ने का मन करने लगे। कई रंगों की स्याहियों का उपयोग पहले तो अभिप्राय या प्रयोजन भेद के आधार पर किया जाता है; जैसे—पुष्पिका, छंद नाम, अंतरंग शीर्षक, आदि मूल पाठ से भिन्न बताने के लिए लाल स्याही से लिखे जाते हैं। किन्तु यह उपयोगी सहज सुन्दरता तो पुस्तक या पाण्डुलिपि की सामान्यत: उसकी ग्राहकता बढ़ाने के लिए ही होती है।

पर, पाण्डुलिपि पूरी उत्कृष्ट कला की कृति हो सकती है, और यह भी हो सकता है कि उसमें विविध अवयवों में ही कलात्मकता हो।

सम्पूर्ण कृति की कलात्मकता में उत्कृष्टता के लिए लिप्यासन भी उत्कृष्ट होना चाहिए, यथा बहुत सुन्दर बना हुआ सांचीपात हो सकता है। हाथीदांत हो सकता है।[1] उस पर कितने ही रंगों से बना हुआ आकर्षक हाशिया हो सकता है, उस पर बढ़िया पक्की स्याही या स्याहियों में, कई पार्टों में मोहक लिखावट की गयी हो, प्रत्येक अक्षर सुडौल हो। पुष्पिकाएँ भिन्न रंग की स्याही में लिखी गयी हों। मांगलिक चिह्न या शब्द भी मोहक हों। ऐसी कृति सर्वांग सुन्दर होती है, ऐसी पुस्तक तैयार करने में बहुत समय और परिश्रम करना पड़ता है।

---

1. अलवर के संग्रहालय में 'हक्त बन्दे काशी' श्री ए.एम. उस्मानी साहब ने बताया है कि "यह किताब भी नादेरात का अजीब नमूना है। हाथीदाँत में वरक तैयार करके उन पर नेहायत रोशन काली सियाही से उम्दा नसतालिक में लिखा गया है। हुरूफ की नोक पलक बहुत उमदा है।— इस पर सोने का काम सोने में सुहागा है। बहुत वारीक और काविले दीद गुलकारी है।" ('दि रिसर्चर' पृ. 37)।

कृतिकार या लिपिकार की कला का प्रथम उत्कृष्ट प्रयोग हमें लिखावट में मिलता है।

लिखावट को तरह-तरह से सुन्दर बनाने से लिपि के विकास में अन्य कारणों के साथ एक कारण उसे सुन्दर बनाने के प्रयत्न से भी सम्बन्धित है। किन्तु लिपि-लेखन अपने आप में एक कला का रूप ले लेता है। फारस में इस कला का विशेष विकास हुआ है। वहाँ से भारत में भी इसका प्रभाव आया और फारसी लिपि में तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ। भारत में अक्षरों के आलंकारिक रूप में लिखने का चलन कम नहीं रहा। हमने कितने ही अक्षरों के आलंकारिक रूप, आगे पुस्तक में दिये हैं।

लेखन/लिखावट में सुन्दरता या कलात्मकता के समावेश से ग्रन्थ का मूल्य बढ़ जाता है। लिपि के कलात्मक हो जाने पर समस्त ग्रन्थ ही कलाकृति का रूप ले लेता हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' का यह उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है— "Not only so, but Skilled Scribes have devoted infinite time to Copying in luxurious Style the Compositions of famous Persian poets and their manuscripts are in themselves works of art."

अनन्त समय लगाकर धैर्य और लेखन कौशल से लिपि में सौन्दर्य निरूपित करके समस्त कृति/ग्रन्थ को ही एक कलाकृति बना देते हैं।

लिपि में विविध प्रकार की कलात्मकता और आलंकारिकता लाकर ग्रन्थ की सुन्दरता के साथ मूल्य में भी वृद्धि की जाती है। सोने-चाँदी की स्याही से भी ग्रन्थ की सुन्दरता में चार-चाँद लग जाते हैं।

इन कलात्मकता लाने वाले लिप्यासन, लिपि और स्याही—आदि जैसे उपकरणों के बाद ग्रन्थ के मूल्यवर्द्धन में सर्वाधिक महत्त्व चित्रकला के योगदान का होता है।

ग्रन्थों में चित्रांकन का एक प्रकार तो केवल सजावट का होता है। विविध ज्यामितिक आकृतियाँ, विविध प्रकार की लता-पताएँ, विविध प्रकार के फल-फूल और पशु-पक्षी, आदि से पुस्तक को लिपिकार और चित्रकार सजाते हैं।

ग्रन्थ चित्रांकन का दूसरा प्रकार होता है। वस्तु को, विशेषत: कथा-वस्तु को हृदयंगम कराने के लिए रेखाओं से बनाये हुए चित्र या रेखा-चित्र।

यह रेखा-चित्र आगे अधिकाधिक कलात्मक होते जाते हैं। इसकी अति हमें वहाँ मिलती है, जहाँ ग्रन्थ चित्राधार बन जाता है और उसका काव्य मात्र आधार बनकर रह जाता है। उत्कृष्ट कलाकार की उत्कृष्ट कलाकृति बन जाता है, यह ग्रन्थ और कवि पीछे छूट जाता है। ऐसी कृतियों का मूल्य क्या हो सकता है। जयपुर के महाराजा के निजी पोथीखाने में एक 'गीतगोविन्द' की सचित्र प्रति थी। बताया जाता है कि इसके पृष्ठ 10 इंच लम्बे और 8 इंच चौड़े थे। कुल 210 चित्र-युक्त पृष्ठ थे। यह भी बताया जाता है कि एक अमरीकी महिला इसे 6 करोड़ रुपये में खरीदने को तैयार थी। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर चित्र थे। ये चित्र विविध रंगों में अत्यन्त कलात्मक थे। इन्हीं कें कारण 'गीत गोविन्द' की इस प्रति का मूल्य इतना बढ़ गया था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पाण्डुलिपि प्रथमत: कलाकृति होती है। कलात्मक काव्य के साथ सुन्दर लिप्यासन, कलात्मक लिपि-लेखन, कलात्मक पृष्ठ-सज्जा और कलात्मक चित्र-विधान से इनके अपने मूल्य के साथ पाण्डुलिपि का भी मूल्य घटता-बढ़ता है।

इस कलात्मकता के साथ भी पाण्डुलिपि विज्ञान का हमने इस पुस्तक में निरूपित किया है।

पर मुझे लगता है कि यह पुस्तक पाण्डुलिपि-विज्ञान की भूमिका ही हो सकती है, इसके द्वारा पाण्डुलिपि-विज्ञान की नींव रखी जा रही है।

पाण्डुलिपि का रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा। पाण्डुलिपि-विज्ञान की समस्त सम्भावनाओं को दृष्टि में रख कर अपनी भूमि प्रस्तुत करनी होगी। पाण्डुलिपि सावयव इकाई है और प्रत्येक अवयव घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बद्ध है, किन्तु विकास-क्रम में इनमें से प्रत्येक में परिवर्तन की सम्भावनाएँ हैं। विकास-यात्रा में इकाई के किसी भी अवयव में परिवर्तन आने पर पाण्डुलिपि के रूप में भी परिवर्तन आयोगा तद्नुकूल ही उसकी वैज्ञानिक समीक्षा में भी और विज्ञान के द्वारा उन्हें ग्रहण करने में भी।

पाण्डुलिपि के प्रत्येक अवयव से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान और अनुसन्धान का अपना-अपना इतिहास है। प्रत्येक के विकास के अपने सिद्धान्त हैं। इन अवयवों की अलग सत्ता भी है पर ये पाण्डुलिपि-निर्माण में जब संयुक्त होते हैं तो बाहर से भी प्रभावित होते हैं और संयुक्त समुच्चय की स्थिति में पाण्डुलिपि से भी प्रभावित होते हैं, उनसे पाण्डुलिपि भी प्रभावित होती है। यह सब-कुछ प्रकृत नियमों से ही होता है। हाँ, उसमें मानव-प्रतिभा का योगदान भी कम नहीं होता। पाण्डुलिपि-विज्ञान में इन सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को भी देखना होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पाण्डुलिपि-विज्ञान का क्षेत्र बहुत विशद् है, बहुत विविधतापूर्ण है और विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों पर आश्रित है। भला मुझ जैसा अल्प-ज्ञान वाला व्यक्ति ऐसे विषय के प्रति क्या न्याय कर सकता है!

पर पाण्डुलिपियों की खोज में मुझे कुछ रुचि रही है जो इस बात से विदित होती है कि मेरा प्रथम लेख जो कृष्णकवि के "विदुरप्रजागर" पर था और "माधुरी" में सम्भवत: 1924 ई. में किसी अंक में प्रकाशित हुआ था, एक पाण्डुलिपि के आधार पर लिखा गया था। फिर श्री महेन्द्र जी (अब स्वर्गीय) ने मुझे सन् 1926 के लगभग से नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का अधिकारी नियुक्त कर दिया। इससे पाण्डुलिपियों और अनुसंधान में रुचि बढ़नी ही चाहिए थी। इसी सभा के पाण्डुलिपि-विभाग का प्रबन्धक भी मुझे रहना पड़ा। मथुरा के पं. गोपाल प्रसाद व्यास (आज के लब्धप्रतिष्ठित हास्यरस के महाकवि, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री तथा पद्मश्री से विभूषित एवं हिन्दी हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग के यशस्वी सदस्य) हस्तलेखों की खोज के खोजकर्ता नियुक्त किये गये। वहीं मथुरा में श्री त्रिवेदी (अब स्वर्गीय) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करने आये। मुझसे उन्हें स्नेह था,

वे मेरे पास ही ठहरे। इस प्रकार कुछ समय तक प्राय: प्रतिदिन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर बातें होतीं। इन सभी बातों से यह स्वाभाविक ही था कि हस्तलिखित ग्रन्थों और उनकी खोज में मेरी रुचि बढ़ती। उधर ब्रज-साहित्य-मण्डल की मथुरा में स्थापना हुई। उसके लिए भी हस्तलेखों में रुचि लेनी पड़ी। जब मैं क. मु. हिन्दी विद्यापीठ में था तो वहाँ भी हस्तलेखों का संग्रहालय स्थापित किया गया। यहाँ अनुसन्धान पर होने वाली संगोष्ठी में हस्तलेखों के अनुसन्धान पर वैज्ञानिक चर्चाएँ करनी और करानी पड़ी। पं. उदयशंकर शास्त्री ने विद्यापीठ का हस्त-लेखागार सम्भाला। वे भी इस विषय में निष्णात् थे। उनसे भी सहायता मैंने ली। सूरसागर के सम्पादन और पाठालोचन के लिए एक वृहद् सेमीनार का आयोजन भी मुझे ब्रज-साहित्य-मण्डल के लिए करना पड़ा था। इन सभी के परिणामस्वरूप मेरी रुचि पाण्डुलिपियों में बढ़ी और पाण्डुलिपियों की खोज की दिशा में भी कुछ कार्य किया।

पर इनसे मेरी पाण्डुलिपि-विज्ञान की पुस्तक लिखने की योग्यता सिद्ध नहीं होती। अत: यह मेरी अनाधिकार चेष्टा ही मानी जायेगी। हाँ, मुझे इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस इसी भावना से हुआ कि इससे एक अभाव की पूर्ति तो हो ही सकती है। इससे इस बात की सम्भावना बढ़ सकेगी कि आगे कोई यथार्थ अधिकारी इस पर और अधिक परिपक्व और प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकेगा।

जो भी हो, आज तो यह पुस्तक आपको समर्पित है और इस मान्यता के साथ समर्पित है कि यह पाण्डुलिपि-विज्ञान की पुस्तक है। डॉ. हीरालाल माहेश्वरी एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्. ने मेरे आग्रह पर अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर कुछ उपयोगी टिप्पणियाँ हस्तलेखों पर तैयार करके दीं। इन्होंने शतश: हस्तलेखों का उपयोग अपने अनुसन्धान में किया है। कठिन यात्राएँ करके कठिन व्यक्तियों से पाण्डुलिपियों को प्राप्त किया है और उनका अध्ययन किया है। इसी प्रकार श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने भी कुछ टिप्पणियाँ हमें दीं। ये बहुत वर्षों तक राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान से सम्बन्धित रहे, वहाँ से सेवा-निवृत्त होने पर जयपुर के सिटी-पैलेस के 'पोथीखाने' और संग्रहालय में हस्तलिखित ग्रन्थों के विभाग से सम्बन्धित हो गये, इस समय भी वहीं हैं। इनको हस्तलेखों का दीर्घकालीन अनुभव है। और सोने में सुगंध की बात यह है कि प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान में इन्हें विद्वद्वर मुनि जिन विजय जी (अब स्वर्गीय) के साथ भी काम करने का अच्छा अवसर मिला। हमारे आग्रह पर इन्होंने भी हमें इस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ लिखकर दीं। इनकी इस सामग्री का यथासम्भव हमने पूरा उपयोग किया है और उसे इन विद्वानों के नाम से यथास्थान इस पुस्तक में समायोजित किया है। इनके इस सहयोग के लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वहाँ तक मैं समझता हूँ कि ''पाण्डुलिपि-विज्ञान'' पर यह पहली ही पुस्तक है। गुजराती की मुनि पुण्य-विजय की लिखी पुस्तक ''भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला'' में पाण्डुलिपि-विषयक कुछ विषयों पर अच्छी ज्ञातव्य सामग्री बहुत ही श्रम, अध्यवसाय और सूझ-बूझ के साथ संजोयी गयी है, पर इसमें दृष्टि सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करने की रही है। उनकी इस पुस्तक को जैन लेखन-कला और संस्कृति विषय का लघु विश्वकोष माना जा सकता है। इससे भी हमें बहुत-सी उपयोगी ज्ञान-सामग्री मिलती है। मुनि पुण्यविजय जी भी प्रसिद्ध

पाण्डुलिपि शोध-कर्ता हैं और इस विषय के प्रामाणिक विद्वान हैं। उनके चरणों में मैं अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

किन्तु इस क्षेत्र में सबसे पहले जिस महामनीषी का नाम लिया जाना चाहिए वह है "भारतीय प्राचीन लिपि माला" के यशस्वी लेखक महा महोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी हिन्दी के अनन्य सेवक और हिन्दी व्रती थे। "भारतीय प्राचीन लिपि माला" जैसी अद्वितीय कृति उन्होंने दबावों और आग्रहों की चिन्ता न करके अपने व्रत के अनुसार हिन्दी में ही लिखी, और भारतीय विद्वानों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। उनका यह ग्रन्थ तो पाण्डुलिपि-विज्ञान का मूलतः आधार ग्रन्थ ही है। मैंने ब्राह्मी लिपि का पहला पाठ उनकी इसी पुस्तक से सीखा था। मैं तो उनके दिव्य चरणों में श्रद्धा से पूर्णतः समर्पित हूँ। वे और उनके ग्रन्थ तो अब भी प्रेरणा के अखंड स्रोत हैं। उनसे भी बहुत-कुछ इस ग्रन्थ में लिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे ही अनेक हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं के विद्वानों के ग्रन्थों से लाभ उठाया गया है और यथास्थान उनका नामोल्लेख भी किया गया है। इन सबके समक्ष मैं श्रद्धापूर्वक विनत हूँ। इन सभी विद्वानों के चरणों में मैं एक विद्यार्थी की भाँति नमन करता हूँ और उनके आशीर्वाद की याचना करता हूँ। उनके ग्रन्थों की सहायता के बिना यह पुस्तक नहीं लिखी जा सकती थी और पाण्डुलिपि-विज्ञान का बीज वपन नहीं हो सकता था।

इस पुस्तक की तैयारी में सबसे अधिक सहायता मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अनुसन्धान अधिकारी प्रवक्ता, डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ से मिली है। उनकी सहायता के बिना यह ग्रन्थ लिखा जा सकता था, इसमें मुझे सन्देह है। इसका एक-एक पृष्ठ उनका ऋणी है।

इस पुस्तक का एक छोटा-सा इतिहास है। जब केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय और शब्दावली-आयोग ने साहित्य और भाषा की विषय-नामिकाएँ बनाईं तो उनमें मुझे भी एक सदस्य नामांकित किया गया। इन्हीं विषय-नामिकाओं में जब यह निर्धारित किया गया कि किन-किन ग्रन्थों का मौलिक लेखन कराया जाय, तब "पाण्डुलिपि-विज्ञान" को भी उसी सूची में सम्मिलित किया गया। इसका लेखन कार्य मुझे सौंपा गया।

जब मैं राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर आ गया और कुछ वर्ष बाद राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना हुई तो इस अकादमी के 'साहित्यालोचन' और 'भाषा' की विषय-नामिका का एक सदस्य केन्द्र की ओर से मुझे भी बनाया गया। साथ ही उक्त ग्रन्थ भी लिखवाने और प्रकाशन के लिए राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को दे दिया गया। दिसम्बर, 73 तक इस विषय पर विशेष कार्य नहीं हुआ। 74 के आरम्भ से कुछ कार्य आरम्भ हुआ। 5 मार्च, 74 को ग्रन्थ अकादमी के निदेशक पद से निवृत्त होकर मैं इस ग्रन्थ के लिखने में पूरी तरह प्रवृत्त हो गया। इसी का परिणाम यह ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की रचना में राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। राजस्थान-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी के पुस्तकालय का भी उपयोग किया गया है।

पं. कृपाशंकर तिवारी जी के एक लेख को अपनी तरह से इसमें मैंने सम्मिलित कर लिया है। पं. उदयशंकर शास्त्री जी के एक चार्ट को भी ले लिया गया है। इन सबका यथास्थान उल्लेख है।

जिन विषयों की चर्चा की गयी है, उनके विशेषज्ञों के ग्रन्थों से तद्विषयक वैज्ञानिक प्रक्रिया बताने या विश्लेषण-पद्धति समझाने के लिए आवश्यक सामग्री उद्धृत की गयी है और यथास्थान उनका विश्लेषण भी किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक चरण को प्रामाणिक बनाने का यत्न किया गया है। इन सभी विद्वानों के प्रति मैं नतमस्तक हूँ। यदि ग्रन्थ में कुछ प्रामाणिकता है तो वह उन्हीं के कारण है।

इन प्रयत्नों के किये जाने पर भी हो सकता है कि यह भानुमती का कुनबा होकर रह गया हो, पर मुझे लगता है कि इसमें पाण्डुलिपि-विज्ञान का सूत्र भी अवश्य है।

पाण्डुलिपि-विज्ञान का अध्ययन विश्वविद्यालय के स्तर के विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए उपयोगी होता है। प्रत्येक शोध-संगोष्ठी में पाण्डुलिपि विषयक चर्चा किसी न किसी रूप में अवश्य होती है, पर सम्यक वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में सतही ही रह जाती है। इतिहास, साहित्य, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिनमें किसी न किसी दृष्टि से पाण्डुलिपियों का उपयोग करना पड़ जाता है। साहित्य के अनुसन्धानकर्ता का काम तो पाण्डुलिपियों के बिना चल ही नहीं सकता। विश्वविद्यालयों में अब पी-एच.डी. से पूर्व एम.फिल. के अध्ययन-अध्यापन का और विधान किया गया है। इसमें पी-एच.डी. के लिए परिपक्व अनुसन्धान की योग्यता प्रदान कराने की व्यवस्था है। इस उपाधि के लिए पाण्डुलिपि-बिज्ञान का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ, अन्यथा एम.फिल. की उपाधि से वह लाभ नहीं मिल सकेगा जो अभीष्ट है। अनुसन्धान की प्रक्रिया का ऐसे अध्ययन में अपना महत्त्व है पर अनुसन्धान-प्रक्रिया के अन्तर्गत विविध विज्ञानों की सहायता अपेक्षित होती है और यह पाण्डुलिपि-विज्ञान ऐसा ही एक विज्ञान है। अतः इस पुस्तक की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

यों भी यह विषय अपने-आप में रोचक है, अतः मैं आशा करता हूँ कि इसका हिन्दी-जगत में स्वागत किया जायेगा।

—सत्येन्द्र

विषय-सूची

❑❑❑

1

पाण्डुलिपि-विज्ञान और उसकी सीमाएँ

नाम की समस्या

इस विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा लिपिबद्ध की गई सामग्री से है। मनुष्य ने कितनी ही सहस्राब्दियों पूर्व लेखन-कला का आविष्कार किया था। तब से अब तक लिपिबद्ध सामग्री अनेक रूपों में मिलती है। अत: यहाँ लेखन से भी कई अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। आधुनिक युग में जिस तरह से हाथ से, लेखनी के द्वारा कागज पर लिखा जाता है उसी प्रकार मनुष्य की सभ्यता के आरम्भ और विकास की अवस्थाओं में यह लेखनक्रिया ईंट पर, पत्थरों पर, शिलालेखों के रूप में या टंकण द्वारा की जाती रही। मोम-पाटी पर या चमड़े पर भी लिखा गया। ताड़पत्र पर नुकीली लेखनी से गोदन द्वारा यह कार्य किया गया और कपड़ों पर छापों द्वारा, भोजपत्र पर लेखनी के द्वारा, ताम्रपत्र तथा अन्य धातु पत्रों पर टंकण द्वारा या ढालकर या छापों द्वारा अपने विचारों को अंकित किया गया है। अत: इस विज्ञान को इन सभी प्रकार के लेखों का अपनी सामग्री के रूप में उपयोग करना होगा। इन सभी को हम लेख तो आसानी से कह सकते हैं क्योंकि विविध रूपों में लिपिबद्ध होने पर भी लिखने का भाव इनके साथ बना हुआ है। मुहावरों में भी टंकण द्वारा लेखन, गोदन द्वारा लेखन, आदि प्रयोग आते हैं। इतिहासकारों ने भी अपने अनुसन्धानों में इनको अभिलेख, शिलालेख, ताम्रपत्र लेख आदि का नाम दिया है। इन्हें जो लेख भी मिले हैं उन्हें, वासुदेव उपाध्याय ने धार्मिक लेख, 'प्रशंसामय-अभिलेख, स्मारक-लेख, आज्ञापत्र एवं दान-पत्र' के रूपों में प्रस्तुत किया गया बताया है। मुद्राओं पर भी अभिलेख अंकित माने जाते हैं। इन अभिलेखों से आगे पुस्तक-लेखन आता है तो इसका एक अलग वर्ग बन जाता है। वस्तुत: यही वर्ग संकुचित अर्थ में इस पाण्डुलिपि-विज्ञान का यथार्थ क्षेत्र है। अंग्रेजी में इन्हें 'मैन्युस्क्रिप्ट्स' कहते हैं। 'मैन्युस्क्रिप्ट' शब्द को हस्तलेख नाम भी दिया जाता है और पाण्डुलिपि भी। रूढ़ अर्थ में पाण्डुलिपि का उपयोग हाथ की लिखी पुस्तक के उस रूप को दिया जाने लगा है जो प्रेस में मुद्रित होने के लिए देने की दृष्टि से अन्तिम रूप से तैयार हो।[1] फिर भी, इसका

---

1. पं. उदयशंकर शास्त्री ने पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में यह लिखा है कि आजकल हस्तलिखित ग्रन्थों को पाण्डुलिपि कहा जाने लगा है। किन्तु प्राचीन काल में पाण्डुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था जिसके प्रारूप (मसविदा) को पहले लकड़ी के पट्टे या जमीन पर खड़िया (पाण्डु) (चाक) से लिखा जाता था फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिन्दी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को 'मैन्युस्क्रिप्ट' कहते हैं। —[भारतीय साहित्य, जनवरी, 1959, पृ. 120]

निश्चित अर्थ वही है जो हस्तलेख का हो सकता है। हस्तलेख का अर्थ पाण्डुलिपि से अधिक विस्तृत माना जा सकता है क्योंकि उसमें शिलालेख तथा ताम्रपत्र आदि का भी समावेश माना जाता है किन्तु पाण्डुलिपि का सम्बन्ध ग्रन्थ से ही होता है। आज मैन्युस्क्रिप्ट के पर्याय के रूप में 'हस्तलेख' और 'पाण्डुलिपि' दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। हस्तलेख से हस्तरेखाओं का भ्रम हो सकता है। इस दृष्टि से 'मैन्युस्क्रिप्ट' के लिए पाण्डुलिपि शब्द कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है इसलिए हमने इसी शब्द को मान्यता दी है।

अंग्रेजी के विश्वकोषों में 'मैन्युस्क्रिप्ट' का क्षेत्र काफी विशद माना गया है।[1] फलत: आज 'मैन्युस्क्रिप्ट' या 'पाण्डुलिपि' का यही विस्तृत अर्थ लिया जाता है। यही अर्थ इस ग्रन्थ में भी ग्रहण किया गया है।

पाण्डुलिपि विज्ञान क्या है?

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था के वन्य-स्वरूप को पार करके इतिहास और संस्कृति का निर्माण करता हुआ, लाखों वर्षों की जीवन-यात्रा सम्पन्न कर चुका है। वह अपनी इस यात्रा में चरण-चिह्न छोड़ता आया है। इन चिह्नों में से कुछ आदिम अवस्था में गुफाओं में निवास के स्मारक गुहा-चित्र हैं जो 30,00,00 वर्ष ई.पू. से मिलते हैं। इन चिह्नों में इनके

---

1. न्यू यूनिवर्सल ऐनसाइक्लोपीडिया भाग 10 में बताया गया है कि मैन्युस्क्रिप्ट लैटिन के (Manu Scriptus) मनु + स्क्रिप्ट्स से उत्पन्न है। इसका अर्थ होता है हाथ की लिखावट। विशद अर्थ में कोई भी ऐसा लेख जो छपा हुआ नहीं है इसके अन्तर्गत आयेगा। संकुचित अर्थ में छपाई का प्रयत्न होने से पूर्व जो सामग्री पेपीरस, पार्चमेण्ट अथवा कागज पर लिखी गई वही 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही गई। ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना के अनुसार छापेखाने की छपाई आरम्भ होने से पूर्व का समस्त साहित्य 'मैन्युस्क्रिप्ट' के रूप में ही था। इसके अनुसार वह समस्त सामग्री 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही जायेगी जो किसी भी रूप में लिखी गई हो, चाहे वह कागज पर लिखी हो अथवा किसी अन्य वस्तु पर, जैसे धातु, पत्थर, लकड़ी, मिट्टी, कपड़े, वृक्ष की छाल, वृक्ष के पत्ते अथवा चमड़े पर।

In Archaeology a manuscript is any early wirting on stone, metal, wood, clay, linen, bark and leaves of tress and prepared skins of animals, such as goats, sheep and calves.— The American People's Encyclopaedia, p. 175.

विद्वानों का यह अभिमत है कि खोज में जो सामग्री अब तक मिली है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि पहले लेखन-कार्य आदिम मानवों की चित्रकला की भाँति गुफाओं की भित्तियों पर या शिलाश्रयों की भित्तियों पर हुआ होगा। तब पत्थरों या ढोकों का उपयोग किया गया होगा। तदनन्तर मिट्टी (Clay) की ईंटों पर। ईंटों के बाद पेपीरस का आविष्कार हुआ होगा। पेपीरस के खरड़ों (Rolls) पर ग्रन्थ रहता था। इसी के साथ-साथ लिखने, मिटाने और फिर लिखने की सुविधा की दृष्टि से लकड़ी की पाटी या पट्टी काम में ली जाने लगी। पश्चिम में मोम की पाटी का उपयोग मिलता है। आगे के विकास में यह मोम पाटी आवरण पटल का रूप लेने लगी। 'पेपीरस' के रौल्स या खरीते वलयिताएँ या कुण्डलियाँ बहुत लम्बे होते थे। ये असुविधाजनक लगे तो इन्हें दुहरा तिहरा कर पृष्ठ या पन्ने का रूप दिया गया और मोमपाटी के आवरण पटल इन पृष्ठों के रक्षक बन गये। ये ऊपर और नीचे के दोनों पटल एक ओर तार से गूंथे जाते थे। बाद में लिप्यासन के लिए पेपीरस के स्थान पर पार्चमेण्ट (चर्मपत्र) काम में आने लगा तो पार्चमेण्ट या चर्म-पत्र ग्रन्थ के पृष्ठों की भाँति और मोमपाटी या लकड़ी की पट्टियाँ आवरण पटल की भाँति उपयोग में आने लगे। इनको कोडैक्स (Codex) कहा जाता है। आधुनिक जिल्द-बन्द ग्रन्थों के पूर्वज ये 'कोडैक्स' ही हैं। ऐसा माना जाता है कि पार्चमेण्ट (चर्मपत्र) का उपयोग लिप्यासन के लिए प्रथम ई. शती से होने लगा था। इनका कोडैक्सी रूप में प्रचार ईसा की चौथी शताब्दी से विशेष रूप से हुआ। ये सभी पाण्डुलिपि के भेद हैं, जिन्हें विकास-क्रम से यहाँ बताया गया है।

अतिरिक्त भवनों के खंडहर हैं, विशाल समाधियाँ हैं, देवस्थान हैं; अन्य उपकरण जैसे बर्तन, मृद्भांड, मुद्राएँ एवं मृण्मूर्तियाँ हैं, ईंटें हैं तथा अस्त्र-शस्त्र हैं। इनके साथ ही साथ शिलालेख हैं, ताम्रपट्ट हैं, भित्तिचित्र हैं। इन सबके द्वारा और सब में से उस प्रागैतिहासिक मनुष्य का रूप ऐतिहासिक काल की भूमिका से उभरता है, जो प्रगति पथ की ओर चलता ही जा रहा है। उसके संघर्ष के अवशेष इतिहास के काल-क्रम में दबे मिल जाते हैं। उनसे मनुष्य की संघर्ष कथा का बाह्य साक्ष्य मिलता है। इन बाह्य साक्षियों के प्रमाण से हम उसके अंतरंग तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक ऐसे आदिम उपादानों के साथ सहस्राब्दियों का मानवीय इतिहास जुड़ा हुआ है। इन अवशेषों के माध्यम से इतिहासकार उन प्राचीन सहस्राब्दियों का साक्षात्कार कल्पना के सहारे करता है। उन्हीं के आधार पर वह प्राचीन मानव के मन एवं मस्तिष्क, विचारों और आस्थाओं के सूत्र तैयार करता है।

उदाहरणार्थ—अल्टामीरा[1] की गुफाओं में दूर भीतर और अंधेरे में कुछ चित्र बने मिले। मनुष्य ने अभी भवन या झोंपड़ी बनाना नहीं सीखा, अतः वह प्राकृतिक पहाड़ियों या गुफाओं में शरण लेता था। गुफाओं में भीतर की ओर उसने एक अंधेरा स्थान चुना यानी उसने निभृत स्थान, एकान्त स्थान चुना क्योंकि वह चाहता था कि वहाँ वह जो कुछ करना चाहे, वह सबकी दृष्टि में न आवे। उसका वह स्थान ऐसा है, कि जहाँ उसके अन्य साथी भी यों ही नहीं आ सकते। स्पष्ट है कि वह यहाँ पर कोई गुह्य कृत्य करना चाहता था।

चित्र—यहाँ उसने चित्र बनाये। अवश्य ही वह इस समय तक कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न करना जान गया था, उसी प्रकाश में वह चित्र बना सका, अन्यथा वह चित्र न बना पाता। साथ ही गुह्य स्थान पर जो चित्र उसने बनाये वे चित्र सोद्देश्य हैं। इसका उद्देश्य टौना हो सकता है। वह टोने में अवश्य विश्वास करता था। उसी टोने के करने लिए तथा तद्विषयक अनुष्ठानों के लिए एकान्त अन्धकार पूर्ण गुह्य अंश उस गुफा में उसने चुना, और वहाँ वे चित्र बनाये।[2] इन चित्रों के माध्यम से टोने के द्वारा अपना अभीष्ट प्राप्त करना चाहता था। प्रागैतिहासिक काल के लोग टोने में विश्वास करते थे। उनके लिए टोना धर्म का ही एक रूप था ऐसा कुछ कहा गया है उससे भी और अधिक कहा जा सकता था—पर यह सब कुछ बाह्य साक्ष्य से मानस के अंतरंग तक पहुँचाने के उपक्रम में कल्पना के उपयोग से सम्भव होता। उदाहरणार्थ—सामने चित्र है। पुरातत्त्वविद् उसे देख रहा है। चित्र, उसकी भूमि, उसका स्थान-स्थान का स्वरूप और स्थिति, वहाँ उपलब्ध कुछ उपादान, गुफाओं

---

1. Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the Art of some of the most-primitive of men known to the anthropologist (from 30,000 to 10,000 B.C)........but the famous cave drawings of animals at Altamira in Spain are the most important. —**The Meaning of Art, p. 53.**
2. There is evidence to show that painting have been often repainted and that the places where they are found were in some way regarded as sacred by the Bushmen

   —**The Meaning of Art, p. 54.**

   'By the symbolical representation of an event, primitive man thinks he can secure the actual occurence of that event. The desire for progeny, for the death of an enemy, for survival after death, or for the exorcism or propitiation of adequate symbol. (यही टोना है।)

   —**Read, Herbert : The Meaning of Art, p. 57.**

का काल—ये सब पुरातत्त्वविद् की कल्पना दृष्टि के लिए एक भाषा हैं जिनसे वह आदिम युग के मनुष्य के मानव को पढ़कर निरूपित कर पाता है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास में यह आदिम मनुष्य ऐसे मोड़ पर पहुँचाता है कि वह एक ओर तो चित्र से लिपि की दिशा में बढ़ता है, दूसरी ओर 'भाषा' का विकास कर लेता है। तब वह अपने विचारों को इस प्रकार लिख सकता है कि पढ़ने वाला जैसे स्वयं लिखने वाले के समक्ष खड़ा होकर लिपि की लकीरों से लेखक के मानस का साक्षात्कार कर रहा हो। अब सामान्यत: अपनी कल्पना से उसे लेखक के मानस का निर्माण नहीं करना, जैसे गुफा-निवासी के मानस का किया गया; वह मानस तो लेख से लेखक ने ही खड़ा कर दिया है। इस लेखन के अनेक रूप हो सकते हैं, अनेक लिपियाँ हो सकती हैं, अनेक भाषाएँ हो सकती हैं। पर सबमें मनुष्य का मानस-व्यापार, उसके भाव-विचार, उसने जो देखा-समझा उसका विवरण होता है। वस्तुत: लेख में ही मनुष्य का साक्षात् मानस प्रतिबिंबित मिलता है। ये सभी, चित्र से लेकर लिपि-लेखन तक, पाण्डुलिपि के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

'लेखन' एक जटिल व्यापार है। इसमें एक तत्त्व तो लेखक है, जिसके अन्तर्गत उसका व्यक्तित्व, उसका मनोविज्ञान और अभिव्यक्ति के लिए उसका उत्साह, अभिप्राय और प्रयत्न—शरीर, हृदय और मस्तिष्क—इन सबसे धनी एक इकाई—सभी सम्मिलित हैं; उसके अन्य तत्त्व लेखनी, लिखने के लिए पट या कागज, स्याही आदि हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना इतिहास है, सबके निर्माण की कला है, और सबको समझने का एक विज्ञान भी है। लिपिक अपना अलग महत्त्व रखता है। लेखक जब ग्रन्थ-रचना करता है, तब वह अपना लिपिक भी होता है क्योंकि वह स्वयं लिखकर ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। लेखक के अपने हाथ में लिखे ग्रन्थ का अपने आप में ऐतिहासिक महत्त्व है। ग्रन्थ-रचयिता कितना ही विद्वान और पंडित हो, जब ग्रन्थ रचना करता है, अपने विचारों और विषयों को लिपिबद्ध करता है तो कितनी ही समस्याओं को जन्म देता है। ये प्राय: वे ही समस्याएँ होती हैं, जो सामान्य लिपिकार पैदा करता जाता है। और ऐसी अनेक प्रकार की समस्याओं के लिए पाण्डुलिपि-विज्ञान की अपेक्षा है।

हमने यह देखा कि पाण्डुलिपि से सम्बन्धित कई पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक पक्ष ग्रन्थ के लेखन और रचना विषयक हो सकता है। यह ग्रन्थ-लेखन की कला का विषय बन सकता है। दूसरा पक्ष, उसकी लिपि से सम्बन्धित हो सकता है, यह 'लिपि विज्ञान' का विषय है। 'लिपिकार' सम्बन्धी पक्ष भी कम महत्त्व का नहीं। तीसरा पक्ष, भाषा-विषयक है जो भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र की वस्तु है। चौथा पक्ष, उस ग्रन्थ में की गई चर्चा के सम्बन्ध में हो सकता है, उसमें ज्ञान-विज्ञान की चर्चा हो सकती है, वह काव्य ग्रन्थ भी हो सकता है। ये सभी पक्ष साहित्यालोचन या विविध ज्ञान-विज्ञान और काव्य शास्त्र से सम्बन्धित हैं। यह पक्ष 'शब्द-अर्थ' का ही एक पक्ष है। ये ग्रन्थ चित्रयुक्त भी हो सकते हैं। चित्र का विषय चित्रकला के क्षेत्र में जायेगा। ग्रन्थ जिस पर लिखा गया है उस वस्तु (चमड़ा, ईंट, छाल, पत्ता, कपड़ा आदि) का एक अलग पक्ष है, फिर उसे किस

प्रकार पुस्तकाकार बनाया जाता है यह अलग विज्ञान है। स्याही एवं लेखनी का निर्माण एक पृथक् अध्ययन का विषय है। ग्रन्थ इन सभी से मिलकर तैयार होता है और ये सभी पक्ष इससे बँध जाते हैं। इसके बाद ग्रन्थों की प्रतिलिपि का पक्ष आता है। किसी प्राचीन ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतियाँ लम्बे ऐतिहासिक काल में बिखरी हुई और विस्तृत भू-भाग में फैली हुई मिलती हैं। प्रतिलिपि की अपनी कला है। इस पक्ष का अपना महत्त्व है। इन प्राचीन प्रतियों को लेकर उनके आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन करना तथा एक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना एक अलग पक्ष है। इसका एक अलग ही पाठालोचन-विज्ञान अस्तित्व में आ चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पाण्डुलिपि में कितनी ही बातें होती हैं और उनमें से अनेक का एक अलग विज्ञान है पर उनमें से कोई भी अलग-अलग पाण्डुलिपि नहीं है, न लिपि मात्र पाण्डुलिपि है और न उसमें लिखी भाषा और अंक, न चित्र, न स्याही और न कागज, न शब्दार्थ, न उसमें लिखा हुआ ज्ञान-विज्ञान का विषय—पाण्डुलिपि इन सबसे मिलकर बनती है, साथ ही इन सबसे भिन्न है। लेकिन इन सबके ज्ञान-विज्ञान से पाण्डुलिपि के विज्ञान को भी हृदयंगम करने में सहायता मिल सकती है। उसके ज्ञान के लिए ये विज्ञान सहायक हो सकते हैं। पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से जिस पर सबसे पहले दृष्टि जाती है वह तो इन सबके पारस्परिक नियोजन की बात है। उन सबका नियोजनकर्ता एक व्यक्ति अवश्य होता है। वह स्वयं उस पाण्डुलिपि का कर्ता हो सकता है अतएव विद्वान और पण्डित। किन्तु वह मात्र एक लिपिक भी हो सकता है जो उसकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करे। मूल पाण्डुलिपि भी पाण्डुलिपि है और उसकी प्रतिलिपि भी पाण्डुलिपि है। इस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा पाण्डुलिपि के विभिन्न तत्त्वों के नियोजन मात्र उसे ही वह व्यक्ति पाण्डुलिपि को पूर्णता प्रदान करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि उसके जो उपादान हैं उन पर लेखक तथा लिपिकर्ता का वश नहीं होता। उसे कागज दूसरे से तैयार किया हुआ लेना होता है, वह कागज स्वयं नहीं बनाता। यदि अनेक प्रकार के कागज हों तो वह चयन कर सकता है। इसी प्रकार लेखनी तथा काम पर भी उसका अधिकार नहीं। वह प्राकृतिक उपादानों से लेखनी तैयार करता है और जैसी भी लेखनी उसे मिलती है उसका वह अपनी दृष्टि से निकृष्ट और उत्कृष्ट उपयोग कर सकता है। स्याही भी वह बनी बनाई लेता है और यदि बनाता भी है तो जिन पदार्थों से स्याही बनायी जाती है, वे सभी प्रकृतिदत्त पदार्थ होते हैं, जिनका वह स्वयं उत्पादन नहीं करता। फिर जब वह लिखना प्रारम्भ करता है तो वर्ण, शब्द और भाषा उसे संस्कार, शिक्षा तथा अभ्यास से मिलते हैं। लिपि के अक्षरों के निर्माण में उसका कोई हाथ नहीं होता किन्तु प्रत्येक अक्षर के निर्धारित रूप को लिखने में वह अपने अभ्यास का और रुचि का भी फल प्रस्तुत करता है इससे वर्णों के रूप-विन्यास में कुछ अन्तर आ सकता है। किन्तु इन सभी वस्तुओं का नियोजन वह एक विधि से ही करता है और इस विधि की परीक्षा ही पाण्डुलिपि-विज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। पाण्डुलिपि का विषय क्या है, यह पाण्डुलिपि-विज्ञान के अध्येता की दृष्टि से विशेष महत्त्व की बात नहीं है। इसका उसे इतना ही परिचित होने की आवश्यकता है जितने से वह पाण्डुलिपि के विषय की कोटि निर्धारित कर सके।

किन्तु यह उसके लिए अवश्य आवश्यक है कि पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठें उनका वह प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत कर सके। अत: जिन विषयों पर पाण्डुलिपिवेत्ता से प्रश्न किये जा सकते हैं वे सम्भवत: इस प्रकार के हो सकते हैं—

(1) पाण्डुलिपि की खोज और प्रक्रिया। पाण्डुलिपि का क्षेत्रीय अनुसन्धान भी इसी के अन्तर्गत आयेगा।

(2) भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रणाली से पाण्डुलिपियों के प्राप्त होने के स्थानों का निर्देश।

(3) पाण्डुलिपियों के मिलने के स्थान के समस्त परिवेश से प्राप्त पाण्डुलिपि का सम्बन्ध निरूपण।

(4) पाण्डुलिपियों के विविध पाठों के संकलन के क्षेत्रों का अनुमानित निर्देश।

(5) पाण्डुलिपि के काल-निर्णय की विविध पद्धतियाँ।

(6) पाण्डुलिपि के कागज, स्याही, लेखनी आदि का पाण्डुलिपि के माध्यम से ज्ञान और प्रत्येक काल-ज्ञान के अनुसंधान की पद्धति।

(7) पाण्डुलिपि की लिपि का विज्ञान तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।

(8) पाण्डुलिपि के विषय की दृष्टि से उसकी निरूपण शैली का स्वरूप।

(9) पाण्डुलिपि के विविध प्रकारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा उन प्रकारों का भौगोलिक सीमा-निर्देश।

(10) पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियों के प्रसार का मार्ग तथा क्षेत्र।

(11) पाण्डुलिपियों के माध्यम से लिपि के विकास का इतिहास।

(12) लिपिकारों के निजी व्यक्तित्व का परिणाम।

(13) लिपियों में वैशिष्ट्य और उन वैशिष्ट्यों की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक व्याख्या।

(14) पाण्डुलिपियों की प्रामाणिकता की परीक्षा।

(15) पाठालोचन-प्रणाली।

(16) पाठ-पुनर्निर्माण-प्रणाली।

(17) शब्द रूप और अर्थ तथा पाठ।

(18) पाण्डुलिपियों की सुरक्षा की वैज्ञानिक पद्धतियाँ।

(19) पाण्डुलिपियों के संग्रहालय और उनके निर्माण का प्रकार।

(20) पाण्डुलिपियों के उपयोग का विज्ञान।

(21) पाण्डुलिपि और अलंकरण।

(22) पाण्डुलिपि में चित्र।

(23) पाण्डुलिपि की भाषा का निर्णय।

(24) पाण्डुलिपि-लेखक, प्रतिलिपिकार, चित्रकार और सज्जाकार।

(25) पाण्डुलिपि, प्रतिलिपि लेखन के स्थान तथा प्राप्त सुविधाएँ, प्रतिलिपिकार की योग्यताएँ।

(26) ग्रन्थ-लेखन तथा प्रतिलिपि-लेखन के शुभ-अशुभ मुहूर्त।

(27) पाण्डुलिपि के लिप्यंकन में हरताल प्रयोग, काव्य प्रयोग, संशोधन-परिवर्द्धन की पद्धतियाँ।

पाण्डुलिपि विज्ञान इसलिए भी विज्ञान है कि वह पाण्डुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पाण्डुलिपि को दृष्टि में रखकर नहीं करता वरन् पाण्डुलिपि के सामान्य रूप को ही लेता है। पाण्डुलिपि शब्द से कोई विशेष पुस्तक सामने नहीं आती। प्रत्येक प्रकार की पाण्डुलिपियों में कुछ सामान्य लक्षण ऐसे होते हैं कि उनसे युक्त सभी ग्रन्थ पाण्डुलिपि कहे जाते हैं। पाण्डुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाण्डुलिपियाँ सामान्य रूप में अभिहित होती है जो लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं, या लिखी जाएंगी। यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि में रखकर विचार करता है। इसी दृष्टि से पाण्डुलिपि-गत सामान्य विषयों का पाण्डुलिपि-विज्ञान विश्लेषण करता है और विश्लेपित प्रत्येक अंग पर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य-कारण परम्परा में बाँधकर सैद्धान्तिक विचार करता है। इनके आधार पर वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जिनसे तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। पाण्डुलिपि-विज्ञान पाण्डुलिपि से सम्बन्धित तीनों पक्षों से सम्बन्धित होता है, ये पक्ष हैं—लेखन पक्ष, पाण्डुलिपि का प्रस्तुतीकरण पक्ष, जिसमें सभी प्रकार की पाण्डुलिपियाँ परिगणनीय हैं और तीसरा सम्प्रेषण पक्ष, जिसमें पाठक वर्ग सम्मिलित होता है, पाण्डुलिपि लेखक और पाठक इन दोनों पक्षों के लिए सेतु या माध्यम है। अतएव पाण्डुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाण्डुलिपि-विज्ञान इन दोनों पक्षों का पाण्डुलिपि के माध्यम से उस अंश का जिस अंश के कारण पाण्डुलिपि हस्तलेख में आती है वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है। यह विज्ञान पाण्डुलिपि के समग्र रूप के निर्माण में इन दोनों पक्षों के योगदान का भी मूल्यांकन करता है।

ग्रन्थ रचना की प्रक्रिया में मूल अभिप्राय है लेखक का यह प्रयत्न कि वह पाठक तक पहुँच सके और आज के पाठक तक ही नहीं दीर्घाति-दीर्घकालीन भविष्य के पाठकों तक पहुँच सके। 'लेखन' क्रिया का जन्म ही अपनी अभिव्यक्ति के भावी युगों तक सुरक्षित रखने के लिए हुआ है।

फलतः लेखन के परिणामस्वरूप प्राप्त ग्रन्थ या पाण्डुलिपि के विचारों को सुरक्षित रख कर उसे पाठक तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार पाण्डुलिपि एक सेतु या उपादान है जो काल की सीमाओं को लाँघ कर भी लेखक को पाठक से जोड़ता है। पाठक भी इन्हीं के माध्यम से लेखक के पास पहुँच सकता है। इसे यों समझा जा सकता है
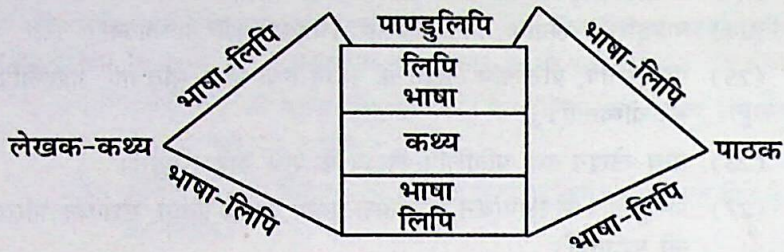
लेखक का कथ्य भाषा में रूपान्तरित होकर लिपिबद्ध होकर लेखनी से लिप्यासन पर अंकित होकर पाण्डुलिपि का रूप ग्रहण कर पाठक के पास पहुँचता है। अब पाठक ग्रन्थ के लिप्यासन या लिपिबद्ध भाषा के माध्यम से लेखक के कथ्य तक पहुँचता है। लेखक और पाठक में काल गत और देशगत अन्तर है, और यह अन्तर ग्रन्थ के द्वारा शून्य हो जाता है, तभी तो आज हजारों वर्ष पूर्व के काल को लाँघकर देश काल के अन्तराल को मिटाकर हम लेखक से मिल सकते हैं। फिर भी, लेखक से पाठक तक या पाठक से लेखक तक की इस यात्रा में समस्याएँ खड़ी होती हैं। उनके समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन पाण्डुलिपि है। इसी महत्त्वपूर्ण साधन तक पहुँचने की दृष्टि से पाण्डुलिपि-विज्ञान की उपादेयता सिद्ध होती है।

पाण्डुलिपि विषयक विज्ञान की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है और उठाया भी जा सकता है कि पाण्डुलिपियों का 'अस्तित्व' इतना पुराना है जितना कि लिपि या लेखन का आविष्कार किन्तु आज पाण्डुलिपि-विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव क्यों नहीं किया गया? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है इसमें संदेह नहीं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आविष्कार की जननी आवश्यकता है उसी प्रकार विज्ञान की जननी भी किसी प्रकार की आवश्यकता ही है। इस विज्ञान की आवश्यकता तब ही अनुभव की गई जबकि वैज्ञानिक दृष्टि की प्रमुखता हो गई। जिस युग में वैज्ञानिक दृष्टि प्रमुख होने लगती है उस युग में प्रत्येक बात को वैज्ञानिक पद्धति से समझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप नये-नये विज्ञानों का जन्म होता है। यह वैज्ञानिक-दृष्टि उस विषय पर पहले पड़ती है जो कि विविध परिस्थितियों के फलस्वरूप अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जैसे भाषा को लोग सहस्राब्दियों से उपयोग में लाते रहे और उसे एक व्यवस्थित प्रणाली से समझने के स्थूल प्रयत्न भी आरम्भ से होते रहे किन्तु विज्ञान का रूप उसने उस समय ग्रहण किया जबकि एक ओर तो औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप नये निर्माण और नये अनुसन्धानों की प्रवृत्ति ने विज्ञान को प्रमुख आकर्षण बना दिया। दूसरे, उपनिवेशवाद और वाणिज्य-विस्तार के कारण देश-विदेशों की विविध प्रकार की भाषाएँ सामने आयीं। उनका तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक हो गया, और इसको तब और भी प्रोत्साहन मिला जबकि संस्कृत भाषा और साहित्य पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख आया। इन सबने मिलकर तुलनात्मक

रूप से भाषाओं को समझने के साथ-साथ भाषाओं के वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी। तब से भाषा का विज्ञान निरन्तर प्रगति करता हुआ आज **भाषिकी** या लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) के नये रूप में एक प्रकार से पूर्ण विज्ञान बन चुका है। इसी प्रकार पाठालोचन की जब आवश्यकता प्रतीत हुई और विविध ग्रन्थों का **पाठालोचन** प्रस्तुत करना पड़ा तो उसके भी विज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलत: आज पाठालोचन का भी एक विज्ञान बन गया है। यह पहले साहित्य के क्षेत्र में कविता के शुद्ध रूप तक पहुँचने के साधन के रूप में आया फिर यह भाषा विज्ञान की एक प्रशाखा के रूप में पल्लवित हुआ। अब यह एक स्वतंत्र विज्ञान है। यही स्थिति पाण्डुलिपि-विज्ञान की है। आज भारत में अनेक प्राचीन हस्तलेख एवं पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो रही हैं। शतश: हस्तलेख भण्डार, निजी भी और संस्थानों के भी, इधर कुछ वर्षों में उद्घाटित हुए हैं। अत: पाण्डुलिपियाँ भी यह अपेक्षा करने लगी हैं कि उनकी समस्याओं को भी समग्रत: अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया जाय। इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए अभी कुछ वर्ष पूर्व भारतवर्ष में संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन ने पाण्डुलिपि विज्ञान की आवश्यकता अनुभव की और एक प्रस्ताव पारित किया कि विश्वविद्यालयों में पाण्डुलिपि विज्ञान भी अध्ययन का एक विषय होना चाहिए। अत: आज पाण्डुलिपि विज्ञान की उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। इसका महत्त्व भी कम नहीं है क्योंकि शायद ही कोई विश्वविद्यालय ऐसा हो कि जिसमें पाण्डुलिपियों का संग्रह न हो। नई परिभाषा में सरकारी कार्यालयों और संस्थाओं एवं संस्थानों के कागज पत्र भी पाण्डुलिपि हैं। इनके भण्डार दिन-दिन महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि देश भर में पुराने और नये शतश: हस्तलेख और पाण्डुलिपियों के भण्डार फैले हुए हैं और बहुत से नये-नये पाण्डुलिपि भण्डार प्रकाश में आते जा रहे हैं। इस कारण भी पाण्डुलिपि-विज्ञान आज महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

एक बात और है, कुछ ऐसे विज्ञान पहले से विद्यमान है जिनका सीधा सम्बन्ध हमारे पाण्डुलिपि-विज्ञान से है— यथा-पेलियोग्राफी एक विज्ञान है। यह वह विज्ञान है जो पेपीरस, पार्चमेन्ट, मोमीपाटी (Postherds), लकड़ी या कागज पर के पुरातन लेखन को पढ़ने का प्रयत्न करता है, तिथियों का उद्घाटन करता है और उसका विश्लेषण करता है[1] इसके प्रमुख ध्येय दो माने गये हैं— पहला ध्येय है पुरातन हस्तलेखों को पढ़ना। यह बताना आवश्यक नहीं कि पुरातन हस्तलेखों का पढ़ना कोई आसान कार्य नहीं है। वस्तुत: प्राचीन मध्ययुग एवं आधुनिक युग की हाथ की लिखावट को ठीक-ठीक पढ़ने के लिए लिपिविज्ञान (पेलियोग्राफी) का प्रशिक्षण आवश्यक है। इस विज्ञान के अध्ययन का दूसरा ध्येय हैं इन हस्तलिपियों का काल-निर्धारण एवं स्थान-निर्धारण। इसके लिए अन्त:साक्ष्य और बहि:साक्ष्य का सहारा लेना होता है, लिखावट एवं उसकी शैली आदि की भी सहायता लेनी होती है। ग्रन्थ का रूप कैसा है? वह वलयिता है, पट्टग्रथित पुस्तक (कोडैक्स) है, या पत्रारूप है?

---

1. Palaeography, Science of Reading, dating and analyzing ancient writing on papyrus, parchment, waxed tablets, postherds, wood or paper.

—The Encyclopaedia Americana, Vol. 2, p. 163.

उसका कागज या लिप्यासन, उसकी स्याही, लेखनी का प्रकार, उसकी जिल्दबन्दी तथा साज-सज्जा, सभी की परीक्षा करनी होती है, और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालने होते हैं। सचित्र पाण्डुलिपियों के काल एवं स्थल के निर्धारण में चित्र बहुत सहायक होते हैं क्योंकि उनमें स्थान और काल के भेद के आधार बहुत स्पष्ट रहते हैं।

एक विज्ञान है ऐपीग्राफी। यह विज्ञान प्रस्तर-शिलाओं या धातुओं पर अंकित लेखों या अभिलेखों को पढ़ता है, उनका काल निर्धारित करता है, और उनका विश्लेषण करता है।

इसी प्रकार अन्य विज्ञान भी हैं। ये सभी पाण्डुलिपि के निर्मायक विविध तत्त्वों से सम्बन्धित हैं। पर इन सबसे मिलकर जो वस्तु बनती है और जिसे हम 'पाण्डुलिपि' कहते हैं, उस समग्र इकाई का भी विज्ञान आज अपेक्षित है। अन्य विविध विज्ञान इस विज्ञान के तत्त्व निर्धारण में सहायक हो सकते हैं पर, समस्त अवयवों से मिलकर जब एक रूप खड़ा होता है, तब उसका स्वयंमेव एक अलग वैज्ञानिक अस्तित्व होता है। उसको एक अलग विज्ञान के रूप में हमें जानना है। अत: पाण्डुलिपि-विज्ञान वह विज्ञान है जो अध्येता को पाण्डुलिपि को पाण्डुलिपि के रूप में समझने एवं तद्विषयक समस्याओं के वैज्ञानिक निराकरण में सहायक सिद्ध होता है।

पाण्डुलिपि-विज्ञान एवं अन्य सहायक विज्ञान

पाण्डुलिपि विज्ञान से सम्बन्धित कई विज्ञान हैं। ये इस प्रकार हैं— (1) डिप्लोमैटिक्स, (2) पेलियोग्राफी, (3) भाषाविज्ञान, (4) ज्योतिष, (5) पुरातत्त्व, (6) साहित्य शास्त्र, (7) पुस्तकालय विज्ञान, (8) इतिहास, (9) खोज, शोध प्रक्रिया विज्ञान और (10) पाठालोचन-विज्ञान (Textual Criticism)।

सबसे पहले **शोध-प्रक्रिया विज्ञान** (Research Methodology) को ले सकते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों अथवा पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिए इस खोज-विज्ञान का बहुत महत्त्व है। बिना खोज के हस्तलेख प्राप्त नहीं हो सकते। यह खोज-विज्ञान हमें हस्तलेख खोज करने के सिद्धान्तों से ही अवगत नहीं करता, वह हमें क्षेत्र में काम करने के व्यावहारिक पक्ष को भी बताता है। पाण्डुलिपि विज्ञान के लिए इसकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। इसी से ग्रन्थ संकलन हो सकता है। यही संकलन हमारे लिए आधार-भूमि है। यों तो भारत में और विदेशों में भी प्राचीन काल से पुस्तकालय रहे हैं।[1] प्राचीन काल में सम्पूर्ण साहित्य हस्तलेखों के रूप में ही होता था, अत: प्राचीन पुस्तकालयों में अधिकांश हस्तलेख और पाण्डुलिपियाँ ही हैं। उन्हीं की परम्परा में कितने ही धर्म-मन्दिरों में आज तक हस्तलेखों के भण्डार रखने की प्रथा चली आ रही है।[2] इसी प्रकार राजा-महाराजा भी अपने पोथीखानों

---

1. मिस्र में अलेक्जेण्ड्रिया का, यूनान में एथेंस का, एशिया-माइनर में पोम्पिपआई का, भारत में नालंदा का, तक्षशिला का पुस्तकालय, कितने ही विश्वविद्यालयों का इतिहास में उल्लेख मिलता है, जिनके प्राचीन पुस्तकालय हस्तलेखों से भरे पड़े थे।
2. भारत में जैनों के मन्दिरों, बौद्ध संघारामों आदि में आज तक भी हस्तलेखों के विशाल संग्रह हैं। जैसलमेर के संग्रहालय का कुछ विवरण टॉड ने दिया है।

में विशाल हस्तलेखों के भण्डार रखते थे।[1] किन्तु इन पुस्तकालयों के अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी हस्तलिखित सामग्री है जो जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। उस सामग्री को प्राप्त करना, उसका विवरण रखना या अन्य प्रकार से उसे प्रकाश में लाना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। पाण्डुलिपि-विज्ञानविद् का इस क्षेत्र में योगदान अत्यन्त आवश्यक है।

सामग्री प्राप्त करने की दिशा में दो प्रकार से कार्य हो सकता है—(1) व्यक्तिगत प्रयत्न एवं (2) संस्थागत प्रयत्न।

(1) व्यक्तिगत प्रयत्नों में कर्नल टॉड, टैस्सिटेरी, डॉ. रघुवीर एवं राहुल सांकृत्यायन प्रभृति कितने ही विद्वानों के नाम आते हैं। टॉड ने राजस्थान से विशेष रूप से कितनी ही सामग्री एकत्र की थी—शिलालेख, सिक्के, ताम्रपत्र, ग्रन्थ आदि का निजी विशाल भण्डार उन्होंने बना लिया था। वे साधन-सम्पन्न थे और साम्राज्य-तंत्र के अधिकार सम्पन्न अंग थे। इटेलियन विद्वान टैस्सिटेरी ने राजस्थानी साहित्य की खोज के लिए अपने को समर्पित कर दिया था। राहुल जी एवं डॉ. रघुवीर के प्रयत्न बड़े प्रेरणाप्रद हैं। ये विद्वान् कितनी ही अभूतपूर्व साम्रगी किन-किन कठिनाइयों में, अकिंचन होते हुए भी तिब्बत, मंचूरिया आदि से लाये, जो अविस्मरणीय है।

(2) संस्थागत प्रयत्नों में हिन्दी क्षेत्र में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अग्रगण्य है। सन् 1900 से पूर्व ही हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज सभा ने आरम्भ कराई। 1900 से खोज-विवरण प्रकाशित कराये। यह परम्परा आज तक चल रही है। इन खोज विवरणों से विदित होता है कि गाँवों और शहरों में यत्र-तत्र कितनी विशाल सामग्री अब भी है। बहुत सी सामग्री नष्ट हो गयी है। इन खोज विवरणों में जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण में ठोस सहायता मिली है तथा शतश: साहित्यिक अनुसन्धानों में भी ये विवरण सहायक सिद्ध हुए हैं। अत: ग्रन्थ संग्रह तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, उनका विवरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस समस्त कार्य को आज वैज्ञानिक प्रणाली से करने के लिए **'क्षेत्रीय प्रक्रिया'** की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। वस्तुत: पाण्डुलिपि विज्ञान के लिए यह विज्ञान पहली आधारशिला है।

पेलियोग्राफी लिपि-विज्ञान होता है। पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से लिपि-विज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। इसका सैद्धान्तिक पक्ष तो लिपि के जन्म की बात भी करेगा। उसका विकास भी बतायेगा। व्यावहारिक पक्ष में यह विज्ञान उन कठिनाइयों पर विजय के उपायों की ओर भी संकेत करता है, जो किसी अज्ञात लिपि को पढ़ने में सामने आती है। मिस्र की चित्रलिपि पढ़ने का इतिहास कितना रोचक है, उससे कम रोचक इतिहास भारत की प्राचीन लिपियों के उद्‌घाटन और पठन का नहीं है।[2] इसी विज्ञान के माध्यम से हम विश्व की समस्त लिपियों के स्वरूप से भी परिचित होते हैं।[3] इसी विज्ञान की

1. राजस्थान के प्रत्येक राज्य में ऐसे ही पोथीखाने थे।
2. देखिये अध्याय—'लिपि समस्या'।
3. डिरिंजर, डेविड—राइटिंग, पृष्ठ 20।

सहायता से पाण्डुलिपि-विज्ञान विविध प्रकार की पाण्डुलिपियों की लिपियों की प्रकृति से परिचित होकर, उन्हें अपने उपयोग के योग्य बनाने की क्षमता पा सकता है। पाण्डुलिपियों में लिपि का महत्त्व बढ़ा है। लिपि के पढ़ने-समझने के सिद्धान्तों, स्थितियों और समस्याओं को हृदयंगम करना पाण्डुलिपि-विज्ञान का एक आवश्यक पक्ष है।

लिपि-विज्ञान के व्यावहारिक दृष्टि से दो भेद किये जाते हैं—इनको अंग्रेजी में ऐपीग्राफी (Epigraphy) अर्थात् अभिलेख लिपि विज्ञान तथा पेलियोग्राफी (Palaeography) अर्थात् लिपि विज्ञान कहते हैं।

डेविड डिरिंजर का कहना है कि अभिलेख लिपि-विज्ञान यूनानी अभिलेख विज्ञान, लातीनी अभिलेख विज्ञान, हिब्रू अभिलेख विज्ञान जैसे विशेष क्षेत्रों में विभाजित हो जाता है। यह विज्ञान मुख्यत: उन प्राचीन अभिलेखों के अध्ययन में प्रवृत्त रहता है जो शिलाओं, धातुओं और मिट्टी जैसी सामग्री पर काट कर, खोद कर या डालकर प्रस्तुत किये गये हैं। इस अध्ययन में अज्ञात् लिपियों का उद्‌घाटन (Decipherment) तथा उनकी व्याख्या सम्मिलित रहती है।

पेलियोग्राफी (Palaeography) भी एपीग्राफी की तरह क्षेत्रीय विभागों में बाँट दी गई है। इसका उद्देश्य मुख्यत: उस लेखन का अध्ययन है जो कोमल पदार्थों पर यथा कागज, चर्मपत्र, पेपीरस, लिनेन (Linen) और मोमपट्ट पर या तो चित्रित किया गया है या उतारा (Traced) या चिह्नित किया गया है। यह क्रिया शलाका (स्टाइलस), कूँची, सेंटा या कलम से की जा सकती है। इस विज्ञान का भी अनिवार्य अंतरंग विषय लिपि उद्‌घाटन (Decipherment) एवं व्याख्या भी है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों विज्ञानों में मूल भेद 'लिप्यासन' के कठोर या कोमल होने के कारण है। कुछ विद्वान 'डिप्लोमैटिक्स' को भी पेलियोग्राफी की ही एक शाखा मानते हैं, इसमें शासकीय पट्टो-परवानों की लिपि को पढ़ने का प्रयत्न सम्मिलित रहता है। यह विषय भी हमारे विज्ञान का अंतरंग विषय ही है।

'भाषा-विज्ञान' भाषा का विज्ञान है। पाण्डुलिपि में लिपि के बाद भाषा ही महत्त्वपूर्ण होती है। भाषा-विज्ञान लिपि के उद्‌घाटन में सहायक होता है। यह हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार एक अभिलेख को एक अन्य भाषा में लिखा परिकल्पित कर लेने के कारण ठीक नहीं पढ़ा जा सका। भाषा लिपि-ज्ञान में बहुत सहायक होती है। फिर पाण्डुलिपि विज्ञान में पाण्डुलिपि के कई आयाम भाषा पर ही निर्भर करते हैं। पाण्डुलिपि की वस्तु का परिचय भाषा के बिना असम्भव है। भाषा विज्ञान से ही वह तकनीक भी निकाली जा सकती है, जिसमें बिल्कुल ही अर्थात् लिपि और उसकी अज्ञात् भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सके। ऐसी लिपि जिसकी लेखन-प्रणाली और भाषा का पता नहीं, उद्‌घाटित नहीं की जा सकती है। एक प्रकार से यह कार्य असम्भव ही माना गया है। विश्व के इतिहास में अभी तक ऐसे उद्‌घाटन का केवल एक ही उदाहरण मिलता है। माइकेल वेंट्रिस ने क्रीट की लाइनियर बी (Linear B) का उद्‌घाटन किया। यह क्रीट की एक भाषा थी। किन्तु इसके उद्‌घाटन से पूर्व न तो इसकी लेखन-प्रणाली का ज्ञान था, न यह ज्ञान था कि यह कौनसी भाषा है। वस्तुत: यह सफलता वेंट्रिस महोदय को मुख्यत: भाषा-वैज्ञानिक-विश्लेषण

की एक संगत तकनीक के उपयोग से ही मिली। अत: भाषा-विज्ञान ऐसे कठिन मामलों में सहायक हो सकता है।

किसी भी हस्तलेख के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से ही यह ज्ञात हो सकता है कि वह किस भाषा में लिखा गया है। इसी से उस ग्रन्थ की भाषा के व्याकरण, शब्दरूपों एवं वाक्य-विन्यास तथा शैली का ज्ञान भी होता है। किस काल की और कहाँ की भाषा है, यह जानने में भी यह विज्ञान सहायक होता है। इस प्रकार भाषा ज्ञान से हम पाण्डुलिपि के क्षेत्र का परिचय पा सकते हैं। दूसरी ओर पाण्डुलिपि की भाषा स्वयं भाषा-विज्ञान की किसी समस्या पर प्रकाश डालने वाली सिद्ध हो सकती है। किसी विशेष-कालगत भाषा की प्रवृत्तियों का ज्ञान पाण्डुलिपियों से हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और पाण्डुलिपियाँ एक दूसरे के लिए सहायक हैं।

पुरातत्त्व (Archaelogy) के विशद अनुसन्धान क्षेत्र में शिलालेख, मुद्रालेख ताम्रपत्र आदि अनेक प्रकार की ऐसी सामग्री होती है जिसका उपयोग हस्तलेख-विज्ञान भी करता है। वस्तुत: पुरातत्त्व के क्षेत्र में जब ऐसे प्राचीन लेखों का अध्ययन होता है, तब वह हस्तलेख विज्ञान के क्षेत्र में भी सम्मिलित होता है। अत: उसके लिए इस विज्ञान की शरण अनिवार्य ही है और हमारे विज्ञान के लिए भी पुरातत्त्व सहायक है, क्योंकि बहुत से प्राचीन महत्त्वपूर्ण हस्तलेख पुरातत्त्व ने ही प्रदान किये हैं। मिस्र के पेपीरस, सुमेरियन सभ्यता के ईंट-लेख, भारत के तथा अन्य देशों के शिलालेख तथा अन्य लेख आदि पुरातत्त्व ने ही उद्घाटित किये हैं और उनका उपयोग पाण्डुलिपि-विज्ञान-विशारदों ने किया है। यह भी तथ्य है कि पाण्डुलिपि-विज्ञान को पाण्डुलिपि के विषय में पुरातन-कालीन जिस परिवेश और पृष्ठभूमि के ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह पुरातत्त्व से प्राप्त हो सकता है।

इतिहास का क्षेत्र भी बहुत विशद है। इसकी आवश्यकता प्राय: प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान को पड़ती है। इसी दृष्टि से हमारे विज्ञान के लिए भी इतिहास की शरण आवश्यक होती है। इस विज्ञान को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इतिहास की सहायता लेनी पड़ती है। हस्तलेखों की पृष्ठभूमि का ज्ञान भी इतिहास से ही मिलता है।

पाण्डुलिपियों में लेखकों के नाम और वंश रहते हैं, आश्रय-दाताओं के नाम रहते हैं, देश एवं काल से सम्बन्धित कितनी ही बातों का भी उल्लेख रहता है, आश्रय-दाताओं की भी वंश परम्परा दी जाती है। ऐसी प्रभूत सामग्री पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में भी दी जाती हैं। लिपि का स्वरूप भी देश-काल से जुड़ा रहता है, इसी प्रकार कागज या लिप्यासन के प्रकार का सम्बन्ध भी देशकाल से होता है। किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु में विद्यमान तथ्यों की ओर न भी जाएं तो भी उक्त बातों के लिए भी इतिहास का ज्ञान या इतिहास-ज्ञान की प्रक्रिया जाने बिना काम नहीं चल सकता।

इसी प्रकार इतिहास की बहुत सी सामग्री प्राचीन ग्रन्थों से, हस्तलेखों से मिलती है। उसके लिए भी पाण्डुलिपि-विज्ञान की सहायता अपेक्षित है।

ज्योतिष—ज्योतिष का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसमें एक शाखा काल-निदान की. भी है। इसके अन्तर्गत दिन, तिथि, संवत्सर (संवत्-सन) मुहूर्त, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, करण

आदि का निदान और निर्णय आता है। यह ज्ञान इतिहास के लिए भी उपयोगी है, और हस्तलेख-विज्ञान के लिए भी। प्रत्येक हस्तलेख या पाण्डुलिपि का काल-निर्धारण ज्योतिष के 'पंचांग' आदि की सहायता से किया जाता है। काल-निर्धारण की कितनी ही जटिल समस्याएँ ज्योतिष की सहायता के बिना हल नहीं हो सकतीं। अत: हमारे इस विज्ञान को काल-निर्णय में 'ज्योतिष' की सहायता लेनी पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि हजारों वर्ष पुराने 'पंचांग' या 'जंत्रियाँ' मिलती हैं, उनकी सहायता से तथा ऐसे ही कलैण्डरों से काल-निर्णय किया जा सकता है। यह भी ठीक है, पर आखिर ये पंचांग-कलैण्डर आदि हैं तो ज्योतिष के ही अंग। अत: 'ज्योतिष' अत्यन्त उपयोगी और सहायक विद्या है, जिस पर हमारे विज्ञान के निष्कर्ष आधारित होते हैं।

साहित्य-शास्त्र—साहित्य-शास्त्र के चार बड़े अंग माने जा सकते हैं : प्रथम—शब्दार्थ-भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त शब्द से अर्थ तक पहुँचने के लिए शब्द-शक्तियों का विशेष महत्त्व साहित्य-शास्त्र में है। इसी का एक पहलू साहित्य शास्त्र में 'ध्वनि' है। दूसरा अंग है—'रस'। जिसके लिए साहित्य शास्त्रियों ने काव्य में 'नवरस' की प्रतिष्ठा की है। तीसरा अंग है—'छंद'। एक और अंग है—'अलंकार'। हमारे विज्ञान के लिए 'शब्दार्थ' वाले विभाग की अपेक्षा तो पद-पद पर रहती है। 'रस' का ज्ञान साहित्यिक पाण्डुलेख के लिए तो सर्वोपरि है। अन्य ज्ञान-विज्ञानों के ग्रन्थों के लिए इसकी उतनी आवश्यकता नहीं। हालांकि, प्राचीन काल में विविध ज्ञान-विज्ञान को रूपक प्रणाली से भी प्रस्तुत करने की परिपाटी रही हैं।[1] प्रतीक-प्रणाली का उपयोग भी सहायक होता है। अब 'छन्द' को लें। प्राचीन काल में गद्य को 'ग्रन्थ लेखन' की भाषा ही नहीं माना जाता था। पद्य ही सर्व प्रचलित तथा लोकप्रिय माध्यम रहा क्योंकि पद्य का रचना-विधान छंद-निर्भर होता है तथा उसे स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा सुगम होता है। इस दृष्टि से छंद-ज्ञान प्राचीन हस्तलेखों के लिए सामान्यत: आवश्यक माना जा सकता है। यदि ग्रन्थ गद्य में लिखा गया है तो 'छंद' उतना उपयोगी नहीं होता। 'अलंकार' भी साहित्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है, और हस्तलेखों तथा पाण्डुलिपियों में इनका जहाँ-तहाँ उपयोग मिल सकता है। ऐसे स्थलों को समझने की दृष्टि से अलंकार-ज्ञान का महत्त्व हो सकता है। लेकिन प्रत्येक की सीमा रेखा है—पाण्डुलिपि विज्ञान को इनकी वहीं तक आवश्यकता है, जहाँ तक ये पाण्डुलिपि की विषय-वस्तु को समझाने में सहायक है।

पुस्तकालय विज्ञान—पुस्तकालय विज्ञान का भी उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। हस्तलेखों या पाण्डुलिपियों का भण्डार जहाँ भी होगा वहाँ, छोटा-मोटा पुस्तकालय स्वत: ही बन जायेगा। प्राचीन काल में समस्त पुस्तकालय हस्तलेखों और पाण्डुलिपियों के ही होते थे। अलेक्जेण्ड्रिया, नालंदा तथा अन्य ऐसे ही प्राचीन पुस्तकालयों में सभी पुस्तकें हस्तलेखों के रूप में ही थीं। मुद्रण-यंत्र के प्रचलन के बाद भी मुद्रित पुस्तकों के साथ हस्तलेख रहे हैं। आधुनिक काल में मुद्रित पुस्तकों के पुस्तकालय प्रधान हैं—हस्तलेखों के पुस्तकालय बहुत कम रह गये हैं। अब पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में 'आधुनिक

---

1. यथा-प्रवीण सागर।

हस्तलेखागारों' (Modern Manuscript Library) का एक नया आन्दोलन चला है। इन पुस्तकालयों में राज्यों, सरकारों एवं बड़े-बड़े उद्योगों के महत्त्वपूर्ण लेख, महान् व्यक्तियों के किसी प्रकार के हस्तलेख, पत्र, मसविदे, प्रतिवेदन, विवरण, डायरी, नत्थियाँ आदि-आदि सुरक्षित रखे जाते हैं, साथ ही इन्हें अनुसन्धानकर्ताओं को पुस्तकालय द्वारा उपलब्ध भी कराया जाता है। रूथ बी. बोर्डिन एवं राबर्ट एम. वार्मर ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' में बताया है कि—

"मैन्युस्क्रिप्ट या पाण्डुलिपि पुस्तकालय का अस्तित्व ही अनुसन्धाता और विद्यार्थी की सेवा करने के लिये होता है।"[1]

अत: पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से इस सेवा को प्रस्तुत करने के लिए भी पुस्तकालय-विज्ञान का सहारा अपेक्षित होता है। हस्तलेखों और पाण्डुलिपियों को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाय, कैसे उनकी पंजिकाएँ रखी जायें, कैसे उनकी सामान्य सुरक्षा का ध्यान रखा जाय, कैसे उन्हें पढ़ने के लिए दिया जाय, आदि बातें वैज्ञानिक विधि से पुस्तकालय-विज्ञान ही बताता है। संग्रहालयों (Museum) और अभिलेखागारों के लिए इस विज्ञान का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है।

डिप्लोमेटिक्स

डिप्लोमेटिक्स वस्तुत: 'पट्टा-परवाना विज्ञान' है। डिप्लोमेटिक्स यूनानी शब्द 'डिप्लोमा' से व्युत्पन्न है। इसका यूनानी में अर्थ था 'मुडा हुआ कागज'। ऐसा कागज प्राय: राजकीय पत्रों, चार्टरों आदि में काम आता था। फलत: इसका अर्थ विशेषतया ऐसे पत्रों से जुड़ गया जो पट्टे, परवाने, लाइसेंस या डिगरी के कागज थे।

आगे चल कर डिप्लोमेटिक्स ने विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया। आज इस विज्ञान का काम है प्राचीन शासकीय पट्टों-परवानों (Documents), प्रमाण-पत्रों (Diplomas), चार्टरों एवं बुलों के लेख को उद्घाटित (Decipherment) करना। ये परवाने शहंशाह, पोप, राजा तथा अन्य शासकों की चांसरियों से जारी किये गये हैं। इस प्रकार यह विज्ञान पेलियोग्राफी की ही एक शाखा है।

स्पष्ट है कि 'डिप्लोमेटिक्स' विज्ञान इतिहास के उन स्रोतों का आलोचनात्मक अध्ययन करता है, जिनका सम्बन्ध अभिलेखों (Records या Archive Documents) से होता है। इन अभिलेखों में चार्टर, मैनडेट डीड (सभी प्रकार के), जजमेण्ट (न्यायालयादेश) आदि सम्मिलित हैं। इन पट्टों-परवानों के लेख को समझना, उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना, उनके जारी किये जाने की तिथियों का अन्वेषण और निर्धारण करना, साथ ही उनके निर्माण की प्रविधि को समझना तथा यह निर्धारित करना कि वे इन रूपों में किस उद्देश्य के लिए उपयोग में लाये जाते थे—इन सभी बातों को आज इस विज्ञान के क्षेत्र में माना जाता है। पहले इसमें मुहरबंद (Sealing) करने की पद्धतियों का अध्ययन भी एक विषय था। अब यह विषय अलग विज्ञान बन गया है।

अत: यह विषय भी किसी सीमा तक पाण्डुलिपि-विज्ञान का ही अंग है।

---

1. Bordin, R.B. & Warner, R.M.—The Modern Manuscript Library, P. 14.

पाण्डुलिपि-विज्ञान

पुस्तकें ज्ञान-विज्ञान का माध्यम हैं। ये पुस्तकें प्राचीन काल में पाण्डुलिपियों के रूप में ही होती थीं। अतः सभी प्राचीन पुस्तकालय पाण्डुलिपि-पुस्तकालय ही थे।

इन प्राचीन पुस्तकालयों के इतिहास से हमें विदित होता है कि सबसे पहले पुस्तकालय मिस्र में आरम्भ हुए होंगे। मिस्र में पेपीरस पर ग्रन्थ लिखे जाते थे। ये खरीते[1] (Srolls) के रूप में होते थे। इन ग्रन्थों में से एक पेपीरस ग्रन्थ ब्रिटिश संग्रहालय में है, वह 133 फुट लम्बा है। ये खरीते गोलाकार लपेट कर रखे जाते थे। पेपीरस बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है, अतः यह सम्भावना है कि बहुत से खरीते (स्क्रॉल) और ऐसे पुस्तकालय जिनमें वे रखे गये थे, ऐसे मिट गये हैं कि उनका हमें पता तक नहीं। फिर भी, जो कुछ ज्ञात हो सका है, उसके आधार पर विदित होता है कि पेपीरस स्क्रॉलों के ग्रन्थ ई.पू. 2500 में मिस्र में विद्यमान थे।

पेपीरस के साथ-साथ या कुछ पहले से बेबीलोन (असीरिया) में मिट्टी की ईंटों (Clay Tablets) पर लिखा जाता था। आधुनिक युग की ऐतिहासिक खुदाई से निन्हेवेह में 10,000 लेख-ईंटें मिलीं, इससे निन्हेवेह में उनके पुस्तकालय का अस्तित्व सिद्ध होता है। मोहनजोदड़ों में भी मिट्टी की पकाई हुई मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर लेख लिखे गये हैं।

ईंटों और पेपीरस के बाद पार्चमेण्ट (चर्मपत्र) का उपयोग हुआ, उसके बाद कागज का उपयोग हुआ।

भारत में मोहनजोदड़ों की लिपि का विकास 3000 ई.पू. में हो चुका होगा। यहाँ भी लेखयुक्त मुहरें या ताबीज मिले हैं। बाद में ग्रन्थों के लिए वृक्षों के पत्र और छाल का उपयोग पहले हुआ। ताड़पत्र और भोजपत्र से ग्रन्थ-रचना के लिए लिप्यासन का काम लिया जाने लगा। धातुपत्रों का भी उपयोग किया गया। भारतेतर क्षेत्रों में प्राचीन पुस्तकालयों की जो सूचना आज उपलब्ध है वह नीचे की तालिका से जानी जा सकती है—

वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रन्थ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5
1. ई.पू. 2500	गिजेह (Gizeh)	—	—	पेपीरस
2. ई.पू. 1400	अमर्ना	—	एमेह्रोटौप तृतीय (Amenho top III)	पेपीरस
3. ई.पू. 1250	थीवीज	—	रेमेज (Remese)	पेपीरस
4. ई.पू. 600	निन्हेवेह (असीरिया)	10,000 ईंटें	असुरबेनी पाल	ईंट (Clay tablets)

1. इन्हें वलयिताएँ, कुण्डलियाँ अथवा 'खरड़ा' भी कहते हैं।

1	2	3	4	5
5. ?	उर	—	—	ईंट
6. ?	निप्पर (Nippur)	—	—	ईंट
7. ?	किसी	—	—	ईंट
8. ?	तेल्लो	—	—	ईंट
9. ई.पू. 500	एथेन्स (यूनान)	—	पिजिस्ट्रेटस	पेपीरस
10. ?	अलेक्जेण्ड्रिया	500,000 खरीते (Scrolls)	(1) अलेक्जेण्डर (2) टालमी प्रथम	पेपीरस
11. ई.पू. 237	इदफिर (प्राचीन) इदफुल (Idful) होरेस के मन्दिर में	—	—	पेपीरस
12. ई.पू. 4[1] से पूर्व। (दूसरी शती ई.पू. के आरम्भिक चरण के लगभग)	पर्गेमम	200,000 खरीतों से भी कहीं अधिक	सिकन्दर के बाद के उत्तराधिकारी	पेपीरस एवं पार्चमैन्ट[2] (चर्मपत्र)
13. 500 ईसवी	सेंट कैथराइन की मोनस्ट्री सिनाई पर्वत पर	—	—	कोडेक्स पार्चमैन्ट
14. 600 ईसवी	सैंट गेले (स्विटजरलैंड में)	—	—	कोडेक्स पार्चमैन्ट
15. 800 ई.	(?) एथोस पर्वत पर (यूनान में)	—	—	कोडेक्स पार्चमैन्ट
16. 1200 ई. के बाद	लौरेंजों डे मेडिसी का पुस्तकालय, फ्लोरेंस, इटली	—	—	कोडेक्स पार्चमैन्ट

1. मार्क एण्टनी ने 41 ई.पू. में पर्गेमस पुस्तकालय के 200,000 खरीते (Scrolls) ग्रंथ 'किलोपेट्रा' को दे दिये थे कि उन्हें अलेक्जेण्ड्रियन पुस्तकालय में रखवा दिया जाय।

2. पर्गेमम के पुस्तकालय का बहुत संवर्द्धन हुआ। इससे सिकन्दरिया के लोगों को यह आशंका हो गयी कि कहीं सिकन्दरिया के पुस्तकालय का महत्त्व कम न हो जाय। अत: उन्होंने पर्गेमम को पेपीरस देना बन्द कर दिया। तब पर्गेमम में चमड़े के चर्म-पत्र का आविष्कार किया गया, जिसे 'पर्गेमेण्टम' कहा गया, यही पार्चमेण्ट हो गया। पार्चमेण्ट के खरीते नहीं बन सकते थे, अत: उनके पृष्ठ बने या पन्ने बने। इन पन्नों की सिलाई की गयी। यह सिले हुए पन्नों का रूप कोडैक्स (Codex) कहलाया। यही आधुनिक जिल्दबंद पुस्तक का जनक है।

1	2	3	4	5
17. 1367 ई.	बिब्लियोथीक नेशनल (नेशनल लाइब्रेरी), पेरिस, फ्रांस	—	—	कोडेक्स पार्चमेण्ट
18. 1447 ई.	वेटिकन पुस्तकालय, वेटिकन सिटी में			

(भारत तथा कुछ अन्य देशों के प्रमुख ऐतिहासिक पुस्तकालयों का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।)

आधुनिक पाण्डुलिपि आगार

'द मॉडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' के लेखक ने तीन प्रकार के संग्रहालयों में अन्तर किया है—

(1) रक्षागार (Archives)

(2) म्युजियम-अजायबघर का अद्‌भुतालय

(3) हस्तलेखागार या पाण्डुलिप्यागार

'रक्षागार' के सम्बन्ध में इनका कथन है कि—One of the most important types of Manuscript repository is the official archive which preserves the records of federal, state, or local government bodies.[1]

'रक्षागार' सरकारी कागज-पत्रों का भण्डार होता है। भारत में 'राष्ट्रीय लेखा रक्षागार' (National Archives) ऐसा ही संग्रहालय है। बीकानेर में 'राजस्थान' के समस्त राज्यों के कागज-पत्र एक संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अजायबघर (Museum) में ऐसी वस्तुओं और हस्तलेखों का संग्रह रहता है जिनका महत्त्व दर्शनीयता के कारण होता है। कलात्मक वैचित्र्य या वैशिष्ट्य इनमें रहता है। इनका उपयोग हस्तलेखागारों या पाण्डुलिप्यागारों से भिन्न रूप में होता है।

उपर्युक्त ग्रन्थकार के अनुसार हस्तलेखागार का प्रधान उद्देश्य है अध्येताओं तथा अनुसन्धान-कर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होना। वह लिखते हैं कि, 'A manuscript library exists to serve the scholar and the student'.

किन्तु 'हस्तलेखागार' का जो स्वरूप और विशेषता इस लेखक ने प्रस्तुत की है, वह ऐसे देशों के लिए है जहाँ सभ्यता, संस्कृति और लेखन का सूत्र 300-400 वर्ष पूर्व

1. Bordin, R.B. & Warner, R.M.—The Modern Manuscript Library, P. 9. इसी लेखक ने यह भी लिखा है— 'Archives are the permanent records of a body usually, but not necessarily, or going, of either a public or private character, P. 6.

से आरम्भ होता है और जहाँ 'ग्रन्थ लेखन' मुद्रणालयों के आ जाने के कारण स्वतंत्र महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका।

भारत जैसे प्राचीन देश में तथा ऐसे ही अन्य प्राचीन देशों में हस्तलेखागार में ज्ञान-विज्ञान के हस्तलेख या पाण्डुलिपियाँ बड़ी संख्या में मिलते हैं।

इसका एक आभास हस्तलेखागारों की उस सूची से हो जाता है जो हम पहले दे चुके हैं। मुद्रण-यंत्र के प्रचलन से बहुत पूर्व से पाण्डुलिपियाँ प्रस्तुति की जाती रही हैं। अतः ऐसे पाण्डुलिपि भाण्डागारों का उद्देश्य अनुसन्धान से जुड़ा होकर भी विस्तृत है। इतिहास के विविध युगों में ज्ञान-विज्ञान की स्थिति ही नहीं ज्ञान-विज्ञान के सूत्रों को जानने के साधन भी ग्रन्थागारों में उपलब्ध होते हैं।

महत्त्व

फलतः पाण्डुलिपि-विज्ञान का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। पाण्डुलिपि-विज्ञान के विधिवत ज्ञान से इस महान् सम्पत्ति को समझने-समझाने का द्वार खुलता है, और हम रस्किन के शब्दों में, 'राजसी-सम्पदाकोष' (Kings Treasuries) में प्रवेश पाकर अभूतपूर्व रत्नों की परख करने में समर्थ हो सकते हैं। यह बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

2
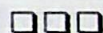
पाण्डुलिपि-ग्रन्थ-रचना-प्रक्रिया

लेखन और उसके उपरान्त ग्रन्थ-रचना का जन्म भी हमें आदिम आनुष्ठानिक पर्यावरण में हुआ प्रतीत होता है। रेखांकन से लिपिविकास तक के मूल में भी यही है और उसके आगे ग्रन्थ-रचना में भी। प्राचीनतम ग्रन्थों में भारत के वेद और मिस्र की 'मृतकों की पुस्तक' आती हैं। वेद बहुत समय तक मौखिक रहे। उन्हें लिपिबद्ध करने का निषेध भी रहा। पर मिस्र के पेपीरस के खरीतों (Scrolls) में लिखे ये ग्रन्थ समाधियों में दफनाये हुए मिले हैं। इन दोनों ही प्राचीन रचनाओं का सम्बन्ध धर्म और उनके अनुष्ठानों से रहा है। इन दोनों देशों में ही नहीं अन्य देशों में भी लेखन ऐसे ही आनुष्ठानिक पर्यावरण से युक्त रहा है। प्राय: सभी आरम्भिक ग्रन्थों में आनुष्ठानिक जादुई धर्म की भावना मिलती है। इसीलिए पद-पद पर शुभाशुभ की धारणा विद्यमान प्रतीत होती है। यही बात ग्रन्थ-रचना से सम्बन्धित प्रत्येक माध्यम तथा साधन के सम्बन्ध में है।

ग्रन्थ-रचना में पहला पक्ष है—'लेखक'। आरम्भ में लेखक का धर्म प्रचलित परम्पराओं, धारणाओं और वाक्-विलास को लिपिबद्ध करना था। यह समस्त लोकवार्ता 'अपौरुषेय' मानी जाती रही है और वाक्-विलास 'मन्त्र'। इसमें लेखक को अधिक से अधिक 'व्यासजी' की तरह सम्पादक माना जा सकता है। बाद में 'लेखक' शब्द से मौलिक कृति का लेखन करने वाला भी अभिहित होने लगा। मौलिक कृति में कृतिकार को या ग्रन्थकार को किन बातों का ध्यान रखना होता था, इसका ज्ञान हमें पाणिनि के आधार पर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'India As Known to Panini' (पाणिनि कालीन भारत) में कराया है। उन्होंने बताया है कि पहले ग्रन्थ का संगत रूप-विधान होना चाहिए। इसका पारिभाषिक नाम है—तंत्र-युक्ति। तंत्र-युक्ति में ये बातें ध्यान में रखनी होती है—(1) अभिकार या संगति अर्थात् आंतरिक समीचीन व्यवस्था या विधान। (2) मंगल—मंगल कामना से आरम्भ। (3) हेत्वर्थ—वर्ण्य का आधार। (4) उपदेश—कृतिकार के निजी निर्देश। (5) उपदेश—खंडनार्थ दूसरे के मत को उद्धृत करना।

इसी पहले पक्ष में लेखक के साथ पाठवक्ता या पाठवाचक भी रखना होगा। यह व्यक्ति मूल ग्रन्थ और लिपिकार के बीच में स्थान रखता है।

दूसरा पक्ष है भौतिक सामग्री।

'राजप्रश्नीयोपांग सूत्र' (विक्रम की छठी शती) में इनका वर्णन यों किया गया है—

"तस्सजं पौत्थरयणस्स, इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहां-रयणामयाइं पत्तगाइं, रिट्ठामईयों कंवियाओं, तवणिज्जयए दोने, नाजामणिमए गंठी, वेरूलियमणिमए लिप्पासणे, रिट्ठामए छंदणे, तवणिज्जमई संकला, रिट्ठामई मसी वइरामई लइमी, रिट्ठामयाइं अकवराइं, धम्मिए सत्थे। (पृ. 96)"[1]

भौतिक सामग्री में निम्नलिखित वस्तुएँ आती हैं—

(1) **लिप्यासन**—वह वस्तु जिस पर लिखा जाना है; यथा—ईंट, पत्थर, कागज, पत्र (ताड़-पत्र), धातु, चमड़ा, छाल (भूर्जपत्र), पेपीरस, कपड़ा आदि। इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रकार' शीर्षक अध्याय में की गई है क्योंकि लिप्यासन भेद से भी ग्रन्थ-भेद माने जाते हैं।

(2) **मसि**—स्याही।

(3) **लेखनी**—कूंची, टाँकी, कलम आदि।

(4) **डोरा**।

(5) **काष्ठ**—पट्टिकाएँ (काम्बिका)।

(6) **वेष्ठन**—छंदजु (आच्छादन)

(7) **ग्रन्थि**—ताड़पत्र आदि के ग्रन्थों में बीच में छेद करके डोरी पिरोयी जाती है। ग्रन्थ के दोनों ओर इस डोरी के दोनों छोरों पर लकड़ी, हाथी-दाँत, सीप, नारियल आदि की गोल टिकुली में से इस डोरी को निकाल कर गांठ दी जाती है। इन टिकुलियों को भी ग्रन्थि या गांठ कहते हैं।

(8) **हड़ताल या हरताल**—गलत लिखे जाने पर उसे मिटाने का साधन है 'हड़ताल'।

तीसरा पक्ष है—लिपि और लिपिकार—

लिपिकार और लेखक तब ही पर्यायवाची होते हैं, जब लेखक ही लिपिकार का भी काम करता है। दोनों के लिए लिपि-ज्ञान और उसका अभ्यास अवश्य अनिवार्य है। जी. बूहलर ने हमें बताया है कि प्राचीन काल में इन लेखकों या लिपिकारों के लिये निर्देश-ग्रन्थ लिखे गये थे। दो ऐसे ग्रन्थों का उन्होंने उल्लेख भी किया है—(1) लेख पंचाशिका। इसमें निजी पत्रों की रचना का वर्णन ही नहीं है वरन् पट्टों, परवानों तथा राजाओं की संधियों को लिखने का रूप भी बताया गया है। (2) दूसरी पुस्तक है क्षेमेन्द्र व्यासदास रचित 'लोक प्रकाश' जिसके एक भाग में हुंडी, अनुबंध आदि तैयार करने के रूप बताये गये हैं। वत्सराज सुत हरिदास की 'लेखक मुक्ता मणि' का भी यही विषय है। एक ऐसी ही कृति महाकवि 'विद्यापति' की 'लिखनावली' भी है। इसका रचना काल सन् 1418 ई. है।

लेखक—ग्रन्थ रचना में यह सबसे प्रधान पक्ष है।

'लेखक' शब्द लेखन-क्रिया के कर्ता के लिये प्राचीनतम शब्द माना जा सकता है। रामायण एवं महाभारत में इसका उपयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि महाकाव्य-युग में 'लेखक' होना एक व्यवसाय भी था और लेखन-कला की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। पालि में 'विनय-पिटक' के लेखन को एक महत्त्वपूर्ण और श्लाघ्य कला माना गया

---

1. मुनि श्री पुण्यविजय जी—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 18 पर उद्धृत।

है और भिक्खुणियों को लेखन-कला की शिक्षा देने का विधान है ताकि वे पवित्र धर्मग्रन्थों का लेखन कर सकें। इस काल में पिता की इच्छा यही मिलती है कि उसका पुत्र लेखक का व्यवसाय ग्रहण करे, ताकि वह सुखी रह सके। महावग्ग और जातकों में भी ऐसे उल्लेख हैं जिनसे उस काल में लेखन-व्यवसाय विशेषज्ञ का पता चलता है। पोथक (पाण्डुलिपि) लेखक का दो बार उल्लेख मिलता है और यह लेखक व्यावसायिक विशेषज्ञ लेखक ही हो सकता है।

शिला-लेखों के अनुसन्धान से विदित होता है कि सांची स्तूप के एक शिलालेख में 'लेखक' का प्रचीनतम उल्लेख है। यहाँ 'लेखक' लेखन-व्यवसाय प्रवृत्त व्यक्ति ही है, बूह्लर ने इस शिलालेख का अनुवाद करते हुए लेखक का अर्थ 'कापीइस्ट ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स' (Copyist of Mss) या राइटर, क्लर्क ही दिया है। बाद में कितने ही शिलालेखों से सिद्ध होता है कि 'लेखक' शब्द से व्यवसायी लेखन कला विज्ञ का ही अभिप्राय है और इस समय तक 'लेखक-वर्ग' एक व्यवसायवाची शब्द हो गया था। ये लेखक शिलालेखों पर उत्कीर्ण किये जाने वाले प्रारूप तैयार किया करते थे। बाद में लेखक को पाण्डुलिपिकर्ता का कार्य सौंपा जाने लगा—ये लेखक बहुधा ब्राह्मण होते थे, या दरिद्र और थके-माँदे वृद्ध कायस्थ। मन्दिरों और पुस्तकालयों में इन लेखकों की नियुक्ति ग्रन्थ-लेखन के लिये की जाती थी।

लेखक के पर्यायवाची जो शब्द भारतीय परम्परा में मिलते हैं वे हैं[1] लिपिकार या लिबिकार या दिपिकार। इस शब्द का प्रयोग चतुर्थ शती ई.पू. में हुआ मिलता है। अशोक के अभिलेखों में यह शब्द कई बार आया है। इनमें यह दो अर्थों में आया है। एक तो लेखक दूसरे शिलाओं पर लेख उत्कीर्ण करने वाला व्यक्ति। संस्कृत कोषों में इसे लेखक का ही पर्यायवाची माना गया है, जैसे अमरकोश में—''लिपिकारोऽक्षरचणोऽ क्षर चुंचुश्च लेखके''। डॉ. राजबली पाण्डेय ने बताया है कि, A persual of Sanskrit literature and epigraphical documents will show that the 'lekhaka'....and it was employed more in the sense of 'a copyist' and 'an engraver' than in the sense of 'a writer'.[1]

यों 'लिपि' और 'लिपिकार' शब्द का प्रयोग पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी हुआ है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का निष्कर्ष है कि पाणिनि के समय में 'लिपि' का अर्थ होता था लेखन तथा लेख।[2]

---

1. Pandey, R.B.--Indian Palaeography, P. 90.

1. Indian As Known to Panini (अध्याय 5, खण्ड 2, पृ. 311) में बताया है कि गोल्डस्टुकर के मतानुसार 'लेखन-कला' पाणिनि से बहुत पूर्व से प्रचलित थी। पाणिनि की वैदिक साहित्य ग्रन्थ रूप (MSS) में भी उपलब्ध था। डॉ. अग्रवाल का कथन है कि पाणिनि ने 'ग्रन्थ', 'लिपिकार', 'यवनानी लिपि' आदि शब्दों का उपयोग किया है। अत: इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि पाणिनि के समय लेखन कला विकसित हो चुकी थी। डॉ. अग्रवाल ने आगे लिखा है कि—

'(i) Lipikar (III. 2.21) as well as its variant form 'libikara', denoted a writer. The term lipi with its variant was a standing term for writing in the Maurya period and earlier. Dhammalipi. with its alternative form dharmalipi, stands for the Edicts of Asoka engraved on rocks in the third century B.C. An engraver is there referred to as lipikara (M.R.E. II). Kautilya also knows the term : 'A king shall learn the lipi (alphabet) and sankhyana (numbers, Arth 1.5). He also refers to samjna-lipi. 'Code Writing' (Arth.I. 12) used at the espionage Institute. In the Behistum inscription we find lipi for engraved writing. Thus it is certain that lipi in the time of Panini meant writing and script'.

'मत्स्य-पुराण' में लेखक के निम्नांकित गुण बताये गये हैं—

सर्व देशाक्षराभिज्ञ: सर्वशास्त्रविशारद:।
लेखक: कथितो राज्ञ: सर्वाधिकरणेषु वै॥
शीर्षोपेतान सुसंपूर्णन् शुभ श्रेणिगतान् समान्।
अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखक: स वर: स्मृत:॥
उपाय वाक्य कुशल: सर्वशास्त्रविशारद:।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखक: स्यान्नृपोत्तम।
वाजाभिप्राय तत्त्वज्ञो देशकालविभागवित्।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखक: स्यान्नृपोत्तम॥

(अध्याय, 189)

'गरुड़ पुराण' में लेखक के ये गुण बताये गये हैं—

मेधावी वाक्पटु: प्राज्ञ: सत्यवादी जितेन्द्रिय:।
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येष साधु: स लेखक:॥[1]

---

1. लेखक शब्द पर कुछ और रोचक सूचना हमें डॉ. वासुदेवगरण अग्रवाल के लेख 'Notes from the Brahat Kathakosha' से मिलती है। उनका यह लेख 'The Journal of the United Provinces Historical Society, (Vol. XIX, पार्ट I-II, जुलाई- दिसम्बर, 1946) में प्रकाशित है। इसमें पृ. 80-82 में अनुभाग/3 में 'लेखक' शीर्षक से यह बताया है कि मौर्यों के समय से लेखक प्रशासकीय तंत्र का एक सदस्य रहा। कौटिल्य ने संख्याक (Accountant) और लेखक (Clerk) का वेतन 500 कार्षापण वार्षिक बताया है। जैसे-जैसे समय बीता, लेखक के दायित्व में भी वैसे-वैसे ही वृद्धि हुई। फ्लीट के अनुसार हस्तिन् के एक अभिलेख में 'लिखितञ्च' का पाँचवीं शताब्दी में अभिप्राय कोई अभिलेख प्रस्तुत करना था, शिल्पकार (Engraver) के लिए उत्कीर्ण करने के लिए एक प्लेट पर मसौदा तैयार कर देना था।

सातवीं शताब्दी के एक आदेश लेख (निर्माण्ड ताम्रपत्र अभिलेख) में 'लेखक' के उल्लेख से विदित होता है कि राजा के निजी सचिवों में वह सम्मिलित था और उसका अधिकार और कर्तव्य बढ़ गये थे। हरिषेण के कथाकोश में एक लेखक महारानी और मंत्रियों के साथ राजभवन में उपस्थित है। उसकी उपस्थिति में महाराजा के पत्र आते हैं जिन्हें पढ़कर लेखक उसका अभिप्राय बनाता है। राजा ने किसी उपाध्याय के सम्बन्ध में लिखा था कि उसे सुगन्धित उबले चांवल, घी तथा मषी भोजनार्थ दिया जाय। लेखक ने 'मषी' का अर्थ बताया 'कृष्णांगार मषी' अर्थात् कोयले की काली स्याही घी में घोल कर चावल के साथ खाने को दी जाय। स्पष्ट है कि लेखक ने माष या मषी का यथार्थ अर्थ 'दाल' न बताकर काली स्याही बताया। पत्र महारानी के नाम था। उसे पढ़ने का और उसकी व्याख्या का दायित्व लेखक पर था। जब राजा को विदित हुआ तो उसने 'कूढ़भाज' को निकलवा दिया। यह 24वीं कहानी में है। इसी प्रकार की दो अन्य कहानियाँ हैं, दोनों में पत्र महारानी के नाम है। पढ़ना और व्याख्या करना या अर्थ बताना लेखक का काम है। एक में लेखक ने स्तम्भ (खम्भों) के स्थान पर 'स्तभ' पढ़कर अर्थ किया बकरी। अत: राजाज्ञा मानकर एक हजार खम्भों के स्थान पर एक हजार बकरियाँ खरीदी गयीं। एक ऐसे ही पत्र में लेखक ने 'अध्यापय' को 'अन्धपय' पढ़ा और राजकुमार को अन्धा कर दिया। मंत्रीगण और महारानी को उस अर्थ की समीचीनता आदि से कोई लेना-देना नहीं। स्पष्ट है कि लेखक का दायित्व बहुत बढ़ गया था। उसकी व्याख्या ही प्रमाण थी।

यही बातें 'शार्ङ्गधर पद्धति' में भी बताई गई है। 'पत्र कौमुदी' में तो राजलेखक के गुणों की लम्बी सूची दी गई है, इसके अनुसार लेखक को ब्राह्मण होना चाहिये।[1] जो मंत्रणाभिज्ञ हो, राजनीति-विशारद हो, नाना लिपियों का ज्ञाता हो, मेधावी हो, नाना भाषाओं का ज्ञात हो, नीतिशास्त्र-कोविद हो, सन्धि-विग्रह के भेद को जानता हो, राजकार्य में विलक्षण हो, राजा के हितान्वेषण में प्रवृत्त रहने वाला हो, कार्य और अकार्य का विचार कर सकता हो, सत्यवादी हो, जितेन्द्रिय हो, धर्मज्ञ हो और राजधर्म-विद् हो, वही लेखक हो सकता था। स्पष्ट है कि लेखक का आदर्श बहुत ऊँचा रखा गया है। उस काल में लेखक को पाण्डुलिपि लेखक ही मानना होगा, क्योंकि तब मुद्रण यंत्र नहीं थे, अतः लेखक जो रचना प्रस्तुत करता था वह पाण्डुलिपि (मैन्युस्क्रिप्ट) ही होती थी। उस मूल पाण्डुलिपि से अन्य लिपिकार प्रतियाँ प्रस्तुत करते थे और जिन्हें आवश्यकता होती थी उन्हें देते थे। ब्राह्मणों को, मठों और विहारों को ऐसा ग्रन्थ-प्रदान करने का बहुत माहात्म्य माना गया है।

ऊपर के श्लोकों में लेखक के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है 'सर्व देशाक्षराभिज्ञः'—समस्त देशों के अक्षरों का ज्ञान लेखक को अवश्य होना चाहिये। साथ ही 'सर्वशास्त्र समालोकी'—समस्त शास्त्रों में समान गति लेखक की होनी चाहिये। एक पाण्डुलिपिविद् में आज भी ये दो गुण किसी न किसी मात्रा में होने ही चाहिये। यों पाण्डुलिपि विज्ञान विद् विविध लिपिमालाओं से और ज्ञान-विज्ञान कोशों से भी आज अपना काम चला सकता है, फिर भी उसके ज्ञान की परिधि विस्तृत अवश्य होनी चाहिए और उसके लिए सन्दर्भ-ग्रन्थों का ज्ञान तो अनिवार्य ही माना जा सकता है।

ऊपर उद्धृत पौराणिक श्लोकों में जिस लेखक की गुणावली प्रस्तुत की गई है, वह वस्तुतः राज-लेखक है और उसका स्थान और महत्त्व लिखिया या लिपिकार के जैसा माना जा सकता है। हिन्दी में लेखक मूल रचनाकार को भी कहते हैं और लिखिया या लिपिकार को भी विशेषार्थक रूप में कहते हैं।

लिपिकार का महत्त्व विश्व में भी कम नहीं रहा। रोमन साम्राज्य के बिखर जाने पर साम्राज्य की ग्रन्थ सम्पत्ति कुछ तो विद्वानों ने अपने अधिकार में कर ली और कुछ पादरियों (मोंक्स) ने। इस युग में प्रत्येक धर्म-बिहार (मोनस्ट्री) में एक अलग कक्ष पाण्डुलिपि-कक्ष 'स्क्रिप्टोरियम' (Scriptorium) ही होता था। इस कक्ष में पादरी प्राचीन ग्रन्थों की हस्तप्रतियाँ या पाण्डुलिपियाँ स्वयं अपने हाथों से बड़ी सावधानी से तैयार किया

---

1. इस सम्बन्ध में डॉ. राजबली पाण्डेय ने यह मत व्यक्ति किया है—"There is no doubt that the invention of alphabet required some knowledge of linguistics and phonetics and as such it could be under taken only by experts educated and cultured. That is why, for a very long time, the art of writing remained a special preserve of literacy and priestly experts, mainly belonging to the Brahman Class." **—Pandey, R.B. : Indian Palaeography, P. 83.**

   Alphabet या अक्षरावली या वर्णमाला जब बनी तब ब्राह्मण-वर्ण का अस्तित्व था भी, यह अनुसन्धान का विषय है, पर ब्राह्मण धर्म-विधाता थे और वर्णमाला देव-भाषा की थी—अतः उनका उस पर अधिकार हो अवश्य गया।

करते थे। पाण्डुलिपि-लेखन को उन्होंने उच्चकोटि की कला से युक्त कर दिया था। वे विविध प्रकार की चित्र-सज्जा से इन ग्रन्थों को विभूषित करते थे।[1] जैन मन्दिरों और बौद्ध विहारों में भी ऐसा ही प्रबन्ध था।

किन्तु यह बताया जाता है कि इससे पहले प्राचीन पाण्डुलिपियों के लिपिकार वे गुलाम होते थे, जिन्हें मुक्त कर दिया जाता था। रोम में कुछ व्यावसायिक लिपिकार स्त्रियाँ थीं। सन् 231 ई. में जब ओरिगेन ने 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' के सम्पादन-संशोधन का कार्य आरम्भ किया तो सन्त अम्ब्रोज ने लिपि सुलेखन (कैलीग्राफी) में विज्ञ कुछ कुशल अधिकारी (Deacon) एवं कुमारियाँ भेजी थीं। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सुलेखन एक व्यवसाय हो चुका था, जिसमें कुमारियाँ विशेष दक्ष थीं। बाद में, वह लेखन पादरियों का कर्त्तव्य बन गया। इन धर्म-विहारों में जहाँ ग्रन्थ-लेखन-कक्ष रहता था, लिपिकारों की सहायता के लिए पाठ-वक्ता (Dictator) भी रहते थे, जो ग्रन्थ का पाठ बोल-बोल कर लिखाते थे, इसके बाद वह ग्रन्थ एक संशोधक के पास भेजा जाता था, जो आवश्यक संशोधन करके उसे चित्रकार (मिनिएटर) को देता था जो उसे चित्र-सज्जा से सुन्दर बना देता था।[2]

भारत में भी धर्म-विहारों, मन्दिरों, सरस्वती तथा ज्ञान भण्डारों में लेखक-शालाओं का उल्लेख मिलता है। 'कुमारपाल प्रबन्ध' में यह उल्लेख इस प्रकार आया है "एकदा प्रातर्गुरून सर्वसाधूंश्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गता:।" लेखका: कागदपत्राणि लिखन्तो दृष्टा:।[3] जैन धर्म में पुस्तक लेखन को महत्त्वपूर्ण और पवित्र कार्य माना है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योग-दृष्टि-समुच्चय' में 'लेखना पूजनां दानं' में श्रावक के नित्य-कृत्यों में पुस्तक लेखन का भी विधान किया है। जैन-ग्रन्थों से यह भी विदित होता है कि ग्रन्थ-रचना के लिए विद्वान् लेखक को विद्वान् शिष्य और श्रमण विविध सूचनाएँ देने में सहायता किया करते थे।[4] ऐसी भी प्रथा थी कि ग्रन्थ-रचनाकार अपने विषय के मान्य शास्त्रवेत्ता और आचार्य के पास अपनी रचना संशोधनार्थ भेजा करते थे। उनसे पुष्टि पाने के बाद ही इन रचनाओं की प्रतियाँ कराई जाती थीं। भारत में ग्रन्थ-लेखन या लेखक का कार्य पहले ब्राह्मणों के हाथ में रहा, बाद में 'कायस्थों' के हाथ में चला गया। कायस्थ लेखकों का व्यवसायी वर्ग था। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति (1.336) की टीका में मूल पाठ में आये 'कायस्थ' शब्द का अर्थ लेखक ही किया है; 'कायस्थगणका लेखकाश्च'। इसमें सन्देह नहीं कि कायस्थ वर्ग व्यावसायिक लेखकों का वर्ग ही था—यही आगे चल कर जाति के रूप में परिणत हो गया। कायस्थों का लेखन बहुत सुन्दर होता था। 'कायस्थ' शब्द के कई अर्थ किये गये हैं। किन्तु यथार्थ अर्थ यही प्रतीत होता है कि कायस्थ वह है जो काय में स्थित रहे—'काय' मौर्य काल में सेक्रेटेरियट (Secretariate) को कहा जाता था और इसमें स्थित व्यक्ति था कायस्थ।

---

1. The world Book Encyclopedia (Vol. 11), p. 224.
2. Encyclopedia Americana, (Vol. 18), p. 241.
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 25।
4. वही, पृ. 107।

लेखक, लिपिकार, दिपिकार या दिविर के साथ अन्य पर्यायवाची भी भारत में प्रचलित थे ये हैं—करण, कर्णिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन्। डॉ. वासुदेव उपाध्याय[1] ने बताया है कि—

'कायस्थ' शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिए करण, करणिक, करनिन् आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे। चेदिलेख में (करणिक धीर सुतेन) तथा चन्देलों की खजुराहों प्रशस्ति में करणिक शब्द का प्रयोग मिलता है जो सुन्दर अक्षर लिखते थे.........कीलहार्न ने करण को भी कानूनी पत्रों के लेखक के अर्थ में माना है।..........उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रहता था।

शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट का काम भी लेख उत्कीर्ण करना ही था।

पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से 'लिपिकार' का महत्त्व बहुत अधिक है। उसके प्रयत्न के फलस्वरूप ही हमें हस्तलेख प्राप्त हुए हैं। उसकी कला से ग्रन्थ सुन्दर या असुन्दर होता है, उसका व्यक्तित्व ग्रन्थ में दोष भी पैदा कर सकता है। लिपिकार के सम्बन्ध में डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने बताया है कि किसी हस्तलेख की प्रामाणिकता पर भी लिपिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। उन्होंने दस प्रकार के लिपिकार बताये हैं—

(1) जैन श्रावक या मुनि

(2) साधु/सम्प्रदाय-विशेष का या आत्मानंदी।

(3) गृहस्थ।

(4) पढ़ाने वाला (चाहे कोई हो)

(5) कामदार राजघराने के लिपिक

(6) दफ्तरी

पाँचवें और छठे में भेद है। कामदार तो लिपिक के रूप में ही रखे जाते हैं, दफ्तरी अन्य कार्यों के साथ आज्ञा होने पर प्रतिलिपि भी करता था।

(7) व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(8) अवसर विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(9) संग्रह के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(10) धर्म विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

लिपिकार द्वारा प्रतिलिपि में विकृतियाँ

उद्देश्य

लिपिकार से ही लिपिगत विकृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

किसी प्रति का महत्त्व उसमें लिखी रचना अथवा पाठ के कारण ही है। अत: पाण्डुलिपि-विज्ञान एवं पाण्डुलिपि सम्पादन के सन्दर्भ में जितनी भी भूलें सम्भव हो सकती हैं, उनको जानना भी आवश्यक है। सम्पादन में तो उनका निराकरण भी करना होता है।

---

1. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 256-257।

निराकरण प्रधानतया प्रति के 'उद्देश्य' से किया जा सकता है। पाठालोचन के विज्ञान में अभी तक इस ओर इंगित भी नहीं किया गया है। मुख्यत: पाठ सम्बन्धी भूलें/समस्यायें ये होती हैं—

विकृतियाँ :

(अ) सचेष्ट (जानबूझ कर की गयी)

(ब) निश्चेष्ट (अनजाने हो जाने वाली) तथा

(स) उभयात्मक (सचेष्ट-निश्चेष्ट)

ये कई प्रकार से होती हैं या लाई जाती हैं—

(क) मूल पाठ में वृद्धि के लिए।

(ख) मूल पाठ में से कुछ कमी के लिए।

(ग) मूल पाठ के स्थान पर अन्य पाठ बैठाने के लिए।

(घ) मूल पाठ के क्रम में परिवर्तन के लिए।

(ङ) मूल पाठ में मिश्र पाठ की प्रति का अंश ग्रहण करने के लिए, स्वेच्छा से।

(च) मिश्र पाठ की प्रति का किसी एक परम्परा की प्रति से मिलान करते समय स्वेच्छा से।

अन्तिम दोनों का (ङ और च) एक प्रकार से आरम्भिक चारों में से किसी न किसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

ऐसा इसलिए होता है कि इनमें से कोई न कोई भूल हो जाती है—

(क) लिपिभ्रम, लिपि-साम्य।

(ख) वर्ण-साम्य (दूँयूटना या दुबारा लिखना)।

(ग) शब्द-साम्य (दूँयूटना या दुबारा लिखना)।

(घ) लिपिकार द्वारा लिखे गये संकेत चिह्नों को न समझना।

(ङ) शब्द का ठीक अन्वय न कर सकना।

(च) पुनरावृत्ति (पंक्ति, शब्द और अर्द्ध पंक्ति की)।

(छ) स्मृति के सहारे लिखना।

(ज) बोले हुए को सुनकर लिखना। समान ध्वनियों वाली गलतियाँ इसी कारण होती हैं। यहाँ पाठ-वक्ता या पाठ-वाचक के तत्त्व को स्थान देते हैं। क्योंकि लिपिकार अक्षर देख नहीं रहा, सुन रहा है।

(झ) हाशिये में दिये गये पाठ को प्रतिलिपि करते समय सम्मिलित कर लेना। इसके तीन रूप हो सकते हैं—

(1) हाशिये में क्रमशः आई पंक्ति का एक सीध वाली भूल पाठ की पंक्ति में मिश्रण कर लेना।

(2) हाशिये की सम्पूर्ण पंक्तियों या पूरे पाठ का बराबर वाले पूर्ण विराम चिह्न के पश्चात् वाले मूल पाठ के बाद लिखना।

(3) अपवाद (Exception) के तौर पर कभी-कभी सम्पूर्ण हाशिये का पाठ प्रतिलिपि में आदि/अन्त और प्रसंग-विशेष की समाप्ति पर भी ले लिया जाता है। (डॉ. माहेश्वरी को मेहोजी कृत रामायण के विभिन्न हस्तलेखों का पाठ मिलान करने पर ऐसे उदाहरण मिले हैं। पर ऐसा कम ही पाया जाता है।)

इस सम्बन्ध में ऊपर के क्रम सं. (ज) 'बोले हुए को सुनकर लिखना' के तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट करना है। कारण यह है कि अभी तक पाठ-संशोधन-कर्ताओं ने इस ओर जरा सा भी ध्यान नहीं दिया है। इससे भी बड़ा अनर्थ हुआ है। प्राय: इससे भाषा शास्त्रीय अध्येता गलत परिणाम पर पहुँच सकता है और लोग पहुँचे भी हैं।

उदाहरणार्थ—इकारान्त ण ध्वनि 'ण्य' करके इसी 'बोले हुए को सुनकर लिखने' के कारण लिखी गयी मिलती है। नवाणि > नवण्य। इसके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस बात को न समझने के कारण ''नामदेव की हिन्दी कविता'' के सम्पादकों (पूना विश्वविद्यालय) ने इसे एक प्रवृत्ति माना है, जो भूल है। वस्तुत: यह रूप उच्चारण सम्बन्धी इसी विशेषता के कारण है और यह णकार-प्रधान राजस्थानी भाषा की प्रवृत्ति है। ऐसी प्रतियों को 'राजस्थानी' जानकर उनमें आई भूलों का निराकरण इसी दृष्टिकोण (Angle) से करना चाहिये, अन्यथा गलत परिणाम पर पहुँचने की आशंका रहेगी।

ओर > वोर

ओवड़ छेवड़ > वोवड़ छेवड़

दूसरा ऐसा ही एक और उदाहरण दृष्टव्य हैं—बीकानेर, नागौर तथा नागौर से दक्षिण (देवदर तक) के चारों ओर के इलाके (जिसके अन्तर्गत मिलता हुआ जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर राज्यों की सीमा वाला प्रदेश है), की एक विशिष्ट ध्वनि है आ को ओ (आ > ओ) बोलना। यह 'ओ' 'ओ' न होकर ') जैसी ध्वनि है। डाक्टर > डॉक्टर। इस इलाके में व्यापक रूप से यह ध्वनि प्रचलित है। यदि लिपिकार या बोलनेवाला इस इलाके का हुआ और इनमें से कोई भी दूसरा किसी और इलाके का, तो लेखन में अन्तर होगा।

उदाहरणार्थ— कांदा > कोंदा काड़ >.कोड़

(प्याज) (कितनी देर) (काल) (गोंद)

इस स्थिति को न समझने के कारण भी बड़ी भूलें सम्भव हैं।

तीसरा उदाहरण—यह दूसरे के समान व्यापक नहीं है, किन्तु उसे भी ध्यान में रखना चाहिये। फलौदी और पोकरण के बाद पश्चिमोत्तर और पश्चिम की ओर जैसलमेर और पुराने बहावलपुर (अब पाकिस्तान में) तक भविष्यवाचक क्रियारूप 'स्यै' का प्रयोग है। यह एकवचन में 'स्यै' और बहुवचन में ''स्यैं'' है। जायस्यै = जाएगा, जायस्यैं = जाएँगे।

जरा भी असवाधानी से यदि बिन्दी न लिखी या सुनी गई, तो समूचे अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। समूह वाचक संज्ञाओं में तो विशेष तौर से। उदाहरणार्थ—

राज जायस्यें = आप जाएँगे (आदर सूचक प्रयोग)।

राज जायस्यै = राज (नामक व्यक्ति) जाएगा।

चौथा और अन्तिम उदाहरण—मेवाड़ में लिखित प्रतियों के सन्दर्भ में है। गुजराती-बागड़ी-भीली के प्रभाव से अनेक संज्ञा शब्दों पर '॰' लगाने की और लगाकर बोलने की प्रथा है। जैसे, नंदी < नदी। टंका < टका। नंदी का तात्पर्य 'नहीं दीं' से भी है। नदी अर्थात् नदी। टंका अर्थात् समय का एक अंश, साथ ही उक्त से सम्बन्धित मनुष्य भी। जैसे—चार टंका = चार वार खोने वाला मनुष्य अथवा समय का चौथाई 'भाग'। किन्तु टका अर्थात् 2 पैसे।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रवृत्तियों का जानना जरूरी है, जो कि आदि, मध्य या पुष्पिका में लिखी रहती है।

उपर्युक्त समस्त भूलों का निराकरण प्रधानतः तो प्रति 'उद्देश्य' से हो सकता है। उद्देश्य का पता प्रति में हमें इस प्रकार लग सकता है—

(अ) प्रति के प्रथम पत्र के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ मिलता है।

(ब) प्रति के अन्त में पुष्पिका के भी अन्त में अन्तिम पत्र पर लिखा हुआ मिलता है। ये दोनों पत्राकार तथा शेष प्रकार की प्रतियों में पाये जाते हैं।

(स) पुष्पिका के पश्चात् संवत् आदि का उल्लेख करने के बाद मिलता है।

(द) यदि गुटकों, पोथी या पोथियों आदि में कुछ रचनाएँ एक हस्तलेख में हों और कुछ भिन्न में, तो प्रायः एक प्रकार के हस्तलेख के अन्त में मिलते हैं।

कारण—ये संग्रह ग्रन्थ भी हो सकते हैं, जिनमें ध्येय यही रहता है कि अधिक से अधिक रचनाएँ सुविधापूर्वक एक साथ ही सुरक्षित रह सकें। इस कारण विभिन्न प्रकार की प्रतियों को (जो एक आकार के पन्नों पर हों) एकत्र कर जिल्द बंधवा ली जाती हैं। अतः अध्येता को ध्यानपूर्वक मध्य का अंश (जहाँ एक हस्तलेख समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है) देखना चाहिये।

(क) कभी-कभी हाशिये में भी लिखा रहता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं कि उद्देश्य अन्तिम पत्र के हाशिये में स्थान की कमी से नहीं लिखा जा सका, अतः लिपिकार ने उस पत्र के ठीक पूर्व के पत्र के दाएँ हाशिये पर शेषांश लिखा हो। इस पूर्व के पत्र पर लिखित अंश को हाशिये का शेषांश नहीं समझना चाहिये। एकाध प्रतियों में ऐसा भी लिखा मिला है कि उद्देश्य लिखा तो आरम्भ के पन्ने पर है, किन्तु समाप्ति पुष्पिका के पश्चात् की गई है। इसका उद्देश्य प्रति की एकान्विति को द्योतित करना होता है तथा एक लिपिकार द्वारा लिखित है यह निर्दिष्ट करना होता है।

'उद्देश्य' में क्या लिखा रहता है?

निम्नलिखित वाक्यावली से उद्देश्य का पता लगाया जा सकता है। सीधे रूप में तो उद्देश्य कहीं भी लिखा रहता है, यह ध्यान में रखने की बात है। जहाँ ऐसा है भी, वहाँ यह निश्चित समझना चाहिये कि उसमें सचेष्ट विकृतियों के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

(1) लिपिकार अमुक का शिष्य है।

(2) लिपिकार ने अमुक गाँव में/अमुक गाँव में अमुक के घर में/अमुक गाँव के अमुक निवास स्थान पर प्रति लिखी।

(3) लिपिकार ने अमुक 'डेरे' पर/अमुक साथरी में/अमुक देश (बीकाण, जोधाण, जैसाण, मेवाड़ों, ढूँढाड़ों आदि) में लिखी।

(4) लिपिकार ने अमुक समय में/यात्रा (जातरा) में/मन्दिर में/अमुक की सत्संगति में/अमुक अवसर पर (आखातीज, गणेश चौथ, द्यूज, पून्यूं आदि) प्रति लिखी।

(5) लिपिकार ने अमुक के कहने पर/आदेश पर/प्रति लिखी।

(6) लिपिकार ने अमुक के लिए/अमुक की भेंट के लिए/अमुक के पाठ के लिए/अमुक के पढ़ने के लिए/अमुक के संग्रह के लिए/अमुक को सुनाने के लिए लिखी।

(7) लिपिकार ने स्व-पठनार्थ/पाठ के लिए/संग्रह के लिए लिखी।

(8) लिपिकार ने अमुक प्रति के बदले लिखी।

(मूल प्रति नष्ट प्राय: हो रही थी, उसके पाठ को सुरक्षित रखने के लिए)

''अमुक···रै बदलै माँ लिखी,'' या

''अमुक···रै बदलायत लिखी,'' लिखा मिलता है।

(9) ऐसे भी अनेक लिपिकार रहे हैं जिन्होंने प्रचारार्थ/बिक्री के लिए/धर्म भावना से/परिवार और मित्रों में भेंट देने के लिए प्रतियाँ लिखीं हैं। दो के नाम ये हैं—साहबरामजी तथा प्राणसुख (नगीने वाला)।

(10) कई ऐसे भी लिपिकार हैं, जो एक समय एक के शिष्य हैं, बाद की लिखी प्रति में दूसरे के और तीसरी में तीसरे के शिष्य। ध्यानदास, साहबराम, परमानन्द के नाम लिये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि—

(अ) इससे यह न समझना चाहिये कि लिपिकार गुरु बदलता रहा है। अधिकांशत: वह नहीं ही बदलता है। गुरु से यह तात्पर्य है—

(क) पिता जो गृहस्थ त्याग कर संन्यासी हो गये

(ख) विद्या पढ़ाने वाला गुरु

(ग) दीक्षा देने वाला गुरु

(घ) अध्यात्म-पथ-निर्देशक गुरु, एवं

(ङ) सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्त्तक गुरु।

चार-चार [प्रथम चार (क) से (घ) तक] गुरुओं के नाम अनेक प्रतियों में (एक ही प्रति में भी) मिलते हैं। धर्म के क्षेत्र में गुरु भी बदल जाते हैं, किन्तु बहुत कम।

(ब) राजस्थान में एक और विचित्र बात गुरु के सम्बन्ध में है। स्वर्गस्थ गुरु के 'खोले' (गोद) भी किसी वर्तमान गुरु का शिष्य चला जाता है। खोले वह तब जाता है जबकि स्वर्गस्थ गुरु का आरम्भ किया हुआ कार्य उनकी मृत्यु के कारण अधूरा रह गया हो अथवा वर्तमान गुरु के निर्देशन से मृतक गुरु की आकांक्षा-विशेष की पूर्ति के निमित्त भी चला जाता है। ऐसी स्थिति में एक ही प्रति में रचना-विशेष की समाप्ति पर एक जगह एक गुरु का नाम और दूसरी जगह स्वर्गस्थ गुरु का नाम लिखा मिलता है।

किसी भी प्रति के पाठ को ग्रहण करते समय अथवा पाठ-सम्पादन के लिए चुनने के समय उल्लिखित प्रकार से उद्देश्य जानना आवश्यक है। तभी उसकी तुलनात्मक विश्वसनीयता का पता लग सकेगा।

इससे (उद्देश्य से) यह कैसे पता चलता है कि पाठ-सम्बन्धी कैसी और कौन-कौनसी भूलें सम्भव हैं—

नोट : 'सम्भावना' की जा सकती है। निश्चित रूप से तो पाठ-सम्पादन के समय आई विकृतियों आदि के आधार पर ही कहा जा सकता है। सतर्कता के लिए कुछ आवश्यक बिन्दु प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(1) गुरु की कृतियों में, साम्प्रदायिक भावना के अनुसार कुछ समावेश/जोड़-तोड़।

(2) गाँव किसका है? ज्यादा कौन लोग हैं? घर किसका है? बास किसका है? किस पर निर्भर है? जैसे—यदि राजपूतों का गाँव है, तो सम्भव है कि सम्बन्धित प्रति में वह ऐसा नाम बैठा दे जैसा प्राय: राजपूतों के होते हैं क्योंकि पात्र प्रतीक हैं अथवा (युद्ध से सम्बन्धित) घटना में मिश्रण कर दें—उनकी प्रसन्नता हेतु।

यदि घर 'थापनो' का है, तो नाम-साम्य के कारण प्रसिद्ध कवि को भी थापन बना दे, लिपिकार यदि जाति-विशेष का है, तो काव्य-विशेष को भी उस जाति का बना दे।

उदाहरण—सुरजनदासजी पूनिया जाति के थे। पूनिया थापन नहीं होते। थापन लिपिकार ने/थापन के घर में रहकर लिखने वाले ने/थापन के कहने से लिखने वाले ने इनको थापन लिख दिया।

(3) डेरा किसका है? साथरी की शिष्य-परम्परा क्या है? 'देश' का नाम क्या है? प्रथम से गद्दीधारी महन्त का, उसके गुरु का, उसके सम्प्रदाय की मान्यताओं का निदर्शन यत्र-तत्र किया गया मिलेगा। साथरी वाली स्थिति में प्रथम गुरु और उसके किसी शिष्य का नाम-उल्लेख किया गया मिलेगा। 'देश' का नाम लिखने वाला उससे इतर प्रान्त का होगा।

(4) समय क्या था? कौनसी 'जातरा' थी? मन्दिर किसका था? प्रधान उपदेशक कौन था, (उसका सम्प्रदाय और गुरु कौन था) अवसर क्या था? निश्चित है कि यत्र-तत्र इनसे सम्बन्धित पंक्तियाँ (मूल पाठ को तोड़-मरोड़ कर) यदि भावुक हुआ तो भावावेश में लिपिक लिख देगा।

(5) किसके कहने/आदेश पर लिखी, उसकी पूर्वज-पम्परा और मान्यता का समावेश हो सकता है।

(6) इसमें सचेष्ट विकृति के उदाहरण पदे-पदे मिलेंगे। तात्पर्य यह है कि मूल रचना को (यदि वह किसी भी प्रकार से अस्पष्ट, दुरूह और कठिन हो तो भी) सरल करके रखना होता है।

(7) इसमें भी उपर्युक्त (6) बात हो सकती हैं। अन्तर यह है कि इसमें एक विशेष सुरुचि, सफाई और एकान्विती तथा एकरूपता का ध्यान रखा जाता है।

(8) यह मक्षिका स्थाने मक्षिका-पात का उदाहरण है। इस प्रकार की प्रति अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होगी।

(9) इसमें भी (6 व 7) स्थिति आएगी।

(10) ऐसे लिपिकार भी तुलना की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय हैं। उनका ध्येय रचना विशेष को आगे लाना ही प्रायः पाया गया है।

महत्त्वपूर्ण बात :

इस सम्बन्ध में अन्तिम एक बात और है। जहाँ लिपिकार स्वयं कवि हो, स्वयं के पास प्रभूत रचना-सामग्री हो और सम्प्रदाय-विशेष का हो, ऐसी स्थिति में यदि वह ईमानदार है, तब तो ठीक है, अन्यथा बड़ी भारी सतर्कता बरतनी पड़ेगी। यह पता लगाना बड़ा कठिन होगा कि कौनसा अंश किस रूप में उसका स्वयं का है, और कौनसा नहीं। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है, जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि मध्ययुग में पूरक-कृतित्व की भी सुदीर्घ परम्परा रही है। इससे भी अधिक क्षेपकों की। तब प्रश्न यह है—

(1) क्या सम्बन्धित समस्या पूरक-कृतित्त्व या क्षेपक के स्वरूप से उपस्थित हुई है?

(2) क्या वह ऐसे लिपिकार की स्वयं की रचना है?

(3) क्या यत्र-तत्र से कुनबा जोड़ने का प्रयास है?

यदि प्रति एक ही मिलती है तो और भी जटिलता बढ़ती है, क्योंकि तब पाठालोचन की दृष्टि से आँकने का साधन नहीं रहता।

डॉ. माहेश्वरी के इस विवेचन से लिपिकार के एक ऐसे पक्ष पर प्रकाश पड़ता है, जिसे हमें पाठालोचन में भी ध्यान में रखना होगा।

लेखन

डेविड डिरिंजर ने लिखा है कि "प्राचीन मिस्र-वासियों ने लेखन का जन्मदाता या तो थौथ (Thoth) को माना है, जिसने प्राय: सभी सांस्कृतिक तत्त्वों का आविष्कार किया था, या यह श्रेय आइसिस को दिया है, बेबीलोनवासी माईक पुत्र नेवो (Nebo) नामक देवता को लेखन का आविष्कारक मानते हैं। यह देवता मनुष्य के भाग्य का देवता भी है। एक प्राचीन यहूदी परम्परा में मूसा को लिपि (Script) का निर्माता माना गया है। यूनानी पुराणगाथा (मिस्र) में या तो हर्मीज नामक देवता को लेखन का श्रेय दिया गया है, या किसी अन्य देवता को। प्राचीन चीनी, भारतीय तथा अन्य कई जातियाँ भी लेखन का मूल दैवी ही मानते हैं। लेखन का अतिशय महत्त्व ज्ञानार्जन के लिए सदा ही मान्य रहा है, उधर लेखन का अपढ़ लोगों पर जादुई शक्ति के जैसा प्रभाव पड़ता है।"[1]

यह बताया जा चुका है कि लेखन का आरम्भ आदिम आनुष्ठानिक आचरण और टोने के परिवेश में हुआ। यही कारण है कि सभी भाषाएँ और उनकी लिपियाँ दैवी-उत्पत्ति वाली मानी गई हैं और उनकी आरम्भिक रचनाएँ और ग्रन्थ भी दैवी कृति हैं। भारत के वेद अपौरुषैय हैं ही। प्राचीन मिस्र-वासियों ने अपनी प्राचीन भाषा को 'देवताओं की वाणी' या 'मद्वन्त्र' नाम दिया था। मद्वन्त्र (Mdw-ntr) संस्कृत मन्त्र का ही रूपान्तरण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी या आज से कुछ पूर्व भी लेखन-कार्य को धार्मिक महत्त्व दिया गया और लेखक को सब प्रकार की शुचिता से युक्त होकर ही लेखन में प्रवृत्त होने की परम्परा बनी। लेखन-मात्र को इतना पवित्र माना गया कि लिप्यासन—कागज, पत्र आदि भी पवित्र मान लिये गए। भारत में कैसा ही कागज क्यों न हो अब से 20-25 वर्ष पूर्व अत्यन्त पावन माना जाता था। कागज का टुकड़ा भी यदि पैर से छू जाता था तो उसे धार्मिक अवमानना मान कर सिर से लगाते थे और क्षमा-याचना करते थे। जैनियों में 'आशातना' की भावना लेखन की इसी शुचिता के सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। पुस्तक पर थूक आदि अपवित्र वस्तु न लगे, पैर की ठोकर न लगे, इन बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया। यह विधान भौतिक दृष्टि से तो पुस्तक की रक्षा के लिए ही था, जिसे धार्मिक परिवेश में रखा गया। वस्तुत: समस्त 'लेखन' व्यापार के साथ मूल आनुष्ठानिक टोने का परिवेश-भाव भी जुड़ा हुआ है तभी उसके प्रति धार्मिक पावनता का व्यवहार विद्यमान है और धर्म में उसे स्थान मिल सका है।

सम्भवत: इसीलिए बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के अन्त में निम्नलिखित संस्कृत श्लोकों में से एक लिखा हुआ मिलता है—

---

1. Diringer, David—The Alphabet, p. 17.

''जलाद् रक्षेत स्थलाद् रक्षेत, रक्षेत् शिथिल बन्धनात्,
मूर्ख हस्ते न दातव्या, एवं बदति पुस्तिका।''
''अग्ने रक्षेत् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषत:।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्''
''उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्
कष्टेन लिखितं शास्त्र, यत्नेन परिपालयेत''

इन श्लोकों में हस्तलेखों को नष्ट करने वाली वस्तुओं के प्रति सावधान रहने का संकेत है।

जल से ग्रन्थ की रक्षा करनी चाहिये। जल कागज-पत्र को गला देता है, स्याही को फैला देता है या धो देता है और ग्रन्थ को धब्बेदार बना देता है, जल से धातु पर मोर्चा लग जाता है। स्थल से भी रक्षा करनी होती है। कागज पत्र पर धूल पड़ जाती है तो वह जीर्ण होने लगता है, तड़कने लगता है। स्थल में से दीमक आदि निकल कर ग्रन्थ को चट कर जाते हैं, धूल और लू दोनों ही ग्रन्थ को हानि पहुँचाते हैं। अग्नि से ग्रन्थ की रक्षा की जानी चाहिये, इसमें दो मत नहीं हों सकते। चूहों से ग्रन्थ की रक्षा का विशेष प्रयत्न होना चाहिये। ग्रन्थ की रक्षा चोरों से भी करनी चाहिये। ग्रन्थों की चोरी पहले होती थी, और आज भी होती है। हस्तलिखित ग्रन्थ आज अत्यन्त मूल्यावान सामग्री मानी जाती है, अत: हस्तलिखित ग्रन्थ की चोरी आज उससे बड़ी धन-राशि पाने की आशा से की जाती है। इन हस्तलेखों का बाजार आज विदेशों में भी बन गया है, अत: चोरी का भय विशेष बढ़ गया है।

श्लोक में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि शास्त्र ग्रन्थ कष्टपूर्वक लिखा जाता है, अत: यत्नपूर्वक इनकी रक्षा की जानी चाहिये।

अन्य परम्पराएँ

भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखकों द्वारा कुछ परम्पराओं का अनुसरण किया है जो इस प्रकार है—

सामान्य (1) लेखन-दिशा,
(2) पंक्ति बद्धता, लिपि की माप,
(3) मिलित शब्दावली,
(4) विराम चिह्न,
(5) पृष्ठ संख्या,
(6) संशोधन,
(7) छूटे अंश,
(8) संकेताक्षर,

(9) अंक-मुहर (Seal), ये पाण्डुलिपियों में नहीं लगाई जाती थीं, प्रामाणिक बनाने के लिए दानपत्रों आदि और वैसे ही शिलालेखों में लगाई जाती थीं।

(10) लेखन द्वारा अंक प्रयोग (शब्द में भी)

विशेष

विशिष्ट परम्पराओं का सम्बन्ध लेखकों में प्रचलित धारणाओं या मान्यताओं से विदित होता है। ये निम्न प्रकार की मानी जा सकती हैं—

(1) मंगल-प्रतीक या मंगलाचरण

(2) अलंकरण (Illumination)

(3) नमोकार (Invocation)

(4) स्वस्तिमुख (Initiation)

(5) आशीर्वचन (Benediction)

(6) प्रशस्ति (Laudation)

(7) पुष्पिका, उपसंहार (Colophone, Conclusion)

(8) वर्जना (Imprecation)

(9) लिपिकार प्रतिज्ञा

(10) लेखनसमाप्ति शुभ

शुभाशुभ

कुछ बातें लेखन में शुभ कुछ अशुभ मानी गई हैं, ये भी परम्परा से प्राप्त हुई हैं, यथा—

(1) शुभाशुभ आकार

(2) शुभाशुभ लेखनी

(3) लेखन का गुण-दोष

(4) लेखन-विराम में शुभाशुभ

इनमें से प्रत्येक पर कुछ विचार आवश्यक हैं—

सामान्य परम्पराएँ—ये वे हैं जो लेखन के सामान्य गुणों से सम्बन्धित हैं। यथा—

(1) लेखन-दिशा—लेखन की दिशाएँ कई हो सकती हैं। 1—ऊपर से नीचे की ओर[1], 2—दाहिनी से बाईं ओर[2], 3—बायीं से दाहिनी ओर[3], 4—बायी से दाहिनी

---

1. चीनी लिपि।
2. खरोष्ठी लिपि, फारसी लिपि।
3. नागरी (ब्राह्मी)।

ओर पुनः दाहिनी से बायीं ओर।[1] 5—नीचे से ऊपर की ओर। भारतीय लिपियों में ब्राह्मी और उससे जनित लिपियाँ बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं, हिन्दी में इसी परम्परा में देवनागरी या नागरी रूप में बायें से दायें लिखी जाती है। खरोष्ठी दायें से बायें लिखी जाती है, जैसे कि फारसी लिपि, जिसमें उर्दू लिखी जाती है।

साथ ही लेखन में वाक्य-पंक्तियाँ ऊपर से नीचे की ओर चलती है। यही बात ब्राह्मी, नागरी आदि लिपियों पर लागू होती है, खरोष्ठी, फारसी आदि पर भी। पर स्वात के एक लेख में खरोष्ठी नीचे से ऊपर की ओर लिखी गई मिलती है।

(2) पंक्तिबद्धता—लिपि के अक्षरों की माप—पहले भारतीय लिपियों में अक्षरों पर शिरो-रेखाएँ नहीं होती थीं। फिर भी, वे लेख पंक्ति में बाँध कर अवश्य लिखे जाते थे। यह बात मौर्य-कालीन शिलालेखों से भी प्रकट होती है। सभी अक्षर बाएं से दाएं सीधे पड़ी रेखाओं में लिखे गये हैं, मात्राएँ मूलाक्षरों से ऊपर लगाई गई हैं। कुछ व्यतिक्रम अवश्य हैं, पर वे प्रकृति को तो स्पष्ट करते ही हैं। आगे तो रेखाओं के चिह्न बनाकर या अन्य विधि से सीधी पंक्ति में लिखने के सुन्दर प्रयास मिलते हैं। रेखापाटी या कंविका (रूल या पटरी) का उपयोग इसी निमित्त ग्रन्थों में किया जाता था। लिपि के अक्षरों की माप भी एक लेख में बँधी हुई मिलती है, क्योंकि प्रायः प्रत्येक अक्षर लम्बाई-चौड़ाई में समान मिलता है।

(3) मिलित शब्दावली—आज हम जिस प्रकार शब्द-प्रतिशब्द-बद्ध लेखन करते हैं, जिसमें एक शब्द अपने शब्द रूप में दूसरे से अलग बीच में कुछ अवकाश दे कर लिखा जाता है, उस प्रकार प्राचीन काल में नहीं होता था, सभी शब्द एक दूसरे से मिला कर लिखे जाते थे। हम जानते हैं कि यूनानी प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी मिलित शब्दावली का उपयोग हुआ है।[2] यहीं हमें विदित होता है कि 11वीं शताब्दी के आसपास ही अमिलित अलग-अलग सही शब्दों में लिखने की प्रणाली यथार्थतः प्रचलित हुई।

भारत में शिलालेखों और ग्रन्थों में ही यह मिलित शब्दावली मिलती है। इसे भी हम परम्परा का ही परिणाम मान सकते हैं। डॉ. राजबली पांडेय ने बताया है कि भारत में पृथक्-पृथक् शब्दों में लेखन की ओर ध्यान इसलिए नहीं गया क्योंकि यहाँ भाषा का व्याकरण ऐसा पूर्ण था कि शब्दों को पहचानते और उनके वाक्यान्तर्गत सम्बन्धों में भ्रम नहीं रह सकता था। किन्तु क्या 11वीं शताब्दी तथा यूनानी ग्रन्थों में मिलित शब्दावली का भी यही कारण हो सकता है? हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलित शब्दावली की परम्परा मिलती है।

(4) विराम चिह्न—मिलित शब्दावली की परम्परा में विराम-चिह्नों पर भी ध्यान नहीं जाता। प्राचीन कोडैक्स ग्रन्थों की यूनानी पाण्डुलिपियों में सातवीं-आठवीं शताब्दी ई.

---

1. भारत में कहीं-कहीं ही ब्राह्मी लेखों में प्रयोगात्मक।
2. The text of Greek MSS was, with occasional exceptions, written continuously without seperation of words, even when the words were written seperately, the dimentions were often incorrectly made..........." —The Encyclopaedia Americana (Vol 21), P. 166

में विराम-चिह्नों का उपयोग होने लगा था। भारत में पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में ईसवी सन् तक केवल एक विराम चिह्न उद्भावित हुआ था। दंड, एक आड़ी लकीर। इसे कभी-कभी कुछ वक्र (⊃) करके भी लिख दिया जाता था। मंदसौर प्रशस्ति, (473-74 ई.) में विराम चिह्न का नियमित उपयोग हुआ। इसमें पद्य की अर्द्धाली के बाद एक दंड (।) और चरण समाप्ति पर दो दंड (॥) रखे गये हैं। आगे इनका प्रयोग और संख्या भी बढ़ी। भारत में मिलने वाले विराम चिह्न ये हैं।

।, ।।, T (यह उत्तर में नहीं मिलता), ⊃।, ⊃ᑕ, ᒍᒐ, ⊣। ╖ ⊃T, ।।।, −, ⌒ या ⊃ या ⌒⊃[1], ≂[2], ⁏[3] ।।·, ⊃·, ∂, Ð

इन चिह्नों के साथ अंक तथा मंगल चिह्न भी विराम चिह्नों की भाँति प्रयोग में लाये जाते रहे हैं।

(5) पृष्ठ संख्या—हस्तलिखित ग्रन्थ में यह परम्परा प्राप्त होती है कि पृष्ठ के अंक या संख्या नहीं दी जाती, केवल पन्ने के अंक दिये जाते हैं। ताम्र पत्रों पर भी ऐसे ही अंक दिये जाते थे। यह संख्या पन्ने (पत्र) की पीठ वाले पृष्ठ पर डाली जाती थी, इसलिए उसे सांक पृष्ठ कहा जाता था, यों कुछ ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनमें पन्ने के पहले पृष्ठ पर ही अंक डाल दिये गए हैं।

किन्तु प्रश्न यह है कि यह पृष्ठ संख्या किस रूप में डाली जाती थी? इस सम्बन्धं में मुनिजी ने बताया है[4] कि "ताड़पत्रीय जैन पुस्तकों में दाहिनी ओर ऊपर हाशिये में अक्षरात्मक अंक और बायीं ओर अंकात्मक अंक दिये जाते थे। जैन छेद आगमां और उनकी चूर्णियों में पाठ, प्रायश्चित, भंग आदि का निर्देश अक्षरात्मक अंकों में करने की परिपाटी थी। 'जिन कला सूत्र' के आचार्य श्री जिन भद्रिमणि क्षमा श्रमण कृत भाष्य में मूलसूत्र का गाथांक अक्षरात्मक अंकों में दिया गया है।"

मुनि पुण्य विजय जी ने अक्षरांकों के लिए जो सूची[5] दी है वह पृष्ठ 38 पर है। पृष्ठ 39 पर ओझाजी की सूची है।

इन अंकों को दान-पत्रों और शिलालेखों में और पाण्डुलिपियों में किस प्रकार लिखा जाता था, यह ओझा जी ने बताया है, जो यों है—"प्राचीन शिला-लेखों और दान-पत्रों में सब अंक एक पंक्ति में लिखे जाते थे परन्तु हस्तलिखित पुस्तकों के पत्रांकों में चीनी अक्षरों की नांई एक दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। ई.सं. की छठी शताब्दी के आस-पास

---

1. ई.पू. दूसरी शताब्दी से ई. सातवीं तक यह '⌒' चिह्न, (दण्ड) के स्थान पर प्रयुक्त होता रहा है।
2. ईसवी सन् की प्रथम से आठवीं शताब्दी तक दो दण्डों के स्थान पर।
3. कुषाण-काल में और बाद में ≂ के स्थान पर।
4. मुनि श्री पुण्य विजयजी—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 62।
5. वही पृष्ठ 63।

मि. बाबर के प्राप्त किये हुए ग्रन्थों में भी पत्रांक इसी तरह एक-दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। पिछली पुस्तकों में एक ही पन्ने पर प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों से भी अंक लिखे मिलते हैं। पन्ने के दूसरी तरफ के दाहिनी ओर के ऊपर की तरफ के हाशिये पर तो अक्षर संकेत से, जिसको अक्षर-पल्ली कहते थे, और दाहिनी तरफ के नीचे के हाशिये पर नवीन शैली के अंकों से, जिनको अंक-पल्ली कहते थे।''[1]

१=१. नं. स्व. स्व, श्री, श्री

२=२. न. सि, सिं, श्री. श्री

३=३. म०, श्री, श्रीं, श्री

४=ह्व. ह्क, ष्क, ष्का, र्ष्क. र्ष्का, ष्क, ष्का, ष्क, ष्का. ष्क

५=तृ, र्तृ, नृ. र्नृ. नृ र्नृ तृ, र्तृ, न, ना, ता. र्ता. ना, र्ना

६=फ्र, फ्रं, फ्रा, फ्रा, फ्र. फ्रं. फ्रा. फ्रा. फु, फुं, फु, फुं, ग्रर

७=ग्र, ग्रं, ग्रा. ग्रां

८=ह्र, र्ह्र, ह्रा, र्ह्रा, ह्र

९=ॐ. उँ. उँ

दशक अंक

१=ऌ, र्ऌ
२=घ, घा
३=ल. ला
४=प्त. र्प्त, प्ता, र्प्ता
५=c, G, ᘓ, ε, ə
६=घु, र्घु
७=प्क. र्प्क. प्कु. र्प्कु.
८=ए. ए
९=ॐ. ॐ. ε३. ॐ
०=०

शतक अंक

१=सु, र्सु
२=सू, स्त, स्त
३=स्ता, स्ता, स्ता
४=स्ता, स्ता, स्ता
५=स्तो, स्तो. स्तो
६=स्तं, स्तं, स्तं
७=स्तः, स्तः, स्तः

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. 108।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की सूची भी 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' से यहाँ दी जाती है—[1]

१-ए. ख और ॐ
२-द्वि. स्ति और न
३-त्रि. श्री और म
४-ङ्क, ङ्क, ङ्का, ष्क, ष्कं. ष्क. र्क ष्क (प्कं). कं. कं. र्फ और पु
५-तृ, र्तृ, र्त्रा, तृ. ह और नृ
६-फ्र, फ्रं, र्फु, घ्र, भ्र, पु, व्या और फ्ल
७=ग्र, ग्रा, ग्रीं, र्ग्भ्री, र्ग्गा, और भ्र
८-ह्र. ह्रं, ह्रीं, और द्व
९=ओ, उँ, उ, उं, ॐ, अ और र्नु
१०=लृ. र्लृ. ळ, राट, ळ, अ और र्ता
२०=थ, था. र्थ, र्था, घ. घं, प्व और ब
३०=ल, ला, र्ल और र्ला
४०=प्त, र्प्त, प्ता, र्प्ता और प्र
५०=ɞ, ɞ, ɞ, ɞ, ɔ और णू
६०-चु, बु, घु, थु, र्थु, थृ. र्थृ, र्घु, र्घु और घु
७०=चु, चू, थू, र्थू, घूं और र्म्त
८०=ɷ, ɷ, ɷ. ɷ, ɷ और पु
९०=ɷ, ɷ, ɷ, ɷ और ɷ
१००=सु, सू, लु और अं
२००=सु, सु, र्सु, आ, लू और र्घू
३००=स्ता, सा, ञा, सा, सु, सुं और सू
४००=सूं, स्तो, और स्त्र

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. 107।

नेपाल, गुजरात, राजपूताना आदि में यह अक्षर-क्रम ई.स. की 16वीं शताब्दी तक कहीं-कहीं मिल जाता है। जैसे कि,

३३= ष्ट्रा, १००=सु, १०२=सु. १३१=सू. १५०=सु. २०६=सु

आदि।

(6) संशोधन—संशोधन का एक पक्ष तो उन प्रमादों से सावधान करता है, जो लिपिकार से हो जाते हैं, और जिसके कारण पाठ भेद की समस्या खड़ी हो जाती है। यह पाठालोचन के क्षेत्र की बात है और वहीं इसकी विस्तृत चर्चा की गयीहै।

दूसरा पक्ष है हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखन की त्रुटि का संशोधन जो स्वयं लिपिकार ने किया है। मुनि पुण्य विजय जी ने ऐसी 16 प्रकार की त्रुटियाँ बतायी हैं, और इन्हें ठीक करने या इनका संशोधन करने के लिए लिपिकारों द्वारा एक चिह्न-प्रणाली अपनायी जाती है, उसका विवरण भी उन्होंने दिया है।

ऐसी त्रुटियों के सोलह प्रकार और उनके चिह्न नीचे दिये जाते हैं—

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
1. पतित पाठ (कहीं किसी अक्षर या शब्द का छूट जाना 'पतित पाठ') है	पतित पाठ दर्शक चिह्न को 'हंस पग' या 'मोर पग' कहा गया है। हिन्दी में 'काक पद' कहते हैं।	^.V.Y.X.X
2. पतित पाठ विभाग	पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न	
3. 'काना' (मात्रा की भूल)	काना दर्शक चिह्न	'रेफ' के समान होने से भ्रान्ति के कारण यह भी पाठ-भ्रान्ति में सहायक होता ही है।
4. अन्याक्षर: (किन्हीं प्राय: समान-सी ध्वनि वाले अक्षरों में से अनुपयुक्त अक्षर लिख दिया गया।)	अन्याक्षर वाचन दार्शक चिह्न	W जिस अक्षर पर यह चिह्न लगा होगा, उसका शुद्ध अक्षर उस स्थान पर मानना होगा। यथा: W सत्रु। जहाँ स पर यह चिह्न है W

1	2	3
		अत: इसे 'श' पढ़ना होगा, खत्रिय पढ़ा जायगा 'क्षत्रिय'।
5. उलटी-सुलटी लिखाई	पाठपरावृत्ति दर्शक चिह्न	2, 1 लिखना था 'बनचर' लिख गये 'वनचर' तो इसे ठीक करने के लिये व च र (च के ऊपर २, व के ऊपर १) लिखा जायगा। 2 1 च न का अर्थ होगा कि 'न' पहले 'च' दूजे पढ़ा जायगा। अधिक उलट सुलट हो तो क्रम से 3, 4 और अन्य अंकों का प्रयोग भी हो सकता है।
6. स्वर-संधि की भूल	स्वर संध्यंशदर्शक चिह्न	अ= ऽ, आ= ा'ऽ', ऽऽ, इ= c'e'ऽ ऽ ई = ई' - ', उ = 6'ऽ. ऊ= ऊ. ऋ= ऋ ए = ए. ऐ= ऐ ओ = ा, औ= अ अं= ऽं
7. पाठ भेद*	पाठ भेद दर्शक चिह्न	प्र. पा., प्रत्यं. पाठां., प्रत्यन्तरें पाठांतरम्
8. पाठ भेद	पाठानुसंधान दर्शक चिह्न	उ. पं. उउ. पं शुं. नी. पं. नी
9. मिलित पदों में भ्रान्ति	पदच्छेद दर्शक चिह्न या वाक्यार्थ समाप्ति दर्शक चिह्न या पाद विभाग दर्शक चिह्न	'ɪ' यह मिलित पदों के ऊपर लगाया जाता है
10. विभाग-भ्रान्ति*	विभाग दर्शक चिह्न	| |
11. पदच्छेद भ्रान्ति*	एकपद दर्शक चिह्न	,||,

1	2	3
		ऐसे दो चिह्नों के बीच में प्रस्तुत पद में पदच्छेद-निषेध सूचित होता है।
12. विभक्ति वचन* भ्रान्ति	विभक्ति वचन दर्शक चिह्न ये चिह्न विभक्ति और वचन में भ्रान्ति न हो इसलिए लगाये जाते हैं।	11, 12, 13 23,32,41,53,62,73,82 ये जोड़े से अंक आते हैं, जिनमें से पहला अंक विभक्ति-द्योतक (1 = प्रथमा 6 षष्ठी आदि) तथा दूसरा वचन द्योतक होता है। (1 = एक वचन, 2 = द्विवचन, 3 = बहुवचन) जैसे 11 का अर्थ है प्रथमा एक वचन।
13. पदों के अन्वय में भ्रान्ति*	अन्वयदर्शक चिह्न	शिरोभाग पर अन्वय क्रम 3 1 द्योतक अंक-यथा न ततोऽर्थान्तरं 4 2 स्वसंवेदनं प्रत्यक्षम् यहाँ 1 संख्या वाला पद पहले; 2 का उसके बाद, 3 उसके बाद तथा उसके बाद 4 अंक वाला इस क्रम में अन्वय होता है। ठीक अन्यव हुआ—ततोऽर्थान्तरं प्रत्यक्षं न स्वसंवेदनम्।
14. विशेषण-भ्रम विशेष्य-भ्रम*	विशेषण विशेष्य सम्बन्ध दर्शक चिह्न	U, कभी-कभी, वाक्यों में, प्रायः लम्बे वाक्यों में विशेषण कहीं और विशेष्य कहीं पड़ जाता है तब शिरोपरि लगाये गये उक्त चिह्नों से विशेषण-विशेष्य बताये जाते हैं, इससे भ्रान्ति नहीं हो पाती।

कुछ अन्य सुविधाओं के लिए कुछ अन्य चिह्न भी मिलते हैं जिनसे 'टिप्पणी' का पता चलता है, अथवा किसी शब्द का किसी दूसरे पद से विशिष्ट सम्बन्ध विदित हो जाता है।

ऊपर के विवरण से यह भी स्पष्ट होगा कि ये चिह्न दो अभिप्राय सिद्ध करते हैं— एक तो इनसे लिपिकार की त्रुटियों का संशोधन हो जाता है, तथा दूसरे, पाठक को पाठ ग्रहण करने में सुविधा हो जाती है। हमने जिन पर पुष्प (*) लगाए हैं, वे त्रुटि मार्जन के लिए नहीं, पाठक की सुविधा के लिए है।

(7) छूटे अंश की पूर्ति के चिह्न

भूल से कभी कोई शब्द, शब्दांश, या वाक्यांश लिखने से छूट जाते हैं तो उसकी पूर्ति के कई उपाय शिलालेखों या पाण्डुलिपियों में किये गये मिलते हैं।

पहले जैसा अशोक के शिलालेखों में मिलता है, जहाँ छूट हुई वहाँ उस वाक्य के ऊपर या नीचे छूटा हुआ अंश लिख दिया जाता था। कोई चिह्न-विशेष नहीं रहता था।

फिर ऊपर संशोधक चिह्नों में 'पतित पाठ दर्शक चिह्न' बताया गया है। इसे हंस-पग, मोर पग या काक पद कहते हैं। इसे छूट के स्थान पर लगा कर छूटा पद पंक्ति के ऊपर या हाशिये में लिख दिया जाता है। पतित पाठ का अर्थ ही छूटा हुआ पद है। काक पद V∧ ⩛ ∠ ये भी हैं और × + ये भी हैं।

किन्तु कभी-कभी इस कट्टम (× +) के स्थान पर स्वस्तिक 卐 का प्रयोग भी मिलता है। यह भी छूट का द्योतक है और काक पद का ही काम करता है।

कुछ अन्य चिह्न

卐 स्वस्तिक का उपयोग कहीं-कहीं एक और बात के लिए भी होता आया है— जहाँ कहीं प्रतिलिपिकार को अर्थ स्पष्ट रहता है, वह समझ नहीं पाता है तो वह वहाँ यह स्वस्तिक लगा देता है या फिर 'कुंडल' (O) लगा देता है। कुंडल से वह उस अंश को घेर देता है, जो उसे अस्पष्ट लगा या समझ में नहीं आया।

(8) संकेताक्षर या 'संक्षिप्ति चिह्न'[1] (Abbreviations)

भारत में शिलालेखों तथा पाण्डुलिपियों में संक्षिप्तीकरण पूर्वक संकेताक्षरों की परिपाटी आन्ध्रों और कुषाणों के समय से विशेष परिलक्षित होती है। विद्वानों ने ऐसे संकेताक्षरों की सूची अपने ग्रन्थों में दी है। वह यों है—

(1) सम्वत्सर के लिए सम्व, संव, सं या स.

(2) ग्रीष्म[2]—ग्री. (गृ.) गै. गि. या गिगृहन

(3) हेमन्त—हे.

(4) दिवस-दि.

(5) शुक्ल पक्ष दिन—सु. सुदि. या सुति.। शुक्ल पक्ष को शुद्ध भी कहा जाता है।

---

1. यह पर्याय प्रो. वासुदेव उपाध्याय द्वारा दिया गया है, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 206।
2. उपाध्याय जी ने गृष्म रूप दिया है। वही, पृ. 260।

(6) बहुल पक्ष दिन—ब., ब.दि., या बति.

(7) द्वितीय—द्वि.

(8) सिद्धम्—ओ.श्री.सिं.

(9) राउत—रा.

(10) दूतक—दू. (संदेश वाहक या प्रतिनिधि)

(11) गाथा—गा.

(12) श्लोक—श्लो.

(13) पाद—पा.

(14) ठक्कुर—ठ.

(15) एद. ॥ या एर्द. ॥—'ओंकार' का चिह्न

कुछ लोगों का विचार रहा है कि यह चिह्न सं. 980 है। जैन-शास्त्र-लेखन इसी संवत् से आरम्भ हुआ पर मुनि पुण्यविजय जी इसे 'ओं०' का चिह्न मानते हैं।

(16) [illegible] ये चिह्न कभी-कभी ग्रन्थ की समाप्ति पर लगे मिलते हैं।

(17) [illegible] ये 'पूर्ण कुम्भ' के द्योतक चिह्न हैं। जो 'मंगल वस्तु' है।

किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों के अन्त में ये चिह्न मिलते हैं। मुनि पुण्यविजयजी का विचार है कि पाण्डुलिपियों में अध्ययन, उद्देश्य, श्रुतस्कंध, सर्ग, उच्छवास, परिच्छेद, लंभक, कांड आदि की समाप्ति को एकदम ध्यान में बैठाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बनाने की परिपाटी थी, ये चिह्न भी उसी निमित्त लिखे गये हैं।

(10) लेखक द्वारा अंक लेखन

ऊपर हम अक्षरों से अंक लेखन की बात बता चुके हैं, पर ग्रन्थों में तो शब्दों से अंक द्योतन की परिपाटी बहुत लोकप्रिय विदित होती है। पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में जहाँ रचना काल आदि दिया गया है वहाँ कितने ही रचयिताओं ने शब्दों से अंक का काम लिया है।[1]

---

1. कुछ ग्रन्थों में से उदाहरण इस प्रकार हैं—

3 2 6 1
(अ) गुणनयनरसेन्दु मिते वर्षे भाव प्रकरणवि चूरि :

7 8 4 . 1
(ब) मुनि वसु सागर सितकर मित वर्षे सम्यक्त्व कौमुदी।

1 1 8 1
(स) संवत ससिकृतवसु ससी आस्वनि मिति तिथि नाग,
दिन मंगल मंगल करन हरत सकल दुख दाग।

4 1 8 1
(द) वेद इन्दु गज भू गनित संवत्सर कविवार,
श्रावन शुक्ल त्रयोदशी रच्यौ ग्रन्थ सुविचारि।

6 7 7 1
(य) रस सागर रवितुरंग विधु संवत मधुर वसंत,
विकस्यो 'रसिक रसाल' लखि हुलसत सुहृद व सन्त।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं के ग्रन्थों में शब्दों से अंक सूचित करने की परिपुष्ट प्रणाली मिलती है। भा. जैन श्रम. सं. तथा भा. प्रा. लि. मा. में 'अंकों' के लिए उपयोग में आने वाले शब्दों की सूची दी गई है। ओझा जी का यह प्रयत्न प्राचीनतम है, भा. जैन श्र. सं. बाद की कृति है। दोनों के आधार पर यह सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि पहले इकाई की संख्या वाचक फिर दहाई एवं सैकड़े व हजार की संख्या के बोधक शब्दों का प्रयोग होता है जैसे कि पाद टिप्पणी का भाग अ संवत् (1623) को बता रहा है।

0— शून्य, ख, गगन, आकाश, अम्बर, अभ्र, वियत्, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, पूर्ण, रन्ध्र आदि। + बिन्दु, छिद्र।

1— आदि, शशि, इन्दु, चन्द्र, शीतांशु, शीतरश्मि, सोम, शशांक, सुधांशु, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुंधरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, कु, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, आदि। + कलि, सितरुच, निशेश, निशाकर, औषधीश, क्षपाकर, दाक्षायणी–प्राणेश, जैवातृक।

2— यम, यमल, अश्विन, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ, आदि। + श्रुति, श्रोत्र।

3— राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत् भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, सहोदरा, अग्नि, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन, कृशानु, होतृ आदि। + त्रिपदी, अनल, तत्त्व, त्रैत, शक्ति, पुष्कर, संध्या, ब्रह्म, वर्ण, स्वर, पुरुष, अर्थ, गुप्ति।

4— वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, जलधि, उदधि, जलनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश, दिशा, बन्धु, कोष्ठ, वर्ण आदि। + वार्द्धि, नीरधि, नीरनिधि, वारिधि, वारिनिधि, अंबुनिधि, अंमोधि, अर्णव, ध्यान, गति, संज्ञा, कषाय।

5— बाण, शर, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, इन्द्रिय, रत्न आदि। + अक्ष, वर्ष्म, व्रत, समिति, कामगुण, शरीर, अनुत्तर, महाव्रत, शिवमुख।

6— रस, अंग, काम, ऋतु, मासार्थ, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क कारक, आदि। + समास, लेश्या, क्षमाखंड, गुण, गुहक, गुहवक्त्र।

7— नग, अंग, भूभृत, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरंग, वाजि, द्वन्द्व, धी, कलत्र आदि।+ हय, भय, सागर, जलधि, लोक।

8— वसु, अहि, नाग, गज, दंति, दिग्गज, हस्तिन्, मातंग, कुंजर, द्वीप, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ, मंगल, आदि। + नागेन्द्र, करि, मद, प्रभावक, कर्मन, धी गुण, बुद्धि गुण, सिद्ध गुण।

9— अंक, नन्द, निधि, ग्रह, रन्ध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन आदि। + खग, हरि, नारद, रव, तत्त्व, ब्रह्म गुप्त, ब्रह्मवृति, ग्रैवेयक।

10— दिश, दिशा, आशा, अंगुलि, पंक्ति, कुकुभ, रावणशिरं, अवतार, कर्मन आदि। + यतिधर्म, श्रमणधर्म, प्राण।

11— रुद्र, ईश्वर, हर, ईश, भव, भर्ग, हूलिन, महादेव, अक्षौहिणी आदि। + शूलिन।

12— रवि, सूर्य, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि। + दिनकर, उष्णांशु, चक्रिन, भावना, भिक्षु प्रतिमा, यति प्रतिमा।

13— विश्वदेवाः, काम, अतिजगती, अघोष आदि + विश्व, क्रिया स्थान, यक्षः।

14— मुन, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोक आदि। + वासव, भुवन, विश्व, रत्न, गुणस्थान, पूर्व, भूतग्राम, रज्जु।

15— तिथि, घर, दिन, अह्न, पक्ष आदि। + परमार्थिक।

16— नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, आदि। + इन्दुकला, शशिकला।

17— अत्यष्टि।

18— धृति, + अब्रह्म, पापस्थानक।

19— अतिधृति।

20— नख, कृति।

21— उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग।

22— कृति, जाति, + परीषह।

23— विकृति।

24— गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध।

25— तत्त्व।

27— नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि।

32— दन्त, रद + रदन।

33— देव, अमर, त्रिदश, सुर।

40— नरक।

48— जगती।

49— तान, पवन।

+ 64 — स्त्री कला।

+ 72 — पुरुष कला।

यह बात यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि एक ही शब्द कई अंकों के पर्याय के रूप में आया है। उदाहरणार्थ—तत्त्व 3, 5, 9, 25 के लिए आ सकता है। उपयोग कर्ता और अर्थ कर्ता को उसका ठीक अर्थ अन्य सन्दर्भों से लगानां होगा।

साहित्य में भी कवि-समय या काव्य रूढ़ि के रूप में संख्या को शब्दों द्वारा बताया जाता है। साहित्य-शास्त्र के एक ग्रन्थ से यहाँ शब्द और संख्या विषयक तालिका उद्धृत की जाती है जो 'काव्य कल्पलता वृत्ति' में दी गयी है।

संख्या		पदार्थ
एक	—	आदित्य, मेरु, चन्द्र, प्रासाद, दीपदण्ड, कलश, खंग, हर नेत्र, शेष, स्वर्दण्ड, अंगुष्ठ, हस्तिकर, नासा, वंश, विनायक-दन्त, पताका, मन, शक्राश्व, अद्वैतवाद।
दो	—	भुज, दृष्टि, कर्ण, पाद, स्तन, संध्या, राम-लक्ष्मण, शृंग, गजदन्त, प्रीति-रति, गंगा-गौरी, विनायक-स्कन्द, पक्ष, नदीतट, रथधुरी, खंग-धारा, भरत-शत्रुघ्न, राम-सुत, रवि-चन्द्र।
तीन	—	भुवन, वलि, वह्नि, विद्या, संध्या, गज-जाति, शम्भुनेत्र, त्रिशिरा, मौलि, दशा, क्षेत्रपाल-फण, काल, मुनि, दण्ड, त्रिफला, त्रिशूल, पुरुष, पलाश-दल, कालिदास-काव्य, वेद, अवस्था, कम्बु-ग्रीवारेखा, त्रिकूट-कूट, त्रिपुर, त्रियामा, यामा, यज्ञोपवीत सूत्र, प्रदक्षिणा, गुप्ति, शल्य, मुद्रा, प्रणाम, शिव, भवमार्ग, शुमेतर।
चार	—	ब्रह्मा के मुख, वेद, वर्ण, हरिभुज, सूर-गज-रद, चतुरिका स्तम्भ, सघ, समुद्र, आश्रम, गो-स्तन, आश्रम कषाय, दिशाएँ, गज, जाति, याम, सेना के अंग, दण्ड, हस्त, दशरथ-पुत्र, उपाध्याय, ध्यान, कथा, अभिनय, रीति, गोचरण, माल्य, संज्ञा, असुर, भेद, योजनक्रोश, लोकपाल।
पाँच	—	स्वर, बाण, पाण्डव, इन्द्रिय, करांगुलि, शम्भुमुख, महायज्ञ, विषय, व्याकरणांग, व्रत-वह्नि, पार्श्व, फणि-फण, परमेष्ठि, महाकाव्य, स्थानक, तनु-वात, मृगशिर, पंचकुल, महाभूत, प्रणाम, पंचोत्तर, विमान, महाव्रत, मरुत्, शस्त्र, श्रम, तारा।
छः	—	रस, राग, ब्रज-कोण, त्रिशिरा के नेत्र, गुण, तर्क, दर्शन, गुहमुख।
सात	—	विवाह, पाताल, शक्रवाह-मुख, दुर्गति, समुद्र, भय, सप्तपर्ण-पर्ण।
आठ	—	दिशा, देश, कुम्भिपाल, कुल, पर्वत, शम्भू-मूर्ति, वसु, योगांग, व्याकरण, ब्रह्म, श्रुति अहिकुल।
नौ	—	सुधा-कुण्ड, जैन पदम्, रस, व्याघ्री-स्तन, गुप्ति, अधिग्रह।
दश	—	रावण-मुख, अंगुली, यति-धर्म, शम्भु, कर्ण, दिशाएँ, अंगद्वार, अवस्था-दश।
ग्यारह	—	रुद्र, अस्त्र, नेत्र, जिनमतोक्त अंग, उपांग, ध्रुव, जिनोपासक, प्रतिमा।
बारह	—	गुह के नेत्र, राशियाँ, मास, संक्रान्तियाँ, आदित्य, चक्र, राजा, चक्रि, सभासद्।

तेरह — प्रथम जिन, विश्वेदेव।

चौदह — विद्या-स्थान, स्वर, भुवन, रत्न, पुरुष, स्वप्न, जीवाजीवोपकरण, गुण, मार्ग, रज्जु, सूत्र, कुल, कर, पिण्ड, प्रकृति, स्रोतस्विनी।
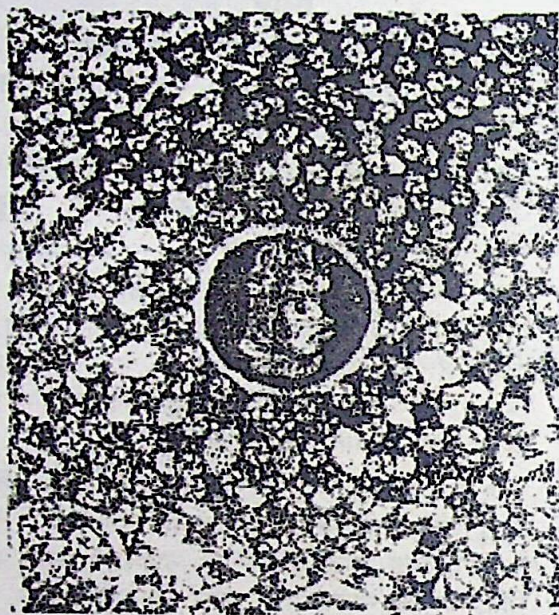
मंगल प्रतीक

मंगल प्रतीक

पन्द्रह — परम धार्मिक तिथियाँ, चन्द्रकलाएँ।

सोलह — शशिकला, विद्या देवियाँ।

सत्रह — संयम

अट्ठारह — विद्याएँ, पुराण, द्वीप, स्मृतियाँ।

उन्नीस — ज्ञाताध्ययन

बीस — करशाखा, सकल-जन-नख और अंगुलियाँ, रावण के नेत्र और भुजाएँ।

शत — कमल दल, रावणाँगुलि, शतमुख, जलधि-योजन, शतपत्र-पत्र, आदिम जिन-सुत, धृतराष्ट्र के पुत्र, जयमाला, मणि हार, स्रज, कीचक।

सहस्त्र — अहिपति मुख, गंगामुख, पंकज-दल, रविकर, इन्द्रनेत्र, विश्वामित्राश्रम वर्ष, अर्जुन-भुज, सामवेद की शाखाएँ, पुण्य-नर-दृष्टि-चन्द्र।[1]

यहाँ तक हमने सामान्य परम्पराओं का उल्लेख किया है।

विशेष में ऐसी परम्पराएँ आती हैं, जिनके साथ विशिष्ट भाव और धारणाएँ संयुक्त रहती हैं, इनमें कुछ आनुष्ठानिक भाव, टोना या धार्मिक सन्दर्भ रहता है। साथ ही ग्रन्थेतर कोई अन्य अभिप्राय भी संलग्न रहता है। इस अर्थ में हमने 10 बातें ली हैं—

(1) मंगल-प्रतीक—मंगल-प्रतीक या मंगलाचरण-शिलालेख, लेख या ग्रन्थ लिखने से पूर्व मंगल-चिह्न या प्रतीक जैसे स्वस्तिक 卐 या शब्द बद्ध मंगल आदि अंकित करने की प्रथा प्रथम शताब्दी ई.पू. के अन्तिम चरण से और ई. प्रथम के आरम्भ से मिलने लगती है। इससे पूर्व के लेख बिना मंगल-चिह्न, प्रतीक या शब्द के सीधे आरम्भ कर दिये जाते थे। मंगलारंभ के लिए सबसे पहले 'सिद्धम्' शब्द का प्रयोग हुआ, फिर इसके लिए एक चिह्न परिकल्पित हुआ। ⅁ पहले यह चिह्न और 'सिद्ध' दोनों साथ-साथ आये फिर अलग-अलग भी इनका प्रयोग हुआ। वस्तुतः यह चिह्न 'ओ०' ⅁ का स्थानापन्न है। आगे चलकर 'इष्ट सिद्धम्' का उपयोग हुआ भी मिलता है, पर 'सिद्धम्' बहुत लोकप्रिय रहा।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी में एक और प्रतीक मंगल के लिए काम में आने लगा यह था 'स्वस्ति'। इसके साथ 'ओम' भी लगाया जाता था, 'स्वस्ति' या 'ओम स्वस्ति' कभी-कभी 'ओम' के लिए '१' का प्रयोग भी कर दिया जाता था।

'ओम', 'ओम् स्वस्ति' या 'स्वस्ति' मात्र के साथ 'स्वस्ति श्रीमान्' भी इसी भाव से लिखा मिलता है। फिर कितने ही मंगल प्रतीक हैं, जैसे—स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वामी महासेन ओम् स्वस्ति अमर संकाश, स्वस्ति जयत्यमल, ओम् श्री स्वामी महासेन,

---

1. हमने यह तालिका प्रो. रामचन्द्र दुबे के 'भारतीय साहित्य' (अप्रैल, 1957) में प्रकाशित (पृ. 194-196) लेख से ली है।

ओम् स्वस्ति जयत्काविष्कृतम्, ओम स्वस्ति जयश्चाम्युदयश्च। ओम् नमः शिवाय अथवा नमश्शिवाय, श्री ओम् नमः शिवाय, श्री ओम् नमः शिवाभ्याम्, ओम् ओम् नमो विनायकाय, ओम् नमो वराहाय, ओम् श्री आदि—वाराहाय नमः, ओम् नमो देवराज—देवाय, ओम नमः सर्वज्ञाय। ये शिलालेखों आदि से प्राप्त मंगल-प्रतीक हैं। पर हस्तलेखों-पाण्डुलिपियों में हमें 'जिन' स्मरण मिलता है या अपने सम्प्रदाय के संस्थापक का 'ओम् निम्बार्काय' या 'वाग्देवी' का स्मरण 'ओम् सरस्वत्यः नमः' और सामान्यतः 'श्री गणेशाय नमः' मिलता है। राम-सीता, कृष्ण-राधा का स्मरण भी मिलता है। इस प्रकार की अनेक विधियों से पाण्डुलिपियों में मंगल शब्द मिलते हैं जिनका काल-क्रम निर्धारण नहीं किया गया, जैसा कि शिलालेखों के मंगल वाचकों का हुआ है।

(2) नमस्कार (Invocation)—ऊपर के विवरण में हम मंगल या स्वस्ति के साथ 'नमस्कार' को भी मिला गये हैं। 'नमोकार' या 'नमस्कार' एक अन्य भावाश्रित तत्त्व है। इसको अंग्रेजी में डॉ. पांडेय ने INVOCATION (इनवोकेशन) का नाम दिया है। वस्तुतः जिस माँगलिक शब्द-प्रतीक में 'नमो'—कार लगा हो वह इंवोकेशन या नमोकार ही है। सबसे प्राचीन नमोकार खारबेल के हाथी-गुम्भा वाले अभिलेख में आता है। सीधे सादे रूप में 'नमो अर्हंतानाम्' एवं 'नमो सर्व सिद्धानाम्' आता है।[1] शिलालेखों में जिनको नमस्कार किया गया है वे हैं—धर्म, इन्द्र, संकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य, महिमावतानाम्, लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर, वासव, अर्हत, वर्द्धमान, बुद्ध, भागवत-बुद्ध, संबुद्ध, भास्कर, विष्णु, गरुड़, केतु (विष्णु) शिव, पिनाकी, शूलपाणि, ब्रह्मा, आर्या वसुधारा (बौद्धदेवी)। हिन्दी पाण्डुलिपियों में यह नमोकार विविध देवी-देवताओं से सम्बन्धित तो होता ही है, सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक गुरुओं के लिए भी होता है।

(3) आशीर्वचन या मंगल कामना (Benediction)—यों तो 'मंगल-कामना' के बीज-रूप अशोक के शिलालेखों में भी मिल जाते हैं, किन्तु ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में मंगलकामना का रूप निखरा और यह विशेष लोकप्रिय होने लगी। वस्तुतः गुप्त-काल में इसका विकास हुआ और भारतीय इतिहास के मध्ययुग में यह परिपाटी अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई।

(4) प्रशस्ति (Laudation)—किये गये कार्य की प्रशंसा और उसके शुभ फल का उल्लेख प्रशस्ति में होता है, इसमें शुभ कार्य के कर्ता की प्रशस्ति भी गर्भित रहती है।

---

1. इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजय जी का यह कथन है कि "भारतीय आर्य संस्कृति ना अनुयायियों कोई पण कार्यनी शुरुआत कांई न कांई नानुं के मोदुं मंगल करीने जेज करे छे अे शाश्वत नियमानुसार ग्रन्थ लेखना आरम्भ माँ हरेक लेखकों उें नम ऐं नमः जयत्यनेकांतकण्ठी रवः, नमो जिनाय, नमः श्री गुरुभ्यः, नमो बीतरागायः, ॐ नमः सरस्वत्यै, ॐ नमः सर्वज्ञाय, नमः श्री सिद्धार्थसुताय इत्यादि अनेक प्रकारना देव गुरु धर्म इष्टदेवता आदि ने लगता सामान्य के विशेष मंगलसूचक नमस्कार करता लगता..........."
—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 57-58।

इसका बीज तो अशोक के अभिलेखों में भी मिल जाता है। इनमें नैतिक और धार्मिक कृत्यां, फलतः उनके कर्त्ताओं की सन्तुलित प्रशस्ति या प्रशंसा मिलती है।

गुप्त एवं वाकाटक काल में प्रशस्ति-लेखन एक नियमित कार्य बन गया और इसमें विस्तार भी आ गया, इनमें दानदाताओं की प्रशंसा के साथ उन्हें अमुक दिव्य फल की प्राप्ति होगी, वह भी उल्लेख किया गया है। आगे चल कर धर्म शास्त्रों एवं स्मृतियों के अंश भी पावन कार्य की प्रशंसा में उद्धृत किये गये मिलते हैं, यथा—

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥
षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदेत भूमिदः।
(दामोदरपुर ताम्रपत्रानुवास्तवे)[1]

विद्यापति की कीर्तिलता में यह प्रशस्ति अंश इस प्रकार आया है—

गेहे गेहे कलौ काव्यं, श्रोतातस्य पुरे पुरे ॥1॥
देशे देशे रसज्ञाता, दाता जगति दुर्लभः ॥2॥[2]

बाद में यह परम्परा लकीर-पीटने की भाँति रह गई।

(5) वर्जना-निन्दा-शाप (Imprecation)—इसका अर्थ होता है किसी दुष्कृत्य की अवमानना या भर्त्सना, जिसे, शाप के रूप में अभिव्यक्ति किया जाता है। इसे किसी शिलालेख, अनुशासन, या ग्रन्थ में लिखने का अभिप्राय यही होता था कि कोई उक्त दुष्कृत्य न करे जिससे वह शाप का भागी बन जाये। ऐसी निन्दा के बीज हमें अशोकाभिलेखों में भी मिलते हैं—यथा, यह परिस्रव है जो अपुण्य है (एसतु पीरस्तवे य अपुंञ)। निन्दा या शाप-वाक्यों का नियमित प्रयोग चौथी शताब्दी ईसवी से होने लगा था। छठी से तेरहवीं ईसवी शताब्दी के बीच यह निन्दा-परम्परा लकीर पीटने का रूप ग्रहण कर लेती है। बाद में कुछ शिलालेखों में इसके स्थान पर केवल 'गद्धे गलस' अर्थात् 'गदहा शाप' गंवारू गाली के रूप में लिखा गया हैं और एक में तो गदहे का ही रेखांकन कर दिया गया है। भारतीय मध्य-युगीन भाषाओं की काव्य-परम्परा में खल-निंदा का भी यही स्थान है। इसके द्वारा अशोभनीय कार्य न करने की वर्जना अभिप्रेत होती है।

(6) उपसंहार : पुष्पिका—उपसंहार या समाप्ति की पुष्पिका में इन बातों का समावेश रहता था—

(1) रचनाकार—(कवि आदि) का नाम, लेखादि को अनुष्ठित कराने वाले या अनुष्ठाता का नाम, उत्कीर्ण कर्ता का नाम, दूतक का नाम।

---

1. Pandey, R.B.—Indian Palaeography, p. 163.
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.)—कीर्तिलता, पृ. 4।

(2) काल—रचना काल, तिथि आदि, लेखन काल, प्रतिलिपि काल।

(3) स्वस्तिवचन—यथा : एवं संगर-साहस-प्रमथन प्रारब्ध लब्धेदया ।258।
पुष्णति श्रियमाशाशंकघरणीं श्री कीर्तिसिंहोनृपः ।259।

(4) निमित्त—

(5) समर्पण, यथा—माधुर्य-प्रभवस्थली गुरु यशो-विस्तार शिक्षा सखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलतु कवेर्विद्याप्रतेभारती।[1]

(6) स्तुति—

(7) निन्दा—

(8) राजाज्ञा—(जिससे यह कृति यों प्रस्तुत की गई)

यथा—संवत् 747 वैशाख शुक्ल तृतीय तिथौ। श्री श्री जय जग
ज्योतिर्म्मल्ल-देव-भूपानामाज्ञया दैवज्ञ-नारायण-सिंहेन
लिखितमिदं पुस्तकं सम्पूर्णमिति शिवम्

शुभाशुभ

भारतीय परम्परा में प्रत्येक बात के साथ शुभाशुभ किसी न किसी रूप में जुड़ा ही हुआ है। ग्रन्थ-रचना की प्रक्रिया में भी इसका योग है।

पुस्तक का परिमाण क्या हो, इस सम्बन्ध में 'योगिनी तन्त्र' में यह उल्लेख है—

मानं वक्ष्ये पुस्तकस्य श्रणु देवि समासतः।
मानेनापि फलं विद्यादमाने श्रीर्हंता भवेत्।
हस्तमानं पुष्टिमान मा बाहु द्वादशां गुलम्।
दशांगुलं तथाष्टौ चततो हीनं न कारयेत्।

इसमें विधान है कि परिमाण में पुस्तक हाथ भर, मुठ्ठी भर, बारह उंगली भर, दस उँगली भर और आठ उँगली भर तक की हो सकती है। इससे कम होने से 'श्री हीनता' का फल मिलता है। श्री हीन होना अशुभ है।

कैसे पत्र पर लिखा जाय? 'योगिनी तन्त्र' में बताया है कि भूर्जपत्र, तेजपत्र, ताड़पत्र, स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, केतकी पत्र, मार्तण्ड पत्र, रौप्यपत्र, बट-पत्र पर पुस्तक लिखी जा सकती है, अन्य किसी पत्र पर लिखने से दुर्गति होती है। जिन पत्रों का ऊपर उल्लेख हुआ है उन पर लिखना शुभ है, अन्य पर लिखना अशुभ है।

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.)—कीर्तिलता, पृ. 314।
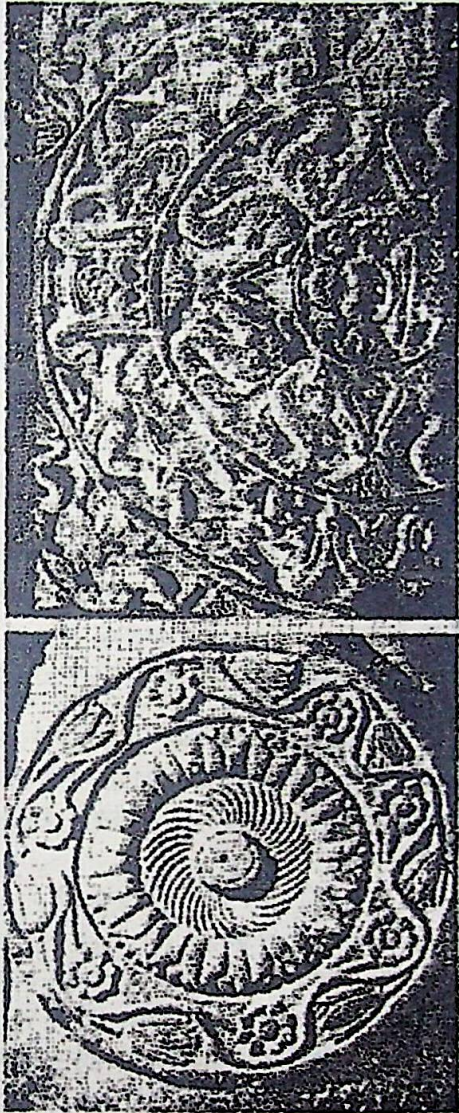
मंगल प्रतीक

इसी प्रकार 'वेद' को पुस्क रूप में लिखना निषिद्ध बताया गया है। जो व्यक्ति लिख कर वेदां का पाठ करता है उसे ब्रह्महत्या लगती है, और घर में लिखा हुआ वेद रखा हुआ हो तो उस पर वज्रपात होता है।
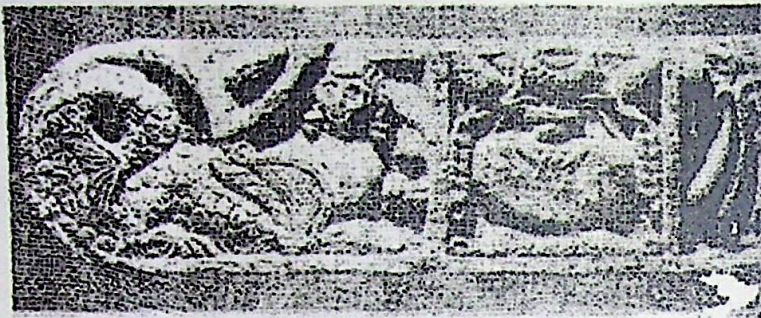
मंगल प्रतीक

लेखक विराम में शुभाशुभ

भा.जै.श्र.सं. में शुभाशुभ की एक और परम्परा का उल्लेख हुआ है। यदि लेखक या प्रतिलिपिकार लिखते-लिखते बीच में किसी कार्य में लेखन-विराम करना चाहता है तो उसे शुभाशुभ का ध्यान करना चाहिये।

उसे क, ख, ग, च, छ, ज, ठ, ढ, ण, थ, द, ध, न, फ, भ, म, य, र, ष, स, ह, क्ष, ज्ञ पर नहीं रुकना चाहिये। इन पर रुकना अशुभ माना गया है। शेष में से किसी भी अक्षर पर रुकना शुभ है।

अशुभ अक्षरों के सम्बन्ध में अलग-अलग अक्षर की फल श्रुति भी उन्होंने दी है। 'क' कट जावे, 'ख' खा जावे, 'ग' गरम होवे, 'च' चल जावे, 'छ' छटक जावे, 'ज' जोखिम लावे, 'ठ' ठाम न बैठे, 'ढ' ढह जाये, 'ण' हानि करे, 'थ' थिरता या स्थिरता करे, 'द' दाम न दे, 'ध' धन छुड़ावे, 'न' नाश या नाठि करे, 'फ' फटकारे, 'भ' भ्रमावे, 'म' मठ्ठा या मन्द है, 'य' पुनः न लिखे, 'र' रोवे, 'ष' खिंचावे, सन्देह धरे, 'ह' हीन हो, 'क्ष' क्षय करे, 'ज्ञ' ज्ञान न हो।

जिन्हें शुभ माना गया है उनकी फल-श्रुति इस प्रकार है—

'घ' घरुड़ी लावे, 'झ' झट करे, 'ट' टकावी (?) राखे, 'ड' डिगे नहीं, 'त' तुरन्त लावे, 'प' परमेश्वर का है, 'ब' बनिया है, 'ल' लावे, 'व' वावे (?), 'श' शान्ति करे।

इसमें मारवाड़ की एक और परम्परा का भी उल्लेख किया गया है वहाँ 'व' अक्षर आने पर ही लेखन-विराम किया जाता है और बहुत जल्दी उठना आवश्यक हुआ तो एक अन्य कागज पर 'व' लिख कर उठते हैं।

शुभाशुभ सम्बन्धी सभी बातें अन्ध-विश्वास मानी जायेंगी पर ग्रन्थ-रचना या ग्रन्थ-लेखन या प्रतिलिपिकरण में ये परम्पराएँ मिलती हैं, अतः पाण्डुलिपि-विज्ञान के ज्ञानार्थी के लिए यहाँ दे दी गई हैं।

भारतीय भावधारा के अनुसार लेखन प्रक्रिया में आने वाली सभी वस्तुओं के साथ गुण-दोष या शुभ-अशुभ की मान्यता से एक टोने या अनुष्ठान की भावना गुथी रहती है।

इसी प्रकार 'लेखन' के लिए जो अनिवार्य उपकरण है उस लेखनी के साथ भी यह धार्मिक भावना हमें ग्रन्थों में वर्णित मिलती है—

लेखनी : शुभाशुभ

लेखनी के सम्बन्ध में ये प्रचलित श्लोक ''भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला'' में दिये गये हैं—

ब्राह्मणी श्वेतवर्णाच, रक्तवर्णाच क्षत्रिणी,
वैश्यवी पीतवर्णाच:, आसुरी श्यामलेखिनी ॥1॥
श्तेवे सुखं विजानीयात्, रक्ते दरिद्रता भवेत्।
पीते च पुष्कला लक्ष्मी:, आसुरी क्षयकारिणी ॥2॥
चिताग्रे हरते पुत्रमाधोमुखी हरते धनम्।
वामे च हरते विद्यां दक्षिणां लेखिनीं लिखेत् ॥3॥
अग्र ग्रन्थिहरेदायुर्मध्य ग्रन्थिहरेद्धनम्।
पृष्ठग्रन्थिहरेत सर्व निग्रन्थिं लेखिनीं लिखेत् ॥4॥
नवांगुलभिता श्रेष्ठा, अष्टौ वा यदि वाऽधिका,
लेखिनीं लेखयेन्नित्यं धन-धान्य समागम: ।5।
इति लेखिनी विचार: ॥[1]
अष्टाङ्गुलप्रमाणेन, लेखिनी सुखदायिनी,
हीनाया: हीनं कर्मस्यादधिकस्याधिकं फलम् ॥1॥
आद्य ग्रन्थीहरेदायुर्मध्य ग्रन्थी हरेद्धनम्
अन्त्य ग्रन्थीहरेन्सोख्यं, निर्ग्रन्थी लेखिनी शुभा ।[2]।
माथे ग्रन्थी मत (मति) हरे,
बीच ग्रन्थी धन खाय,
चार तसुनी लेखणे
लखनारो कट जाय ।1।[3]

इन श्लोकों से विदित होता है कि लेखनी के रंग, उससे लिखने के ढंग, लेखनी में गाँठें, लेखनी की लम्बाई आदि सभी पर शुभाशुभ फल बताये गये हैं, रंग का सम्बन्ध वर्ण से जोड़ कर लेखनी को भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का माना गया है—

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 34।
2. यह श्लोक स्व. चिमनलाल द. दलाल द्वारा सम्पादित 'लेख पद्धति' में भी आया है।
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 34।

सफेद वर्ण की लेखनी ब्राह्मणी — इसका फल है सुख

लाल वर्ण की क्षत्राणी — इसका फल है दरिद्रता

पीले वर्ण की वैश्यवी — इसका फल है पुष्कल धन

श्याम वर्ण की आसुरी होती है एवं इसका फल होता है धन-नाश।

किन्तु इस समस्त शुभ-अशुभ के अन्तरंग में यथार्थ अर्थ यही है कि निर्दोष लेखनी ही सर्वोत्तम होती है, उसी से लेखक को लेखन करना उचित है।

वैसे 'लेखनी' एक सामान्य शब्द है, जिसका प्रयोग तूलिका, शलाका, वर्णवर्तिका,[1] वर्णिका[2] और वर्णक[3] सभी के लिए होता है। पत्थर और धातु पर अक्षर उत्कीर्ण करने वाली शलाका भी लेखनी है। चित्रांकन करने वाली कूँची तूलिका भी लेखनी है, अतः लेखनी का अर्थ बहुत व्यापक है। लेखन के अन्य उपकरणों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। बूह्लर ने बताया है कि "The general name of 'an instrument for writing' is lekhani, which of course include the stilus, pencils, brushes, reed and wooden pens and is found already in epics"[4]

नरसल या नेजे की लेखनी का प्रयोग विशेष रहा। इसे 'कलम' कहा जाता है।[5] इसके लिए भारतीय नाम है इषीका या ईषिका जिसका शब्दार्थ है नरसल (Reed)।

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में कलम शीर्षक से यह सूचना दी है कि—

विद्यार्थी लोग प्राचीन काल से ही लकड़ी के पाटों पर लकड़ी की गोल तीखे मुख की कलम (वर्णक) से लिखते चले आते हैं। स्याही से पुस्तकें लिखने के लिए नड (बरू) या बाँस की कलमें (लेखनी) काम में आती है। अजंता की गुफाओं में जो रंगों से लेख लिखे गये हैं वे महीन बालों की कलमों (वर्तिका) से लिखे गये होंगे। दक्षिणी शैली के ताड़पत्रों के अक्षर कुचरने के लिए लोहे की तीखे गोल मुख की कलम (शलाका) अब तक काम में आती है। कोई-कोई ज्योतिषी जन्मपत्र और वर्षफल के खरड़ों के लम्बे हाशिये तथा आड़ी लकीरें बनाने में लोहे की कलम को अब तक काम में लाते हैं, जिसका ऊपर का भाग गोल और नीचे की स्याही के परकार जैसा होता है।[6]

पाश्चात्य जगत् में एक ओर तो पत्थरों और शिलाओं में उत्कीर्ण करने के लिए छैनी (Chisel) को आवश्यक माना गया है, वहीं लेखनी के लिए पंख (पर या पक्ष), नरसल

---

1. दशकुमार चरित में।
2. कोशों में।
3. ललित-विस्तर में।
4. Buhler, G.—Indian Palaeography, p. 147.
5. वही, 147।
6. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 157।

या धातु शलाका का भी उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य जगत् में पंख की लेखनी का प्राचीनतम उल्लेख 7वीं शती ई. में मिलता है।[1]

कोडैक्स आधुनिक पुस्तक का पूर्वज है। यह एक प्रकार से दो या अधिक काष्ठ-पाटियों से बनती थी। ये काष्ठ पाटियाँ एक छोर पर छेदों में से लौह-छल्लों से जुड़ी रहती थीं। इन पर मोम बिछा रहता था। इस पर एक धातु शलाका से खुरच कर या कुरेद (उकेर) कर अक्षर लिखे जाते थे।

"One wrote or scratched (which is the original meaning of the world) with a sharply pointed instrument, the stylus which had at the other end a flat little spatula for erasing, like the eraser at the end of the modern pencil".[2]

यह स्टाइलस ओझा जी की बताई शलाका जैसी ही विदित होती है। इसी से मोमपाटी पर अक्षर उत्कीर्ण किये जाते थे।

स्याही

श्री गोपाल नारायण बहुरा के शब्दों में 'स्याही' विषयक चर्चा की भूमिका यों दी जा सकती है—

यों तो ग्रन्थ लिखने के लिए कई प्रकार की स्याहियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है परन्तु सामान्य रूप से लेखन के लिए काली स्याही ही सार्वत्रिक रूप में काम में लाई गई है। काली स्याही को प्राचीनतम संस्कृत में 'मषी' या 'मसि' शब्द से व्यक्त किया गया है। इसका प्रयोग बहुत पहले से ही शुरू हो गया था।

जैनों की मान्यता है कि कश्यप ऋषि के वंशज राजा इक्ष्वाकु के कुल में नाभि नामक राजा हुआ। उसकी रानी मरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह ऋषभ ही नाभेय ऋषभदेव नाम से जैनों में आदि तीर्थङ्कर माने जाते हैं। कहते हैं कि आदिनाथ ऋषभदेव से पूर्व पृथ्वी पर वर्षा नहीं होती थी, अग्नि की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, कोई कँटीला वृक्ष नहीं था और संसार में विद्या तथा चतुराईयुक्त व्यवसायों का नाम भी नहीं था। ऋषभ ने मनुष्यों को तीन प्रकार के कर्म सिखाये—(1) असिकर्म अर्थात् युद्ध विद्या, (2) मासिकर्म अर्थात् स्याही का प्रयोग करके लिखने-पढ़ने की विद्या, और (3) कृषि कर्म अर्थात् खेती-बाड़ी का काम। इसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का ही रूप माना जा सकता है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् से 470 वर्ष पूर्व और ईसा से 526 वर्ष पूर्व माना गया है। कहते हैं कि इससे 3 वर्ष आठ मास और दो सप्ताह बाद पाँचवें और का आरम्भ हुआ है जो 21 हजार वर्ष तक चलेगा। इससे मषी कर्म के आरम्भ का अनुमान लगाया जा सकता है।

मसि, मशि या मषी का अर्थ कज्जल है। 'मसी कज्जलम्', मेला मसी पत्रांजनं च स्यान्मसिर्द्धयोरिसि त्रिकाण्डशेषः। काली स्याही के निर्माण में भी कज्जल ही प्रमुख वस्तु

---

1. Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p. 241.
2. Op. cit., (Vol. 4), p. 225.

है। इसीलिये स्याही के लिए भी मषी शब्द प्रयुक्त हुआ है। काली स्याही बनाने के कई नुस्खे मिलते हैं। उनमें कज्जल का प्रयोग सर्वत्र दिखाई देता है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये कि ताड़-पत्र और कागज पर लिखने की काली स्याहियाँ बनाने के प्रकारों में भी अन्तर है। ताड़पत्र वास्तव में काष्ठ जाति का होता है और कागज की बनावट इससे भिन्न होती है। इसलिए इन पर लिखने की स्याही के निर्माण में भी यत्किंचित् भिन्नता है।

स्याही बनाने में कज्जल और जल के अतिरिक्त अन्य उपकरणों का मिश्रण करने की कल्पना बाद की होगी। प्राचीन उल्लेखों में केवल जल और कज्जल के ही सन्दर्भ मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि इन दोनों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की गणना रही हो। पुष्पदन्त विरचित महिम्नःस्तोत्र के एक श्लोक में स्याही, कलम, दवात और पत्र का सन्दर्भ हैं—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्त्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानमीश पारं न याति॥

अर्थात् श्वेतगिरि (हिमालय) जितना बड़ा ढेर कज्जल का ही, जिसे समुद्र जितने बड़े पानी से भरे पात्र (दवात) में घोला जाय, देव वृक्ष (कल्प वृक्ष) की शाखाओं से लेखनी बनाई जाय (जो कभी समाप्त न हो) और समस्त पृथ्वी को पत्र (कागज) बनाकर शारदा स्वयं सरस्वती लिखने बैठै और निरन्तर लिखती रहे तो भी हे! ईश तुम्हारे गुणों का पार नहीं है।

महिम्नः स्तोत्र का रचनाकाल 9वीं शताब्दी से पूर्व का माना गया है किन्तु उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर कहा गया है कि मूल स्तोत्र के तो 31 ही श्लोक हैं जो अमरेश्वर के मन्दिर में उत्कीर्ण पाये गये हैं। 15 श्लोक बाद में स्तोत्र पाठकों द्वारा जोड़ लिये गये हैं।[1]

परन्तु यह निश्चित है कि विस्तृत पत्र और स्याही आदि लेखन के आवश्यक उपकरणों के व्यापक प्रयोग के प्रमाण 8वीं शताब्दी के साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं— सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' कथा में भी एक ऐसा ही उद्धरण मिलता है—

'त्वत्कृते यानया वेदानुभूता सा यदि नमः पत्रायते सागरो लीलायते ब्रह्मा लिपिकरायते भुजगपतिर्वाक्कथकः तदा किमपि कथमप्येकेकैर्युगसहस्रैरभि लिख्यते कथयते वा।'[2]

अर्थात् आपके लिए इसने जिस वेदना का अनुभव किया है उसको यदि स्वयं ब्रह्मा लिखने बैंठे, लिपिकार बने, भुजगपति शेषनाग बोलने वाला हो (साँप की जीभ जल्दी चलती है) और लिखने वाला इतनी जल्दी-जल्दी लिखे कि कलम डुबोने से सागर रूपी दवात में हलचल मच जाये तो भी कोई एक हजार युग में थोड़ा बहुत ही लिखा जा सकता है।

---

1. Brown, W. Normon–The Mahimnastava (Introduction), p. 4-6.
2. शुक्ल, जयदेव (सं.)—वासवदत्ता कथा, पृ. 39।

पाश्चात्य जगत् में हमें प्राचीनतम स्याही काली ही विदित होती है। सातवीं शती ईस्वी में काली स्याही के लेख मिल जाते हैं। यह स्याही दीपक के काजल या धुँये से तो बनती ही थी, हाथी-दाँत को जलाकर भी बनायी जाती थी। कोयला भी काम में आता था।[1] बहुत चमचमाती लाल स्याही का उपयोग भी होता था, विशेषत: आरम्भिक अक्षरों के लेखन में तथा प्रथम पंक्ति भी प्राय: लाल स्याही से होती थी। नीली स्याही का भी नितांत अभाव नहीं था। हरी और पीली स्याही का उपयोग जब कभी ही होता था। सोने और चाँदी से भी पुस्तकें लिखी जाती थीं।

भारत में हस्तलेखों की स्याही[2] का रंग बहुत पक्का बनाया जाता था। यही कारण है कि वैसी पक्की स्याही से लिखे ग्रन्थों के लेखन में चमक अब तक बनी हुई है। विविध प्रकार की स्याही बनाने के नुस्खे विविध ग्रन्थों में दिये हुए हैं। वैसे कच्ची स्याही भी बनाई जाती रही है। पक्की और कच्ची स्याही के अन्तर का एक रोचक ऐतिहासिक कथांश 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में डॉ. ओझा ने दिया है। वह वृत्त द्वितीय राजतरंगिणी के कर्त्ता जोनराज द्वारा दिया गया है और उनके अपने ही एक मुकदमें से सम्बन्धित है।

जोनराज के दादा ने एक प्रस्थ भूमि किसी को बेची। उनकी मृत्यु हो जाने पर खरीदने वाले ने जाल रचा। वैनामे में था—'भूप्रस्थमेमकं विक्रीतम्'। खरीदने वाले ने उसे 'भूप्रस्थ दशकं विक्रीतम्' कर दिया। जोनराज ने यह मामला राजा जैनोल्लाभदीन के समक्ष रखा। उसने उस भूर्ज-पत्र को पानी में डाल दिया। फल यह हुआ कि नये अक्षर धुल गए और पुराने उभर आये, जोनराज जीत गये। "(जोनराजकृत राजतरंगिणी श्लोक 1025-37)।"[3] प्रतीत होता है कि नये अक्षर कच्ची स्याही से लिखे गये थे, पहले अक्षर पक्की स्याही के थे। भोजपत्र को पानी में धोने से पक्की स्याही नहीं धुलती, वरन् और अधिक चमक उठती है। कच्ची-पक्की स्याहियों के भी कई नुस्खे मिलते हैं—

"भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला" में बताया है कि पहले ताड़-पत्र पर लिखा जाता था। तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ताड़-पत्र पर लिखने की स्याही का उल्लेख मिलता है। ये स्याहियाँ कई प्रकार से बनती थीं—'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' में ये नुस्खे दिये हुए हैं जो इस प्रकार हैं—

---

1. The Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p. 241.
2. भारत में स्याही का पर्यायवाची मसी या मषी था। प्राचीन काल में इन्हीं का उपयोग होता था। ई.पू. के ग्रन्थ 'गृह्य-सूत्र' में यह शब्द आया है। 'मसी' का अर्थ डॉ. राजबली पांडेय ने बताया है—मसलकर बनाई हुई। व्हूलर ने इसका अर्थ चूर्ण या पाउडर बताया है। स्याही के लिए एक दूसरा 'मेला' शब्द भी प्राचीन काल में कहीं-कहीं प्रयोग में आता था। वूहलर ने 'मेला' की व्युत्पत्ति 'मैला' से मानी है। मैला = dirty : black : गंदा या काला। डॉ. पाण्डेय ने ठीक बताया है कि यह अनु शब्द 'मैला' नहीं 'मेला' ही है जो मेल से बना है। स्याही में विविध वस्तुओं का मेल होता है। स्याही— स्याहकाला से व्युत्पन्न है, पर इसका अर्थ-विस्तार हो गया है।

   —व्हूलर, पृ. 146 तथा डॉ. राजबली पांडेय, पृ. 84.

   निआर्कप और क्यू. कर्दियस जैसे यूनानी लेखकों की साक्षियों से यह सिद्ध है कि भारतीय कागज और कपड़े पर स्याही से ही लिखते थे। यह साक्षी 4थी शती ई.पू. की है।
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 155 (पाद टिप्पणी)।

प्रथम प्रकार :

सहवर-भृंग त्रिफल:, कासीसं लोहमेव नीली च,
समकज्जल-बोलयुता, भवति मषी ताडपत्राणाम्॥

व्याख्या — सहवरेति कांटासे हरी ओ (घेमासो) भृंगेति भांगुरओ। त्रिफला प्रसिद्धैव। कासीसमिति कसीसम्, येन काष्ठादि रज्यते। लोहमिति लोहचूर्णम्। नीलोति गलीनिष्पादको वृक्ष तेंद्ररस:। रसं बिना सर्वेषामुत्कल्य क्वाथ: क्रियते, स च रसोऽपि समवर्तित कज्जल-बोलयोर्मध्ये निक्षिप्यते, ततस्ताडपत्रमषी भवतीति। यह स्याही ताम्बे की कढ़ाही में खूब घोटी जानी चाहिए।[1]

दूसरा प्रकार :

काज पा (पो) इण बोल (बीजा बोल), भूमलिया या जल मोगरा (?) थोड़ा पारा, इन्हें ऊष्ण जल में मिला कर ताँबे की पढ़ाई में डाल कर सात दिन ऐसा घोटें कि सब एक हो जाय। तब इसकी बड़ियाँ बना कर सुखा लें। स्याही की आवश्यकता पड़ने पर बड़ियों को आवश्यकतानुसार गर्म पानी में खूब मसल कर स्याही बनालें। इस स्याही से लिखे अक्षर रात में भी दिन की भाँति ही पढ़े जा सकते हैं।

तीसरा प्रकार :

कोरडए वि सरावे, अंगुलिया कोरडम्मि कज्जलए।
मद्दह सरावलग्गं, जावँ चिय चि वक गं मुअइ।
पिचुमंद गुंदलेसं, खायर गुंदं व बीयजलमिस्सं।
भिज्जवि तोएण दढं, मद्दह जातं जलं मुसइ।

अर्थात् नये काजल को सरवे (सकोरे) में रखकर ऊँगलियों से उसे इतना मलें या रगड़ें कि सरवे से लगकर उसका चिकनापन छूट जाय। तब नीम के गोंद या खैर के गोंद और वियाजल के मिश्रण में उक्त काजल को मिलाकर इतना घोटें कि पानी सूख जाये फिर बड़िया बना लें।

चौथा प्रकार :

निर्यासात् विचुमंद जात् द्विगुणितो बोलस्तत: कज्जलं,
संजातं तिलतैलतो हुतवहे तीव्रतपे मर्दितम्।
पात्रे शूल्बमये तथा शन (?) जलैलक्षि रसैर्भावित:,
सद्भल्लातक-मृंगराजरसयुतो सम्यग् रसोऽयं मषी।[2]

अर्थात् नीम का गोंद, उससे दुगुना बीजाबोल, उससे दुगुना तिलों के तेल का काजल लें। ताँबें की कढ़ाही में तेज आँच पर इन्हें खूब घोंट और उसमें जल तथा अलता (लाक्षारस)

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 38।
2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 38-40।

की थोड़ा-थोड़ा करके सौ भावनाएँ दें और अच्छी स्याही बनाने के लिए इसमें शोध हुआ भिलावा तथा भाँगरे का रस डालें।[1]

पाँचवा प्रकार :

पाँचवें प्रकार की स्याही का उपयोग ब्रह्म देश, कर्नाटक आदि देशों में ताड़-पत्र पर लिखने में होता था।

ऊपर के सभी प्रकार ताड़-पत्र पर लिखने की स्याही के हैं।[2]

इस प्रकार कागज-कपड़े पर लिखने की स्याही बनाने की भी कई विधियाँ हैं—

पहली विधि :

जितना काजल उतना बोल, ते थी दुणा गूंद झकोल,
जे रस भांगरानो पड़े, तो अक्षरे अक्षरे दीवा जले।

दूसरी विधि :

मष्यर्धे क्षिप सद्गुन्दं गुन्दार्धे बोलमेव च,
लाक्षीबीयारसनोच्चै मर्दयेत् ताम्रभाजने।

तीसरी विधि :

बीआ बोल अनइल करवा रस, कज्जल वज्जल (?) नइ अंबारस।
'भोजराज' मिसी नियाद्, पान ओ फाटई मिसी नवि जाई।

चौथी विधि :

लाख टांक बीस मेल, स्वांग टांक पांच मेल
नीर टांक दो सौ लेई, हांडी में चढ़ाइये,
ज्यौं लों आग दीजे त्यों लौ ओर खारे सब लीजे।
लोदर खार बालबाल पीस के रखाइये
मीठा तेल दीय जल, काजल सो ले उतार

---

1. श्लोक में तो यह नहीं बताया गया है कि उक्त मिश्रण को कितनी देर घोटना चाहिए परन्तु जयपुर में कुछ परिवार स्याही वाले ही कहलाते हैं। त्रिपोलिया के बाहर ही उनकी प्रसिद्ध दुकान थी। वहाँ एक कारखाने के रूप में स्याही बनाने का कार्य चलता था। महाराजा के पोथीखाने में भी 'सरवराकार' स्याही तैयार किया करते थे। इन लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्याही की घुटाई कम से कम आठ पहर होनी चाहिए। मात्रा अधिक होने पर अधिक समय तक घोटना चाहिए। —गोपालनारायण बहुरा

2. पहले कह चुके हैं कि ताड़पत्र पर स्याही से कलम द्वारा भी लिखते हैं और लोहे की नोंकदार कुतरम्भी से अक्षर कुरेदे भी जा सकते हैं। लिखने के लिए तो ऊपर लिखी विधियों से बनाई हुई स्याहियाँ ही काम में आती हैं, परन्तु कुरेदे हुए अक्षरों पर काला चूर्ण पोत कर कपड़े से साफ करते हैं। इससे वह चूर्ण कुरेदे हुए अक्षरों में भरा रह जाता है और पत्र के समतल भाग से कज्जल या काला चूर्ण अपसारित हो जाता है। फिर अक्षर स्पष्ट पढ़ने में आ जाते हैं। समय बीतने पर यदि अक्षर फीके पड़ जावें तो यह विधि दोहरा दी जाने पर पुनः अक्षर स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसा मषी-चूर्ण बनाने के लिए नारियल की जटा या केंचुल तथा बादाम के छिलके जलाकर पीस लिए जाते हैं। —गोपालनारायण बहुरा

नीकी विधि पिछानी के ऐसे ही बनाइये
चाइक चतुर नर लिखके अनूप ग्रन्थ
बांच बांच बांच रीझ मौज पाइये। मसी विधि।

पाँचवीं विधि :

स्याही पक्की करण विधि — लाख चोखी चीपडी लीजे पईसा 6, सेरतीन पानी में डालें, सुवागो (सुहागा) पैसा 2 डालें, लोध 3 पैसा भर डालें। पानी तीन पाव रह जाये तो उतार लें। बाद में काजल 1 पैसा भर डालकर घोंट-घोंट कर सुखा लें। आवश्यकतानुसार इसमें से लेकर शीतल जल में भिगो दें तो पक्की स्याही तैयार हो जाती है।

छठी विधि :

काजल छह टंक, बीजाबोल टंक 12, बेर का गोंद 36 टंक, अफीम टंक 1/2, अलता पोथी टंक 3, फिटकरी कच्ची टंक 1/2, नीम के घोंटे से ताम्बे के पात्र में सात दिन तक घोंटे।

स्याही के ये नुस्खे मुनि श्री पुण्यविजयजी ने यहाँ-वहाँ से लेकर दिये हैं। उनका अभिमत है कि पहली विधि से बनी स्याही श्रेष्ठ है। अन्य स्याही पक्की तो है, पर कागज-कपड़े को क्षति पहुँचाती हैं। लकड़ी की पाटी पट्टी पर लिखने के लिए ठीक हैं।[1]

राजस्थान में उपयोग आने वाली स्याही के बनाने की विधि ओझाजी ने इस प्रकार बताई है—

"पक्की स्याही बनाने के लिए पीपल की लाख को जो अन्य वृक्षों की लाख से उत्तम समझी जाती है, पीस कर मिट्टी की हँड़िया में रखे हुए जल में डालकर उसे आग पर चढ़ाते हैं। फिर उसमें सुहागा और लोध पीस कर डालते हैं। उबलते-उबलते जब लाख का रस पानी में यहाँ तक मिल जाता है कि कागज पर उसमें गहरी लाल लकीर बनने लगती है तब उसे उतार कर छान लेते हैं। उसको अलता (अलक्तक) कहते हैं, फिर तिलों के तेल के दीपक के काजल को महीन कपड़े की पोटली में रखकर अलते में उसे फिराते जाते हैं जब तक कि उससे सुन्दर काले अक्षर बनने न लग जावें। फिर उसको दवात (मसीभाजन) में भर लेते हैं। राजपूताने के पुस्तक लेखक अब भी इसी तरह पक्की स्याही बनाते हैं।"[2]

---

1. इसी बात को और स्पष्ट करते हुए मुनिजी ने बताया है कि 'जिस स्याही में लाख (लाक्षारस), कत्था लोघ पड़ा हो, वह कपड़ा कागज पर लिखने के काम की नहीं है। इससे कपड़े एवं कागज तम्बाकू के पत्ते जैसे हो जाते हैं' —भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 42।

   मुनि पुण्यविजयजी ने काली स्याही सम्बन्धी खास सूचनाओं में ये बातें बताई हैं

   कज्जलमत्र तिलतैलतः संजातं ग्राह्यम। 2. गुन्दोऽत्र निम्बसत्कः खदिरसत्को वबुब्रसत्को वा ग्राह्यः। धवसत्कस्तु सर्वथा त्याज्यः मषी विनाशको ह्ययम् (धौ का गोंद नहीं डालना चाहिए)।

2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 155।

ओझाजी ने कच्ची स्याही के सम्बन्ध में लिखा है कि यह कज्जल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिलाकर बनाई जाती है। परन्तु पन्नों पर जल गिरने से यह स्याही फैल जाती है और चौमासे में पन्ने चिपक जाते हैं।[1] अतः ग्रन्थ लेखन के लिए अनुपयोगी है।

आपने भोज-पत्र पर लिखने की स्याही के सम्बन्ध में लिखा है कि "बादाम के छिलकों के कोयलों को गोमूत्र में उबाल कर यह स्याही बनायी जाती थी।"[2] यही बात डॉ. राजबली पाण्डेय ने लिखी है—

In Kashmir, for writing on birch-bark, ink was manufactured out of charcoal made from almonds and boiled in cow's urine. Ink so prepared was absolutely free from damage when MSS were periodically washed in water-tubes.[3]

कुछ सावधानियाँ[4]

मूलतः कज्जल, बीजाबोल समान मात्रा में और इनसे दो गुनी मात्रा में गोंद को पानी में घोलकर नीम के घोंटे से ताम्र-पत्र में घुटाई करना ही कागज और कपड़े पर लिखने की स्याही बनाने की उपयोगी विधि है, अन्य रसायनों को मिलाने से वे उसको खा जाते हैं और अल्पायु बना देते हैं, जैसे—भाँगरा डालने से अक्षरों में चमक तो आती है परन्तु आगे चलकर कागज काला पड़ जाता है। इसी तरह लाक्षारस, स्वांग या क्षार आदि भी हानिकारक हैं। वीआरस बीआ नामक वनस्पति की छाल का चूर्ण बनाकर पानी में औटाने से तैयार होता है। इसको इसलिए मिलाया जाता है कि स्याही गहरी काली हो जाती है। परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक बीआरस पड़ जाय तो वह गोंद के प्रभाव को कम कर देता है और ऐसी स्याही के लिखे अक्षर सूखने के बाद उखड़ जाते हैं। लाक्षारस इस कारण डाला जाता है कि इससे स्याही कागज में फूटती नहीं है। खौलते हुए साफ पानी में जरा-जरा सा लाख का चूर्ण इस तरह से डालकर हिलाया जाता है कि वह उसमें अच्छी तरह घुलता जाय, उसकी लुगदी न बनने पावे। बार-बार किसी सींक या फरड़े को उसमें डुबोकर कागज पर लकीर खींचते हैं। शुरू में जब तक लाख पानी में एकरस नहीं होती तब तक वह पानी कागज में फूटता है पर जब अच्छी तरह लाख के रेशे उसमें एकाकार हो जाते हैं तो वह रस कागज पर जम जाता है। इसकी मात्रा में भी यदि कमीबेशी हो जाय तो स्याही अच्छी नहीं बनती।

स्याही : विधि निषेध

स्याही बनाने के सम्बन्ध में कुछ विधि निषेध भी हैं—यथा—कज्जल बनाने के लिए तिल के तेल का दिया ही जलाना चाहिए। किसी अन्य प्रकार के तेल से बनाया हुआ काजल उपयोगी नहीं होता। गोंद भी नीम, खैर या बबूल ही का लेना चाहिए। इसमें भी

---

1. वही, पृ. 155।
2. ब्हूलर ने सूचना दी हे (काश्मीर रिपोर्ट, 30) कि गफ पेपर्स आदि (18F) में राजेन्द्रलाल मित्र ने टिप्पणियों में स्याही बनाने के भारतीय नुस्खे दिये हैं। —पृ. 146, पाद टिप्पणी, पृ. 357
3. Pandey, R.B.—Indian Palaeography, p. 85.
4. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ।

नीम सर्वश्रेष्ठ है। धोंक (धव) का गोंद स्याही को नष्ट करने वाला होता है। स्याही में रींगणी नामक पदार्थ, जिसे मराठी में 'डौली' कहते हैं, डालने से उसमें चमक आ जाती है और मक्खियाँ पास नहीं आतीं। जिस स्याही में लाख, कत्था और लोहकीट का प्रयोग किया जाता है उसे ताड़-पत्र आदि पर ही लिखने के काम में लेना चाहिए, कागज और कपड़े पर इसका प्रभाव विपरीत पड़ता है। वह कागज आगे चलकर क्षीण हो जाता है—प्रति लाल पड़ जाती है और पत्र तड़कने लगते हैं। बीआरस की मात्रा अधिक हो जाने से गोंद की चिकनाहट नष्ट हो जाती है और ऐसी स्याही से लिखे पत्रों की रगड़ से अक्षर घुलमिल जाते हैं और प्रति काली पड़ जाती है।

जब किसी संग्रह के ग्रन्थों को दुखते हैं तो विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशा में मिलती हैं। कोई-कोई ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताजी अवस्था में मिलता है। उसका कागज भी अच्छी हालत में होता है और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है; परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियों में लिखे होने पर भी उनके पत्र तड़कने वाले हो जाते हैं और अक्षर रगड़ से विकृत पाये जाते हैं। कितनी ही प्रतियाँ ऐसी मिलती हैं कि उनका कुछ भाग काला पड़ा हुआ होता है। ऐसा इसलिए होता है कि वर्षा के बाद कभी-कभी धूप में रखते समय जिन पत्रों को समान रूप से ऊष्मा नहीं पहुँचती अथवा आवश्यकता से अधिक समय तक धूप में रह जाते हैं उनके कुछ हिस्सों की सफेदी उड़ जाती है। कुछ लेखक तो स्याही में चिथड़ा डाल देते हैं (कभी-कभी सर्पाकार) जिससे वह अधिक गाढ़ी या पतली न हो जाय। परन्तु कुछ लेखक लोहे के टुकड़े या कीलें दवात में रख देते हैं। अपर दशा में ऐसा होता है कि उस लोहे का काट हिलाने पर स्याही में मिल जाता है और तत्काल उससे लिखी हुई पंक्तियाँ काली पड़ जाती हैं या पात्र का वह भाग छिक जाता है, अत: एक ही पत्र में विभिन्न पंक्तियाँ विभिन्न प्रकार की देखने में आती हैं। प्रतियों की यह खराबियाँ संक्रामक भी होती हैं। कई बार हम देखते हैं कि किसी प्रति के आद्य और अन्त्य पत्र के अतिरिक्त शेष पत्र स्वस्थ दशा में होते हैं। इसका कारण यह होता है कि बस्ते में जब कई प्रतियाँ बाधी जाती हैं तो उस प्रति के ऊपर नीचे कोई रुग्ण प्रतियाँ रख दी जाती हैं जिनकी स्याही व कागज को विकृति बीच की प्रति के ऊपर-नीचे के पत्रों में पहुँच जाती है। इसीलिए जहाँ तक हो सके वहाँ तक एक प्रति को दूसरी से पृथक् रखना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक प्रति को एक स्वच्छ और रूखे सफेद कागज में लपेटना चाहिए (अखबारी कागज में कभी नहीं) और फिर उसको कार्डबोर्ड के दो समाकृति के टुकड़ों के बीच में रखकर वेष्टित करना चाहिए जिससे न तो कार्डबोर्ड का असर प्रति पर पड़ सके और न अन्य प्रति का रोग ही उसमें पहुँच सके।

रंगीन स्याही

रंगीन स्याहियों का उपयोग भी ग्रन्थ लेखन में प्राचीन काल से ही होता रहा है। इसमें लाल स्याही का उपयोग बहुधा हुआ है। लाल स्याही के दो प्रकार थे—एक अलता की, दूसरी हिंगलू[1] की। डॉ. पाण्डेय ने बताया है कि—"Red ink was mostly used

1. हिंगली को शुद्ध करके लाल स्याही बनाने की अच्छी विधि भा. जै., श्र. सं. अने लेखन कला में पृ. 45 पर दी हुई है।

in the MSS for marking the medial signs and margins on the right and the left sides of the text, sometimes the endings of the chapters, stops and the phrases like 'so and so and said thus' were written with red ink."[1]

ओझाजी इनसे पूर्व यह बता चुके हैं कि "हस्तलिखित वेद के पुस्तकों में स्वरों के चिह्न और सब पुस्तकों के पन्नों पर दाहिनी और बांयी ओर की हाशिये की दो-दो खड़ी लकीरें अलता या हिंगली से बनी हुई होती हैं। कभी-कभी अध्याय की समाप्ति का अंश एवं 'भगवानुवाच्', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य तथा विरामसूचक खड़ी लकीरें लाल स्याही से बनाई जाती हैं। ज्योतिषी लोग जन्म-पत्र तथा वर्षफल के लम्बे-लम्बे खरड़ों में खड़े हाशिये, आड़ी लकीरें तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कुण्डलियाँ लाल स्याही से ही बनाते हैं।[2] फलत: काली के बाद लाल स्याही का ही स्थान आता है।[3]"

पाश्चात्य जगत् में भी लाल स्याही का कुछ ऐसा ही उपयोग होता था। चमकीली लाल स्याही का उपयोग पाश्चात्य जगत् में पुराने ग्रन्थों में सौन्दर्यवर्द्धन के लिए होता था। इससे आरम्भिक अक्षर तथा प्रथम पंक्तियाँ और शीर्षक लिखे जाते थे, इसी से वे 'रुवैरिक्स' कहलाते थे और लेखक कहलाता था 'रुब्रीकेटर'। इसी का हिन्दोस्तानी में अर्थ है 'सुर्खी'। जिसका अर्थ लाल भी होता है और शीर्षक भी। उधर भारत में लाल के बाद नीली स्याही का भी प्रचलन हुआ, हरी और पीली भी उपयोग में लाई गई। हरी तथा पीली स्याही का भी उपयोग हुआ पर अधिकांशत: जैन ग्रन्थों में।

ओझाजी ने बताया है कि सूखे हरे रंग को गोंद के पानी में घोल कर हरी जंगाली और हरिताल[4] से पीली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं।[5]

सुनहरी एवं रूपहरी स्याही

सोने और चाँदी की स्याही का उपयोग भी पाश्चात्य देशों में तथा भारत में भी हुआ है। साहित्य में भी प्राचीन काल के उल्लेख मिलते हैं। सोने-चाँदी में लिखे ग्रन्थ भी मिलते हैं। राजे-महाराजे और धनी लोग ही ऐसी कीमती स्याही की पुस्तकें लिखवा सकते थे। वे स्याहियाँ सोने और चाँदी के वरकों से बनती थीं। वरक को खरल में डाल कर धव के गोंद के पानी के साथ खरल में खूब घोंटते थे। इससे वरक का चूर्ण तैयार हो जाता था। फिर साकर (शक्कर) का पानी डाल कर उसे खूब हिलाते थे। चूर्ण के नीचे बैठ जाने

---

1. Pandey, Bajbali—Indian Poleography, p. 85.
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ. 156।
3. '—of coloured varieties red was the most common.........'

   —Pandey, Rajbali— Indian Palaeography, p. 85.
4. यह हरिताल, हड़ताल गलत लिखे शब्द या अक्षर पर फेर कर उस अक्षर को लुप्त किया जाता था। इसी से मुहावरा भी बना 'हड़ताल फेरना-नष्ट कर देना।'
5. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 44।

पर पानी निकाल देते थे। इसी प्रकार तीन-चार बार धो देने से गोंद निकल जाता था। अब जो शेष रह जाता था वह स्याही था।[1]

सोने और चाँदी की स्याही से लिखित प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलते। ओझाजी ने अजमेर के कल्याणमल ढड्ढा के कुछ ग्रन्थ देखे थे, ये अधिक प्राचीन नहीं थे। हाँ, चाँदी की स्याही में लिखा यन्त्रावचूरि ग्रन्थ 15वीं शती का उन्हें विदित हुआ था।

'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' में अनुष्ठानादि के लिए जन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए अष्ट-गन्ध एवं यक्ष कर्दम का और उल्लेख किया गया है। अष्ट-गन्ध दो प्रकार से बनायी जाती हैं—

एक—1. अगर, 2. तगर, 3. गोरोचन, 4. कस्तूरी, 5. रक्त चन्दन, 6. चन्दन, 7. सिन्दूर, और 8. केसर को मिला कर बनाते हैं।

दो—1. कपूर, 2. कस्तूरी, 3. गोरोचन, 4. सिदरफ, 5. केसर, 6. चन्दन, 7. अगर, एवं 8. गेहूला—इससे मिला कर बनाते हैं।

यक्ष कर्दम में 11 वस्तुएँ मिलाई जाती हैं—चन्दन, केसर, अगर, बरास, कस्तूरी, मरचकंकोल, गोरोचन, हिंगलो, रतंजणी, सोने के वरक और अंवर।

चित्र रचना और रंग

'ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना'[2] में बताया गया है कि सचित्र पाण्डुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियों से सजाया गया हो और सुन्दर बनाया गया हो। यह सज्जा रंगों से या सुनहरी और कभी-कभी रूपहली कारीगरी से भी प्रस्तुत की जाती है। इस सज्जा में प्रथमाक्षरों को विशदतापूर्वक चित्रित करने से लेकर विषयानुरूप चित्रों तक का आयोजन भी हो सकता था, या सोने और चाँदी से चमकते अक्षरों से सजावट करना। ऐसी सजावट का पश्चिम में 14वीं शताब्दी से माना जाता है। दाँते ने और चॉसर ने ऐसे चित्रित हस्तलेखों का उल्लेख किया है।

भारत में 'अपभ्रंश शैली' के चित्र जो 11वीं से 16वीं शताब्दी तक बने मुख्यत: हस्तलिखित ग्रन्थों में मिलते हैं। डॉ. रामनाथ ने बताया है कि "मुख्यत: ये चित्र जैन-धर्म सम्बन्धी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं।"

इन चित्रों में पीले और लाल रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है। रंगों को गहरा-गहरा लगाया गया है।

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 44।
2. Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p. 242.

"गुजरात के पाटन नगर से भवगती-सूत्र की एक प्रति 1062 ई. की प्राप्त हुई है। इसमें केवल अलंकरण किया गया है। चित्र नहीं है.........सबसे पहली चित्रित कृति ताड़पत्र पर लिखित निशीयचूर्णि नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्य काल

खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, 1481 ई.)

में 1100 ई. में लिखी गई थी और अब पाटन के जैन-भण्डार में सुरक्षित है। इसमें बेल बूटे और कुछ पशु-आकृतियाँ हैं। 13वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण का बाहुल्य

हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताड़पत्र की होती थीं। 14वीं शताब्दी से कागज का प्रयोग हुआ।''[1] हमें विदित है कि 14वीं शताब्दी में पश्चिम में पार्चमेन्ट पर पाण्डुलिपि लिखी जाती थी और उन्हें चित्रित भी किया जाता था। भारत में 3 शताब्दी पूर्व ताड़पत्र पर ही यह चित्र-कर्म होने लगा था। भारत में 14वीं शताब्दी तक प्रायः जैन धर्म-ग्रन्थ सचित्र लिखे गये, उधर 'पाल शैली'[2] की चित्रांकित पुस्तकें बौद्ध-धर्म-विषयक थी। प्राचीनतम पाण्डुलिपि 980 ई. की मिलती है। डॉ. रामनाथ के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर
चित्रित जिन भगवान् जैन शैली, 1182 वि.

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर
चित्रित सरस्वती जैन शैली, 1184 वि.

''पाल शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ ताड़पत्रों में हैं। लम्बे-लम्बे ताड़पत्र के एक से टुकड़े काट कर उनके बीच में चित्र के लिए स्थान छोड़ कर दोनों और ग्रन्थ लिख दिया जाता था। नागरीलिपि में बड़े सुन्दर अक्षरों में यह लिखाई की जाती थी। बीच के खाली स्थानों में सुरुचिपूर्ण रंगों में चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर और सुघड़ आकृतियाँ

1. रामनाथ (डॉ.)—मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, पृ. 6-7।
2. वही, पृ. 6-7।

बनायी जाती थीं। जिनमें बड़े आकर्षक ढंग से आँखों और अन्य अंग-प्रत्यांगों का आलेखन होता था।''[1]

1451 में चित्रित बसंत-विलास के समय से कला जैन-बौद्ध एवं वैष्णव धर्म का पल्ला छोड़ कर लौकिक हो चली। यह एक नया मोड़ था। काम-शास्त्र के ग्रन्थ ही नहीं, प्रेम गाथाएँ जैसे—चन्दायन, मृगावती आदि भी सचित्र मिलती हैं।

लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, 1540)

1. वही, पृ. 6-7।

ये चित्र बहुधा रंगीन होते थे। ये विविध रंगों से चित्रित किये जाते थे। विविध रंगों की स्याही या मषी बनाई जाती थी। काली, लाल, सुनहरी-रूपहली आदि रंगीन स्याहियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। लाल रंग हिंगलू से, पीला हड़ताल से, धौला या सफेद सफेदे से तैयार किया जाता था। अन्य मिश्रित रंग भी बनाये जाते थे जैसे, हड़ताल एवं हिंगलू मिला कर नारंगी, हिंगलू और सफेद गुलाबी, हरताल और काली स्याही मिला कर नीला रंग बनाया जाता था। इसी प्रकार अन्य कई विधियाँ थीं जिनसे पुस्तकों को चित्रित करने के लिए भाँति-भाँति के रंग बनाये जाते थे। ये रंग स्याही की तरह ही काम करते थे।[1]

सचित्र ग्रन्थों का महत्त्व

ये सचित्र ग्रन्थ कई कारणों से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं—एक तो ग्रन्थ-रचना के इतिहास में सचित्र पाण्डुलिपियों का महत्त्व है क्योंकि इन सचित्र ग्रन्थों से विदित होता है कि मानव अपनी अनुभूतियों को किस-किस प्रकार की रंगीनियों और चित्रोपमताओं से व्यक्त करता रहा है। इन अभिव्यक्तियों में उस मानव और उसके वर्ग के सांस्कृतिक बिम्ब भी समाविष्ट मिलते हैं।

दूसरे चित्रित पाण्डुलिपियों में विविध प्रकार के आकारांकन और अलंकरण मिलते हैं। इनमें इन अंकनों के अनन्त रूप चित्रित हुए हैं जो स्वयं चित्रों की अलंकरण कला के इतिहास के लिए भारी सार्थकता रखते हैं।

तीसरी बात यह है कि मध्य युग में भारत में दसवीं शताब्दी से पाण्डुलिपियों में अंकित चित्र[2] ही एकमात्र ऐसे साधन हैं, जिनसे मध्ययुगीन चित्रकला की प्रवृत्तियाँ एवं स्वरूप समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्रित पाण्डुलिपियों में रंग कौशल के साथ कुछ अन्य बातें भी हैं जो देखनी होती हैं।

कविता और चित्रकला दोनों ही प्रमुख ललित कलाएँ मानी गई हैं। इसलिए कवि और चित्रकार का चोली-दामन का सा साथ है। जैसे ग्रन्थ को चित्रों से सजाकर सचित्र बनाया जाता था वैसे ही चित्रों को भी कई बार सलेख बनाया जाता था; अर्थात् ग्रन्थ के विषय को समझाने के लिए जैसे चित्र-चित्रित कर दिये जाते थे उसी प्रकार किसी चित्र के विषय को स्पष्ट करने के लिए उस पर लेख या कविता की पंक्ति अंकित कर दी जाती थी। ऐसे चित्र-कर्म के लिए विविध रंगों की स्याहियाँ तैयार की जाती थीं।

भोजदेव कृत 'समरांगण-सूत्रधार' (11वीं श.) में चित्रकर्म के आठ अंगों का वर्णन हैं। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी चित्रकर्म के गुणाष्टक वर्णित हैं। इन दोनों में अन्तर अवश्य है, परन्तु लेखन अथवा लेखकर्म प्राय: समान रूप से ही उल्लिखित हैं। ये हैं—(1) वर्तिका, (2) भूमिबन्धन, (3) लेख्य अथवा लेप्य, (4) रेखाकर्माणि, (5) वर्णकर्म (कर्ष कर्म), (6) वर्त्तनाक्रकम, (7) लेखन अथवा लेखकर्म और (8) द्विक कर्म—यह क्रम 'समरांगणसूत्रधार' में बताया गया है।

---

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला', पृ. 119।
2. अंग्रेजी में इन्हें मिनिएचर (Miniature) कहते हैं।

(1) 'वर्तिका' एक प्रकार का 'बरता' या पेंसिल होती है। इसको बनाने का प्रकार यह है कि या तो एक विशेष प्रकार की मिट्टी (जैसे पीली या काली) लेते हैं और उसका लकीरें खींचने में प्रयोग करते हैं अथवा दीपक का काजल लेकर उसको चावल के चूर्ण या आटे में मिलाते हैं और थोड़ा सा गीला करके पेंसिलों जैसी यष्टिका बना कर सुखा देते हैं। चावल के आटे के स्थान पर उबला हुआ चावल भी काम में लिया जा सकता है।

(2) 'भूमिबन्धन' से तात्पर्य है चित्र या लेख का आधार स्थिर करना जैसे — दीवार, काष्ठपट्टिका, कपड़ा, ताड़पत्र, भूर्जपत्र या रेशमी कपड़ा आदि। लकड़ी के पटरे या ताड़-पत्र पर पहले सफेद रंग पोतते हैं। यही सफेद रंग चित्र में भी प्रयुक्त होता है।

(3) 'लेख्य या लेप्य कर्म' द्वारा चित्र के लिए भूमि का लेपन या आलेखन किया जाता है। जैसे जिन भागों में अमुक रंग या कोई झांई की पृष्ठभूमि तैयार करना है तो तदनुकूल रंग को प्लास्टर की तरह लीपा या पोता जाता है। ग्रन्थ पर चित्र बनाने के लिए यह प्रक्रिया सदैव आवश्यक नहीं होती, चित्र बनाते समय ही पृष्ठभूमि का रंग भी भर दिया जाता है। वृहदाकार भूमि पर चित्रित होने वाले चित्रों के लिए ही इसकी आवश्यकता होती है।

(4) 'रेखाकर्म'— फिर, कूंची से रेखाएँ खींचकर चित्र का प्रारूप बनाया जाता है जिसको खाका कह सकते हैं।

(5) इसके बाद अर्थात् जब खाका पूर्णतया तैयार हो जाता है तो रंग भरने का काम आरम्भ होता है। इसको 'वर्णकर्म' कहते हैं। प्राचीन चित्रकार प्राय: सफेद, पीला, नीला, लाल, काला और हरा रंग काम में लेते थे। सफेद रंग शंख की राख से बनाया जाता था। पीला रंग हरताल से बनता था और इसका प्रयोग शरीरावयव-संरचना तथा देवताओं के मुखमण्डन के लिए किया जाता था। पूर्वी भारत और नेपाल की चित्रकारियों में ऐसे प्रयोग खूब मिलते हैं। नीला रंग बनाने में नील काम में ली जाती है। यह प्रयोग भारत में सर्वत्र और सभी कालों में होता रहा है। लाल रंग के लिए आलक्तक, लाक्षारस और गैरिक (गैरू) तथा दरद का प्रयोग होता था। काले रंग की तैयारी में कज्जल की प्रधानता थी।

हरा रंग मिश्र वर्ण कहलाता है। इसको बनाने के लिए नीले और पीले रंगों को बहुत सावधानी से मिलाना होता है, फिर, छाया की मध्यमता अथवा उज्ज्वलता को न्यूनाधिक करने के लिए सफेद रंग भी मिलाया जाता है। प्राचीन भारतीय चित्रों में हरे रंग का प्रयोग कम ही किया जाता था। मुस्लिम-काल में इसका चलन अधिक हुआ है परन्तु देखा गया है कि नील और हरताल के मिश्रण के कारण यह रंग कागज को जल्दी ही क्षति पहुँचाता है। कितने ही प्राचीन चित्रों में जहाँ हाशिये की जगह हरा रंग लगाया गया है वहाँ से कागज जीर्ण होकर गल गया है और बीच का चौखटा बच गया है।

'शिल्परत्न' और 'मानसोल्लास' में रंगों के विषय में विस्तार से लिखा गया है। बताया गया है कि कपित्थ और नीम भी रंग बनाने में प्रयुक्त होते थे।

(6) विस्तार और गोलाई प्रदर्शित करने के लिए रंगों में जो हल्कापन और गहरापन देकर स्पष्ट सीमोल्लेखन किया जाता है उसको 'वर्तनाक्रम' कहते हैं। इसमें वर्त्तनी अर्थात्

कूंची के प्रयोग की सूक्ष्मता का चमत्कार प्रधान होता है। 'विष्णु धर्मोत्तरपुराण' में 'वर्त्तनाक्रम' का विवरण द्रष्टव्य है।

(7) चित्र में अन्तिम निश्चयात्मक रेखांकन को लेखन अथवा 'लेखकर्म' कहते हैं। मूल चित्र से भिन्न रंग में जो चौहद्दी बनाई जाती है वह भी इसी में सम्मिलित है।

(8) कभी-कभी मूल रेखा को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए उसको दोहरा बना दिया जाता है—यह 'द्विककर्म' कहलाता है।

ग्रन्थ-रचना के काम के अन्य उपकरण : रेखापाटी या समासपाटी और कांबी

'रेखापाटी' का विवरण ओझाजी ने भारतीय प्राचीन लिपिमाला में दिया है। लकड़ी की पट्टी पर या पट्टे पर डोरियाँ लपेट कर और उन्हें स्थिर कर समानान्तर रेखाएँ बना ली जाती हैं। इस पर लिप्यासन या कागज रख कर दबाने से समानान्तर रेखाओं के चिह्न उभर आते हैं। इस प्रकार पाण्डुलिपि लिखने में रेखाएँ समानान्तर रहती हैं।[1]

यही काम कांबी या कंबिका से लिया जाता है। यह लकड़ी की पटरी जैसी होती है। इसकी सहायता से कागज पर रेखाएँ खींची जाती थीं।[2] कांबी का एक अन्य उपयोग होता था। पुस्तक पढ़ते समय हाथ फेरने से पुस्तक खराब न हो, इस निमित्त कांबी (सं. कंबिका) का उपयोग किया जाता था। इसे पढ़ते समय अक्षरों की रेखाओं के सहारे रखते थे, और उस पर उंगली रख कर शब्दों को बताते जाते थे। यह सामान्यतः बाँस की चपटी चिप्पट होती थी। यों यह हाथी दांत, अकीक, चन्दन, शीशम, शाल वगैरह की भी बना ली जाती थी।[3]

डोरा : डोरी

ताड़पत्र के ग्रन्थों के पन्ने अस्तव्यस्त न हो जायं इसलिए एक विधि का उपयोग किया जाता था। ताड़पत्रों की लम्बाई की बीचोंबीच ताड़पत्रों को छेद कर एक डोरा नीचे से ऊपर तक पिरो दिया जाता था। इस डोरे से सभी पत्र नत्थी होकर यथास्थान रहते थे। लेखक प्रत्येक पन्ने के बीच में एक स्थान कोरा छोड़ देता था। यह स्थान डोरे के छेद के लिए ही छोड़ा जाता था। ताड़पत्रों के इस कोरे स्थान पर की आवृत्ति हमें कागजों पर लिखे ग्रन्थों में भी मिलते है। अब यह लकीर पीटने के समान है, अनावश्यक है। हाँ, लेखक का कुछ कौशल अवश्य लक्षित होता है कि वह इस विधि से लिखता है वह स्थान छूटा हुआ भी सुन्दर लगता है।

ग्रन्थि

डोरी से ग्रन्थ या पुस्तक के पन्नों को सूत्र-बद्ध करके इन डोरों को काष्ठ की उन पट्टिकाओं में छेद करके निकाला जाता था, जो पुस्तक की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार काट कर ग्रन्थ के दोनों ओर लगाई जाती थीं। इनके ऊपर डोरियों को कस कर ग्रन्थियाँ लगाई

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 157।
2. वही, पृ. 158।
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 19।

जाती थी।[1] यह प्राचीन प्रणाली है। हर्षचरित में सूत्रवेष्टनम् का उल्लेख मिलता है। इन डोरों को उक्त काष्ठपाटी में से निकाल कर ग्रन्थि या गाँठ देने के लिए विशेष प्रणाली अपनाई गई—लकड़ी, हाथीदाँत, नारियल के खोपड़े का टुकड़ा लेकर उसे गोल चिपटी चकरी
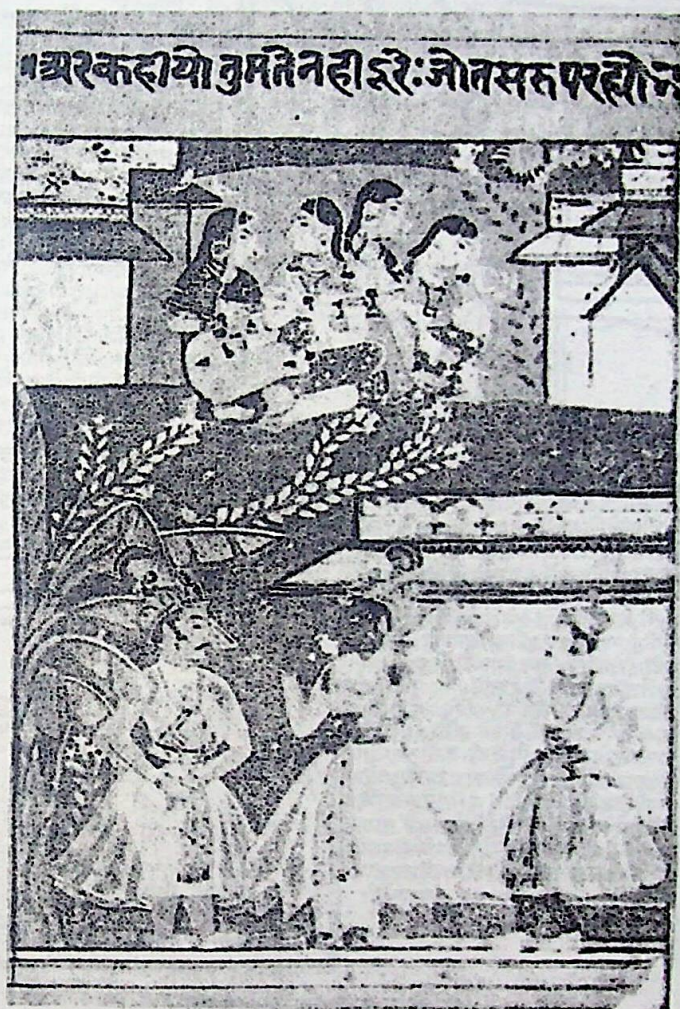
1. (93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets, were placed on the Bhurja and Palm leaves, which had been drawn on strings, and this is still the custom even with the paper MSS. In Southern India the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed. The latter are wound round the covers and knotted.

—Buhler, G.—Indian Palaeography, p. 147.

चतुरभुजदास की मधुमालती में मैनासंत प्रसंग

मैनांसत प्रसंग का अन्तिम पत्र

के रूप में बना लेते हैं, उसमें छेद कर उस डोर या डोरी का इस चकरी में से निकाल कर बाँधते हैं, यथार्थ में ये चकरियाँ ही ग्रन्थि या गाँठ कही जाती हैं।[1]

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 201।

हड़ताल

पुस्तक-लेखन में 'हड़ताल' फेरने का उल्लेख मिलता है। हड़ताल या हरताल का उपयोग हस्तलेखों में उन स्थलों या अंशों को मिटाने के लिए किया जाता था, जो गलत लिख लिये गये थे। 'हरताल' से पीली स्याही भी बनाई जाती है। हरताल फेर देने से वह गलत लिखावट पीले रंग के लेप से ढक जाती है। कभी-कभी हड़ताल के स्थान पर सफेद का उपयोग किया जाता है।

परकार

ओझाजी ने बताया है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में कभी-कभी विषय की समाप्ति आदि पर स्याही से बने कमल मिलते हैं। वे परकारों से ही बनाये हुए मिलते हैं। वे इतने छोटे होते हैं कि उनके लिए जो परकार काम में आये होंगे वे बड़े सूक्ष्म मान के होने चाहिये।[1]

❑❑❑

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 157।

3

पाण्डुलिपि-प्राप्ति और तत्सम्बन्धित प्रयत्न : क्षेत्रीय अनुसन्धान

'पाण्डुलिपि-विज्ञान' सबसे पहले 'पाण्डुलिपि' को प्राप्त करने पर और इसी से सम्बन्धित अन्य आरम्भिक प्रयत्नों पर ध्यान देती है। इस विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रयत्न 'क्षेत्रीय अनुसन्धान' के अन्तर्गत आता है।

क्षेत्र एवं प्रकार

पाण्डुलिपि-प्राप्ति के सामान्यत: दो क्षेत्र हैं—प्रथम पुस्तकालय तथा द्वितीय निजी। पुस्तकालयों के तीन प्रकार मिलते हैं—एक धार्मिक, दूसरा राजकीय तथा तीसरा विद्यालयों के पुस्तकालयों का।

(1) धार्मिक पुस्तकालय—ये धार्मिक मठों, मन्दिरों, विहारों में होते हैं।

(2) राजकीय पुस्तकालय—राज्य के द्वारा स्थापित किये जाते हैं।

(3) विद्यालय पुस्तकालय—इनका क्षेत्र विद्यालयों में होता है।

पूर्वकाल में यह विद्यालय-पुस्तकालय धर्म या राज्य दोनों में से किसी भी क्षेत्र में या दोनों में हो सकता था। आजकल इसका स्वतंत्र अस्तित्व है।

निजी क्षेत्र

भारत में घर-घर में ग्रन्थ-रत्नों को पुराने समय से धार्मिक प्रतिष्ठाएँ मिली हुई थीं। किसी के घर में पाण्डुलिपियों का होना गर्व और गौरव की बात मानी जाती थी। इन पोथियों की पूजा भी की जाती थी। अत: बीसवीं शती में ग्रन्थानुसंधान करने पर घर-घर में हस्तलिखित ग्रन्थों के होने का पता चला। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् 1900 ई. से जो खोज कराई उससे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। राजस्थान में भी यही स्थिति है। यहाँ तो निजी ग्रन्थागार काफी अच्छे हैं। डॉ. ओझाजी ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में अजमेर के सेठ कल्याणमल ढढ्ढा के पुस्तकालय का उल्लेख किया है जिसमें मूल्यवान स्वर्ण और रजत में लिखे ग्रन्थ थे। यह पुस्तकालय निजी था।[1] बीकानेर में श्री अगरचन्द

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 156।

नाहटा का निजी भण्डार काफी बड़ा है। यहीं बिहार के 'खुदाबख्श पुस्तकालय' का उल्लेख भी करना होगा। यह खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था। खुदाबख्श को अपने पिता से उत्तराधिकार में 1900 पाण्डुलिपियाँ मिली थीं। खुदाबख्श ने इस संग्रह को और समृद्ध किया। 1891 में जब इसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप दिया गया तब इसमें पाण्डुलिपियों की संख्या 6000 हो गई थी। सन् 1976 में इस पुस्तकालय में 12000 पाण्डुलिपियाँ थीं, 50,000 मुद्रित ग्रन्थ थे। इसी प्रकार बिहार के ही भरतपुरा गाँव के श्री गोपाल नारायण सिंह का संग्रहालय भी पहले निजी ही था। सन् 1912 में इसे सार्वजनिक पुस्तकालय बनाया गया। इस समय इसमें 4000 पाण्डुलिपियाँ हैं, ऐसा बताया जाता है।

खोजकर्ता

हस्तलेखों की खोज करने वाले व्यक्ति पाण्डुलिपि-विज्ञान के क्षेत्र के अग्रदूत माने जा सकते हैं। पर, उन्होंने जिस समय से कार्य आरम्भ किया, उस समय भी दो कोटियों के व्यक्ति पाण्डुलिपियों के क्षेत्र में कार्य में संलग्न थे। एक कोटि के अन्तर्गत उच्चस्तरीय विद्वान् थे जो हस्तलिखित ग्रन्थों और ऐतिहासिक सामग्री की शोध में प्रवृत्त थे, जैसे— कर्नल टॉड, हॉर्नले, स्टेन कोनो, बेडेल, टेसिटरी, आरेल स्टाइन, डॉ. ग्रियर्सन, महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, काशी प्रसाद जायसवाल, मुनि पुण्यविजय जी, मुनि जिनविजय जी, डॉ. राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रघुवीर, डॉ. भण्डारकर, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ. भोगीलाल सांडेसरा, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, भाष्कर रामचन्द्र भालेराव आदि। दूसरी कोटि उनकी है जिन्हें एजेण्ट अथवा खोजकर्ता कहा जा सकता है। ये किसी संस्था की ओर से इस कार्य के लिए नियुक्त थे।

इनमें से प्रथम कोटि का कार्य विशिष्ट प्रकृति का होता है, उसके अन्तर्गत उनको पाण्डुलिपि के मर्म और महत्त्व का तथा उसके योगदान का वैज्ञानिक प्रामाणिकता के आधार पर निर्णय करना होता है।

दूसरा वर्ग सामग्री एकत्र करता है। घर-घर जाता है और जहाँ भी जो सामग्री उसे मिलती है वह उसे या तो उपलब्ध करता है या फिर उसका विवरण या टीप ले लेता है। स्वयं वस्तु को या ग्रन्थ को प्राप्त करना तो बड़ी उपलब्धि है। पर उसका विवरण, टीप या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुस्तक उपलब्ध हो जाने पर भी वितरण प्रस्तुत करना पहली आवश्यकता है। किन्तु इसमें भी पहला चरण तो ग्रन्थ तक पहुँचना ही है।

अत: सबसे पहला प्रश्न यही है कि पाण्डुलिपियों का पता कैसे लगाया जाय? इसके लिए ग्रन्थ-खोजकर्ता में साधारण तत्पर बुद्धि होनी ही चाहिये, उसमें समाज-प्रिय या लोकप्रिय होने के गुण होने चाहिये। उसमें विविध व्यक्तियों के मनोभावों को तोड़ने या समझने की बुद्धि भी होनी चाहिये जो साधारण बुद्धि का ही एक पक्ष है। फिर, उसके पास कोई ऐसा गुण (हुनर) भी होना चाहिये जिससे वह दूसरों की कृतज्ञता पा सके। जहाँ ग्रन्थों की टोह लगे वहाँ के लोगों का विश्वास पा सकने की क्षमता भी होना अपेक्षित है। विश्वास-पात्रता प्राप्त करने के लिए उस क्षेत्र में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों से परिचय-पत्र ले लेने

चाहिये। ऐसे क्षेत्रों में मुखिया, पटवारी, जमींदार तथा पाठशाला के अध्यापक अपना-अपना प्रभाव रखते हैं। इन व्यक्तियों से मिलकर हम अच्छी तरह ग्रन्थों का पता भी लगा सकते हैं तथा सामग्री भी जुटा सकते हैं। ज्योतिष या हस्तरेखा-विज्ञान और वैद्यक की कुछ जानकारी ग्रन्थ-खोजकर्ता को सहायक सिद्ध हुई है। इनके कारण लोग उसकी ओर सहज रूप से आकृष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार पशु-चिकित्सा का कुछ ज्ञान हो तो क्षेत्रीय कार्य में उपयोगी होगा तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली ऐसी अन्य चीजों को यदि वह जानता है, जिनके न जानने से मनुष्य दुःखी रहते हैं तो वे उसकी सहायता करने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। व्युत्पन्न-मति और तत्परबुद्धि भी बड़ी सहायक सिद्ध हुई है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक ग्रन्थ-खोजकर्ता मेरे मित्र थे। उनकी सफलता का एक बड़ा कारण यही था कि वे हस्तरेखा विज्ञान भी जानते थे और कुछ वैद्यक भी जानते थे। आकर्षक ढंग से लच्छेदार रोचक बातें करना भी उन्हें आता था। यह भी एक बहुत बड़ा गुण है।

हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का ऊपर दिया गया विवरण यह बताता है कि पाण्डुलिपियों का संग्रह किसी संस्थान या किसी पाण्डुलिपि विभाग के लिए किया जा रहा है। ऊपर दी गई पद्धति से निजी संग्रहालय के लिए भी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

व्यवसायी माध्यम—कुछ व्यक्ति व्यवसाय के लिए, अपने लिए अर्थ-लाभ की दृष्टि से स्वयं अनेक विधियों से जहाँ-तहाँ से ग्रन्थ प्राप्त करते हैं, मुफ्त में या बहुत कम दामों में खरीदकर वे संस्थाओं को और व्यक्तियों को अधिक दामों में बेच देते हैं। राजस्थान में राजाओं और सामन्तों की स्थिति बिगड़ने से उनके संग्रहों से हस्तलेख इन व्यवसायियों ने प्राप्त किये थे। कभी-कभी ये ग्रन्थ ऐसे विद्वानों, कवियों और पण्डितों के घरों में भी मिलते हैं जिनकी संतान उन ग्रन्थों का मूल्य नहीं समझती थी या आर्थिक संकट में पड़ गयी थी। व्यवसायी इनसे वे ग्रन्थ प्राप्त कर लेते हैं और संस्थानों को बेच देते हैं। ऐसे व्यवसायियों से भी ग्रन्थ प्राप्त किये जा सकते हैं।

साभिप्राय खोज—खोज के सामान्य रूपों की चर्चा की जा चुकी हैं। इनके तीन प्रकार बताये जा चुके हैं—(1) शौकियासंग्रह, जो प्रायः निजी संग्रहालयों का रूप ले लेते हैं। खुदाबख्श पुस्तकालय का उल्लेख हम कर चुके हैं। (2) संस्था के निमित्त वेतनभोगी एजेण्ट द्वारा, जैसे—नागरी-प्रचारिणी-सभा ने कराया। दान की भावना से भी ग्रन्थ मिले हैं। कुछ व्यक्तियों ने अपने निजी संग्रहालय भावी सुरक्षा की भावना से किसी प्रतिष्ठित संस्थान को भेंट कर दिये हैं। (3) व्यवसायी के माध्यम से संग्रह।

सामान्य खोज तो होती है, पर कभी-कभी साभिप्राय खोज भी होती है। यह खोज किसी या किन्ही विशेष हस्तलेखों के लिए होती है। इन खोजों का इतिहास कभी-कभी बहुत रोचक होता है। साभिप्राय खोज की दृष्टि से पहले यह जानना अपेक्षित होता है कि जिस ग्रन्थ को आप चाहते हैं वह कहाँ है? इसके लिए आप विविध संग्रहालयों में जाकर सूचियाँ या आगारों का अवलोकन करते हैं, कुछ जानकारी से पूछते हैं। मुल्ला दाऊद

कृत 'चन्दायन' को प्राप्त करने का इतिहास लें। आगरा विश्वविद्यालय के क.मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ ने आरम्भ में ही निर्णय लिया कि 'चन्दायन' का सम्पादन किया जाय।

यह सुझाव डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिया था। उनके सुझाव पर शिमला के राष्ट्रीय संग्रहालय को लिखा गया, उसका कुछ अंश वहीं पर था। उसकी फोटोस्टेट प्रतियाँ मंगवायीं गयीं। विदित हुआ कि इसी ग्रन्थ के कुछ अंश पाकिस्तान में उनके लाहौर के राष्ट्रीय आगार में हैं। उनसे भी फोटोस्टेट प्रतियाँ प्राप्त की गयीं। और भी जहाँ-तहाँ सम्पर्क किये गये। तब जितने पृष्ठ मिले उन्हें ही सम्पादित किया गया। पर, यह आवश्यकता रही कि इसकी पूरी व्यवस्थित प्रति कहीं से प्राप्त की जाय। हिन्दी विद्यापीठ को तो वह प्राप्त नहीं हो सकी परन्तु डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त उसे प्राप्त कर सके। कैसे प्राप्त की, इसका रोचक वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है। इससे खोज के एक और मार्ग का निर्देश होता है।

डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त ने एक भेंटवार्ता में बताया कि 'चन्दायन' की उन्होंने जिस प्रकार खोज की उसे 'जासूसी' कहा जा सकता है।[1]

डॉ. गुप्त को प्रिंस ऑफ वैल्स म्यूजियम में चन्दायन के कुछ पृष्ठ मिले। उन पर भूमिका लिखने के लिए वे 'गार्सी द तासी' का 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' के पन्ने पलट रहे थे कि उनका ध्यान उस उल्लेख की ओर आकर्षित हुआ जिसमें तासी ने बताया था कि ड्यूक ऑफ ससैक्स के पुस्तकालय में हूरक और हंदा की कहानी का सचित्र ग्रन्थ था। डॉ. गुप्त समझ गये कि यह हूरक हंदा 'लूरक या लोरिक' चन्दा ही है। यह उल्लेख तासी ने 1834 ई. में किया था।

डॉ. गुप्त जानते थे कि किसी बड़े ड्यूक के मरने के बाद उसका पुस्तकालय बेचा गया होगा। उन्होंने यह भी अनुमान लगा लिया कि वह पुरानी पुस्तकों के विक्रेताओं ने खरीदा होगा और फुटकर बिक्री की गयी होगी।

यह अनुमान कर उन्होंने इण्डिया ऑफिस (लंदन) ब्रिटिश म्यूजियम से प्राचीन पुस्तक विक्रेताओं द्वारा प्रकाशित सूची-पत्र प्राप्त किये। उनसे पता चला कि ससैक्स का पुस्तकालय लिली नाम के विक्रेता ने खरीदा था।

आगे पता लगाया तो विदित हुआ कि लिली से अरबी-फारसी के ग्रन्थ इन भाषाओं के फ्रैंच विद्वान ग्लांड ने खरीदे।

पता लगा कि ग्लांड मर चुके हैं, पुस्तकालय बिक चुका है।

खोज आगे की। उनका संग्रह इंग्लैण्ड के किसी अर्ल ने खरीदा था। अर्ल को पत्र लिखा। उत्तर देने वाले अर्ल ने बताया कि उनके पिताजी का संग्रह मेनचैस्टर विश्वविद्यालय के रिलैंड पुस्तकालय में है।

वहाँ वह पुस्तक डॉ. गुप्त को मिल गयी।

---

1. कादम्बिनी (मासिक प्रकाशन, जून 1975), निबन्ध : 'तस्करी के जाल में कला-कृतियाँ', प्रस्तोता : श्री रतीलाल शाहीन : पृ. 44।

इस विवरण से यह सिद्ध हुआ कि एक सूत्र को पकड़ कर अनुमान के सहारे आगे बढ़कर अन्य सूत्र तक पहुँचा जा सकता है, उससे अन्य सूत्र मिल सकते हैं— तब अभीष्ट ग्रन्थ प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके लिए सूत्र मिलते जाने चाहिये। भारत में ऐसे सूत्र आसानी से नहीं मिलते हैं।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्टों में प्रत्येक हस्तलेख के मालिक का नाम दिया रहता है। पूरा पता भी रहता है। आज पत्र लिखने पर न तो कोई उत्तर आयेगा, और न आगे खोज करने पर ही कुछ पता चलेगा।

किन्तु इस प्रकार की खोज में सूत्र से सूत्र मिलाने में भी कितने ही अनुमान और उनके आधार पर कितने ही प्रकार के प्रयत्नों की अपेक्षा रहती है। बड़े धैयपूर्वक एक के बाद दूसरे अनुमान करके उनसे सूत्र मिलाने के प्रयत्न किये जाते हैं।

निश्चय ही यह भी पुस्तक खोज का एक मार्ग है।

ग्रन्थ शोधक को एक डायरी रखनी चाहिये। इसमें उसे अपने किये गये दैनंदिन उद्योगों का पूरा विवरण देना चाहिये। उसमें ये बातें रहनी चाहिये— गाँव का परिचय, जिसके यहाँ ग्रन्थ मिलता है उस व्यक्ति का नाम, उसकी जाति, उसके माँ-बाप का परिचय, उसकी पीढ़ियों का संक्षिप्त इतिहास तथा यह सूचना भी कि वह ग्रन्थ उनके घर में कब से है। इस प्रकार उस ग्रन्थ का उस पर घर में आने और रहने का पूरा इतिहास उस डायरी में सुरक्षित हो जायेगा। कितने ग्रन्थ आपको मिले और वह किस दशा में थे, वेष्टनों में लपेटे हुए रखे थे या यों ही ढेर में पड़े थे? यह उल्लेख करने की भी जरूरत है कि वे ग्रन्थ पत्रों के रूप में हैं या सिली पुस्तक के रूप में। ग्रन्थकार या रचयिता का समस्त उपलब्ध परिचय दें। जिस व्यक्ति के पास वह ग्रन्थ है उस व्यक्ति से रचयिता के सम्बन्ध का पूरा परिचय भी दें। ग्रन्थ का लेखक कौन है? यह ग्रन्थकार किस समय हुआ? ग्रन्थ और उसके लेखक के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हों तो उन्हें भी डायरी में लिख लेना चाहिये।

अब पहला प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि जिन ग्रन्थों का पता लगा है, उन्हें प्राप्त कर लिया जाय। यदि आपको ग्रन्थ भेंट में या दान में मिल जाते हैं तो बहुत अच्छा है, किन्तु यदि मूल्य से भी प्राप्त हो जाते हैं तो भी सफलता में चार चाँद लगे माने जाते हैं। किसी पाण्डुलिपि का मूल्य निर्धारण करना कठिन कार्य है। जिन क्षेत्रों में पाण्डुलिपियों के महत्त्व के विषय में चेतना नहीं है वहाँ से नाममात्र का मूल्य देकर पुस्तकें/पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की गयी हैं किन्तु जिस क्षेत्र में यह चेतना आ गयी है, वहाँ तो ग्रन्थ के महत्त्व का मूल्यांकन कर ही मूल्य निर्धारित करना पड़ेगा। ग्रन्थ का महत्त्व उसके रचना-काल, उसमें वर्णित विषय की उत्कृष्टता, उसकी लेखन-प्रणाली का वैशिष्ट्य, उसमें दिये चित्र तथा सज्जा की कला आदि अनेक बातों पर निर्भर करता है।

मूल्य देकर प्राप्त या भेंट/दान में प्राप्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में विक्रेता या दाता से प्रमाण-पत्र लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसमें विक्रेता या दाता यही लिखेगा कि यह ग्रन्थ उसकी अपनी सम्पत्ति है और उसे उसके हस्तान्तरण का अधिकार है। यदि ग्रन्थ का स्वामित्व न मिल पाये तो भी ग्रन्थ का विवरण अवश्य ले लेना चाहिये।

विवरण लेना

यदि ग्रन्थ घर ले जाने के लिए न मिले तो समय निकाल कर ग्रन्थ के मालिक के घर पर ही उसकी टीप ले लें। साधारण परिचय में सबसे पहले उस ग्रन्थ के आकार-प्रकार का भी परिचय दें। इसके बाद आप देखें कि वह कितने पृष्ठ का है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और हाशिया कितना और कैसा है? हाशिया दोनों ओर कितना छूटा हुआ है और मुख्य लिखावट कितने भाग में है। यह नाप कर हमें लिख देने की आवश्यकता है। उसमें कुल कितने पृष्ठ हैं और उनमें से सभी पृष्ठ हैं या कुछ खो गये हैं, पूरी पुस्तक में पृष्ठ कहाँ-कहाँ कटे-फटे होने से हमें सहायता नहीं पहुँचाते, छन्दों की संख्या कितनी है, किसी छन्द का क्रम भंग तो नहीं है, अध्याय के अनुसार तो छन्द नहीं बदल गये हैं? एक पूरे पृष्ठ में कितनी पंक्तियाँ हैं? इस तरह हरेक पृष्ठ की पंक्तियाँ गिनना जरूरी है। यह भी देखना होगा कि उसका कागज किस प्रकार का है।

यहाँ तक ग्रन्थ का बाहरी परिचय पाने का प्रयत्न हुआ।

अब हम ग्रन्थ के अन्तरंग की ओर चलते हैं। इसमें तीन बातें देखनी चाहिये, पहली बात तो यह देखनी होगी कि आरम्भ में ग्रन्थकार ने क्या किसी देवता या राजा की स्तुति की है, अपने गुरू की स्तुति की है? फिर क्या अपना तथा अपने कुटुम्ब का परिचय दिया है और क्या रचना का रचनाकाल दिया है? कहीं-कहीं ये बातें ग्रन्थ के अन्त में होती है। यह 'पुष्पिका' कहलाती है। प्रायः ग्रन्थ के अन्त में अनुक्रमणिका भी होती है, और श्लोक संख्या दे दी जाती है। इनकी टीप लेना भी आवश्यक है।

जो हस्तलिखित ग्रन्थ आपको उपलब्ध हुए हैं यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं जो छप चुके हैं तो भी उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। वे बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। कभी-कभी उनमें भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अनोखी चीजें मिलने की सम्भावना रहती है। वे पाठालोचन में उपयोगी हो सकते हैं। अब यह देखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की भाषा किस प्रकार की है। उसमें कितने प्रकार के कितने छन्द हैं और कौन-कौन से विषय ग्रन्थ में आए हैं, उन विषयों का ग्रन्थ में किस प्रकार उल्लेख किया गया है? पाण्डुलिपियों में साधारणतः तिथियाँ खास ढंग से दी हुई होती है। बहुधा ये तिथियाँ और संवत् 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार उलटे पढ़े जाते हैं। फिर यह देखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की शैली क्या है? उसमें स्फुटपद हैं अथवा प्रबन्धकाव्य है, आदि से अन्त तक समस्त ग्रन्थ छंद में ही लिखा गया है या बीच-बीच में गद्य भी सम्मिलित है, गद्य किस अभिप्राय से किस रूप में आया है, इन बातों का भी टीप में विवरण दिया जाना चाहिये।

विवरण प्रस्तुत करने का स्वरूप

इस प्रकार ग्रन्थ तक पहुँच कर और उससे कुछ परिचित होकर पहली आवश्यकता होती है कि उसका व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाय। यहाँ हम कुछ विवरण उद्धृत कर रहे हैं, जिनसे उनके वैज्ञानिक या व्यवस्थित स्वरूप की स्थापना में सहायता मिल सकती है।

उदाहरण : कुब्जिकामतम् का

1898-99 में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल के तत्त्वावधान में नेपाल राज्य के दरबार पुस्तकालय के ग्रन्थों का अवलोकन किया और उन ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया। उसमें से एक ग्रन्थ 'कुब्जिकामतम्' का विवरण यहाँ दिया जाता है।[1]

(क) (29। कां) (ख) कुब्जिकामतम् (कुलालिकाभ्नायान्तर्गतम्) (ग) 10 × 1½ inches, (घ) Folio, 152 (ङ) Lines 6 on a page (च) Extent 2,964 slokas, (छ) Character Newari, (ज) Date; Newar Era 229, (झ) Appearence, Old, (ञ) Verse.

BEGINNING ॐ नमो महाभैरवाय

संकर्ता मण्डलान्ते क्रमपदनिहितानन्दशक्तिः सुभीमा।
शृस्टक्षाढ्यं चतुष्कं अकुलकुलनतं पंचकं चान्यषट्कम्।
चत्वारः पंचकोऽन्यः पुनरपि चतुरस्तत्वती मण्डलेदं
संस्टष्टं येन तस्मै नमत गुरूतरं भैरवं श्रीकुजेशम्॥2॥
श्री मरिमवतः पृष्ठे त्रिकूटशिखरानुगम्
सन्तानपुटमध्य स्थमनेका काररूपिणम्॥
......................त्रिप्रकारन्तु त्रिशक्ति त्रिणुजोज्वलम्
चन्द्र सूर्यकृता......................स्वाह्वि देदीप्यवर्च्चसम्।
....
कार्यकारणाभेदेन किंचित्कालमपेक्षया।
तिष्ठते भैरवीशानं मौनमांदाय निश्चलम् (?)
तत्र देवगणाः सर्वे सकिन्नरमहोरगा।
कुर्व्वन्ति कलकलारावं समागत्य समीपतः॥
श्रुत्वा कलकलारावं को भवान् किमिहागतः
हिमवान् तु श्रसत्रात्मा गतोह्यन्वेषणं प्रति॥ इत्यादि॥
नानेन रहिता सिद्धिर्मुक्तिर्निविद्यते।
निराधारपदं ह्यो तत् तद्वेद परमंपदम्। 2।

COLOPHON इति कुलालिका भांये श्रीमत् कुब्जिकामते समस्तस्थानावबोधश्चयर्या निर्देशो (2) नाम पंचविंशतिमः पटल समाप्तः। संवत् 299 फाल्गुन कृष्णां।

---

1. Sastri, H.P.—A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper MSS belonging to the Durbar Library, Nepal.

विषय: इति श्री कुलालिकान्भाये श्री कुब्जिकामते चन्द्रद्वीपावतारो नाम:। 1 पटल।
आपय्यायै कौमार्य्याधिकारी नाम । 2।
मन्थानभेद प्रचाररतिसंगमो नाम । 3।
मन्त्रनिर्णयो गह्वर मालिन्यो द्वारे । 4।
बृहत्समयोद्धार: शब्दराशि मालिनीतद्ग्रह व्याप्ति निर्णय । 5।
जय मुद्रानिर्णय: । 6।
मंत्रोद्धारे षंडगविधाधिकारोनाम । 7।
स्वच्छन्दशिखाधिकारो नाम । 8।
शिरवाकल्येक देशा (?) नाम । 9।
देव्यासमयो (?) नाम मन्त्रोच्चारे । 10।
षट्प्रकार निर्णयो नाम । 11।
षट्प्रकारधिकारवर्णनो नाम । 12।
दक्षिणाषट् कपटिङ्गानो नाम । 13।
देवीदूती निर्णयो नाम । 14।
षट् प्रकारे योगिनी निर्णय: । 15।
षट् प्रकारे महानन्द मन्त्रको नाम । 16।
पदद्वय हैस निर्णयो नाम । 17।
चतुष्कस्य पदमेदम् । 18।
चतुष्क निर्णयो नाम । 19।
चन्द्र द्वीपावतारो नाम । 20।
द्वीपान्नायो नाम । 21।
समस्त व्यस्तव्याधि निर्णयो नाम । 22।
त्रि: कालमुत् कान्ति सम्बन्ध: । 23।
तद्ग्रंह्य पूजा विधि पवित्रारोहणम् । 24।
समस्त स्थानावस्कंघश्चर्या निर्देशो (?) नाम । 25।

इसमें सबसे पहले (क) ग्रन्थ की पुस्तकालय-गत संख्या विदित होती है। यह ग्रन्थ-सन्दर्भ है। (ख) पुस्तक का नाम उसकी उप-व्याख्या के साथ है। उप-व्याख्या कोष्ठकों में दी गई है।

(ग) में पुस्तक का आकार बताने के लिए पृष्ठ की लम्बाई 10 इंच, चौड़ाई 1½ इंच बताई गई है। इसे संक्षेप में यों 10"×1½" बताया गया है। (घ) में फोलियो या पृष्ठ संख्या बताई गई है। यह 152 है। (ङ) में प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति संख्या बतायी गयी है। 6 पंक्ति प्रति पृष्ठ है। (च) में ग्रन्थ परिमाण-कुल श्लोक संख्या 2964 बतायी गयी है। (छ) में लिपि प्रकार है—लिपि प्रकार 'नेवारी लिपि' बताया गया है। (ज) में तिथि का

उल्लेख है—यह है नेवारी संवत् 299। (झ) में 'रूप' का विवरण है—रूप में यह प्रति प्राचीन लगती है। पद्यबद्ध है, यह बात (ञ) में बतायी गयी है।

इतनी सूचनाएँ देकर ग्रन्थ में से पहले आरम्भ के कुछ पद्य उदाहरणार्थ दिये गये हैं। तब 'अन्त' के भी कुछ अंश उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं।

यही पुष्पिका (Colophon) उद्धृत की गई है। यहाँ तक ग्रन्थ के रूप-विन्यास का आवश्यक विवरण दिया गया है। तब विषय का कुछ विशेष परिचय देने के लिए क्रमात् 'विषय सूची' दे दी ग़ई है। प्रत्येक विषय के आगे दी गई संख्या परिच्छेदसूचक है।

उदाहरण : डॉ. टेसीटरी के सर्वेक्षण से

अब एक उद्धरण डॉ. टेसीटरी के राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण से दिया जाता है। एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल ने इन्हें 1914 में सुपरिटेंडेन्ट 'वारडिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑव राजपूताना' बनाया। उनके ये ग्रन्थ-सर्वेक्षण 1917-18 के बीच में सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किये गये। इन्हीं में से 'गद्यभाग' के अन्तर्गत 'ग्रन्थांक 6' का विवरण 'परम्परा' में डॉ. नारायणसिंह भाटी द्वारा किये गये अनुवाद के रूप में नीचे दिया जा रहा है—

ग्रन्थांक-6—नागौर के मामले री बात नै कविता[1]

गुटके के रूप में एक छोटा-सा ग्रन्थ, पत्र 132, आकार 5"×5½" पृ. 21 व 26 ब, 45ब-96ब तथा 121ब-132ब खाली हैं। लिखे हुए पन्नों में 13 से 27 अक्षरों वाली 7 से 16 तक पंक्तियाँ हैं। पृ. 100-125 पर साधारण (नौसिखिए के बनाये हुए) चित्र पानी के रंगों में 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने के लिए बनाए गए हैं (देखें नीचे घ)। ग्रन्थ कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध है। पृ. 7 ब पर लिपिकाल सं. 1696 जेठ सुद 13 शनिवार और लेखक का नाम रघुनाथ दिया गया है। लिपि मारवाड़ी है और ड तथा ड़ में भेद नहीं किया गया है। ग्रन्थ में निम्न कृतियाँ हैं—

(क) परिहाँ दुहा वगेरे फुटकर वातां, पृ. 1 अ और 11 ब

(ख) नागौर रै मामलै री कविता, पृ. 12 अ 21 अ।

इसमें तीन प्रशस्ति कविताएँ हैं—एक गीत एक झमाक तथा एक नीसांणी जिसका विषय करणसिंह और नागौर के अमरसिंह की प्रतिस्पर्द्धा है, जिसका उद्धरण दूसरे अनुच्छेद में नीचे दिया गया है। इन कविताओं में मुख्यतया बीकानेर के सेनाध्यक्ष मुहता वीरचन्द की वीरता का बखान किया गया है। गीत का रचयिता जगा है और झमाक का लेखक चारण देवराज बीकूपुरिया है। नीसांणी के लेखक का नाम नहीं दिया गया है।

तीन कविताओं की प्रारम्भिक पंक्तियाँ क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

गीत—दलांथंम रूदरंभ..............आदि

झमाल—कैरव पाँडव कलहीया..........आदि

नीसांणी—अबरल दवी अषट सषर..........आदि।

(ग) नागौर रै मामलै री बात, पृ. 27 अ—45 ब।

---

1. 'परम्परा' (भाग 28-29), पृ. 25-26।

जाखणिया ग्राम को लेकर बीकानेर और नागौर के बीच सं. 1699-1700 के मध्य जो संघर्ष हुआ था उसका बड़ा बारीक और दिलचस्प वृत्तांत इसमें हैं। जबसे नागौर, जोधपुर के राजा गजसिंह के पुत्र राव अमरसिंह को मनसब में प्रदान किया गया, जाखणिया गाँव बीकानेर के महाराजा के अधिकार में ही चला आता था परन्तु सं. 1669 में नागौरी लोगों ने जाखणिया ग्राम के आस-पास खेत बो दिये इससे झगड़े का सूत्रपात हुआ जिसका अन्त: सं. 1700 के युद्ध के बाद हुआ, जिसमें अमरसिंह की फौज को खदेड़ दिया गया और उसका सेनापति सिंघवी सींहमल भाग खड़ा हुआ। युद्ध सम्बन्धी वृत्तान्त ठेठ अमरसिंह की मृत्यु तक चला है। यह छोटी-सी कृति बड़े महत्त्व की है क्योंकि इसमें अनेक बातों पर बारीकी से प्रकाश डाला गया है जो उस समय की सामन्ती जीवन-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इसका प्रारम्भ होता है—

बीकानेर महाराजा श्री करनीसिंह जी रै राज ने नागौर राउ अमरसिंह गजसिंघौत रो राज सु नागौर बीकानेर रो कॉकड़ गांव (०) 1 जाषपीयो सु गांव बीकानेर रो हुतो ने नागौरा रा कहे नु गांव माहरोद्वीवहीज असरचो हुतो..........आदि।

अन्त इस प्रकार है—

इसड़ो काम मुहते रामचन्द नु फबीयो बड़ो नावं हुयो पातसाही माहे बदीतो हुवो इसड़ो बीकानेर काही कामदार हुयो न को हुसी। (घ) रसालू रा दूहा पृ. 99 व 115 ब। इसमें 33 दोहे हैं। प्रारम्भ—ऊँच (?) 3 महल्ल चवंदड़ी॥ 2॥ यह दूसरे दोहे का चौथा चरण है और अन्तिम—राजा भोजु जुहारवै॥ 3॥ (ङ) किवलास रा दूहा पृ. 116 अ—117 ब। इसमें 30 छन्द हैं। प्रारम्भ किणही सावण संयोग—आदि।

इस विवरण में टेसीटरी महोदय ने सबसे पहले ग्रन्थ के आकार को हृदयंगम कराने के लिए इसे गुटका बताया है। उसके आगे भी व्याख्या में 'छोटा-सा ग्रन्थ' कहा है। टेसीटरी महोदय ग्रन्थ की आकृति के साथ उसके वेष्टन आदि का भी उल्लेख कर देते हैं—यथा, ग्रंथांक एक में पहली ही पंक्ति है "394 पत्रों का चमड़े की जिल्द में बँधा वृहदाकार ग्रन्थ"। ग्रंथांक 2 में भी ऐसा ही उल्लेख है कि "कपड़े की जिल्द में बँधा 82 पत्रों का सामान्य ग्रन्थ"। तब पत्रों की संख्या बतायी है, '132'। पत्रों का आकार है 5"×5½"। इन 132 पत्रों में सामग्री का ठीक अनुमान बताने के लिए यह भी उल्लेख किया गया है कितने और कौन-कौन से पृष्ठ खाली हैं। फिर पंक्तियों की गिनती प्रति पृष्ठ तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर का अनुमान भी बताया गया है कि इसमें 13 से 27 अक्षरों वाली 7 से 16 पंक्तियाँ हैं।

पुस्तक चित्रित है। चित्र कितने हैं? कैसे है? और किस विषय के हैं, इनका विवरण भी दिया गया है—

चित्र कितने है?	16
किन पृष्ठों पर हैं?	'पृ. 100—115 तक' पर।
कैसे हैं?	नौसिखिये के बनाये, पानी के रंगों के।
विषय क्या है?	'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने वाले।

फिर लिपिकाल का अनुमान दिया गया है—

"कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध।"

यदि लेखक और लिपिकार का भी उल्लेख कहीं ग्रन्थ में हुआ है तो उसका विवरण भी है—

कहाँ उल्लेख है?	पृ. 7 ब पर
लिपिकाल क्या है?	स. 1696, जेठ सुद 13, शनिवार
लिपिकार का नाम क्या है?	रघुनाथ

लिपि की प्रकृति भी बतायी गयी है—लिपि मारवाड़ी। एक वैशिष्ट्य भी बताया है कि 'ड' तथा 'ड़' में अन्तर नहीं किया गया। तब ग्रन्थ के विषय का परिचय दिया गया है।

कुछ और उदाहरण लें—

अन्य उदाहरण : पृथ्वीराज रासौ

(क) प्रति सं. 5 (ख) साइज 10 × 11 इंच (ग) 1—पुस्तकाकार, (ग) 2—अपूर्ण, और (ग) 3—बहुत बुरी दशा में है। (घ) इसके आदि के 25 और अन्त के कई पन्ने गायब हैं जिससे आदि-पर्व के आरम्भ के 67 रूपक और अन्तिम प्रस्ताव (वाण वेध सम्यों) के 66वें रूपक के बाद का समस्त भाग जाता रहा है। इस समय इस प्रति के 786 (26-812) पन्ने मौजूद हैं। बीच में स्थान-स्थान पर पन्ने कोरे रखे गये हैं जिनकी संख्या कुल मिलाकर 25 होती है। प्रारम्भ के 25 पन्नों के नष्ट हो जाने से इस बात का अनुमान तो लगाया जा सकता है कि अन्त के भी इतने ही पन्ने गायब हुए हैं। (ङ) 1—पर अन्त के इन 25 पन्नों में कौन-कौनसे प्रस्ताव लिखे हुए थे, इनमें कितने पन्ने खाली थे, इस प्रति को लिखवाने का काम कब पूरा हुआ था और (ङ) 2—यह किसके लिए लिखी गई थी? इत्यादि बातों को जानने का इन पन्नों के गायब हो जाने से अब कोई साधन नहीं है। लेकिन प्रति एक-दो वर्ष के अल्पकाल में लिखी गई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि (च) इसमें नौ-दस तरह की लिखावट है और (छ) प्रस्तावों का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है। ज्ञात होता है, रासौ के भिन्न-भिन्न प्रस्ताव जिस क्रम से और जब-जब भी हस्तगत हुए वे उसी क्रम में इसमें लिख लिये गये हैं। (ज) 'ससिव्रता सम्यौ', 'सल युद्ध सम्य' और 'अनंगपाल सम्यों' के नीचे उनका लेखन-काल भी दिया हुआ है। ये प्रस्ताव क्रमशः सं. 1770, सं. 1772 और सं. 1773 के लिखे हुए हैं, लेकिन 'चित्ररेखा', 'दुर्गाकिदार' आदि दो एक प्रस्ताव इसमें ऐसे भी हैं जो कागज आदि को देखते हुए इनसे 25-30 वर्ष पहले के लिखे हुए दिखाई पड़ते हैं। साथ ही, 'लोहाना अजान बाहु सम्यौ' स्पष्ट ही सं. 1800 के आस-पास का लिखा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि रासौ की यह एक ऐसी प्रति है जिसको तैयार करने में अनुमानतः 60 वर्ष (सं. 1740-1800) का समय लगा है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हाथ की लिखावट होने से प्रति के सभी पृष्ठों पर पंक्तियों और अक्षरों का परिमाण भी एकसा नहीं है। किसी पृष्ठ पर 13 पंक्तियाँ, किसी पर 15,

किसी पर 25 और किसी-किसी पर 27 पंक्तियाँ हैं। लिखावट प्राय: सभी लिपिकारों की सुन्दर और सुपाठ्य है। पाठ भी अधिकतर शुद्ध ही है। दो एक लिपिकारों ने संयुक्ताक्षरों में लिखने में असावधानी की है और ख्ख, ग्ग, त्त इत्यादि के स्थान पर क्रमश: ख, ग, त आदि लिख दिया है, जिससे कहीं-कहीं छंदोभंग दिखाई देता है। पर ऐसे स्थान बहुत अधिक नहीं हैं। इसमें 67 प्रस्ताव हैं। उपरोक्त प्रति सं. 2 के मुकाबले में इसमें तीन प्रस्ताव (विवाह सम्यौं, पद्मावती सम्यौं और रेणसी सम्यौं) कम और एक (समरसी दिल्ली सहाय सम्यौं) अधिक हैं।

इस प्रति में से 'ससिव्रता सम्यौ' का थोड़ा-सा भाग हम यहाँ देते हैं। यह सम्यौ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सं. 1770 का लिखा हुआ है—

दूहा

आदि कथा शाशिवृत की कहत अब समूल।
दिल्ली वै पतिसाह गृहि कहि लहि उनमूल॥1॥

अरिल्ल

ग्रीषम ऋतु क्रीडंत सुराजन। षिति उकलंत षेह नभ छाजन॥
विषम बाय तप्पित तनु भाजन। लागी शीत सुमीर सुराजन॥

कवित्त

लागी शीत कल मंद नीर निकटं सुरजत षट।
अमित सुरंग सुगंध तनह उबटंत रजत पट।
मलय चन्द मल्लिका धाम धारा-गृह सुवर।
रंजि विपिन वाटिका शीत द्रुम छांह रजततर॥
कुमकुमा अंग उबटंत अधि मधि केसरि धनसार धनि।
कीलंत राज ग्रीषम सुरिति आगम पावस तईय भनि॥

इसकी प्रति मेवाड़ के प्रसिद्ध कवि राव बख्तावर जी के पौत्र श्री मोहनसिंह जी राव के पास है।[1]

इस विवरण में 'क' के द्वारा तो ग्रन्थ का क्रमांक दिया गया है।

(ख) में आकार या साइज दी गई है—10 इंच चौड़ी × 11 इंच लम्बी।

(ग) में विशिष्ट आकार बताया गया है—इसमें पहले तो यह उल्लेख है कि यह पुस्तकाकार है। पुस्तकाकार से अभिप्राय है कि सिली हुई पुस्तक है, पत्राकार नहीं कि जिसमें पत्र अलग-अलग रहते हैं। फिर, कुछ अन्तरंग परिचय दिया है कि पुस्तक अपूर्ण है। फिर ऊपरी दशा बताई गई है। 'बहुत बुरी दशा'। दशा का यह वर्णन लेखक ने अपनी रुचि के रूप में किया है। 'बुरी दशा' की व्याख्या नहीं दी है।

---

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज प्रथम भाग, पृ. 64-65।

(घ) में आन्तरिक विवरण है—पहले इसका स्थूल पक्ष है। इस स्थूल पक्ष में 'पन्नों की दशा' बताई गई है। इसमें जिन बातों का उल्लेख किया जाता है वे हैं—पन्ने गायब हैं क्या? कितने और कहाँ-कहाँ से गायब हैं? क्या कुछ पन्ने कोरे छोड़ दिये गये हैं? कितने और कहाँ पन्ने कोरे छोड़े गये हैं? अब कुल कितने पन्ने ग्रन्थ में हैं? क्या पन्ने की ऐसी दशा से ग्रन्थ की वस्तु को ग्रहण करने में कुछ बाधा पड़ी है?

यह अन्तिम प्रश्न स्थूल पक्ष से सम्बन्धित नहीं है। यह तो अन्तरंग पक्ष अर्थात् ग्रन्थ की वस्तु से सम्बन्धित है। वस्तुतः यह स्थूल और अन्तरंग को जोड़ने का प्रयत्न भी करता है। इसी दृष्टि से यह प्रश्न भी यहाँ दिया गया है।

(ङ) अब अन्तरंग पक्ष में निम्नलिखित बातों की जानकारी दी गई है—पहली बात तो यही बतायी गयी है कि पन्नों के गायब हो जाने या नष्ट हो जाने का क्या प्रभाव पड़ा है? यह सूचना दी जाती है कि 'इन पृष्ठों में क्या था अब नहीं बताया जा सकता, अन्य आवश्यक सूचनाएँ भी नहीं मिल सकती।'

(च) अन्तरंग पक्ष में ही यह जानकारी अपेक्षित होती है कि पुस्तक में एक ही लिखावट है या कई लिखावटें हैं।

(छ) क्या अध्याय-क्रम ठीक है, या अस्तव्यस्त और अक्रम (रासौ में अध्याय को 'प्रस्ताव' या 'सम्यौ' का नाम दिया गया है।)

(ज) ग्रन्थ में लिपिकाल की सूचनाएँ या अन्य सूचनाएँ क्या-क्या हैं?

ये सभी बातें आन्तरिक विवरण के अन्तरंग पक्ष से सम्बन्धित हैं। विवरण-लेखक उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमानाश्रित अपने निष्कर्ष भी दे सकता है।

एक और विवरण लें—

उदाहरण : रुक्मिणी मंगल

327—रुक्मिणी मंगल, पदम भगत कृत।

(क) प्रत्येक राग-रागिनी के अन्तर्गत आए छन्दों की संख्या पृथक्-पृथक् है।

(ख) पत्र संख्या—83 है।

(ग) अपेक्षाकृत मोटे देशी कागज पर है।

(घ) आकार 11 × 5.5 इंच का है।

(ङ) हाशिया—दाएँ—एक इंच, बाँए—एक इंच है।

(च) पंक्ति—प्रति पृष्ठ 10 पंक्तिया हैं।

(छ) अक्षर—प्रति पंक्ति 26-30 तक अक्षर हैं।

(ज) लिपि-पाठ्य है, किन्तु बीच में कई पन्नों के आपस में चिपक जाने से कहीं-कहीं अपाठ्य है।

(झ) श्री साहबरामजी द्वारा।

(ञ) यह प्रति सं. 1935 में लिपिबद्ध की गयी।

(ट) प्राप्ति स्थान लोहावट साथरी है।

(ठ) आदि का अंश—"श्री विष्णु जी श्री रामचन्द्र जी नम"

(ड) अथ श्री प्रदमईया कृत

(ढ) रुकमणी मंगल लिषतं :

(ण) **दोहा** — "संसार सागर अथाग जल॥ सूझत बार न पार॥
गुर गोबिन्द कृपा करो॥ गाँवाँ मंगल चार॥1॥"

(त) **अन्त का अंश** — जो मंगल कूं सुंन गाय गुंन है बाजै अधिक बजायै
पूरण ब्रिह्म पदम के स्वामी मुक्त भक्त फल पाय॥5॥192

(थ) ईती श्री पदमईया कृत रुकमणी मंगल सम्पूर्ण

(थ) 1—सम्वत् 1935 रा वृष मीती भाद्रवाद्व 4 वार आदितवारे लीपीकृतं

(थ) 2—शाध श्री 108 श्री महंतजी श्री आतमारामजी का सिष शायबरांमेण

(थ) 3—गाँव फीटकासणी मेधे

(थ) 3—1 विष्णुजी के मीदर में

(थ) 4—जीसी प्रती देषी (प्रति) तसी लिषी मम दोस न दीजिये—

(थ) 4—1 हाथ पाव कर कुबडी मुष अरु नीचै नैन। ईन कष्टाँ पोथी लीषी तुम नीके राषीयो सेन।

(द) सुभमस्तु कल्यांणमस्तु विष्णुजी। (भिन्न हस्तलिखित में)

(ध) 1—प्रती व्यावलो श्रीकिसन रुकमणी रो मंगलाचार री पोथी साद गोंविददास विष्णु बैईरागी की कोई उजर करण पावैन्ही॥ साद रूपराम विसनोइयाँ रा कनां सु लीनो छै गाँव रामड़ावास रा छै।[1]

इसमें—

(क) में कृतिकार का नाम दिया गया है।

(ख) में यह सूचना है कि राग-रागिनी में छन्द संख्या अलग-अलग है। (यह अन्तरंग पक्ष है)

(ग) 'कागज' विषयक सूचना (आकार एवं स्वरूप पक्ष से सम्बन्धित) मोटा देशी कागज। वस्तुतः कागज या लिप्यासन की प्रकृति बताना बहुत आवश्यक है। कभी-कभी इससे काल-निर्धारण में भी सहायता मिलती है, कागज के विविध प्रकारों का ज्ञान भी अपेक्षित है।

---

1. माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ.)—जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य पृ. 120।

(घ) में आकार बताते हुए इंचों में लम्बाई-चौड़ाई बतायी गई है।

(ङ) यह लेखन-सज्जा से सम्बन्धित है—हाशिये कैसे छोड़े गये हैं—दाँये और बाँये दोनों ओर हाशिये हैं।

(च) में प्रत्येक पृष्ठ पंक्ति-संख्या का निर्देश है।

(छ) में प्रति पंक्ति में अक्षर-संख्या बतायी गयी है।

(ज) में लिपि—इसमें सुपाठ्य या अपाठ्य की बात बतायी गई है। (लिपि का नाम नहीं दिया गया है। लिपि नागरी है।)

(झ) में लिपिकार का नाम,

(न) में लिपिबद्ध करने की तिथि,

(ट) में प्राप्ति-स्थान की सूचना है।

आन्तरिक परिचय :

(ठ) में ग्रन्थ के 'आदि' से अवतरण दिया गया है। ग्रन्थारम्भ 'नमोकार' से होता है—इसमें साम्प्रदायिक इष्ट को नमस्कार है।

(ड) ग्रन्थ के आदि में पुष्पिका है। इसमें रचनाकार और

(ढ) ग्रन्थ का नाम दिया गया है। तब

(ण) ग्रन्थ का प्रथम दोहा उद्धृत है, यह दोहा 'मंगलाचरण' है।

(त) में अन्त के अंश का उद्धरण है, जिसमें ग्रन्थ की 'फल-श्रुति' है, यथा 'मुक्ति भक्ति फलपाया'।

(थ) में ग्रन्थ के अन्त की 'पुष्पिका' (Colophon) है। जिसमें 'इति' और 'सम्पूर्ण' से ग्रन्थ के अन्त और सम्पूर्ण होने की सूचना के साथ रचनाकार एवं ग्रन्थ-नाम दिया गया है। तब (थ) 1—लिपिबद्ध करने की तिथि, (थ) 2—लिपिकार का परिचय, (थ) 3—में लिपिबद्ध किये जाने के स्थान-गाँव का नाम है एवं (थ) 3—1 उस गाँव में वह विशिष्ट स्थान (विष्णु मन्दिर) जहाँ बैठ कर लिखी गई। (थ) 4—लिपिकार की प्रतिज्ञा और दोषारोपण की वर्जना है। (थ) 4—में पाठक एवं संरक्षक से निवेदन है, इसका स्वरूप परम्परागत है।

(द) आशीर्वचन।

(ध) 1—भिन्न हस्तलिपि में पुस्तक के मालिक की घोषणा।

उदाहरण—एक पोथी

एक और ग्रन्थ के विवरण को उदाहरणार्थ यहाँ दिया जा रहा है। इस ग्रन्थ का विवरण में लेखक ने 'पोथी'[1] बताया है—

---

1. माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ.)—जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य पृ. 41-42।

81 पोथी, जिल्दबंधी (ब, प्रति)। यत्र-तत्र खण्डित। एकाध पत्र-अप्राप्य। अपेक्षाकृत मोटा देशी कागज। पत्र संख्या 152। आकार 10 × 7 इंच हाशिया-दाएँ बाएँ—पौन इंच। तीन लिपिकारों द्वारा सं. 1832 से 1839 तक लिपिबद्ध। लिपि, सामान्यत: पाठ्य। पंक्ति, प्रति पृष्ठ।

(क) हरजी लिखित रचनाओं में 23-29 तक पंक्तियाँ हैं।

(ख) तुलछीदास लिखित सबदवाणी में 31 पंक्तियाँ हैं, तथा।

(ग) ध्यानदास लिखित रचनाओं में 24-25 पंक्तियाँ हैं। अक्षर-प्रति-पंक्ति क्रमश: (क) में 18 से 20 तक, (ख) में 24 से 25 तक तथा (ग) में 23 से 25 तक।

गाँव 'मुकाम' के श्री बदरीराम थापन की प्रति होने से इसका नाम ब. प्रति रखा गया है। इसमें ये रचनाएँ हैं—

(क) औतार पात का बषाँण, बील्होजी कृत। छन्द संख्या 140।

(ख) गूगलीयै की कथा, बील्होजी कृत। छन्द संख्या 86। (प्रथम रचना का अन्तिम और दूसरी के आरम्भ का एक पन्ना भूल से शायद जिल्द बाँधते समय, 'कथा जैसलमेर की' के बीच में लग गया है।)

(ग) सच अषरी विगतावली, बील्होजी कृत। छन्द संख्या—48।

(घ) कथा दूणपुर की, बील्होजी कृत। छन्द संख्या—60।

(ङ) कथा जैसलमेर की, बील्होजी कृत। छन्द संख्या—89

(च) कथा झोरड़ां की, बील्होजी कृत। छन्द संख्या—33।

(छ) कथा ऊदा अतली की, केसौजी कृत। छन्द संख्या—77।

(ज) कथा सैंसे जोषाणी की, कैसौदासजी कृत। छंद संख्या—106।

(झ) कथा चीतोड़ की, कैसौदासजी कृत। छंद संख्या—130।

(न) कथा पुल्हेजी की, बील्होजी कृत। छंद संख्या—25।

(ट) कथा असकंदर पातिसाह की, केसौदासजी कृत। छंद संख्या—191।

(ठ) कथा बाल-लीला, कैसौदासजी कृत। छंद संख्या—61।

(ड) कथा ध्रमचारी तथा कथा-चेतन, सूरजनदासजी कृत। छंद संख्या—115।

(ढ) ग्यानं महातम, सुरजनदासजी कृत। छंद संख्या—199।

सभत् 1832 मिती जेठ बद 13 लिषते वणिबाल हरजी लिषावतं अतित रासाजी लालाजी का चेला पोथी गाँव जाषांणीय मझे लिषी दै सुभ मसतु कल्याणं॥

कथा चतुरदस में लिषी अरज करूं कर धारि।
घट्य बधि अक्षर जो हुवै। सन्तो ल्यौह सुधांरि॥1॥

(ण) पहलाद चिरत, कैसौदासजी कृत। छन्द संख्या—595। (त) श्री वायक झांभैजी का (सबदवाणी) पद्य प्रसंग समेत। सबद संख्या—117। आदि का अंश—श्री परमात्मनेनमः श्री गणेसायनमः। लिषते श्री वायक झांभैजी का॥

काचै करवै जल रष्या। सबद जगाया दीप।

वांभण कूँ परचा दिया। अैसा असा अचरज कीप॥1॥

जो बूझ्या सोई कह्या। अलष लषाया मेव॥

घोषा सवै गमाईया। जदि सबद क़हया झंभदेव॥2॥

शबद॥ गुर चीन्हो गुर चिन्ह पिरोहित॥ गुर मुष धरम वषार्णी॥

अन्त का अंश—भलीयाँ होइ त मल बुधि आवे। बुरिया बुरि कमावे॥117॥ संवत 1833॥ तिथ तीज भादवो सुदि। सहर गोर मध्ये लिषते। लिषतेतूं तुलीछीदास॥ झांभार्पथी केसोदास जी का चेला। केसोदास जी कालीपोस। बाबाजी नूर जी का सिष। नूरजी षेराजजी का सिष। षैराज जी जसांणी। आगे बाबा झांभाजी तांई पीढ़ी छैं सू हम जांणत भी नांही। जिसी मुसाहिब जी की लिषति थी तिषि लिषी छै यथार्थ प्रिति उतारी छै॥ सबद॥ दोहा ॥ कवित्॥ अरिल जो, कुछ था सोई ॥थ॥ कवत सुरजनजी रा कह्या, संख्या 329। समत् 1839 रा बैसाष मासे तिथौ 5 देवा गुरवारे लिषतं वैष्णव॥ ध्यांनदास दुगाली मध्ये जथा प्रति तथा लिषतं॥ बाचै विचारै तिणनु राम राम। द होम को पाढ ध आदि बंसावली। विवरण प कलस थापन फ पाहल। ब चौजूगी वीवाह की। भ पांहलि पुनः आदि—श्री गणेसायनमः श्री सारदाय नमः श्री विसनजी सत कही॥ लिषतुं औतार पात का वषांण॥

दुहा ॥ नवणि करूं गुर आपणै॥ नउं निरमल भाय।

कर जोड़े बूंद चरण॥ सीस नवाय नवाय॥1॥

अन्त—मछ को पाहलि॥ कछ की पाहली॥ बारा की पाहली॥ नारिसिंघ की पाहलि॥ बांवन की पाहलि फरसराम की पाहलि राम लक्षमण की पाहलि। कंन की पाहलि बुध की पाहलि निकलंकी पाहलि— ॥

ऊपर कुछ ग्रन्थों के विवरण (Notices) उद्धृत किये गये हैं। साथ ही प्रत्येक विवरण में आयी बातों का भी संकेत हमने अपनी टिप्पणियों में कर दिया है। उनके आधार पर अब हम ग्रन्थ के विवरण में अपेक्षित बातों को व्यवस्थित रूप में यहाँ दे देना चाहते हैं— पाण्डुलिपि हाथ में आने पर विवरण लेने की दृष्टि से इतनी बातें सामने आती हैं—

(1) ग्रन्थ का 'अतिरिक्त पक्ष'—इसमें ये बातें आ सकती हैं—

ग्रन्थ का रख-रखाव—वेष्टन, पिटक, जिल्द, पटरी (कांवी), पुट्ठा, डोरी, ग्रन्थि। वेष्टन कैसा है? सामान्य कागज का है, किसी कपड़े का है, चमड़े का है या किसी अन्य का? वह पिटक, जिसमें ग्रन्थ सुरक्षा की दृष्टि से रखा गया है, काष्ठ का है या धातु का है। जिल्द—यदि ग्रन्थ जिल्दयुक्त है तो वह कैसी है। जिल्द किस वस्तु की है, इसका भी उल्लेख किया जा सकता है।

ताड़-पत्र की पाण्डुलिपि पर और खुले पत्रों वाली पाण्डुलिपि पर ऊपर नीचे पटरियाँ या 'काष्ठ-पट्ट'[1] लगाये जाते हैं, या पट्ठे (पुट्ठे) लगाये जाते हैं। इन्हें विशेष पारिभाषिक अर्थ में 'कंबिका या कांबी' भी कहा जाता है। भा. जै. श्र. सं. अने लेखन कला में बताया है कि ताड़-पत्रीय लिखित पुस्तकना रक्षण मोटे तेनी ऊपर अने नीचे लाकड़ानी चीपो-पाटीओं राखवामां आवती तेनुं नाम 'कंबिका' है।[2] तो यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि क्या ये पट्टिकायें ग्रन्थ के दोनों ओर हैं। इनके ऊपर डोरे में ग्रन्थि लगाने की ग्रन्थियाँ (गोलाकार टुकड़े जिनमें डोरे को पिरोकर पक्की गाँठ लगायी जाती है) भी हैं क्या? ये किस वस्तु की हैं? और कैसे है? क्या इन पर अलंकरण या चित्र भी बने है? अलंकार और चित्र का विवरण भी दिया जाना चाहिये।

(2) पुस्तक का स्वरूप—'अतिरिक्त पक्ष' के बाद पाण्डुलिपि के 'स्वपक्ष' पर दृष्टि जाती है। इसमें भी दो पहलू होते हैं।

पहला पहलू पुस्तक के सामान्य रूप-रंग-विषयक सूचना से सम्बन्धित होता है। पुस्तक देखने में सुन्दर है, अच्छी है, गन्दी है, बुरी है, मटमैली है, जर्जर है, जीर्ण-शीर्ण है, आदि। या भारी-भरकम है, मोटी है, पतली है। वस्तुतः इस रूप में पुस्तक का विवरण कोई अर्थ नहीं रखता, उपयोगी भी नहीं है। हाँ, यदि सुन्दर है या गन्दी है न लिख कर उसके बाह्य रूप-रंग का परिचय दे दिया जाय तो उसे ठीक माना जा सकता है, यथा, ग्रन्थ का कागज गल गया है, उस पर स्याही के धब्बे हैं, चिकनाई के धब्बे, हल्दी के दाग हैं, रेत-मिट्टी, धुंएँ आदि से धूमिल हैं, कीड़े-मकोड़ों ने, दीमक ने जहाँ-तहाँ खा लिया है, पानी में भीगने से पुस्तक लिद्धड़ हो गयी है, आदि।

पुस्तक के रूप का दूसरा पहलू है, **'आकार-सम्बन्धी'**। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और सभी विवरणों में इसका उल्लेख रहता है। इसमें ये बातें दी जाती हैं—

(क) पुस्तक का प्रकार—प्रकार नामक अध्याय में इनकी विस्तृत चर्चा है। आजकल प्रकारों के जो नाम-विशेष प्रचलित हैं, वे डॉ. माहेश्वरी ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(1) पोथी—प्रायः बीच से सिली, आकार में बड़ी।

(2) गुटका—पोथी की भाँति, पर छोटा—6 × 4.5 इंच के लगभग।

(3) बहीनुमा पुस्तिका—21 × 4.25" इंच। अधिक लम्बी भी होती है।

(4) पुस्तिका—7.5" × 5.25" आकार के लगभग।

(5) पोथा।

---

1. भा. जै. श्र. सं. अने लेखन कला में 'काष्ठ पट्टिका' उस लकड़ी की 'पट्टी' का बताया है जिस पर व्यवसायी लोग कच्चा हिसाब लिखते थे, और लेखकगण पुस्तक का कच्चा पाठ लिखते थे। बच्चों को लिखना सिखाने के लिए भी पट्टी काम आती थी। यहाँ इस काष्ठ पट्टिका का उल्लेख नहीं है। यहाँ 'काष्ठ पट्टिका' से 'पटरी' अभिप्रेत है, जो पाण्डुलिपि की रक्षार्थ ऊपर-नीचे लगायी जाती है।

2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 19।

(6) पत्रा (खुले पत्रों या पन्नों का)

(7) पानावली (विशेष विवरण प्रकार शीर्षक अध्याय में देखिये)।

(ख) पुस्तक का कागज या लिप्यासन—सामान्यत—लिप्यासन के दो स्थूल भेद किये गये हैं—(1) कठोर लिप्यासन()मिट्टी की ईंटें, शिलाएँ, धातुएँ आदि इस वर्ग में आती हैं। चर्म, पत्र, छाल, वस्त्र, कागज आदि (2) कोमल माने जाते हैं। मिट्टी की ईंटें, शिला, धातु, चर्म, छाल, ताड़-पत्र आदि में से पत्र, पत्थर, धातु, चर्म, छाल, वस्त्र आदि के प्रकारों को तो 'जनक' कह सकते हैं। क्योंकि इनसे लिप्यासन जन्म लेते हैं। इनमें इनका प्रकृत रूप विद्यमान रहता है। उधर कागज पूरी तरह 'जनित' या मानव निर्मित है। यह विविध वस्तुओं से बनाया जाता है। कागज के भी कितने ही प्रकार होते हैं, यथा—देशी कागज, सामान्य, मोटा, पतला, कुछ मोटा, मशीनी और ये विविध रंगों के—भूरा, बादामी, पीला, नीला आदि। इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजय जी ने जो उल्लेख किया है वह ध्यातव्य है—

"कागज ने माटे आपणा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थामां कागद अने कद्गल शब्दों वपराअेला जोवा माँ आवे छे। जेम आजकाल जुदा जुदा देशों में नाना मोटा, झीणा जाड़ा, सारा नरसा आदि अनेक जातना कागलो बने छे तेम जून जमाना थी मांडी आज पर्यन्त आपणा देशना हरेक विभाग माँ अर्थात् काश्मीर, दिल्ली, बिहारना पटणा शाहाबाद आदि जिल्लओं, कानपुर, घोसुंडा (मेवाड़), अहमदाबाद, खंभात, कागजपुरी (दौलताबाद पासे) आदि इनके स्थलों माँ पोत पोतानी खपत अने जरूरी आतना प्रमाणमां काश्मीरी, मुंगलीआ, अरवाल, साहेवखानी, अहमदाबादी, खंभाती, शणीआ, दौलताबादी आदि जात जातनों कागलो बटता हता अते हजुपण घणे ठेकाणे बने छे, ते माँथी जेजे जे सारा, टकाऊ अने माफक लाने ते नो ते ओ पुस्तक लखवा माटे उपयोग करता।"[1] इस पुस्तक में काश्मीरी कागज की बहुत प्रशंसा की है। यह कागज बहुत कोमल और मजबूत होता था। इस विवरण में मेवाड़ के घोसुन्दा के कागज का उल्लेख है, पर जयपुर में सांगानेर का सांगानेरी कागज भी बहुत विख्यात रहा है।

कागज के सम्बन्ध में श्री गोपाल नारायण बहुरा की नीचे दी हुई टिप्पणी भी ज्ञानवर्द्धक है—

"स्यालकोट अकबर के सामने ही एक प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र बन गया था। वहाँ पर लिखने-पढ़ने का काम खूब होता था और कागज व स्याही बनाने के उद्योग भी वहाँ पर बहुत अच्छे चलते थे। स्यालकोट का बना हुआ बढ़िया कागज 'मानसिंही कागज' के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ पर रेशमी कागज भी बनता था। इस स्थान के बने हुए कागज मजबूत, साफ और टिकाऊ होते थे। मुख्य नगर के बाहर तीन 'ढानियों' में यह उद्योग चलता था और यहाँ से देश के अन्य भागों में भी कागज भेजा जाता था। दिल्ली के बादशाही दफ्तरों में प्रायः यहाँ का बना हुआ कागज ही काम में आता था।[2]

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 29-30।
2. Surcar, J.—Topography of the Mughal Empire, p. 25.

इसी प्रकार कश्मीर में भी कागज तो बनते ही थे, साथ ही वहाँ पर स्याही भी बहुत अच्छी बनती थी। कश्मीरी कागजों पर लिखे हुए ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। जिस प्रकार स्यालकोट कागज के लिए प्रसिद्ध था उसी तरह कश्मीर की स्याही भी नामी मानी जाती थी।[1]

राजस्थान में भी मुगलकाल में जगह-जगह कागज और स्याही बनाने के कारखाने थे। जयपुर, जोधपुर, भीलवाड़ा, गोगूंदा, बूंदी, बांदीकुई, टोटाभीम और सवाईमाधोपुर आदि स्थानों पर अनेक परिवार इसी व्यवसाय से कुटुम्ब पालन करते थे। जयपुर और आस-पास के 55 कारखाने कागज बनाने के थे, इनमें सांगानेर सबसे अधिक प्रसिद्ध था और यहाँ का बना हुआ कागज ही सरकारी दफ्तरों में प्रयोग में लाया जाता था। 200 से 300 वर्ष पुराना सांगानेरी कागज और उस पर लिखित स्याही के अक्षर कई बार ऐसे देखने में आते हैं मानो आज ही लिखे गये हों।

शहरों और कस्बों से दूरी पर स्थित गाँवों में प्राय: बनिये और पटवारी लोगों के घरों व दूकानों पर 'पाठा' सम्भवत: 'पत्र' का ही रूपान्तर हो। सेठ या पटवारी के यहाँ ही अधिकतर गाँव के लोगों का लिखा-पढ़ी का काम होता था। कदाचित् कभी उनके यहाँ लेखन सामग्री न होती तो वह काम उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जाता जब तक कि शहर या पास के बड़े कस्बे या गाँव से 'स्याही' 'पाठे' न आ जावें। नुकता या विवाह आदि के लिए जब सामान खरीदा जाता तो 'स्याही-पाठा' सबसे पहले खरीदा जाता था।''

तात्पर्य यह है कि जो हस्तलेख हाथ में आयें उनके लिप्यासन की प्रकृति और प्रकार का ठीक-ठीक उल्लेख होना चाहिये।

(ख) 1—कागज के प्रकार के साथ कागज के सम्बन्ध में ही कुछ अन्य बातें और दी जाती हैं—

(1) कागज का रंग स्वाभाविक है या काल-प्रभाव से अस्वाभाविक हो गया है।

(2) क्या कागज कुरकुरा (Brittle) हो गया है?

(3) कीड़ों-मकोड़ों या दीमकों या चूहों से खा लिया गया है? कहाँ-कहाँ, कितना? इससे ग्रन्थ के महत्त्व को क्या और कितनी क्षति पहुँची है।

(4) समस्त पाण्डुलिपि में क्या एक ही प्रकार का कागज है, या उसमें कई प्रकार के कागज है?

इन अन्य बातों का अभिप्राय यह होता है कि कागज विषयक जो भी वैशिष्ट्य है वह विदित हो जाय।

(ख) 2—कागज से काल-निर्धारण में भी सहायता मिल सकती है। इस दृष्टि से भी टीप देनी चाहिये।

---

1. Ibid, p. 112.

(ग) पत्रों की लम्बाई-चौड़ाई—यह लम्बाई-चौड़ाई इंचों में देने की परिपाटी 'लम्बाई इंच × चौड़ाई इंच' इस रूप में देने में सुविधा रहती है। अब तो सेंटीमीटर में देने का प्रचलन भी आरम्भ हो गया है।

3. पाण्डुलिपि का रूप-विधान

(क) पंक्ति एवं अक्षर परिमाण—सबसे पहले लिपि का उल्लेख होना चाहिये। देवनागरी है य अन्य?[1] वह लिपि शुद्ध है या अशुद्ध? पाण्डुलिपि के अन्तरंग-रूप का यह एक पहलू है।

प्रत्येक पृष्ठ में पंक्तियों की गिनती दी जाती है, तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर संख्या दी जाती है। इनकी औसत संख्या ही दी जाती है।[2] इससे सम्पूर्ण ग्रन्थ की सामग्री का अक्षर-परिमाण विदित हो जाता है।

संस्कृत ग्रन्थों में 'अनुष्टुप' को एक श्लोक की इकाई मान कर श्लोक संख्या दे दी जाती थी। इस सम्बन्ध में 'भा. जै. श्र. सं. अने लेखन कला' से यह उद्धरण यहाँ देना समीचीन होगा—

"............ये ग्रन्थनी श्लोक संख्या गणवा माटे कोईपण साधुने अे नकल आपवामां आवती अने ते साधु 'बत्रीस अक्षरना अेक श्लोक' ने हिसाबे आखा ग्रन्थना अक्षरों गणीने श्लोक संख्या नक्की करते"॥[3] बत्तीस अक्षर काएक अनुष्टुप श्लोक होता है—एक चरण में 8 अक्षर, पूरे चार चरणों में 8 × 4 = 32 अक्षर। इस प्रकार गणना का मूलाधार अक्षर ही ठहरता है।

(ख) पत्रों की संख्या—पंक्ति एवं अक्षरों का विवरण देकर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि पत्रों की पूर्ण संख्या भी दे दी जाय। यथा—टेसीटरी, '436 पत्रों का वृहदाकार ग्रन्थ'। पत्रों की संख्या के साथ यह भी देखना होगा कि क पत्र-संख्या का क्रम ठीक है, कोई इधर-उधर तो नहीं हो गया है।

(ख) कोई पत्र या पन्ने कोरे छोड़े गये हैं क्या?

(ग) उन पर पृष्ठांक कैसे पड़े हुए हैं?

(घ) पन्ने व्यवस्थित हैं और एक माप के हैं या अस्त-व्यस्त और भिन्न-भिन्न मापों के हैं?

विशेष—1. इसी के साथ यह बताना भी आवश्यक होता है कि लिखावट कैसी हैं—सुपाठ्य हैं, सामान्य है या कुपाठ्य है कि पढ़ी ही नहीं जाती। सुपाठ्य है तो सुष्ठु भी है या नहीं। लिपि सौष्ठव के सम्बन्ध में ये श्लोक आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

---

1. यथा—टेसीटरी "कुछ देवनागरी लिपि में और कुछ उस समय में प्रचलित मारवाड़ी लिपि में लिपिबद्ध हैं।" परम्परा (28-29), पृ. 146।
2. यह पद्धति भी है कि कम से कम अक्षरों की संख्या और अधिक से अधिक अक्षरों की संख्या दे दी जाती है, यथा 23 से 25 तक।
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 106।

"अक्षराणि समशीर्षाणि वर्तुलानि धनानि च।
परस्परमलग्नानि, यो लिखेत् स हि लेखकः।
समानि समशीर्षाणि, बर्तुलानि धनानि च।
मात्रासु प्रतिबद्धानि, यो जानाति स लेखकः।
शीर्षोपेतान् सुस्मपूर्णान्, शुभ श्रेणिगतान् समान्
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु, लेखकः स वरः स्मृतः॥"

यथा टेसीटरी "अनेक स्थानों पर पढ़ा नहीं जाता क्योंकि खराब स्याही के प्रयोग के कारण पत्र आपस में चिपक गये हैं।"[1]

2. यह भी बताना होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक ही हाथ की लिखावट है या लिखावट-भेद है। लिखावट में भेद यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थ विभिन्न हाथों से लिखा गया है, यथा—टेसीटरी—समय-समय पर अलग-अलग लेखकों के हाथ से लिपिबद्ध किया हुआ है।[2]

(ग) अलंकरण सज्जा एवं चित्र

(अ) सज्जा की दृष्टि से इन दोनों बातों की सूचना भी यहीं देनी होगी कि ग्रन्थ अलंकरणयुक्त है या सचित्र है। अलंकरण केवल सुन्दरता बढ़ाने के लिए होते हैं, विषयों से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। पशु-पक्षी, ज्यामितिक रेखांकन, लता-बेल एवं फल-फूल की आकृतियों से ग्रन्थ सजाये जाते हैं। अतः यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सजावट की शैली कैसी है। सजावट के विविध अभिप्रायों या मोटिफों का युग-प्रवृत्ति से भी सम्बन्ध रहता है, अतः इनसे काल-निर्धारण में भी कुछ सहायता मिल सकती है। साथ ही, चित्रालंकरण से देश और युग की संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ सकता है। यह सिद्ध है कि मध्ययुग में चित्रकला का स्वरूप ग्रन्थ-चित्रों (Miniatures) के द्वारा ही जान सकते हैं। जो भी हो, पहले अलंकरण से सजावट की स्थिति का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

तब, ग्रन्थ चित्रों का परिचय भी अपेक्षित है। क्या चित्र पुस्तक के विषय के अनुकूल है, क्या वे विषय के ठीक स्थल पर दिये गये हैं? वे संख्या में कितने हैं? कला का स्तर कैसा है?

यह बात ध्यान में रखने की है कि चित्र-सज्जा के कारण पुस्तक का मूल्य बढ़ जाता है। ग्रन्थ के चित्रों का भी मूल्य अलग से लगता है।

(आ) चित्रों की संख्या की ओर उसके कला-स्तर का उल्लेख करते हुए एक सम्भावना की ओर और ध्यान देना अपेक्षित है। कितनी ही पुस्तकों के चित्रों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि चारों कोनों में से किसी एक में चतुर्भुज बना कर एक व्यक्ति का रूपांकन कर दिया गया है। इस व्यक्ति का चित्र के मूल कथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं

---

1. परम्परा (28-29), पृ. 112।
2. वही, पृ. 112।

बैठता। यह सिद्ध हो चुका है। यह चतुर्भुज में अंकित चित्र कृतिकार का होता है। अतः विवरण में यह सूचना भी देनी होगी कि पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं उनमें एक झरोखा-सा बना कर पुस्तक-लेखक का चित्र भी अंकित मिलता है क्या?

(ग) चित्रों में विविध रंगों के विधान पर भी टीप रहनी चाहिये। हाशिये छोड़ने और हाशिये की रेखाओं की सजावट का भी उल्लेख करें।

(घ) स्याही या मषी

स्याही का भी विवरण दिया जाना चाहिये—

1. कच्ची स्याही में लिखा गया है या पक्की में? एक ही स्याही में सम्पूर्ण ग्रन्थ पूरा हुआ है अथवा दो या दो से अधिक स्याहियों का उपयोग किया गया है? प्रायः काली और लाल स्याही का उपयोग होता है। लाल स्याही से दाएँ-बाएँ हाशिये की दो-दो रेखाएँ खींची जाती हैं। यह भी देखने में आया है कि ग्रन्थों में आरम्भ का नमोकार और "अथ······ग्रन्थ लिख्यते" आदि शीर्षक लाल स्याही से लिखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका भी और ग्रन्थ-समाप्ति की पुष्पिका भी लाल स्याही से लिखी जाती है। पूरा ग्रन्थ काली स्याही में, उसके शीर्षक और पुष्पिकाएँ लाल स्याही में हों तो उसका उल्लेख भी विवरण में किया जाना उचित प्रतीत होता है। किन्हीं ग्रन्थों में ऐसे स्थलों पर लाल रंग फेर देते हैं, और उस पर काली स्याही से ही पुष्पिका आदि दी जाती है।

यह तो वे बातें हुई जो पाण्डुलिपि के रूप का बाह्य और अन्तरंग रूप का ज्ञान कराती है।

4. अन्तरंग परिचय

इसके बाद विवरण या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में कुछ और आन्तरिक परिचय भी देना होता है। यह अन्तरंग परिचय भी स्थूल ही होता है। इस परिचय में निम्नांकित बातें बताई जाती हैं—

(क) ग्रन्थाकार या रचयिता का नाम : यथा, टेसीटरी—"दम्पति विनोद[1]·······(1) इसका कर्ता जोशीराया है।" बीकानेर के राठौडाँरी ख्यात (2) ग्रन्थ का निर्माण चारण सिढायच दयालदास द्वारा हुआ। ढोला मारवणी री बात—रचयिता-अज्ञात[2]

रचयिता के सम्बन्ध में अन्य विवरण जो ग्रन्थ में उपलब्ध हो वह भी यहाँ देना चाहिये। यथा, निवास स्थान, वंश परिचय आदि।

(ख) रचनाकाल[3] —इस विवरण में वही रचना-काल दिया जायेगा जो ग्रन्थ में ग्रन्थ कर्ता ने दिया है। यदि उसने रचना-काल नहीं दिया तो यही सूचना दी जानी चाहिये।

---

1. परम्परा (28-29), पृ. 48।
2. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पृ. 38।
3. विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'काल निर्णय की समस्या' विषयक सातवाँ अध्याय।

हाँ, यदि आपके पास ऐसे कुछ आधार हैं कि आप इस कृति के सम्भावित काल का अनुमान लगा सकते हैं तो अपने अनुमान को अनुमान के रूप में दे सकते हैं।

(ग) **ग्रन्थ रचना का उद्देश्य** — यथा, ''बीकानेर के राठौडाँ री ख्यात:[1] ग्रन्थ का निर्माण...........बीकानेर के महाराजा सिरदार सिंह के आदेश पर किया गया है।''

''इसी प्रकार ये उद्देश्य भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, यथा—'राजाज्ञा से' और 'सुफल प्राप्तयर्थ' विष्णुदास ने 'पांडव चरित' लिखा।''

(घ) ग्रन्थ रचना का स्थान। यथा, 'गढ़ गोपाचल वैरिनि सालू'।[2]

(ङ) यदि किसी के आश्रय में लिखा गया है तो आश्रयदाता का नाम—यथा, 'डोंगर-सिंध राउवर वीरा' तथा आश्रयदाता का अन्य परिचय।

(च) भाषा विषयक अभिमत—यहाँ स्थूलत: यह बताना होगा कि संस्कृत, डिंगल, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगाली, गुजराती, ब्रज, अवधी, हिन्दी (खड़ीबोली), तमिल या राजस्थानी (मारवाड़ी, हाड़ौती, ढूँढ़ारी, शेखावाटी), आदि विविध भाषाओं में से किस भाषा में ग्रन्थ लिखा गया है।

यहाँ भाषाओं की यह सूची संकेत मात्र देती है। भाषाएँ तो और भी हैं, उनमें से किसी में भी यह ग्रन्थ लिखा हुआ हो सकता है।

(छ)—1 भाषा का कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य।

(ज) लिपि एवं लिपिकार का नाम।

(झ) लिपिकार का कुछ और परिचय ग्रन्थ में दी गयी सामग्री के आधार पर

(1) किस गुरु-परम्परा का शिष्य

(2) माता-पिता तथा भाई आदि के नाम

(3) लिपिकार के आश्रयदाता

(4) प्रतिलिपि कराने का अभिप्राय :

(क) किसी राजकुमार के लिए पठनार्थ

(ख) किसी अन्य के लिए पठनार्थ

---

1. परम्परा (28-29), पृ. 1।
2. पांडव चरित, पृ. 5।

(ग) स्व-पठनार्थ

(घ) आदेश-पालनार्थ

(ड) शुभ फल प्राप्त्यर्थ

(च) दानार्थ आदि-आदि

(ञ) लिपिकार के आश्रयदाता का परिचय।

(ट) प्रतिलिपि का स्वामित्व।

(ठ) प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी यदि पुष्पिका हो तो उसे भी उद्धृत कर देना चाहिये।

5. अन्तरंग परिचय का आन्तरिक पक्ष

(क) प्रतिपाद्य विषय का विवरण। यथा, टेसीटरी—इसी अध्याय में पृ. 84 पर (ग) 'नागौर रे मामले री बात' का विवरण देखें।

(ख) आरम्भ का अंश, कम से कम एक छन्द चार चरणों का तो देना ही चाहिए। यदि आरम्भ के अंश में कुछ और ज्ञातव्य सामग्री हो तो उसे भी उद्धृत कर दिया जाय, जैसे पुष्पिका। (यथावत् उद्धृत करनी होती है।)

(ग) आरम्भ में यदि पुष्पिका या कोलोफोन हो तो उसे भी यथावत् उद्धृत करना होगा।

(घ) मध्य भाग से भी कुछ अंश देना चाहिये। ये अंश ऐसे चुने जाने चाहिये कि उनसे कवि के कवित्व का आभास मिल सके।

(ङ) अन्त का अंश, इस अंश में अन्तिम पुष्पिका, तथा उससे पूर्व का भी कुछ अंश दिया जाता है।

(च) परम्परागत फलश्रुति, लेखक की निर्दोषिता (जैसा देखा वैसा लिखा) तथा श्लोक या अक्षर की संख्या।

(छ) अन्य उल्लेखनीय बात या उद्धरण। यथा,

प्राप्ति स्थान, एवं उस व्यक्ति का नाम एवं परिचय जिसके यहाँ से ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है।

विवरण के लिए प्रस्तावित प्रारूप

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने विवरण लेने वाले व्यक्तियों की सुविधा के लिए प्रारूप मुद्रित कर दिया था। विवरण लेनेवाला उसमें दिये विविध शीर्षकों के अनुकूल सूचना भर देता है। इस योजना से यह भय नहीं रहता कि खोजकर्ता किन्हीं बातों को छोड़ देगा। ऊपर जो विवेचन दिया गया है उसके आधार पर एक प्रारूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

हस्तलिखित ग्रन्थ (पाण्डुलिपि) का सामान्य परिचयात्मक विवरण (रिपोर्ट)

क्रमांक.........

पाण्डुलिपि का प्रकार...........

गुटका/पोथी...............

1. पाण्डुलिपि ग्रन्थ का नाम.........
2. कर्त्ता या रचयिता............
3. रचना काल............
4. पुस्तक की कुल पत्र संख्या..........

   विशेष—

   (क) कितने पृष्ठ या पन्ने कोरे छोड़े गये हैं। किस-किस स्थान पर छोड़े गये हैं

   (ख) क्या कुछ पृष्ठ/पन्ने अपाठ्य हैं। कहाँ कहाँ?.........1

   (ग) क्या कहीं कटे-फटे हैं? कहाँ-कहाँ?.........
5. प्रत्येक पत्र की लम्बाई × चौड़ाई (इंचों या सेन्टीमीटरों में)..........
6. प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या.........

   प्रत्येक पंक्ति में अक्षर संख्या...........
7. पाण्डुलिपि का लिप्यासन प्रकार............

   ईंट

   शिला

   चर्म

   ताम्र या अन्य धातु का

   ताड़-पत्र

   भूर्जपत्र

   छाल, पेपीरस आदि

   कपड़ा

   कागज............प्रकार सहित............
8. लिपि-प्रकार............

   देवनागरी, मारवाड़ी, कैथी आदि
9. लिखावट क्या एक ही हाथ की या कई हाथों की...........

   लिखावट के सम्बन्ध में अन्य विशिष्ट बातें..........

10. प्रत्येक पन्ने पर लिपि का माप[1]·········

(औसत में)

11. लिपिकार/लिपिकारों के

नाम·········

स्थान·········

लिप्यंकन की तिथि··········

12. रचनाकार के आश्रयदाता

(परिचय)

13. लिपिकार के आश्रयदाता············

(परिचय)

14. रचना का उद्देश्य

15. प्रतिलिपि करने का उद्देश्य

16. पुस्तक का रख-रखाव—

बगुचा, थैला, सामान्य वेष्टन, पुट्ठे, तख्तियाँ, डोरी, ग्रन्थि, अन्य छादन..........

17. विषय का संक्षिप्त परिचय-अध्यायों की संख्या के उल्लेख के साथ..........

17. (i) विषय का कुछ विस्तृत परिचय

18. आदि (उद्धरण)

19. मध्य (उद्धरंण)

20. अन्त (उद्धरण)

21. ग्रन्थ में आयी सभी पुष्पिकाएँ—

(1)

(2)

(3)

(4)

(5)

(6)

(7)

शोध-विवरण का यह प्रारूप अपने-अपने दृष्टिकोण से घटा-बढ़ा कर बनाया जा सकता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण बात छूट नहीं

---

1. लिपि के माप से यह पता चलेगा कि अक्षर छोटे हैं या बड़े है।

सकती है और सूचनाएँ क्रमांक युक्त हैं। यथार्थ से इन अंकों का उपयोग भी लाभप्रद हो सकता है।

विवरण लेखन में दृष्टि

डॉ. नारायणसिंह भाटी ने 'परम्परा'[1] में डॉ. टेसीटरी के राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण अंक में सम्पादकीय में डॉ. टेसीटरी के शोध सिद्धान्तों को संक्षेप में अपने शब्दों में दिया है। वे इस प्रकार हैं—

(1) ग्रन्थ का परिचय देने से पहले उन्होंने बड़े गौर से उसे आद्योपान्त पढ़ा है तथा पूरे ग्रन्थ में कोई भी उपयोगी तथ्य मिला है उसका उल्लेख अवश्य किया है।

(2) डिंगल में पद्य और गद्य दोनों ही विधाओं के अधिकांश ग्रन्थ ऐतिहासिक-तथ्यों पर आधारित है। अतः उन्होंने इतिहास को कहीं भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। उस समय कर्नल टॉड के 'राजस्थान' के अतिरिक्त यहाँ का कोई प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित नहीं था। अतः ऐसी स्थिति में भी ऐतिहासिक तथ्यों पर टिप्पणी करते समय लेखक ने सचेष्ट जागरूकता का परिचय दिया है और अनेक स्थलों पर अपना मत व्यक्त करते हुए शोधकर्ताओं के लिए कई गुत्थियों को सुलझाने का भी प्रयास किया है।

(3) कृति में से उद्धरण चुनते समय प्रायः इतिहास, भाषा अथवा कृति के लेखक व संवत् आदि तथ्यों को पाठक के सम्मुख रखने का उद्देश्य रखा है। उद्धरण अक्षरशः उसी रूप में लिए गये हैं जैसे मूल में उपलब्ध हैं।

(4) एक ही ग्रन्थ में प्रायः अनेक कृतियाँ संगृहीत हैं परन्तु प्रत्येक कृति का शीर्षक लिपिकर्ता द्वारा नहीं दिया गया है। ऐसी कृतियों पर सुविधा के लिए टेसीटरी ने अपनी ओर से राजस्थानी शीर्षक लगा दिये हैं।

(5) जो कृतियाँ ऐतिहासिक व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान नहीं है उनका या तो उल्लेख मात्र कर दिया है या निरर्थक समझ कर छोड़ दिया है, परन्तु ऐसे स्थलों पर उनके छोड़े जाने का उल्लेख अवश्य कर दिया है।

(6) जहाँ ग्रन्थ में कुछ पत्र त्रुटित हैं अथवा किसी कारण से कुछ पृष्ठ पढ़ें जाने योग्य नहीं रहे हैं तो इसका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है।

(7) जहाँ एक ग्रन्थ की कृतियाँ दूसरे ग्रन्थ की कृतियों के समरूप हैं, या उनकी प्रतिलिपि हैं या पाठान्तर के कारण तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्व रखती हैं, ऐसी स्थिति में उनका स्पष्ट उल्लेख बराबर किया गया है।

(8) जहाँ गीत, दोहे, छप्पय, नीसाणी आदि स्फुट छन्द आए हैं वहाँ उनका विषयानुसार वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध में यथोचित् जानकारी प्रस्तुत की

---

1. परम्परा (28-29), पृ. 1-2।

गई है। कृति के साथ कर्ता का नाम भी यथासम्भव दे दिया गया है। कर्ता का नाम देते समय प्राय: उसकी जाति व खाँप आदि का भी उल्लेख कर दिया है।

(9) डॉ. टैसीटरी प्रमुखतया भाषा-विज्ञान के जिज्ञासु विद्वान थे अत: उन्होंने प्राचीन कृतियों का विवरण देते समय उनमें प्राप्त क्रियारूपों आदि पर भी अवसर निकाल कर टिप्पणी की है।

लेखा-जोखा :

पाण्डुलिपि की खोज में प्रवृत्त संस्था या व्यक्ति उक्त प्रकार से ग्रन्थों के विवरण प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही उन्हें अपनी इस खोज पर किसी एक कालावधि में बाँधकर विचार करना और लेखा-जोखा भी लेना होगा। यह कालावधि तीन माह, छ: माह, नौ माह, एक वर्ष या तीन वर्ष की हो सकती है।

यह लेखा-जोखा उक्त शोध से प्राप्त सामग्री के विवरणों के लिए भूमिका का काम दे सकता है। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जा सकता है—

लेखे-जोखे की कालावधि

सन्..........से सन्..........तक

(1) खोज कार्य में आने वाली कठिनाइयाँ, उन्हें किन उपायों से दूर किया गया।

(2) खोज कार्य का भौगोलिक क्षेत्र। सचित्र हो तो उपयोगिता बढ़ जाती है।

(3) भौगोलिक क्षेत्र के विविध स्थानों से प्राप्त सामग्री का संख्यात्मक निर्देश। किस स्थान से कितने ग्रन्थ मिले? सबसे अधिक किस क्षेत्र से?

(4) कुल ग्रन्थ संख्या जिनका विवरण इस कालावधि में लिया गया।

(5) इस विवरण को (विशेष कालावधि) में प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में नीति,

यथा :

(क) सबसे पहले मेवाड़ और मेवाड़ में भी सबसे पहले यहाँ के तीन प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालयों—सरस्वती भण्डार, सज्जनवाणी विलास और विक्टोरिया हॉल लाइब्रेरी से ही इस काम (शोध) को शुरू करना तय किया।[1]

(ख) "प्रारम्भ में मेरा इरादा जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ में आयें उन सबके नोटिस लेने का था। लेकिन बाद में जब एक ही ग्रन्थ की कई पाण्डुलिपियाँ मिलीं तब इस विचार को बदलना पड़ा.........अतएव मैंने एक ही ग्रन्थ की उपलब्ध सभी हस्तलिखित प्रतियों का एकसाथ तुलनात्मक अध्ययन किया और जिन-जिन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतियों में पाठान्तर पाया उन सब के नोटिस ले लिये और जिन-जिन ग्रन्थों

---

1. राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन, पृ. क।

की भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठान्तर दिखाई नहीं दिया उनमें से सिर्फ एक, सबसे प्राचीन, प्रति का विवरण लेकर शेष को छोड़ दिया। लेकिन इस नियम का निर्वाह भी पूरी तरह से न हो सका।''[1]

(ग) ''कुल मिलकार मैंने 1200 ग्रन्थों की 1400 के लगभग प्रतियाँ देखीं और 300 के नोटिस लिये। मूल योजना के अनुसार इस प्रथम भाग में इन तीन सौ ही प्रतियों के विवरण दिये जाने को थे, लेकिन कागज की महंगाई के कारण ऐसा न हो सका और 175 ग्रन्थों (201 प्रतियों) के विवरण देकर ही संतोष करना पड़ा।''[2]

(6) समस्त ग्रन्थों का विषयानुसार विभाजन या वर्गीकरण। पं. मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रकार किया है—

1. भक्ति
2. रीति और पिंगल
3. सामान्य काव्य
4. कथा-कहानी
5. धर्म, अध्यात्म और दर्शन
6. टीका
7. ऐतिहासिक काव्य
8. जीवन-चरित
9. श्रृंगार काव्य
10. नाटक
11. संगीत
12. राजनीति
13. शालिहोत्र
14. वृष्टि-विज्ञान
15. गणित
16. स्तोत्र
17. वैद्यक
18. कोश
19. विविध
20. संग्रह[3]

---

1. राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन, पृ. क।
2. वही पृ. ध
3. वही पृ. च

प्रत्येक खोज संस्थान या खोज-प्रवृत्त व्यक्ति को यह विभाजन अपनी सामग्री के आधार पर वर्गीकरण के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिए। पुस्तकालय-विज्ञान का वर्गीकरण उपयोग में लाया जा सकता है। प्रत्येक विषय की प्राप्त पाण्डुलिपियों की पूरी संख्या भी देनी चाहिए।

(7) यह सूचना भी देनी होती है कि—

(अ) ऐसे लेखक कितने हैं जो अब तक अज्ञात थे। उनकी अज्ञात-कृतियों की संख्या।

(ब) ज्ञात लेखकों की अज्ञात कृतियों की संख्या तथा नयी उपलब्धियों का कुल योग।

डॉ. हीरालाल, डी. लिट्., एम.आर.ए.एस. ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926-1928 ई.) की विवरणिका में प्राप्त ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण यों दिया था—

''**हस्तलेखों के विषय**—हस्तलेखों के विषय का विवरण निम्नलिखित हैं—

धर्म	358 हस्तलेख
दर्शन	114 हस्तलेख
पिंगल	31 हस्तलेख
अलंकार	50 हस्तलेख
श्रृंगार	151 हस्तलेख
राग रागिनी	51 हस्तलेख
नाटक	2 हस्तलेख
जीवन चरित्र	25 हस्तलेख
उपदेश	43 हस्तलेख
राजनीतिक	12 हस्तलेख
कोश	16 हस्तलेख
ज्योतिष	124 हस्तलेख
सामुद्रिक	9 हस्तलेख
गणित व विज्ञान	6 हस्तलेख
वैद्यक	74 हस्तलेख
शालिहोत्र	11 हस्तलेख
कोक	11 हस्तलेख
इतिहास	67 हस्तलेख
कथा-कहानी	44 हस्तलेख
विविध	80 हस्तलेख
जोड़	1279 हस्तलेख''

(8) मेनारिया जी और डॉ. हीरालाल जी दोनों के वर्गीकरण सदोष हैं, पर इनसे प्राप्त ग्रन्थ सम्पत्ति के वर्गों का कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। किन्तु पाण्डुलिपिविद को अपनी सामग्री का अधिक से अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा पुस्तकालय विज्ञान में दिये वर्गीकरण का सिद्धान्त ही अपना लेना चाहिए।

(9) नयी उपलब्धियों का कुछ विशेष विवरण, उनके महत्त्व के मूल्यांकन की दृष्टि से—

इस विशेष कालावधि के विवरण में पुस्तकों के विवरणों को अकारादि क्रम से प्रस्तुत करने में सुविधा रहती है।

कुछ अनुक्रमणिकाएँ दी जानी चाहिएँ—

(1) ग्रन्थ नामानुक्रमणिका

(2) लेखक नामानुक्रमणिका

लेखे-जोखे में रचना काल और लिपिकाल दोनों की कालक्रमानुसार उपलब्ध रचनाओं और विषयवार ग्रन्थों की सूचना भी दी जानी चाहिये। इसके लिए निम्न प्रकार की तालिका बनायी जा सकती हैं—

विषय काल	भक्ति		रीति		
	र. काल ग्रन्थ संख्या	लिपिकाल ग्रन्थ सं.	र. काल ग्रन्थ संख्या	लिपिकाल ग्रन्थ सं.	आदि
1001[1]					
1010					
1020					
1030					

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ-संख्या का ज्ञान हो जाता है।

एक तालिका यहाँ 'हिन्दी हस्तलेखों' की खोज की तेरहवीं 'विवरणिका' से उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है—

शतियाँ 12वीं	13वीं	14वीं	15वीं	16वीं	17वीं	18वीं	19वीं	अज्ञात	योग
2	—	—	7	36	201	209	427	394	1278

1. इस 'काल-क्रम' का आरम्भ उस प्राचीनतम सन्/संवत् से करना चाहिये, जिसकी कृति हमें खोज में मिल चुकी हो।

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ संख्या का ज्ञान हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि 13वीं विवरणिका के वर्षों में 12वीं शती से पूर्व की कोई कृति नहीं मिली थी। 12वीं शती की 2 कृतियाँ मिलीं। फिर दो शताब्दियाँ शून्य रहीं।

इस तालिका से यह विदित हो जाता है कि किस काल में किस विषय की कितनी पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं। इस काल-क्रम से प्राचीनतम पुस्तक की ओर ध्यान जाता है। काल-क्रम में जो पुस्तक जितनी ही पुरानी होगी उतनी ही कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानी जायेंगी। इससे यह भी विदित होता है कि काल-क्रम में विविध शताब्दियों में उपलब्धियों का अनुपात क्या रहा?

अब तक के अज्ञात लेखकों और अज्ञात कृतियों का विशेष परिचय प्राप्त हो सके तो उसे प्राप्त करके उन पर कुछ विशेष टिप्पणियाँ देना भी लाभप्रद होता है।

काशीनगरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में जो क्रम अपनाया गया है, वह इस प्रकार है— (1) में विवरणिका, जिसमें खोज के निष्कर्ष दिये जाते हैं। फिर परिशिष्ट एवं रचयिताओं का परिचय। (2) में ग्रन्थों के विवरण, (3) में अज्ञात रचनाकारों के ग्रन्थों की सूची, (4) में महत्त्वपूर्ण हस्तलेखों की समय-सूचक तालिका। यह परिपाटी दीर्घ अनुभव का परिणाम है। इसे कोई भी पाण्डुलिपि-विज्ञान-विद् अपने लाभ के लिये अपना सकता है।

तात्पर्य यह है कि लेखे-जोखे के द्वारा ग्रन्थ शोध से प्राप्त सामग्री का संक्षेप में मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है, जिससे शोध उपलब्धियों का महत्त्व उभर सके।

तुलनात्मक अध्ययन

पाण्डुलिपि-विद् के लिए यहीं एक और प्रकार का अध्ययन-क्षेत्र उभरता है। इसे उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक मूल्यांकन या अध्ययन कह सकते हैं। हमें क्षेत्रीय कार्य करते हुए और विवरण तैयार करते हुए कुछ कवि प्राप्त हुए। अब हमें यह भी जानना आवश्यक है कि क्या एक ही नाम के कई कवि हैं? उनकी पारस्परिक भिन्नता, अभिन्नता और उनके कृतित्व की स्थूल तुलना करके अपनी उपलब्धि का महत्त्व समझा और समझाया जा सकता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना होगा। 'चन्द कवि' नाम के कवि के आपको कुछ ग्रन्थ मिले। आपने अब तक प्रकाशित या उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका विवरण एकत्र किया। तब तुलनापूर्वक कुछ निष्कर्ष निकाला। इसका रूप यह हो सकता है—

कवि चन्द

हिन्दी साहित्य में आदिकालीन चंदवरदायी से लेकर आधुनिक युग तक चंद नाम के अनेक कवि हुए हैं। 'मिश्रबंधु विनोद' ने 'चंद' नाम के जिन कवियों का उल्लेख किया है उनका विवरण निम्न प्रकार है। इस विवरण के साथ 'सरोज सर्वेक्षणकार' की टिप्पणियाँ भी यथास्थान दे दी गई हैं।

मिश्रबन्धु विनोद

भाग 2, पृष्ठ—548

नाम—(1316) चन्द्रधन

ग्रन्थ—भागवत-सार भाषा।

कविताकाल—1863 के पहले (खोज 1900)। यहाँ वैषम्य केवल इतना है कि हमारे निजी संग्रह के कवि का नाम 'कवि चन्द' है और मिश्रबन्धु में चन्द्रधन।

अब 'चन्द' नाम के अन्य कवि 'मिश्रबन्धु विनोद' में नाम साम्य के आधार पर ये हैं—

प्रथम भाग

(135) चन्द पृष्ठ 134

ग्रन्थ—हितोपदेश

कविताकाल—सं. 1563

पृ.—71

(39) नाम महाकवि चन्द बरदाई

ग्रन्थ—पृथ्वीराज रासो

सरोजकार[1] ने पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द को 'चन्द कवि प्राचीन बन्दीजन, सम्भल निवासी' स्वीकार किया है। सं. 1196 में उपस्थित माना है।

सरोज-सर्वेक्षणकार[2] ने चन्द का रचना काल सं. 1225 से 1249 तक माना है। इनकी मान्यता के अनुसार चन्द की मृत्यु सं. 1249 में हुई।

द्वितीय भाग

पृ.—278।

(538) नाम—(403) चन्द

ग्रन्थ—नागनौर की लीला (कालीनाथना)। सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि इस पुस्तक का नाम 'नाग लीला' भी है।

रचना काल—1715

पृ.—325

(382) चन्द व पठान सुल्तान

---

1. सरोजकार से हमारा अभिप्राय 'शिवसिंह सरोज' के लेखक से है।
2. 'सरोज सर्वेक्षणकार' से हमारा अभिप्राय डॉ. किशोरीलाल गुप्त से है।

सरोजकार ने इस चन्द कवि को संवत् 1749 में उपस्थित माना है। कवि सुल्तान पठान नवाब राजागढ़ भाई बन्धु बाबू भूपाल के यहाँ थे। इन्होंने कुण्डलियाँ छंद में सुलतान पठान के नाम से बिहारी सतसई का तिलक बनाया है।

सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि चन्द द्वारा प्रस्तुत यह टीका मिलती नहीं है। भूपाल का नवाब सं. 1761 में सुल्तान मुहम्मद खाँ था। इन्हीं के आश्रित चन्द कवि का उल्लेख मिलता है।

तृतीय भाग

पृष्ठ—44

(2138) **नाम**—(1784) चन्द कवि

विवरण—सं. 1890 के लगभग थे।

पृष्ठ—85

(2341) **नाम**—(2003) चन्द कवि

ग्रन्थ—भेद प्रकाश—(प्र. त्रै. रि.), महाभारत भाषा (1919) (खोज 1904)।

कविताकाल—सं. 1904

कुछ-कुछ नाम साम्य के आधार पर निम्न कवि मिश्रबन्धु विनोद से मिलते हैं। ये चन्द नाम के नहीं, वरन् चन्द से मिलते-जुलते नाम वाले हैं। इन्हें यहाँ केवल इसलिए दिया जा रहा है कि इनके नाम में जो साम्य है, उससे कहीं आगे भ्रम न रहे और 'चन्द' या 'चन्द्र' जिसका नामांश है वह भी ज्ञात हो जाय।

प्रथम भाग

पृष्ठ—194

(265) **नाम**—चन्द सखी (ब्रजवासी)

कविता काल—1638

द्वितीय भाग

पृष्ठ—301

(584) **नाम**—चन्द्रसेन

ग्रन्थ—माधव-निदान

पृष्ठ—467

(1006/2) **नाम**—चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)।

कविता काल—1824 (द्विः त्रै. रि.)

पृष्ठ—344

(763) **नाम** — चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)

कविता काल — 1767

पृष्ठ — 437

(998) **नाम** — चन्द्र (राधावल्लभी)

रचनाकाल — 1820

पृष्ठ — 466

(1064) **नाम** — चन्द्रदास

कविता काल — 1823 के पूर्व

पृष्ठ — 470

(1077) **नाम** — चन्द्र कवि सनाढ्य चौबे

कविता काल — 1828

पृष्ठ — 475

(1094) **नाम** — चन्दन

समय — सं. 1830 के लगभग वर्तमान थे।

पृष्ठ — 815

नाम — (1011) चन्द्ररहित, राधावल्लभी

पृष्ठ — 508

नाम — (1190/1) चन्द्रजू गुसाई

रचनाकाल — 1846

पृष्ठ — 571

नाम — (1433) चन्द्रशेखर वाजपेयी

तृतीय भाग

पृष्ठ — 13

नाम — (1716) चन्द्रदास

नाम — (1717) चन्द्ररस कुंद

नाम — (1718) चन्द्रावल

पृष्ठ — 77

नाम — (2248) चन्द्रसखी

कविताकाल — 1900 के पूर्व

पृष्ठ — 154

नाम—(2634) चन्द्रिका प्रसाद तैवारी

पृष्ठ—196

नाम—(2923) चन्द्र झा

चतुर्थ भाग

पृष्ठ—260

नाम—(3255) चन्द्रभान

रचनाकाल—सं. 1875

पृष्ठ—322

नाम—(3449) चन्द्रकला बाई

समय—सं. 1950

पृष्ठ—406

नाम—(3853) चन्द्र मनोहर मिश्र

रचनाकाल—सं. 1963

पृष्ठ—410

नाम—(3858) चन्द्रमौलि सुकुल

रचनाकाल—सं. 1964

पृष्ठ—413

नाम—(3867) चन्द्र शेखर शास्त्री

रचनाकाल—सं. 1965

पृष्ठ—417

नाम—(3878) चन्द्रभानु सिंह दीवान बहादुर

रचनाकाल—सं. 1967

पृष्ठ—447

नाम—(3970) चन्द्रशेखर मिश्र

पृष्ठ—454

नाम—(4028) चन्द्रशेखर (द्विज चन्द्र)

जन्मकाल—सं. 1939

पृष्ठ—456

नाम—(4055) चन्द्रलाल गोस्वामी

जन्मकाल—लगभग 1940

नाम—(4056) चन्द्रिका प्रसाद मिश्र

रचनाकाल—सं. 1965

पृष्ठ—464

नाम—(4117) चन्द्रराज भण्डारी

पृष्ठ—465

नाम—(4124) चन्द्रभानु राय

पृष्ठ—480

नाम—(4216) चन्द्रमती देवी

जन्मकाल—सं. 1950

पृष्ठ—520

नाम—(4312) चन्द्रमाराय शर्मा

रचनाकाल—सं. 1982

पृष्ठ—557

नाम—(4437) चन्द्रशेखर शास्त्री

जन्मकाल—सं. 1957

नाम—(4521) चन्द्रकला

रचनाकाल—सं. 1987

सरोजकार ने उपर्युक्त 'चन्द' कवियों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य कवियों का उल्लेख किया है—

प्रथम—चन्द कवि। यह सामान्य कवि थे। इन चन्द कवि के सम्बन्ध में सरोज सर्वेक्षणकार ने लिखा है कि कायस्थों की निंदा का एक कवित्त सरोज में प्रस्तुत किया है।

द्वितीय—चन्द कवि के सम्बन्ध में सरोजकार ने लिखा है कि इन्होंने शृंगार रस में बहुत सुन्दर कविता की है। हजारा में इनके कवित्त हैं। सरोज सर्वेक्षणकार ने इन चन्द कवि का अस्तित्व सं. 1875 के पूर्व स्वीकार किया है।

मिश्रबन्धु विनोद और 'सरोज सर्वेक्षण' से 'चन्द कवि' नामधारी कवियों के इस सर्वेक्षण के उपरान्त कुछ अन्य स्रोतों से भी 'चन्द' नाम के कवियों का पता चलता है, उन्हें यहाँ देना ठीक होगा।

एक कवि चन्द का उल्लेख 'जयपुर का इतिहास'[1] में है। इस 'चन्द कवि' के ग्रन्थ 'नाथ वंश प्रकाश' का उल्लेख इसमें हुआ है। ये चौमूं नरेश रणजीतसिंह तथा कृष्णसिंह और जयपुर नरेश जगतसिंह के समकालीन थे। 'नाथ वंश प्रकाश' में से 'जयपुर का इतिहास' में जो उद्धरण लिखे गये हैं वे निम्नलिखित प्रकार हैं—

---

1. शर्मा, हनुमानप्रसाद—जयपुर का इतिहास, पृ. 226।

(अ) जहाज (झाज) की लड़ाई में रणजीत सिंह की विजय—

''शहर फतेहपुर में फते—करी नंद रतनेश।

झाज गयो आपाण तजि, लखि रणजीत नरेश।''[1]

(आ) महाराजा जगत सिंह (जयपुर) की सेनाओं द्वारा जोधपुर को घेरने का उल्लेख—

गही कोट की ओट को, मान प्रभा बलमन्द।

लूटि जौधपुर को लियो कृष्ण सुभाग बलन्द।[2]

'नाथ वंश प्रकाश' (पद्य 275) में लिखा है कि 'मीर खाँ' के युद्ध के समय कृष्ण सिंह जी का चेहरा चमकता था और शत्रुगण उससे क्षोभित होते थे।

'नाथ वंश प्रकाश' (पद्य 270) में लिखा है कि समरू बेगम ने चौमू पर चढ़ाई की। उस समय उसका कर्नल आगे आया था। उसको कृष्ण सिंह जी ने ससैन्य परास्त किया और उसके साथ वालों के रुण्ड-मुण्ड उठाकर पीछे हटा दिया।

'आचार्य श्री विनय चन्द ज्ञान भण्डार ग्रन्थ सूची (भाग-1)' से विदित होता है कि इस भण्डार में चन्द कवि के तीन ग्रन्थ हैं—

(1) **चन्द**—नेम राजमती पद (हिन्दी-राजस्थानी) 5 छंद[3]

(2) **चन्द**—राधा कृष्ण के पद—5 पद[4]

(3) **चन्द**—सीमन्धर स्वामी की स्तुति—6 छन्द[5]

इनमें से दो जैन कवि हैं और एक कवि को उसकी रचना के विवरण के आधार पर वैष्णव माना जा सकता है।

इससे पूर्व कि कवि चंद के सम्बन्ध में ऊपर की सूची को लेकर और पं. कृपा शंकर तिवारी के हस्तलेखागार में प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ कहा जाय हम तिवारी जी की सामग्री पर भी संक्षिप्त टिप्पणियाँ नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

(1) कवि चंद

रचना—नाग दवन ('नाग लीला' लिपिकार द्वारा) पूर्ण।

रचना काल—संवत् 1756 श्रा. सु. 5, बुधवार।

लिपिकाल—संवत् 1869 अश्व. सदी 3, फोलियो 1 से 9 तक

---

1. वही, पृ. 226।
2. वही, पृ. 231।
3. भानावत, नरेन्द्र (डॉ.) सं.—आचार्य श्री विनय चन्द ज्ञान भंडार, ग्रन्थ सूची, पृ. 38।
4. वही, पृ. 66।
5. वही, पृ. 88।

विवरण

यह ग्रन्थ कवि चन्द द्वारा संवत् 1756 में रचा गया है। इसमें कृष्ण द्वारा काली दमन की घटना का वर्णन है। ग्रन्थ ब्रज एवं राजस्थानी भाषा से युक्त है। कवि ने द्वित शब्दों का अवसरानुकूल प्रयोग किया है। भाव, भाषा, शैली आकर्षक है। कहीं-कहीं पृथ्वीराज रासो की सी झलक दृष्टिगत होती है। प्रारम्भ में गणेश, शारदा की वंदना है। कवि ने चौपाई का अधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त अरिल्ल, छप्पय, दोहा, भुजंगी, कुण्डलियाँ, पाधरी, सवैया आदि का अच्छा प्रयोग किया है। भावनाओं का वर्णन करने में कवि सफल हुआ है। यह ग्रन्थ पूर्ण है। उदाहरणार्थ—

प्रारम्भ

दोहा

हौ गनपति गुन विस्तरों सिधिवुधि दातार।
अष्ट सिधि नव निधि करौ कृपा करतार॥
तुब तन बरदाइनी करै मूढ़ कबिराइ।
बुधि विचित्र कवि चन्द को दै अब सारद भाइ॥
सत्रह सै दस पंचच्छर मैं सही
सढ़ि सांवन तिथि पंच चन्द कवियों कही॥
मढ़यौ ग्रन्थ गुन मूल महा बुधवार है
परिहां हाजूं नागदवनि कौं छंद कियो विस्तार है॥

इसी कवि की इसी 'नागदमन' या 'नागलीला' की एक हस्तलिखित प्रति की सूचना श्री कृष्ण गोपाल माथुर ने दी है।[1] उन्होंने इसका रचनाकाल संवत् 1715 माना है। ऊपर हमने ग्रन्थ में आये तिथि विषयक उल्लेख करते समय यदि हम 'पंच' शब्द पर ही रुक जायेंगे तब तो सं. 1715 मानना होगा जैसा कि श्री माथुर ने माना है किन्तु पुरा शब्द 'दस पंचछः' है जो कि संधि के कारण 'पंचछर' हो गया है। अतएव हमारी दृष्टि में इसका ठीक अर्थ होगा—सत्रह सौ और दस पंच = 50 + 6 अर्थात् 1756।

नागदवन के कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं।

नागदवन (नागलीला)

रिस रोस रहा मुरली धुनिकौ सुनि नाद अगाध तिहुंपुर छांही।
व्याल जग्यो जम ज्वाला उठी विख झाल इति ब्रह्मण्डल माहीं।
हरखि जसुधा व्रज की वसुधा जब फुलि फिरयी घर ही घर मांही।
कंस गिरयों मुरझाइ तबै घरकी छतियां मुरली धुनि पांहीं॥
मुरली धुनि कौ सुनि सबद चौंकि उठयौ तत्काल
झटकि पुंछि फन फुकरत उठयो क्रोध कौ काल॥

---

1. वीणा, (इन्दौर), अप्रैल, 1972, पृ. 53।

जागौ भाग काली धरा भूमि हाली, विखं ज्वालाझाली हरे वृछ जाली।
कछे बदल संग्राम को वन्नवारी, फन्नफुकरं फ़फुन झांक अरी।
लरी निरख झाला मुरछे मुरायरी, हरख्खी दुचि भइ नाग नारी।
हट को व नानै कह्यो वृधवारी, हंसते उठे चेति वाला विहारी।
कछे काकली प्रीति वाधै कटैठी, भुजां ठाकि ठाठे अखारे अमेंहीं।
सु सूंधे अचानक कूदे कन्हाई, घिरे कुण्डली मधि बैठे नन्हाई।
वनं तालज्जै सिरं सेस मद्धि, द्विपावै तनं तौ करै पूछि सद्धी।
रिसं रोस सेस बिखं झाल अग्गी, जले झार झासे द्रुमंदाह लग्गी।
वुझावै जदुनाथ एह्थयवथ्यं, वजै मुठि पंसी जुतीर तत्त थे।
झट वकै फनं पुछि फुकारं झारे, जदुनाथ ज्यां गारहु उदं मारे॥

नफीरी बजै बैस मंजीर मेरं बजे ताल तूंवर घंटा घनेरं
बजे दुदुभि औ सुर नाइ चंगी वजै मोह चंथं दुतारा उपंगी।
संरगीं बजी खंजरी सबं-नाद उपज्यौ सही तौ महा रुप स्वादं।
बजै संख सुंध असंख अभंगी नरसिंघ वज्जे उछाहं सुअंगी।
बजै घुंघरु घुंघरी घोर-नीकी कंटताल कंसावरी नाद हीकी।
हथं नाल बजै अलगोज भारी, नचे ग्वाल वालं सु आनंद कारी॥

भई वधाई व्रज में जदुकुल हरखि अपार।
सकल सभा रछा करै काली नाथ न हार॥

(2) कवि चंद

रचना ग्रन्थ—भागवत् दोहासूची ग्रन्थ।

रचनाकाल—सं. 1896 (नरसिंह चौदस को पूर्ण हुई)।

पुस्तक विवरण :

जिल्द की सिली हुई, दायें-बायें हाशिया, 10.6 इंच, कुछ जीर्ण, देशी कागज। फोलियो सं. 32। कुल दो-तीन पृष्ठ खाली हैं। दसम स्कंध रंगीन हाशियों में लिखा है।

लिपिकाल :

इसमें लिपिकार का नाम तथा काल नहीं दिया है। ऐसा विदित होता है कि यह स्वयं कवि की ही लिखी पहली प्रति है। एक ओर का पुट्ठा नहीं है। लेख सामान्य रूप में सुपाठ्य है।

विवरण :

यह पुस्तक कवि चन्द रचित है। यह कवि चन्द वाघ नृपति के पुत्र हैं। यह पूर्ण श्रीमद्भागवत् श्रीधरी टीका की दोहों में सूची है। कवि ने एक-एक दोहे में एक-एक अध्याय

का अर्थ लिखा है, इस प्रकार से सभी स्कंधों के अध्यायों की दोहे में सूची है। इतने बड़े अध्याय की दोहे में सूची बनाना कठिन कार्य है। चन्द कवि ने इसमें सफलता पाई है। भाषा ब्रजभाषा है। धर्म की दृष्टि से कवि का यह प्रयास विशेष महत्त्व रखता है। पुस्तक विभिन्न स्कधों में विभाजित है। दसम स्कंध कवि ने सं. 1805 असाड़ बु. पडवा गुरु को समाप्त किया। द्वादस स्कंध सं. 1896 नरसिंह चौदस को समाप्त हुआ।

कवि ने अपने परिचय में केवल निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

इतिश्री भागवते महापुराणं श्री धरी टीकानुसारणं 12 स्कंधे सूची सम्पूर्ण महाराज श्री बाघ सिंह जी फतेहगढ़ नृपत सुतचन्द कथक्तत दोहा समाप्तं।

कवि ने आरम्भ में वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ जी और उनके पुत्र की गुरु के रूप में वंदना की है। पुष्टि मार्ग की महानता भी बताई है।

उदाहरण —

दसवीं अध्याय दिलीप वंस रामचन्द्र अवतार।
रावण हत आए अवधि ताकै कैज सहै भार।
भ्रातन जुत श्री रामचन्द्र जिग कीयि अवध विराज।
ग्यारीध्या मण्डल कथा विरची सुक सुभ साज।

अन्त —

इक-इक दोहा में लिख्यो इक ईकध्या कौर्थ।
सूची द्वादसकंध की स्मजन बुध असमर्थ।
बाघ नपत सुत चन्द कृत दुहा सूची मान।
को विद नाज विचार कर सुध कीज्यो बुधवान।

टिप्पणी—अन्तिम पृष्ठ में जगदीश पाण्डे के सम्बन्ध में लिखा है।

(3) कवि चंद

(अ) रचना — अभिलाष पच्चीसी

लिपिकाल — सं. 1833 (एक लिखावट के कारण) फोलियो 1 से 8 तक, रचना पूर्ण है।

विवरण :

कवि चंद के हित हरिवंश हरिव्यासी सम्प्रदाय के हैं। इसमें इन्होंने नागरीदास का भी नाम लिया है। सुन्दर ब्रजभाषा में कवित्त, सवैया में रचना है। अभिभावनायुक्त सुन्दर 26 पद हैं। रचनाकार ने इसका नाम मनो-अभिलाषा रखा है।

उदाहरणार्थ **'अभिलाषा पच्चीसी'** में से कुछ पद प्रस्तुत हैं—

प्रारम्भ —

जाति पाति नाना भाँति कुल अभिमान तजि
निसी दिन सीस को नवाऊं रसिकन मैं।
सेवा कुंज मण्डल पुलिन
औ समीर धीर बिचरौ मगन में।
लता द्रुम हेरो राधाकृष्ण कहि टेरौं,
रज लपटाऊं तन मैं औ सुख पाऊं मन मैं।
अहो राधा वल्लभ जू तुम ही सौ विनती है
जैसे बनै तैसी मोहि राखौ वृन्दवन में॥

मध्य —

वह वन भूमि द्रुम लता रही झंमि लेतो
त्रिविधी समीर सौ रुस्ति लहकि लहकि।
फुली नव कुंज तहां भंवर करत गुंज सदा
सुख पुंज रहयौ सौरभ महकि महंकि।
कौकिल मयूर सुक सारों आदि पक्षी सब
दम्पत्ति रिझावत है गावत गहकि गहकि।
हित सौ जे देखें नित तिनकी दौ कहा कहौं
बात ही मैं चन्द चित जात है बहकि बहकि॥

अन्त —

ढोलक मृदंग मुह चंग और उमंग चंग
गदायरौ तंबूरा बीन आदि सब साज है।
इनकौ भिलाइबौ परन उपजाईबो
सरस रंग छाईबौ प्रवीनन कौ काज है।
कर सौ तौ कर औ सुधर होत
जैसे सब सौज तैसे रसिक रयाज है।
जब मिलै संगी चन्द रस रंगी
तब रंग जामै टुटै भव पाज है॥

(ब) रचना — समय पचीसी

रचनाकाल — कवि चंद हित

रचना का समय नहीं दिया है। ग्रन्थ पूर्ण है। लिपिकाल और लिपिकार संवत् 1833 वि.। फोलियो 9 से 15 तक।

विवरण —

भक्तियुक्त अत्यन्त सुन्दर ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया इस ग्रन्थ में हैं। पद संख्या कुल 26 हैं। रचना पूर्ण है। उदाहरणार्थ

अन्त —

ईतनी विचारि चन्द सबन सौ नय चले जामैं
भलौ हौई सोई करौ निशि भोर ही।

उदाहरणार्थ—'**समय पच्चीसी**' के कुछ पद प्रस्तुत हैं

आरम्भ —

समय बिपरीति कहुं देखिये न प्रीति
मिटि गई परतीति रीति जगन की न्यारी जू।
स्वारथ मैं लगे परमारथ सौ भगे
झूठे तन ही में पगे साची वस्तु न निहारी जू।
मोह मैं भुलाने सदा दुख लपटानें
ज्ञान ऊर में न आने भक्ति हिय में न धारी जूं।
चंद हितकारी तौपे होत बलिहारी
लाज तुमको हमारी कृपा करिये बिहारी जू॥

मध्य —

जग दुख सागर में गोता खात जीव यह
माया की पवन के झकोर मांझ परचौ है।
धारि शिर भार क्यौहु हो नहि पार अैसे
करत विचार मन मेरो अरबरयो है
टेरत तहा तै दीनबन्धु करुणा के सिन्धु
तुम बिन दुख कौ को कापैं जात हर्‌यो है।
वह प्राण धर्‌यो, कृपा ही कों अनुसरयौ प्यारे
जोई तुम कर्‌यो सोई आनन्द सौ भर्‌यो है।

अन्त —

दैनि के समय मैं न होत है प्रभात कहुं
भोर के समय मैं न होत कभू रात है।
ठीक दुपहर मांझ होत नहिं संझ चन्द

सांझ ही के मांझ कहौ कैसे होत प्रात है।
प्रात मध्य सांझ रात होत है समय ही मैं
अैसे हानि लाभ सुख दुख निजु गात है।
समै की जो बात तेतौ समै ही मैं होतजात
जानत बिबेकी अबिवेकी पछितात है॥

(स) रचना—जी राम जी चौपर को ष्याल

रचनाकाल—कवि चन्द (हित)

लिपिकाल—1823, अपूर्ण। फोलियो 15 से 20 तक।

इस रचना में 12 पद पूर्ण हैं। 13वाँ पद पूर्ण नहीं है और आगे के पृष्ठ नहीं हैं। अतः यह विदित नहीं होता कि रचना कितनी बड़ी है। पद बड़े सुन्दर हैं। भाषा ब्रजभाषा है। कवित्त, सवैया का प्रयोग है। उदाहरणार्थ—

प्रारम्भ—

चौपर को षयाल सब षेलत जगत माझ
यह सब ही को ज्ञान प्रगट दिषावै है।

नोट—यह चन्द हित हैं, इनका रचनाकाल जानना है। तीनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

उदाहरणार्थ—'**श्री राम जी चौपर को ष्याल**' के पद उद्धृत किये जाते हैं।

चौपर—

कविता बनावें आछे अछरनि लावै
जानि जमक मिलावै अनुप्रास हुं सबै कहौ।
भाट ह्व सुनावै हरखावै ललचावै, दाम
एक नहिं पावै वृथा नर की कृपा चहै।
सब मैं प्रवीन हरिपद मैं न लीन
प्रेम रस के नहीं लहै
भक्ति सौ विमुख ताको मुख न दिखाओ
हम चाहत हैं यह वासौं दूर नित ही रहै
उत्तम पदारथ बनाय कैं जो आगें धरैं
तहि नहि देखें यह भुस को चरेल है।
अेसैं परमारथ की बात न सुहात याहि
बृथा बकवाद विख सेवे बिगरैल है।
आगे और पीछे को विचार नाहिं करे कम्
महानीच सबही सौं अरत अरेल है

हरि गुरु कौं संतन को रूप नहि जान्यो
यातैं भक्तिहीन नर सींग पूंछ बिन वैल है॥

अथ भाव लिक्खते

रूप के सरोवर में अली कुमुदावली है
लाल है चकोर तहां राधा मुख चन्द है
छवि की मरीचिन सौ सींचत है निस दिन
कोटि कोटि रवि ससि लागै अति मन्द है
इकटक कर रहैं मुख नाम सुख लहैं
फिरि कृपा दृष्टि चहैं सुख रूप नंदनंद हैं
जाकौ बेद गावै मुनि ध्यान हुं न पावै
तेतौ बलि बलि जावैं चन्द फसे प्रेम फन्द है।
पीत रंग बोरे खरे खेलत है हौरी दाऊ
वृन्दावन वीथिन मैं धूम मची भारी हैं।
सुधर समाज सब सखी सौंज लिये सौंहैं
फैंटनि गुलाल कर कंज पिचकारी हैं।
चोटनि चलाव तब तब चावत अदायनि सौ
नैननि नचावत हंसत सुकुवारी हैं।
हो हो कहि बोलैं चन्द हित संग डोलै
कहै सुख को निकेत ये बिहारिन बिहारी हैं॥

(द) रचना — चंद्र नाथ जी की सबदी

प्रति गूढ़ भाषा में 19 पद हैं। यह ग्रन्थ योग से सम्बन्धित है।

उदाहरण —

काया सोनौ सिध सुनार
आरम्भ अग्नि जगावण हार।
ताहि अग्नि को लागौ पास
अग्नि जगाई चकमक स्वास।

(3) ग्रन्थ — श्री नीतिसार भाषायाम

रचनाकार — कवि चन्द

रचनाकाल — जयपुर नरेश सवाई जयसिंह जी का समय

लिपिकाल — कवि के समय का अथवा अनुमान से 200 वर्ष प्राचीन

विवरण —

यह पुस्तक 5:8 इंच चौड़ी लगती है। दोनों ओर 1 इंच की जगह छूटी हुई है। एक हाथ की सुन्दर सधी हुई लिखावट है। यह पुस्तक अलग-अलग जुज में है, इस समय बिना सिलाई के है। सारी रचना जो विद्यमान है उसका अन्तिम फोलियो नं. 59 है परन्तु गणना करने से 64 होती है। प्रारम्भ का फोलियो अप्राप्य है, मध्य के 16 फोलियो नहीं हैं। अन्त के अनुमान से 1 या 2 फोलियो नहीं हैं।

यह रचना कवि चंद रचित है, कवि ने जयपुर राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना की। मनोलाल दरोगा धर्मात्मा, वीर, उदार, नीतिज्ञ था।

रचना में नीतिसार ग्रन्थ को अपूर्व कौशल के साथ ब्रजभाषा में दोहा, सोरठा, चौपाई, बरवै, अडिल, त्रौटक, छप्पय, कवित्त, कुण्डलियाँ, आदि छंदों में प्रकट किया है। राजनीति सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यक बातों का, यथा—शुद्ध की सामग्री, व्यूह प्रति व्यूह आदि अनेक बातों का उल्लेख किया गया है। अनेक दृष्टियों से यह रचना महत्त्वपूर्ण है। राजा-मन्त्री के गुणों का विस्तार से प्रकटीकरण है। कवि ने रचना को सर्गों में विभाजित किया है।

1. इन्द्री जयो विद्यावृद्धि संजोगोनाम प्रथमो सर्ग—65 छंद
2. विद्या उपदेश वर्णाश्रमधर्म दण्ड महात्मनां द्वितीयों सर्ग—35 छंद
3. आचार व्यवस्थानां तृतीयो सर्ग—29 छंद
4. राजा मुसाहिब देश कोष षजानों फौज, मित्र परीक्षण गुण वर्णनां चतुर्थ सर्ग 49—छंद
5. भृत्य मित्रं वंधन उपदेश सामान्य जीत वृत्य नाम पंच सर्ग—5 छंद
6. कंटक साधगोनाम षष्टं सर्ग—12 छंद
7. राजपुत आतमारनदास सरश्ता वर्णनाम् सप्तम्—41 छंद
8. अष्टमोसर्ग के केवल 32 छंद इसमें हैं।
9. अप्राप्य
10. अप्राप्य
11. अप्राप्य
12. अप्राप्य
13. अकीलचर प्रकरण वर्णनोनाम त्रयोदश सर्ग—42 छंद
14. प्रकृति कर्म प्रकृति विशन वर्णनों नाम चतुर्दश—43 छंद
15. राजोपदेश सप्त विसन दूषण वनेनोनामं पंचदसमौ—39 छंद
16. राजोपदेश जान्ना जुवति दरसनों नाम षोडसोसर्ग—44 छंद
17. दरसैनो नाम सप्तदशो सर्ग—21
18. अष्टादेशमो सर्ग—38

19. उनीसवों सर्ग—39
20 बीसवें सर्ग में व्यूह आदि का तथा अंत में काव्य-ग्रन्थ प्रयोजन दिया है जो 51वें छंद तक है। आगे के पृष्ठ नहीं हैं।

इस प्रकार से इस पुस्तक में लगभग 630 छंद प्राप्य है।

उदाहरण —

दोहा —

गुरु सेवहु नृप पद वितै, पावहु कमला पूर
सिक्षा सै नीतिहि बढ़ै शत्रु हनियतै सूर।
जाबर भूप नहिं नीति रस ताजीतै अरिहीन
छोटो हू जग जय लटै राजा शिक्षा लीन॥

अंत —

श्री जय साहि नरेस धरम अवतार प्रगटि घर
जिनके अष्ट प्रधान नीति ध्रम जान बुधिवर
सिंघी झूँथारांम स्वांम के काम सुधारत
फोज मुसाहिब हुकुमचंद दल उदन विदारत
जीवण जु सिंध विजम अतुल मंत्री विमल प्रभानिये
मनाजुलाल बगसि बिलंद टाल हिन्दु की जानिये।
अमा जु चंद दीवान स्वामिधर्मि हरिभक्त है
मानासिघ सिंघ जिमि बल दंडन अनुरक्त है
सिरमोर सीतलाल पालना प्रजा समाम्ह
षंवरि विदिसि दिस गहत षरच आवदनी हत्थ है
सब विधि सुजांन बुधिवान वरम नी लाल उदारचित।

सवैयों के अंत में लिखा है ''इति श्री नीतिसारे भाषायां कवि चंद विरचितं दरागाजी श्री मनालालजी हेत''।

यह प्रति प्रारम्भिक प्रति हो सकती है। इसमें अनेक स्थानों पर शुद्ध किया हुआ है।

ऊपर हमने मिश्रबन्धु विनोद से चन्द अथवा चन्द्र और उनके नाम साम्य वाले कवियों की सूची दी है। उसका एक कारण सीधा यह है कि हमें हिन्दी में चन्द नाम तथा साम्य रखने वाले नाम के कवियों का एक साथ ज्ञान हो जायेगा किन्तु हमारा दूसरा उद्देश्य और मुख्य उद्देश्य यह जानना भी है कि जो ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं और जिनके लेखक जो चंद नाम के कवि हैं उनका पता मिश्रबंधुओं तक मिल सका था अथवा नहीं। इसमें जिन चन्द नाम के कवियों का साहित्य मिला है उनमें से एक तो 18वीं शताब्दी का कवि है। शेष सभी 19वीं शताब्दी के विदित होते हैं। मिश्रबन्धु विनोद के चन्दबरदायी तो प्रसिद्ध

हैं और प्रसिद्धि से भी अधिक विवादास्पद हैं। दूसरे चन्द हितोपदेश के लेखक हैं। जिनका रचना काल 1563 माना गया है। अर्थात् वे 16वीं शताब्दी के हैं। एक चन्दसखी ब्रजभाषी 1638 यानी 17वीं शती के हैं। 18वीं शती के कवि हैं एक चंद 'नागनौर की लीला' के लेखक जिनका रचनाकाल 1715 या 1756 है। दूसरे चंद पठान और सुलतान है जिनका समय 1761 है। एक चन्द्रसेन के 1726 के पूर्व का बताया गया है। एक चन्दलाल गोस्वामी 1768 के हैं। ये राधावल्लभी हैं। ये 18वीं शताब्दी के कवि हैं। 19वीं शताब्दी के कवियों में एक चन्द्रधन हैं 'भागवत सार भाषा' के लेखक जिनका समय 1863 बताया गया है। दूसरे चन्द्र राधावल्लभी हैं जिनका समय 1820 बताया गया है। एक चन्द्रदास को 1823 के पूर्व का, फिर एक चन्द्रलाल गोस्वामी राधावल्लभी जिनका कविता काल 1824 माना गया है। सम्भवतः ये वही चन्द्रलाल हैं जिनका कविता काल 1768 बताया गया है। फिर एक चन्द्रकवि सनाढ्य चौबे है, कविता काल 1828। फिर एक चन्द्रहित राधावल्लभी जिनका रचनाकाल नहीं दिया है। एक चन्द जो गोसाई हैं जिनका रचनाकाल 1846 है। इतने 19वीं शताब्दी के कवि हैं।

इनमें से हमारे संग्रह के पहले कवि और मिश्रबन्धु विनोद के 'नागनौर की लीला' के लेखक कवि चन्द एक ही हैं जिनकी रचना 'नागदमन' हैं। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'नागनौर' लिखा है जो मूलतः 'नागदौन' होगा और इसका रचनाकाल सं. 1715 मिश्रबन्धु विनोद में बताया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि 'वीणा' में भी इसी कवि की इसी कृति का उल्लेख है और उन्होंने भी संवत् 1715 रचना काल माना है। क्योंकि संवत् की जों पंक्ति है उसे 'सत्रह सै दस पंच' तक ग्रहण करें तो उससे 1715 ही रचना का संवत् निकलेगा। अतः 'नागदौन' की लीला के लेखक चन्द और हमारे चन्द 'नागदवन' के लेखक एक ही प्रतीत होते हैं। कृति के नाम में विभिन्नता है पर विषय से स्पष्ट है कि उसमें नागदमन या कृष्ण की नागलीला का वर्णन किया गया है। मिश्रबन्धु विनोद में अत्यन्त सूक्ष्म रचना मिलती है। हमारी दृष्टि में यह कवि महत्त्वपूर्ण है। यह आवश्यक है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाये। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि हमारी दृष्टि में इसका रचनाकाल 1856 होना चाहिए। हमें 'सत्रह से दस पंच' पर ही नहीं रुकना चाहिए आगे छर को भी ग्रहण करना होगा।

हमारे दूसरे कवि चन्द्र 'भागवत दोहा' सूची के लेखक हैं। जैसा कि हमने ऊपर टिप्पणी में बताया है कि यह 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ श्रीमद्भावगत् श्रीधरी टीका की दोहों में सूची है। कवि ने एक-एक अध्याय को एक-एक दोहे में अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। ग्रन्थ में जो उल्लेख है उससे विदित होता है कि लेखक ने 10 स्कंध ग्रन्थ 1895 में पूरा किया, द्वादश स्कंध 1896 में नृसिंह चौदस को। इन चन्द के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में जो परिचय दिया हुआ है उससे प्रतीत होता है कि यह फतेहगढ़ के नृपति महाराजा बाघसिंह के पुत्र थे। अंत में, एक दोहे में यह भी उल्लेख है जो ऊपर की टिप्पणी में विद्यमान है। आरम्भ में जिस प्रकार वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथजी की वंदना की गयी है उससे स्पष्ट है कि यह पुष्टि मार्गी थे। इन कवि चन्द का पता मिश्रबन्धुओं को नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। हमारे कवि चन्द के 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ के समकक्ष ग्रन्थ 'भागवत

सार भाषा' के लेखक चन्द्रधन को मिश्रबन्धुओं ने 1863 के पूर्व का बताया है। ग्रन्थ के नाम से भी यह सम्भावना प्रतीत होती है कि मिश्रबन्धुओं के चन्द्रधन पुष्टिमार्गी कवि चन्द से भिन्न हैं। अत: ये एक नये कवि हैं जिनका अब तक पता नहीं था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह 'वाघनृपति सुत चन्द' विद्वान भी थे और उच्च कोटि के कवि भी थे, तभी एक अध्याय का सार एक दोहे में दे सके।

फिर एक कवि चन्द 'अभिलापा पच्चीसी' के लेखक हैं। प्रतीत होता है कि 'समय पच्चीसी' और श्री राम जी चौपड़ के ख्याल के लेखक भी यही कवि चन्द हैं। बहुधा इन्होंने अपने नाम के साथ हित लगाया है यथा 'कवि चन्द हित' जिससे भी सिद्ध होता है कि ये हित हरिवंश सम्प्रदाय अर्थात् राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवि हैं।

कवि चन्द हित की इन रचनाओं का लिपि समय 1823 दिया हुआ है। हित शब्द के आधार पर देखें तो मिश्रबन्धुओं के 1001 की संख्या के कवि चन्द हित श्री राधावल्लभी हैं अतएव दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। पर इनमें से किसी के साथ रचनाकाल नहीं दिया हुआ है। इससे अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सकता।

इनके बाद चन्द्रलाल गोस्वामी के दो रचनाकाल हैं, एक 1767 और एक 1824 और एक अन्य चन्द राधावल्लभी का समय 1880 है। इन तीनों का विशेष विवरण मिश्रबन्धु विनोद में नहीं दिया गया है। इसलिये यह निर्णय सम्भव नहीं कि यह हमारे कवि चन्द हित से भिन्न हैं या अभिन्न। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि कवि चन्द हित की रचनायें 'समय पच्चीसी', 'अभिलाष पच्चीसी' तथा 'राम की चौपड़ का ख्याल' नयी उपलब्धियाँ हैं और इसी प्रकार 'नीतिसार भाषामय' के लेखक कवि चन्द भी एक नयी खोज हैं। जयपुर नरेश सवाई जयसिंह का 1699 से 1743 तक शासनकाल है। इनके राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना कवि चन्द ने रची।[1]

स्पष्ट है कि नीतिसार का सम्बन्ध विशेषत: राजनीति से है।

एक अन्य कवि 'चन्द नाथ' हैं जिन पर संक्षिप्त टिप्पणी दी है। इनका ग्रन्थ 'चन्द्रनाथ की शब्दी' हमें प्राप्त हुआ है। यह भी नयी उपलब्धि विदित होती है। ये नाथ सम्प्रदाय के कवि हैं और इस शब्दी में योग की चर्चा है।

एक अन्य चन्द कवि की एक कृति 'संग्राम' हमें अन्यत्र देखने को मिली। यह भी जयपुर नरेशों के कवि हैं और इसने 'संग्राम सागर' नामक ग्रन्थ में महाभारत के द्रोणपर्व के अनुवाद के रूप में युद्ध-शास्त्र का वर्णन किया है। इस कवि ने आरम्भ में शिव की वंदना की है फिर कृष्ण की वंदना की है किन्तु इसने विस्तारपूर्वक नृपवंश वर्णन तथा कवि वंश वर्णन दिये हैं जिससे जयपुर राजघराने के राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। हम इनके ये अंश यहाँ ज्यों के त्यों उद्धृत कर रहे हैं—

अथ नृप वंश वर्णनम छपये

देश ढुढ़ाहर मध्य सर्व सुख सम्पति साजत।
अमरावति सम अवनि मांझ आमेरि विराजत।

---

1. इति श्री नीति सारे भाषायां, कवि चन्द विरचितं दरोगा जी श्री मनोलालजी हेत।

तास भूप पृथिराज सदा हरि भक्ति परायन।
भारमल्ल तिन तनय खग्ग खंडन और धायन।
भगवत दास नृप तास सुव दखल जैम दक्षिण करिये।
सुत मान जिति शत शष्टि रण जश जहाँ न धन विथयरिय।
तास कंवर जगतेश खान ईशव जिन खंडिय।
महा सिघ तिन तनय कीर्ति महि मंडल मंडिय।
? (जा) यउताम जयसिंघ जीति सेवा गहि आनिय।
तास पुत्र नृप राम अमल आसाम जु ठानिय।
? य कृष्ण सिंघ तिन के तनय विष्णु सिंघ तिन सुत लियउ।
जयसिंह सवाई जास जिन अश्वमेध अध्वर कियउ। 8।
माधवेश नरनाह तनै तिनके परगट्टिय।
जिन जवाहिर हि जेर ठानि जट्टन दह बट्टिय।
तिन तनूज परताप ताप दुज्जन दल मंडिय।
करि पटेल मदमंग जंग दक्षिण दल खंडिय।
राजाधिराज जगतेश मय जिन जहान जय विथ्थरिय।
करि समर (? क) ज्ज कमधज्ज कारण भजाय कमधज्ज किय।
तिन तनूज जयसाह तरनि समतेज उझलल्ले।
जन्म लेत जिन तिमिर तत भय नष्ट मुसल्ले।
कूरम राम नरेन्द्र तनै तिनके परगट्टिय।
पुहुमि मांझ पुंरहत जेमि प्रभुता जिन पहिय।
रसवीर मांझ बट्टि सुरुचि द्रोण जुद्ध चित अनुसरिय।
भाषा प्रबन्ध कवि चन्द कौ करन हेतु आयस करिय॥10॥

दोहा— लशत भरि कूरम सदन कवि कोविद वर व्रंद
देव मनुज भाषा निपुण निरख्यो तहं कवि चन्द। 11।

कवि वंश वर्णन

दोहा—

उतन बासंव्रन पुर विशद अंतरवेद मझार।
भयो चंद्र मणि विप्र कुल कान्य कुब्ज अवतार। 14।

तिहि तनूजा गिरधर भले गिरधर को हियवाश।
वशे जायन रुजगार लहि दिल्ली पति के पाश। 15।
भये शिरोमणि तास सुत पंडित परम सुजान।
लहि निदेश आने इते दिल्ली पति तैं मान। 16।
तिहि तनूज माधव भये चरनऊ माधव चाह।
जिस हमेश वर्णन किये सुजश बड़े जयसाह। 17।
भये प्रकट तिनके तनय जाहिर लछीराम।
जिन्हें रीझि जयसाह नृप दिये दिष्ब दश ग्राम। 18।
रामचन्द्र तिनके भये पैरि सवैगुन पंथ।
महाराजा जयसाह हित अलंकार किय ग्रन्थ। 19।
प्रगट पुत्र तिनके भय सोमानन्द सुजान।
माधवशे नरनाह तें लह्यो सरस सनमान। 20।
तिनके सुवन सपूत भे लालचंद इक आय।
महाराज परताप कौ रहै सदा गुन गाय। 21।
सुकविचंद तिनको तनय भी गुन उत्तम गात्र।
कूरम राम नरेन्द्र के भयो कृपा को पात्र । 22।
देश विदेशन में भयो कवि पंडित विख्यात।
कूरम राम नरेन्द्र हित किये ग्रन्थ जिन्हें सात। 23।
हुकम पाय जिहि राम को द्रोण पर्व अनुसार।
सु संग्राम सागर रच्यो शूरन को शृंगार। 24।
श्रवण सुनते ही क्षेत्र कुल कायरता गटि जाय।
अंग अंग अति जंग की मन उमंग अधिकाय। 25।
रुद्र गगन योगीश शशि भाद्र शुक्ल रविवार।
द्वैजि द्रोण संग्राम निधि लियो गृंथ अवतार। 1911। 27।

इति श्री मन्महाराजाधिराज राजराजेन्द्र श्री सवाई राम सिंघ देवाज्ञया सुकवि चंद विरचित संग्राम सागरे पाथुपता............शुभमस्तु।

पत्र संख्या 378, जिल्द बंधी।

इसके आधार पर राजवंश वर्णन और सुकवि चंद के वंश का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है जैसे कि प्रस्तुत तालिका में दिया हुआ है।

काल	राजवंश	कविवंश
1503–1527 ई.	1. पृथ्वीराज	चन्द्रमणि (उतनवास, कान्य
1548–1574	2. भारमल्ल	कुब्ज, बनपुर अन्तर्वेद गिरधर)
1574–1590	3. भगवतदास	(दिल्ली पति की सेवा में आये)
1590–1614	4. मानसिंह	शिरोमणि
	5. जगतेश	
1615–1622	6. महासिंघ	
	7. भावसिंह	
1622–1667	8. जयसिंह प्र.	1. माधव
		2. लच्छीराम
		3. रामचन्द्र
1667–1690	9. रामसिंह प्र.	
	10. कृष्णसिंह	
	11. विष्णुसिंह	
1700–1743	12. जयसिंह सवाई द्वि.	
1743–1751	13. सवाई ईश्वरीसिंह	
1751–1778	14. सवाई माधवसिंह	शोभाचंद, जवाहर
1778–1803	15. सवाई प्रतापसिंह	लालचंद
1803–1818	16. सवाई जगतसिंह	
	17. सवाई जयशाह	
1835–1880	18. सवाई रामसिंह द्वि.	सुकवि चंद
1880–1922	19. सवाई माधोसिंह जी बहादुर द्वि.	
1922–1970	20. सवाई मानसिंह	
1970–1971	21. सवाई भवानीसिंह	

ऐसा प्रतीत होता है कि 'नाथ वंश प्रकाश' का लेखक तथा 'संग्राम सागर' का लेखक तथा 'नीतिसार' का लेखक एक ही व्यक्ति है। इस कवि ने संग्राम सागर में यह उल्लेख तो किया है कि उसने सवाई रामसिंह के लिए सात ग्रन्थ लिखे। एक ग्रन्थ 'भेद प्रकाश नाटक' भी एक अन्य हस्तलेखागार में हमें देखने को मिला। उसका लेखक भी सुकवि चंद है। उसका रचना काल सन् 1890–1912 दिया हुआ है। यह भी इसी कवि का प्रतीत होता है। मिश्रबन्धु विनोद ने कवि चन्द के जिस 'भेद प्रकाश ग्रन्थ' का उल्लेख किया है वह भी इसी कवि से अभिन्न विदित होता है। इस कवि की ओर विशेष ध्यान देने की

आवश्यकता है। इस कवि का काव्य स्तर भी ऊँचा है। यहाँ खोज में प्राप्त इन 'चन्द' नाम के कुछ कवियों का सामान्य परिचय तुलनापूर्वक दिया गया है।

इस एक विस्तृत उदाहरण से उन सभी बातों पर प्रकाश पड़ जाता है, जो कि इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में उपयोग में आती हैं। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि जितनी भी उपलब्ध सामग्री है उसके आधार पर पहले तो एक सूची समान नाम के कवियों की बनायी जानी चाहिए। इसमें संक्षेप में वे आवश्यक सूचनाएँ दी जानी चाहिए जो सामान्यत: अपेक्षित हैं, यथा—उनके ग्रन्थ, रचना-काल एवं उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में अन्य सूचनाएँ।

इनके आधार पर यह देखना होगा कि कौन-कौन से कवि ऐसे हैं जो एक ही व्यक्ति हैं, भले ही उनके नोटिस या विवरण अलग-अलग लिए गए हों। इस प्रकार समस्त उपलब्ध सामग्री का एक सरसरा निरीक्षण प्रस्तुत हो जाता है, जो विषय के अध्येता के लिए उपयोगी हो सकता है।

इसके साथ ही अपने संग्रह में उपलब्ध इसी नाम के कवियों के ग्रन्थों की कुछ विस्तार से चर्चा कर देने से यह भी पता चल सकता है कि क्या हमारी सामग्री बिल्कुल नयी उपलब्धि है और क्या किन्हीं दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो सकती है?

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त एक नाम के कवियों और उनकी कृतियों की यह चर्चा इन कवियों का अध्ययन नहीं है, इसका उद्देश्य केवल जानकारी देना है।[1]

अब पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी को इसी प्रकार की अन्य अपेक्षित सूचियाँ या तालिकाएँ भी अपने तथा अन्यों के लिए अपेक्षित उपयोगी जानकारी या सूचना देने के लिए प्रस्तुत करनी चाहिए।

यहाँ तक उन प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है जो पाण्डुलिपि के सम्पर्क में आने पर पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी को करने होते हैं।

विवरण प्रकार—इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है विवरण लेने और प्रस्तुत करने का। इन प्रयत्नों को संक्षेप में यों दुहराया जा सकता है। विवरण कई प्रकार के हो सकते हैं—

एक प्रकार को 'लघु सूचना' कह सकते हैं,

इसमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख संक्षेप से पर्याप्त माना जा सकता है।

1. क्रमांक
2. रचयिता का नाम..............(अकारादि क्रम में)

---

1. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रधान मन्त्री, निरीक्षक, खोज विभाग, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926-28 ई.) की 'पूर्व पीठिका' में इसी प्रकार का एक सुझाव दिया था। उन्होंने लिखा है, "मेरा विचार है कि कुछ प्रमुख ग्रन्थकारों पर खोज की सामग्री के आधार पर कुछ पुस्तकें पृथक रूप में क्रमश: प्रकाशित की जायं। इनसे अनुसन्धान करने वालों को विशेष लाभ तो होगा ही, आलोचना करने वालों और ग्रन्थ सम्पादित करने वालों को भी सरलता होगी। अनायास उन्हें बहुत-सी सामग्री घर बैठे मिल जायेगी। इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" (पृ. द)

3. ग्रन्थ नाम............

4. विषय...............

5. रचना काल............रचना स्थान..........

6. लिपि काल............लिपि स्थान.............

7. लिपिकार

'मिश्रबन्धु विनोद' में ऐसी सूचनाएँ बहुत है, यथा—

नाम (1025) टेक चन्द

ग्रन्थ (1) तत्वार्थ श्रुत सागरी टीका की वचनिका 1837,

(2) सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका 1838,

(3) षट् पाहुड वचनिका,

(4) कथा कोश

(5) बुध प्रकाश

(6) अनेक पूजा पाठ

रचना काल—1837[1]

ऐसी सूचनाएँ प्रकाशन करके पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी भविष्य के असुन्धान का बीज वपन करता है तथा साहित्य सम्पत्ति की समृद्धि के लेखे-जोखे में भी सहायक होता है। साहित्य के इतिहास और संस्कृति के इतिहास की यथार्थ रूप-रचना में निर्मायक तन्तु या ईंट का भी काम करता है।

कभी-कभी तो रचयिता (कवि) के नाम की सूची या ग्रन्थनाम की सूची दे देना भी उपयोगी होता है। इन सूचियों से उन कवियों और ग्रन्थों की ओर ध्यान आकर्षित होता है जो भले ही गौण हो, पर साहित्य तथा संस्कृति की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। श्री नलिन विलोचन शर्मा जी ने 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में इन गौण कवियों का महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न किया है और पाण्डुलिपि में सिद्ध विद्वान की भाँति कुछ सूचियाँ भी परिश्रमपूर्वक किये गये अनुसन्धान को चरितार्थ करने वाली दी हैं। एक सूची उन्होंने संस्कृत के गौण कवियों की विविध सुभाषित ग्रन्थों[2] से प्रस्तुत की है।

---

1. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ. 818।
2. उन्होंने यह सूची निम्न सुभाषित ग्रन्थों से तैयार की है—

   (क) सदुक्ति कर्णामृत (श्रीधरदास द्वारा 13वीं शती के प्रारम्भ में संकलित)। यही इस तालिका का मुख्य आधार है।

   (ख) कवीन्द्र वचन समुच्चय (जिसमें सभी कवि 1000 ई. से पूर्व के ही हैं)।

   (ग) सुभाषित मुक्तावली एवं सूक्ति मुक्तावली

   (घ) दोनों (जल्हण द्वारा संकलित) 13वीं शती के मध्य की हैं।

   (ङ) शार्ङ्गधर पद्धति (14वीं का मध्य)।

   (च) सुभाषितावली (15वीं)।

इस तालिका में उन्होंने 'सदुक्ति कर्णामृत' से ही छांट कर गौण कवि दिये हैं। इन कवियों को सूची में अकारादि क्रम से संजोया है, दूसरे उन्होंने इस तालिका में यह भी संकेत कर दिया है कि समान छंद या कवि का नामोल्लेख किसी अन्य सुभाषित संग्रह में भी है। तीसरा महत्त्वपूर्ण संकेत इस तालिका में यह दिया गया है कि इन गौण कवियों के सम्बन्ध में 'साहित्य' तथा 'जीवनी' सम्बन्धी कुछ सामग्री आज किन-किन स्रोतों से उपलब्ध है।

इस पद्धति को समझाने के लिए इस तालिका में से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(1) अचल—कवीन्द्र समुच्चय (आगे 'क' से संकेतित), कोई सूचना नहीं आगे न. से संकेतित।

व्याख्या : 1. अकारादि क्रम में 'अचल' पहले आता है। यह शब्द शर्माजी ने 'सदुक्ति कर्णामृत' से लिया है।

2. 'कवीन्द्र समुच्चय' में भी यह कवि मिलता है।

3. 'क' संकेत से अभिप्राय है कि आगे जहाँ 'कवीन्द्र समुच्चय' का उल्लेख होगा वहाँ केवल 'क' लिखा जायेगा।

4. 'अचल' के सम्बन्ध में कोई और सूचना नहीं मिलती। इसके लिए कि कोई सूचना नहीं मिलती, संकेताक्षर 'न' रखा है। सूची में आगे जहाँ 'न' आयेगा वहाँ यही अभिप्राय होगा कि उस कवि के सम्बन्ध में कोई और जानकारी नहीं मिलती।

74. गणपति—सु. में पीटरसन ने (पृ. 33) लिखा है कि जल्हण की सू. में राजशेखर का एक श्लोक है जिसमें गणपति नामक एक कवि और उसकी कृति 'महा मोह' का उल्लेख है।[1]

व्याख्या : 1. संख्या 74 अकारादि क्रम में सूची में गणपति का स्थान बताती है।

2. 'सु.' सुभाषितावली का संकेताक्षर है। संख्या 14 के ग्रन्थ में इसका संकेत है। वहाँ यह पूरे नाम से दे दी गई है।

3. 'सू.' यह 'सूक्ति मुक्तावली' का संकेताक्षर है। यह सूचना 36वीं संख्या के कवि के सन्दर्भ में दी गई है।

131. तुताति, ऑफ्रेख्त (कैटेलॉगस-कैटेलेगोरम) के अनुसार सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल स्वामी का नाम।[2]

इन उदाहरणों से यह विदित होगा कि मिश्रबन्धुओं ने जो संक्षिप्त विवरण दिये हैं उनसे यह आगे का चरण है, क्योंकि एक शब्द या एक पंक्ति लिखने के पीछे लेखक का

---

1. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ. 14।
2. वही, पृ. 16।

विशद् अध्ययन विद्यमान है, उसका उपयोग भी इस तालिका में भरपूर हुआ है। यह तालिका सूची मात्र नहीं वरन् अध्ययन-प्रमाणित विवरण है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 482 गौण कवियों की तालिका दी है। उसके साथ यह टिप्पणी है—"ऊपर प्रस्तुत तालिका से संस्कृत" के ज्ञात-गौण कवियों की संख्या का अनुमान-मात्र किया जा सकता है। अन्य समस्त सुलभ स्रोतों से ऐसे नाम संकलित किये जायें तो संख्या सहस्राधिक होगी। निश्चय ही ऐसी तालिका प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किसी सीमा तक पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र में आता है। उसके आधार पर संस्कृत साहित्य का पूर्ण इतिहास लिखना साहित्य के इतिहासकार का काम होगा।

इस प्रकार आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिन्दी के गौण कवियों का इतिहास' शीर्षक अध्याय में '971' कवियों की तालिका दी है। यह तालिका भी उन्होंने प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर प्रकाशित की है। इस सम्बन्ध में उनकी भूमिकावत् यह टिप्पणी उल्लेख्य है—

"परमानन्द सुहाने तथा इनसे भिन्न बहुसंख्यक कवियों की स्फुट रचनाएँ शिवसिंह सरोज में भी संगृहीत हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि सरोजकार द्वारा उल्लिखित आकर-ग्रन्थों में से प्रायः सभी आज अप्राप्य हैं। परमानन्द सुहाने के हजारा में जिन कवियों के छंद संगृहीत हैं, उनके नामों और समय आदि को, सरोज पर अवलम्बित आगे दी गई तालिका से मिला कर हिन्दी के गौण कवियों के अध्ययन के निमित्त आधार-भूमि तैयार की जा सकती है। इस तालिका में सरोजकार द्वारा किये गये नामों तथा समय के विषय में ग्रियर्सन तथा किशोरीलाल गोस्वामी[1] की टिप्पणियों का भी उल्लेख है।"[2]

प्रश्न यह उठता है कि क्या मुद्रित और उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर ऐसी सूची प्रस्तुत करना पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र में आता है? आपत्ति सार्थक हो सकती है। पर पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी को अपने भावी कार्यक्रम की दृष्टि से या किसी परिपाटी को या प्रणाली को हृदयंगम करने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। हस्तलेखों में शतशः ऐसे संग्रह ग्रन्थ मिलेंगे जो 'हजारा' की भाँति के होंगे। उनके कवि और काव्य को तालिकाबद्ध करने के लिए यही प्रणाली काम में लायी जा सकती है जो आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने यहाँ दी है।

तालिका का रूप :

अब इस तालिका के रूप को समझने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(1) अकबर बादशाह

सं., दिल्ली, 1584 वि., प्रा. ग्रि कि., 1556-1605।

(2) अजबेस (प्राचीन)

सं., 1570, वि.; ग्रि., कि., इस नाम का कवि कोरी कल्पना।

---

1. आचार्य नलिन विलोचन शर्मा यहाँ 'गोस्वामी' भूल से लिखे गए हैं। यह 'गुप्त' है।
2. शर्मा, नलिन विलोचन—साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ. 161।

(5) अवधेश ब्राह्मण

स., वदरबारी, बुन्देलखण्डी, 1901 वि.; ग्रि., 1840 ई. में उप.।

(6) अवधेश ब्राह्मण

सं., भूपा के बुन्देलखण्डी, 1835 वि.; ग्रि., जन्म 1832 ई.। कि. के अनुसार दोनों अवधेश ब्राह्मण एक ही हैं; रचनाकाल 1886-1917 ई. है; 1838 ई. जन्मकाल नहीं है।

(787) लक्ष्मणशरण दास

कि., ''इस कवि का अस्तित्व ही नहीं है'' सरोज में उद्धृत पद में 'दास सरन लछिमन सुत भूप' का अर्थ है—''यह दास लछिमन सुत अर्थात् वल्लभाचार्य की शरण में है।''

(806) शम्भु कवि

सं., राजा शम्भुनाथ सिंह सुलंकी, सितारागढ़वाले 1, 1738 वि. नायिका भेद; ग्रि., सितारा के राजा शम्भुनाथसिंह सुलंकी, उर्फ शम्भुकवि, ऊर्फ नाथ कवि, उर्फ नृपशम्भु, 1650 ई. के आस-पास उपस्थित, सुन्दरी तिलक, सत्कविगिराविलास, कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता, यह श्रृंगार-रस में है और इसका नाम 'काव्य निराली' (?), कि., शम्भुनाथ सोलंकी क्षत्रिय नहीं, मराठे, सरोज में इस कवि के सम्बन्ध में लिखा है—''श्रृंगार की इनकी काव्य निराली है। नायिका-भेद का इनका ग्रन्थ सर्वोपरि है। इसी का भ्रष्ट अंग्रेजी अनुवाद ग्रियर्सन ने किया है और इनके काव्य ग्रन्थ का नाम 'काव्य निराली' ढूँढ़ निकाला है। इनका नखशिख रत्नाकार जी द्वारा सम्पादित होकर भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है।''[1]

इन उद्धरणों से इस प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कालक्रम में सबसे पहला ग्रन्थ 'सरोज' अर्थात् शिवसिंह सरोज, उसने कवि का उल्लेख सबसे पहले किया। आधार ही उसे बनाया है। सरोज का द्योतक संकेताक्षर 'सं'। उसके बाद ग्रियर्सन ने सूचना दी है। ग्रियर्सन का द्योतक संकेताक्षर 'ग्रि.' तब 'कि.' संकेताक्षर से किशोरीलाल गुप्त को अभिहित कराते हुए उनके 'सरोज सर्वेक्षण' से आवश्यक जानकारी संक्षेप में दे दी है। इस प्रकार एक ऐसी सूची या तालिका की आधारशिला आचार्य शर्मा ने रख दी है जिसमें पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी अपनी दृष्टि से यथास्थान नये कवियों का नाम और आवश्यक सूचना जोड़ता जा सकता है तथा टिप्पणी देकर अद्यतन अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान को हस्तामलकवत् कर सकता है।

पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी इसी सूची का उपयोगी सम्वर्द्धन दो प्रकार से कर सकता है—प्रथम तो अब तक की खोजों के विवरणों से सामग्री लेकर।

यथा, खोज में उपलब्ध हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1941-45 ई.) द्वितीय भाग में जिसके सम्पादक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हैं—चतुर्थ परिशिष्ट (क) में प्रस्तुत खोज में मिलने नवीन रचयिताओं की नामावली दी है, और उनका

---

1. शर्मा, नलिन विलोचन—साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ. 226।

शताब्दी क्रम भी बताया है। इस नामावली में 206 कवि हैं। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी इन नामों की परीक्षा कर अपनी तालिका में प्रामाणिक कवियों को स्थान दे सकता है।

इससे भी महत्त्वपूर्ण चतुर्थ परिशिष्ट (ग) है। इसमें **काव्य-संग्रहों** में आये नवीन कवियों की सूची दी गई है। इस सूची में गौण कवियों की तालिका और अधिक उपयोगी हो जायेगी और शोधार्थी को शोध की दिशाओं का निर्देश भी कर सकेगी।

पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को एक तालिका और बना कर अपने पास रखनी होगी। यह तालिका उसके स्वयं के उपयोग के लिए तो होगी ही, अन्य अनुसन्धाता भी उसका उपयोग कर सकते हैं। इस तालिका को रा.व. डॉ. हीरालाल जी डी. लिट., एम.आर.ए.एस. ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण में इस रूप में दिया है। यह इन्होंने चतुर्थ परिशिष्ट में दिया है। इसकी व्याख्या यों की गई है—''महत्त्वपूर्ण हस्तलेखों के समय एवं सन् 1928 ई. तक प्रकाशित खोज विवरणिकाओं में उनके उल्लेख का विवरण।'' तालिका का रूप यह है—

संख्या	रचयिताओं का नाम	हस्तलेखों का नाम	प्राप्त हस्तलेखों के उल्लेख तथा समय	विशेष
1	2	3	4	5

यह तालिका उपयोगी है, यह स्वयंसिद्ध है, क्योंकि सन्दर्भ की दृष्टि से भी खोज-विवरणों का उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ विस्तृत विवरण देखे जा सकते हैं। संख्या 4 को दो भागों में भी विभाजित किया जा सकता है—प्रथम—यह भाग केवल समय-द्योतक होगा, और दूसरा, यह भाग विवरणिकाओं का उल्लेख करेगा। डॉ. हीरालाल ने केवल ना. प्र. स. के खोज के विवरणों के ही उल्लेख दिये हैं, पर पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को जितने भी ऐसे विवरण मिलें उन सभी से सूचनाएँ देनी होंगी। स्पष्ट है कि यह तालिका जितनी परिपूर्ण होगी उतनी ही अधिक उपादेय होगी।

इस विवेचन से हमारा ध्यान डॉ. किशोरीलाल गुप्त के प्रयत्न की ओर जाता है जो उन्होंने 'सरोज सर्वेक्षण' के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सरोज' में दिये विवरणों की अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्री का उपयोग कर उन्होंने परीक्षा की है और उनके सम्बन्ध में सप्रमाण अपना निर्णय भी दिया है। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए यह प्रणाली उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं। वह किसी भी प्राप्त 'पाण्डुलिपि' के विषय में उपलब्ध अन्य सामग्री से इसी प्रकार परीक्षा करके टिप्पणी देगा, इससे अद्यतन ज्ञातव्य की सूचना उपलब्ध रह सकेगी।

इसी परिपाटी का पल्लवित रूप वह है जो 'चन्दकवि' के विवरण में ऊपर दिया गया है। ऐसे विवरण एक-एक कवि पर पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को प्रस्तुत कर लेना चाहिए।

ऊपर हम देख चुके हैं कि विवरण के मुख्यत: दो भाग होते हैं। एक को 'परिचय' कह सकते हैं। इसका विस्तृत विवरण विवेचनापूर्ण दिया जा चुका है। दूसरा अंश है—विषय का अन्तरंग परिचय आदि, मध्य और अन्त के उद्धरणों सहित।

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में आरम्भ में आदि, मध्य (कभी मध्य उद्धृत नहीं भी किया जाता था) और अन्त के छंद-मात्र दे दिए जाते थे। आरम्भ मान

लीजिए दोहे से है तो मात्र वह दोहा दे दिया जाता था। अन्त एक कवित्त से हो रहा है तो बस केवल उसी को दे देते थे। इससे विषय का अपेक्षित परिचय नहीं मिल पाता था। अत: जार्ज ग्रियर्सन के परामर्श से इस विषय के अंतरंग परिचय को अधिक विस्तार दिया जाने लगा। विषय की भी कुछ अधिक विस्तृत रूपरेखा दी जाने लगी। इस बात की ओर उक्त 'विवरणिका' में डॉ. हीरालालजी ने संकेत किया है—

"इसमें विगत विवरणिकाओं की अपेक्षा ग्रन्थों के विषय का विवरण विस्तार से दिया भी गया है। केवल उन्हीं का विवरण नहीं दिया गया है जिनका विवरण विगत विवरणिकाओं में विस्तृत रूप में विद्यमान है। ऐसा सर जार्ज ग्रियर्सन के सुझाव से ही किया गया है जो उपादेय तो अवश्य है किन्तु इससे विवरणिका विस्तार बहुत हो गया है।"[1]

विस्तार के रूप

विवरण के विस्तार के भी तीन रूप सम्भवत: माने जा सकते हैं।

1. विषय का ब्यौरेवाल बहुत संक्षेप में सार-रूप। इससे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का कुछ ज्ञान हो सकता है। यह परिचय ग्रन्थ का ज्ञान कराने के लिए नहीं होता, वरन् ग्रन्थ की विषय-वस्तु और विज्ञानार्थी की दृष्टि से उसकी प्रकृति और प्रतिपाद्य की पद्धति का उल्लेख करता है। डॉ. टैसीटरी ने अपने दृष्टिकोण से उन हस्तलेखों की विस्तृत टिप्पणियाँ लीं, जो ऐतिहासिक महत्त्व के थे।

दूसरा रूप है मूल उद्धरणों का; पाण्डुलिपि के आदि, मध्य और अन्त में ऐसे उद्धरण देने का और इतने उद्धरण देने का कि उनसे उन मूल उद्धरणों के द्वारा कवि या लेखक की भाषा, शैली तथा अन्य अभिव्यक्तिगत वैशिष्ट्यों की ओर दृष्टि जा सके।

इसका तीसरा रूप है ग्रन्थ में आयीं समस्त पुष्पिकाओं को उद्धृत करना। पुष्पिकाओं से कितनी ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं।

इस प्रकार विवरण प्रस्तुत करके पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी उपलब्ध सामग्री के उपयोग के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है।

कालक्रमानुसार सूची

इनमें से एक कालक्रमानुसार उपलब्ध ग्रन्थ सूची भी हो सकती है जो इतिहास के क्षेत्रों में प्रसिद्ध "The Chronology of Indian History" (भारतीय इतिहास के कालक्रम) के ढंग की हो सकती है। मेरे सामने ऐसी ही एक पुस्तक C. Mabel Duff की लिखी है। उसके आरम्भ में दी गई कुछ बातें यहाँ देना समीचीन प्रतीत होता है।

पहले तो उन्होंने लिखा है कि इस कृति में नागरिक तथा साहित्यिक इतिहास की उन तिथियों को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से तालिकाबद्ध कर देना अभिप्रेत है, जो वैज्ञानिक अनुसन्धान से आज के दिन तक निर्धारित की जा चुकी है।

इससे यह सिद्ध है कि वे तिथियाँ ही दी गई हैं जो वैज्ञानिक प्रविधि से पुष्ट होकर निर्विवाद हो गई हैं।

---

1. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ. 7।

दूसरी बात उन्होंने यह बताई है कि भारतीय इतिहास की सामग्री मात्रा में प्रचुर है और अनेक ग्रन्थों और निबन्धों में फैली हुई है, अतः इस काल-तालिका में उस समस्त सामग्री को व्यवस्थित करके तो रखा ही गया है, स्रोतों का निर्देश भी है जिससे यह तालिका समस्त सामग्री के स्रोतों की अनुक्रमणिका भी बन गई है।

ये दोनों बातें हमें ध्यान में रखनी होंगी। डफ ने इस तालिका में कुछ तिथियाँ (सन्-संवत) इटेलिक्स में दी हैं। इटेलेक्सि में वे तिथियाँ दी गई हैं जो पूरी तरह सही नहीं हैं, पर निष्कर्ष से निकाली गई हैं और लगभग सही (Approximately Correct) मानी जा सकती है। यह प्रणाली भी उपयोगी है क्योंकि इसमें सुनिश्चित और प्रायः निश्चित तिथियों में अन्तर स्पष्ट हो जाता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक में से साहित्य सम्बन्धी कुछ उल्लेख उदाहरणार्थ प्रस्तुत करना समीचीन होगा। पुस्तक अंग्रेजी में है; यहाँ अपेक्षित अंशों का हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है—

ई.पू. 3102 — शुक्रवार, फरवरी 18, कलियुग या हिन्दू ज्योतिष संवत् का आरम्भ··· यह बहुधा तिथियों में दिया जाता है, यह विक्रम संवत से 3044 वर्ष पूर्व का है और शक संवत् से 3179 वर्ष पूर्व का—

140 — पंतजलि, वैयाकरण, 'महाभाष्य' का रचयिता ई.पू. 140-120 में विद्यमान। 'महाभाष्य' के अवतरणें से गोल्डस्टुकर एवं भण्डारकर ने पतंजलि की तिथि निर्धारित की है। जिनसे विदित होता है कि वह मेनांडर और पुष्यमित्र के समकालीन थे। पूर्वी भारत के गौनार्द के वे निवासी थे और कुछ समय के लिए कश्मीर में भी रहे थे। उनकी माँ का नाम गोणिका था—

गोल्डस्टुकर पाणिनि 234। LitRem i, 131ff. LiAii, 485. BD8. 1 A, i, 299 ff. JBRAS, XVI, 181, 199.

सन् ई. 476 — आर्यभट्ट, ज्योतिषी का जन्म कुसुमपुर पाटलिपुत्र में, आर्थाष्टक तथा दशगीतिका का रचयिता— WL. 257. Indische Streifen, iii, 300-2 गणकतरंगिणी, ed. सुधाकर, The Pandit, N.S. XIV (1892), P. 2.

600 — कविबाण, श्री हर्षचरित, कादम्बरी और चंडिकाशतक के रचयिता, मयूर, सूर्य-शतक के रचयिता, दण्डी, दशकुमार चरित एवं काव्यादर्श के रचयिता और दिवाकर इस काल में थे क्योंकि ये कन्नौज के हर्षवर्द्धन के समसामयिक थे। जैन परम्परा के अनुसार मयूर बाण के श्वसुर थे। भक्तामर स्तोत्र के रचयिता मानतुंग भी इसी काल के हैं। व्हूलर, Di indischer Inschriften Petersons सुभाषितावली, Int. 88. VOJ, IV, 67.

1490 — हिन्दी कवि कबीर इसी काल के लगभग थे क्योंकि वे दिल्ली के सिकन्दर शाह लोदी के समसामयिक थे—BOD. 204। उड़िया के कवि दीन कृष्णदास, रस-कल्लोल के कर्ता भी सम्भवतः इसी काल में थे। वे उड़ीसा के पुरुषोत्तम देव (जिनका राज्यकाल 1478-1503 के बीच माना जाता है) के समसामयिक थे, आदि।

इस पद्धति में यह दृष्टव्य है कि प्रथम स्तम्भ में केवल सन् (ईस्वी) दिया गया है। और सभी बातें दूसरे स्तम्भ में रहती है। जिन घटनाओं की ठीक तिथियाँ विदित हैं वे यदि एक ही वर्ष के अन्दर घटित हुई हैं, तो उन्हें तिथि-क्रम से दिया जाता है।

हमें हिन्दी के हस्तलेखों या पाण्डुलिपियों की ऐसी कालक्रम तालिका बनाने के लिए निम्न बातों का उल्लेख करना होगा। स्तम्भ तो दो ही रखने होंगे। पहले में प्रचलित 'सन्' उक्त इतिहास की तालिका की भाँति ही देना ठीक होगा। दूसरे खाने में पहले खाने के सन् के सामने सं. लिखकर 'संवत्' की संख्या देनी होगी। उसके नीचे 'चैत्र' से आरम्भ करके तिथि का उल्लेख करना ठीक माना जा सकता है। तिथि का पूरा विवरण 'पुष्पिका' सहित लिखना चाहिए। 'कृतिकार' का नाम, आश्रयदाता का नाम, कृति के लिखे जाने के स्थान का नाम, ग्रन्थ का विषय। साथ ही लिपिकार या लिपिकारों के नाम। लिपि करने का स्थान—नाम, लिपिकाल, लिपिकाल की कालक्रम से भी प्रविष्टि की जायेगी। वहाँ भी लिपिकार के साथ ग्रन्थ और रचयिता का उल्लेख काल-सहित किया जायेगा, यथा—

पाण्डुलिपि कालक्रम तालिका

क्रमसंख्या	ईसवी सन्	
1.	760	वि.सं. 817 सरहपा—ब्राह्मण, भिक्षु सिद्ध (6) देश मगध (नालंदा) कृतियाँ—कायकोष-अमृत-वज्रगीति, चित्तकोष—अंज-वज्रगीति, डाकिनी गुह्य, वज्रगीति, दोहा कोष उपदेशगीति, दोहा कोष, तत्त्वोपदेश-शिखर-दोहा कोष, भावना फल-दृष्टि चर्या, दोहा-कोष, बसन्ततिलक-दोहा कोष, चर्यागीत दोहा कोष, महामुद्रोपदेश दोहा कोष, सरहपाद गीतिका (गोपाल धर्मपाल के राज्य-काल (750-70-806 ई.) में विद्यमान। रा. सां.—"पुरातत्त्व निबन्धावलि (पृ. 169) रा. सां.—हिन्दी काव्य धारा)।
2.	1459	वि.सं. 1516 9, ज्येष्ठ बदि, बुधवार (रचना काल)। 'लखमसेन पद्मावति' रचयिता दामो। लिपिकाल : सं. 1669 वर्ष, माह 7। लिपिस्थान—फूलखेड़ा। संवत् पनरइ सौलोत्तरा मझारि, ज्येष्ठ बदि नवमी बुधवार। सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जाणि, वीर कथारस करू बँखाण" दामो रचित लखमसेन पद्मावती सं. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी + प्रकाशित (परिमल प्रकाशन प्रयाग-2) प्रथम सं. 1959 ई.।

अब 1459 में 10वीं बृहस्पतिवार ज्येष्ठ वदी की कोई रचना है तो 'लखमसेन पद्मावती' के उल्लेख के बाद इसी स्तम्भ में लिखी जायेगी। पहले विक्रम संवत्, तब

रचना-तिथि, ग्रन्थ का नाम, रचयिता का नाम तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ देकर नये प्रघट्टक से पुष्प या तारक (*) लगा कर सन्दर्भ सूचना दे दी जानी चाहिये।

प्रत्येक पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी अपने-अपने लिए ये कालक्रम तालिकाएँ बना सकते हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि The Chronology of Indian History की तरह समस्त पाण्डुलिपियों की 'कालक्रम तालिका' प्रस्तुत कर दी जाय। साथ ही दांयी ओर इतना स्थान छूटा रहे कि पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की सूचना यथा समय भर दी जाय, यथा— ऊपर (+) चिह्न के साथ प्रकाशन सूचना दी गयी है।

अध्ययन को, विशेष दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए, ऐसी सूचियाँ भी प्रस्तुत करनी होंगी जैसी डब्ल्यू. एम. कल्लेवार्ट (W.M. Callewaert) ने बेल्जियम के 'ओरियंटेलिया लोवनीनसिया पीरियोडिका' के 1973 के अंक में प्रकाशित करायी है और शीर्षक दिया है "सर्च फॉर मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑव द दादूपन्थी लिटरेचर इन राजस्थान"[1] अर्थात् राजस्थान में दादूपंथी साहित्य के हस्तलेखों की खोज हुई।

इस 12 पृष्ठ के निबन्ध में छोटी-सी भूमिका में उन्होंने यह बताया है कि "सबसे पहले स्वामी मंगलदास जी ने 77 दादूपन्थी लेखकों की व्यवस्थित सूची प्रस्तुत की जिसमें लेखकों के नाम, उनकी कृतियाँ और सम्भावित रचना-काल दिया।" फिर भी बहुत-से दादू-पन्थी लेखकों के बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ अभी तक सूचीबद्ध नहीं हुए हैं। तब लेखक ने यह बताया है कि—

"इन पृष्ठों में राजस्थान, दिल्ली और वाराणसी में पाँच महीने की अवधि में उन्होंने जो शोध की उसके परिणाम दिये गये हैं। लेखक ने यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी है कि इस सूची का दावा नहीं कि इसमें जितने भी सम्भव संग्रह हो सकते हैं, सभी का उपयोग कर लिया गया है। इस कथन से उस भ्रम को दूर किया गया है, जो सम्भवतः इस सूची को देखकर पैदा होता है कि इस लेखक ने सूची अद्यतन पूर्ण कर दी है, अब और कुछ शेष नहीं रहा। वस्तुतः मानवीय प्रयत्नों की सामर्थ्य और सीमाओं के कारण ऐसा दावा कोई भी नहीं कर सकता कि ऐसी सूची उस विषय की अन्तिम सूची है।"

फिर लेखक ने यह भी इंगित कर दिया है कि इस सूची में दादू के शिष्यों के द्वारा प्रस्तुत किये गये साहित्य का ही समावेश है, किसी अन्य की कृति का समावेश किया गया है तो यथास्थान उसका उल्लेख कर दिया गया है।

लेखक ने सूची में उन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का उल्लेख करना भी समीचीन समझा है जिनका मुद्रित रूप मिल जाता है। ऐसा उसने पाठालोचन के लिए उनकी उपयोगिता को दृष्टि में रख कर किया है।

यह सूचना भी उसने दी है कि सन्-संवत् की संख्या में ईस्वी सन् (A.D.) ही अभिहित है। प्रतिलिपि के कालक्रम से ही ग्रन्थ सूची तैयार की गई है।

---

1. Callewaert, W.M.—Search for Manuscripts of the Dadu Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Lovaniensia Periodica (1973-74).

इस सम्बन्ध में लेखक के पक्ष में हमें यह कहना है कि प्रतिलिपि-काल अधिकांश पाण्डुलिपियों में मिल जाता है, जब कि रचना-काल बहुत कम रचनाओं में प्राप्त होता है। यह बात संत-साहित्य के सम्बन्ध में सर्वाधिक सत्य है। अतः सूची बनाने में क्रम की दृष्टि से वैज्ञानिक आधार प्रतिलिपि का काल ही हो सकता है। यों भी प्रतिलिपि-काल महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह काल यह तो सिद्ध करता ही है कि रचना इस काल से पूर्व हुई। यह काल ग्रन्थ की लोकप्रियता का भी प्रमाण होता है, और लिपि के तत्कालीन रूप की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

इसके बाद संग्रहों या संग्रहालयों की संकेत सूची गई, क्योंकि सूची में आगे संकेताक्षरों से ही काम चलाया गया है। ऐसे 16 संग्रहों या संग्रहालयों के संकेताक्षर दिये गये हैं, यथा—
'D.M' : दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर।

जिन संग्रहों में यह सूची प्रस्तुत की गई है वे निम्न प्रकार के हैं—

(1) संस्थाओं के संग्रह, जैसे—दादू महाविद्यालय का, दादूद्वारा नरैना का, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का, अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर का, आदि।

(2) ऐसी बड़ी संस्थाओं के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग या कक्ष के संग्रह, यथा—NPM : यह संकेत काशी नागरी-प्रचारिणी सभा वाराणसी (Varanasi) के पुस्तकालय के 'मायाशंकर याज्ञिक संग्रह' के लिए है।

(3) ऐसे महाग्रन्थ जिनमें ग्रन्थ संकलित हों, यथा—NAR, MG यह संकेताक्षर 'दादू द्वारा नरैना' के महाग्रन्थ का द्योतक है।

(4) ऐसी सूचियाँ जिनमें पाण्डुलिपियों का उल्लेख है—यथा : NPV. यह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (1900-55)। I-II 1964 के संस्करण का द्योतक है। इस विवरण से भी दादूपन्थी ग्रन्थों को इस सूची में सम्मिलित किया गया है।

(5) व्यक्तियों के संग्रह, यथा—KT यह संकेताक्षर है पं. कृपाशंकर तिवारी, 1 म्यूजियम रोड, जयपुर के संग्रह के लिए है।

तब उन्होंने सूची से पूर्व ही उन स्रोतों का विवरण और दे दिया है, जिनसे दादूपंथी साहित्य का पता चल सकता है।

अब सूची में उन्होंने पहले बायीं ओर लेखक या कवि का नाम दिया है, उसके साथ कोष्ठक में उसका अस्तित्व-काल दिया है और उसके सामने दायें छोर पर भक्तमाल (राघवदास कृत) का उल्लेख उसकी उन पृष्ठों की संख्या सहित किया है, जिन पर इस कवि का विवरण है। जिन कवियों का उल्लेख उक्त भक्तमाल में नहीं है, उनके आगे यह संकेत नहीं किया गया।

इस नामाद्योतक पंक्ति के नीचे भिन्न टाइप में 'पुस्तक' या पाण्डुलिपि का नाम, उसके आगे संक्षेप में छन्दों की गणना और यदि रचनाकाल उसमें है तो उसका उल्लेख। उसके

नीचे संकेताक्षरों में उन संग्रहों का उल्लेख है, जिनमें यह ग्रन्थ मिलता है। कोई अन्य ज्ञातव्य उसी के साथ कोष्ठक में दिया गया है।

इस सूची की रूपरेखा की कुछ विशिष्ट बातें केवल निर्देशनार्थ ही दी गयी हैं। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी ऐसी सूचियाँ बनाते समय यह ध्यान में रखेगा ही कि सूची अधिकाधिक वैज्ञानिक और उपयोगी बनें। इसी दिशा-निर्देशन की दृष्टि से यहाँ इस सूची का एक उद्धरण देना भी समीचीन प्रतीत होता है—

Jagannatha[1] Bh. M. p. 732-733.

Gunaganja nama (anthology of selections from 162 poets) DM 2, p. 521-536 (1676); 14 b, p. 1-216; 17, p. 329-450; 10c; 14 b; NP 2521/1476, p. 1-48; p. 2520/1475, p. 1-20; NAR 3/11; 4 p. 316 ff; 7 2; 13/83; 23/10 (1761); VB 154/6; KT 500/SD.

Mohamad raja ki Katha

VB 34, p. 575-79 (1653); DM 2, p. 329-332 (1676); 24, p. 376-382; 18. p. 465 ff; 20. p. 401-406; 14, p. 78-84; cp. 2987/4; 3028/12; 3657/6; 3714/3; KT 148 (1675-1705); 399, p. 5-82; 495; 303; VB 5, p. 483-4956; 74 p. 521-526, 8, p. 271-281; NAR 2/3; 19/14; 23/34; 29/21; PV 163; 588; 751; 664; NP 2346/1400, p. 56-68 has this word under the name of Jan Gopal. See the note in NPVI, p. 254 on the different names of Jangopal.

Dattatrey ke 25 guruo ki lila

VB 14, p. 154-162; KT 205; p. 65-74 (1653), see also Jangopal's work.

Dohe—VB 4, passim; KT 477; AB 78, p. 148-160.

Pada—VB 12; p. 20 (1684); KT, 331, 352, 122, 469; 566, 154, 240, 311.

The (complete?) works of Jagannath are found in DM 3, p. 1-b 59; 1, p. 429-557; NAR MG. p. 201-283. NP VI, p. 322.

Dayaldas (disciple of Jagannath)

Nasiket vyakhyan (Completed in 1677)

VB 4, p. 390-451, NAR 2/2; 3/7; 5/5; DM 9, p. 447-469; 21, p. 329-357; 20, p. 453-481; 14, p. 131-165; 23, p. 362-388; VB 8, p. 331-400; KT. 486; SD. NPV I, p. 407.

नकली पाण्डुलिपियाँ

पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को क्षेत्रीय अनुसन्धान में जिस सबसे विकट समस्या का सामना करना पड़ता है वह नकली ग्रन्थों की है। पाण्डुलिपियों के साथ यह नकली पाण्डुलिपियों की समस्या भी खड़ी होती है। तुलसीदास जी पर लिखे गये दो ऐसे ग्रन्थ मिले थे, जिनके लेखकों ने दावा किया था कि वे गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य थे। एक ने

---

1. Callewaert, W.M.—Search for Manuscripts of the Dadu-Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Lovaniensia Periodica (1973-74), p. 160.

संवत् एवं तिथि देकर उनके जीवन की विविध घटनाओं का उल्लेख किया था। इनसे कोई कोना अंधकारमय नहीं रह जायेगा। किन्तु अन्तरंग परीक्षा से विदित हुआ कि उसमें सब कुछ कपोल-कल्पित है। पूरा का पूरा ग्रन्थ किसी कवि ने दूसरे के नाम से रच डाला था, अतः नकली था, जाली था। ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते हैं।

स्व. डॉ. दीनदयाल गुप्त, भू-पू. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी. लिट् की एक मौखिक परीक्षा के समय वाराणसी के एक ऐसे व्यक्ति का नाम बताया था जो जाली हस्तलिखित पुस्तकें तैयार करने में दक्ष था। मुझे आज उसका नाम स्मरण नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का होना असम्भव नहीं। जहाँ पुरानी ऐतिहासिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय के केन्द्र होते हैं वहाँ ऐसी जालसाजी के लिए बहुत क्षेत्र रहता है। अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं और नकल को असल बताकर व्यवसायी पूरी ठगाई करते हैं।

19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मध्य एशिया के 'खुत्तन' शहर में तो किसी ने हस्तलिपियों के निर्माण के लिए कारखाना ही बना डाला था। डॉ. भगवतीशरण उपाध्याय ने धर्मयुग, 8 मार्च, 1970 (पृष्ठ 23 एवं 27) के अंक में 'पुरातत्व में जालसाजी' शीर्षक निबन्ध में 'आरेल स्टाइन' के आधार पर रोचक सूचना दी है। उन्होंने बताया है कि 'खुत्तन और काशगर' से एक बार जाली हस्तलिपियों की खरीदफरोख्त का तांता बँधा और अंग्रेजी, रूसी तथा अनेक यूरोपीय संग्रहकर्ताओं को जाली हस्तलिपियाँ पर्याप्त मात्रा में बेची गयी। यह इतनी दक्षतापूर्वक की गई जालसाजी थी कि ''विद्वान् और अनभिज्ञ दोनों ही समान रूप से इस धोखे के शिकार हुए।'' 'आदिर आरेल स्टाइन' ने इस जालसाजी का पूरी तरह भंडाफोड़ किया। इसलाम अखुन नाम के एक जालसाज ने तो प्राचीन पुस्तकों की खपत अधिक देख कर एक कारखाना ही खोल दिया था। आरेल स्टाइन महोदय के विवरण के आधार पर डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने इस जालसाज इस्लाम अखुन द्वारा जालसाजी करने की कथा यों दी हैं—

अब इसलाम अखुन द्वारा निर्मित 'प्राचीन पुस्तकों' की कथा सुनिये, अपनी पहली 'प्राचीन पुस्तक' इस प्रकार बनाई हुई उसने 1895 में मुंशी अहमद दीन को बेची। मुंशी अहमद दीन मैकार्त्नी की अनुपस्थिति में काशगर के असिस्टेंट रेजिडेंट के दफ्तर की सम्भाल करने लगा था। वह पुस्तक हाथ से लिखी गई थी और कोशिश इस बात की की गयी थी कि इस कारखाने में बनी पहली पुस्तकों की तरह घसीट ब्राह्मी में लिखी असली हस्तलिपियों के कुछ टुकड़े दंदा-उइलिक में इब्राहीम को पहले कभी मिल गये थे और यह काम इन जालसाजों ने कुछ इस तरह किया था कि यूरोप के अच्छे से अच्छे विशेषज्ञ तक को आसानी से सफलतापूर्वक धोखा दिया जा सकता था। यह डॉ. हेन्र्ले की 'मध्य-एशियाई पुरावस्तुओं की रिपोर्ट' से प्रमाणित है, जो पहले की सामग्री पर आधारित थी। यह 'पहले की सामग्री' इस्लाम अखुन के कारख़ाने में बनी अन्य वस्तुओं के साथ अब ब्रिटिश म्यूजियम लंदन के हस्तलिपि-विभाग के जाली कागजात के अनुभाग में सुरक्षित है। इसी प्रकार की एक 'प्राचीन खत्तन की हस्तलिपि' की अनुलिपि (फैक्सिमिली) डॉ. स्वेन हेडिन की कृति 'थ्रू एशिया' के जर्मन संस्करण में सुरक्षित है जो इस्लाम इब्राहीम आदि की आधुनिक फैक्ट्री में प्राचीन रूप से सम्पादित हुई।

काशगर में जालसाजी का यह बाजार गर्म होने तथा हस्तलिपियों की कीमत बगैर मीनमेख के कल्पनातीत मिलने से अन्यत्र के जालसाज भी वहाँ जा पहुँचे। इनमें सरगना लदाख और कश्मीर का एक फरेबी बनरुद्दीन था। उसका काम तो बहुत साफ न था, पर 'प्राचीन पुस्तकों' की संख्या का परिमाण सहसा काफी बढ़ गया। चूँकि उन्हें खरीदने वाले यूरोपियन उन अक्षरों को पढ़ या उनका वास्तविक प्राचीन लिपि से मिलान नहीं कर सकते थे, अत: जालसाजों ने भी जाली अक्षरों का मूल से मिलान कर अपने करतब में सफाई लाने की कोशिश नहीं की।

हाथ से लिख कर फरेब से हस्तलिपियाँ बनाने का काम बड़ी मेहनत से सम्पन्न होता था। इसी से जालसाजी के उन माहिरों ने काम हल्का और आसान करने के लिए कारखाना ईजाद किया। अब वे लकड़ी के ब्लॉकों से बार-बार छापे मार कर पुस्तकों का निर्माण करने लगे। इससे उनके काम में बड़ी सुविधा हो गयी। इन ब्लॉकों को बनाने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी, क्योंकि चीनी, तुर्किस्तान में लकड़ी के ब्लॉकों से छपाई आम बात थी। 'प्राचीन पुस्तकों' की इस प्रकार से छपाई 1896 में शुरू हुई। नयी सिरजी लिपि की भिन्नता ने विद्वानों की कल्पना को जगाया और उसकी व्याख्या करने के लिए बड़े परिश्रम से उन्होंने नये फार्मूले रचे।

हस्तलिपि 'प्राचीन' बनाने में जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता था, इस्लाम अखुन ने उसका भी सुराग दिया। 'ब्लाक-प्रिंट' अथवा हस्तलिपि तैयार करने के लिए कागज भी विशेष रूप से तैयार किया जाता था और विशेष विधि से उसे पुराना भी कर लिया जाता था। तुर्किस्तान कागज के उद्योग का प्रधान केन्द्र होने के कारण खुत्तन जालसाजों के लिए आदर्श स्थान बन गया था। कारण कि वहाँ उन्हें मनोवांछित प्रकार और परिमाण का कागज बड़ी सुविधा से प्राप्त हो सकता था। 'तोगरुगा' के जरिये कागज पहले पीले या हल्के ब्राउन रंग में रंग लिया जाता था। तोगरुगा तोगरक नामक वृक्ष से प्राप्त किया जाता था, जो पानी में डालते ही घुल जाता था और घुलने पर दाग छोड़ने वाला द्रव बन जाता था।

रंगे कागज पर ताव पर जब लिख या छाप लिया जाता तब उसे धुँए के पास टाँग दिया जाता था। धुँए के स्पर्श से उसका रूप पुराना हो जाया करता था। अनेक बार इससे कागज कुछ झुलस भी जाता था। जैसा कि कलकत्ते में सुरक्षित कुछ 'प्राचीन पुस्तकों' से प्रमाणित है। इसके बाद उन्हें पत्रवत् बाँध लिया जाता था। इस जिल्दसाजी से जालसाजी का भण्डाफोड़ हो सकता था। क्योंकि उसमें कुछ ऐसे बन्धन आदि का प्रयोग होता था जिनसे उनके आधुनिक यूरोपीय सम्पर्क का जाहिर हो जाना भी अनिवार्य था। यद्यपि इसका राज भी तभी खुला जब इस्लाम अखुन ने अपना कसूर कबूल कर लिया और हकीकत बता दी। हस्तलिपि अथवा पुस्तक तैयार हो जाने पर उसके पन्नों में रेत झाड़ देते थे जिससे उनके रेगिस्तानी रेत में दीर्घकाल तक दबे रहने का आभास पैदा हो जाय। 1898 के बसंत में आरेल स्टाइन लिखते हैं, ''जाली ब्लाक-प्रिंट जाँचने के पहले मुझे कपड़े के ब्रुश का

इस्तेमाल करना पड़ा था। यह हस्तलिपि कश्मीर के एक संग्रहकर्ता के [illegible] में ही मिली थी।''[1]

यहीं हम श्री पूर्णेन्दु बसु की पुस्तक 'Archives and Records : What are they?' नामक पुस्तक से भी कुछ उद्धृत करना चाहेंगे। बसु महोदय ने तीसरे (III) अध्याय में लेखों के शत्रु (Enemies of Records) में रिकार्डों के प्रमुख शत्रु की गणना दी है कि "They are generally speaking time, fire, water, light, heat, dust, humidity, atmospheric gases, fungi, vermin", 'acts of God' and, last but not least, human beings" लेखों-अभिलेखों के शत्रुओं में उन्होंने काल, अग्नि, जल, प्रकाश, गर्मी, धूल, आर्द्रता, वातावरणिक गैसें, फफूँद (Fungi) तथा कीड़े-मकोड़ों के साथ-साथ मनुष्यों को भी प्रमुख शत्रु बताया है। अन्य शत्रुओं पर चर्चा करने के उपरान्त 'मनुष्य' के सम्बन्ध में लिखा है—

"Human beings can be as much responsible for the destruction of records as the elements or insects. I am not only referring to mishandling or careless handling the effects of which are obvious. There are cases of bad appraisal. It is evident that every scrap of paper produced or received in an office cannot be kept for ever-they are not sufficiently valuable to merit expenditure of money or energy for their preservation, by being retained they only occupy valuable space and obscure the more valuable materials. So at some stage a selection has to be made of the records that can be destroyed without doing any harm to either administration or scholarship. Bad appraisal has often led to the valuable record being thrown away and the valueless kept. Then there are people who may use the information contained in records to the determent of government of individuals. Again there are others who may wish to temper with the records in order to destroy or distort evidence. There are some who are either collectors of autographs and seals or are mere kleptomaniacs, and it is a problem to guard the record against them."[2]

इसमें हस्तलेखों के मानवीय शत्रुता के कारनामों का उल्लेख है। यह बताया गया है कि—(1) वे हस्तेलखों का ठीक ढंग से उपयोग नहीं करते, (2) वे ग्रन्थों-लेखों के उपयोग में प्रमाद करते हैं, (3) वे महत्त्व को ठीक नहीं आँक (Appriase) पाते, फलतः अभिलेखगारों में से कभी-कभी महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र नष्ट करवा दिये गए, रद्दी हस्तलेखों को सुरक्षित रखा गया। इससे सरकार को और व्यक्ति को भी हानि उठानी पड़ी है। (4) स्वार्थियों ने साक्षी को नष्ट करने या बिगाड़ देने के लिए हस्तलेखों में जालसाजी की, (5) कुछ हस्ताक्षरों (Autograph) और मुद्राओं (Scal)/मुहरों के संकलनकर्ता अभिलेखों में से उन्हें काट लेते हैं, कुछ को यों ही कतरनों का शौक होता है। ये सभी काम अभिलेखों के प्रति शत्रुता के काम हैं।

---

1. धर्मयुग (8 मार्च, 1970), पृ. 23 एवं 27।
2. Basu, Purendu—Archives and Records : What are they?, p. 33.

लेखों-अभिलेखों में हेरफेर करना भी जालसाजी है। यह जालसाजी बहुत घातक है। ऐसी ही एक जालसाजी की बात राजतरंगिणी के लेखक द्वितीय (तृतीय) जोन राज ने बताई है, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इसमें स्वयं जोन राज के साथ उस व्यक्ति ने भोजपत्र पर लिखे भूमि के बिक्रीनामा में जालसाजी करके सारी भूमि हड़प लेनी चाही थी। पर पहले बिक्रीनामा पक्की स्याही से लिखा गया था बाद में जालसाज ने कच्ची स्याही से जाल किया था। फलतः पानी में भोजपत्र के डाल देने पर कच्ची स्याही घुल गयी और जाल सिद्ध हो गया। महाकवि भास के बहुत-से ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व मिले थे। एक विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि वे जाली हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में ऐसी जाली वस्तुओं का अलग ही एक कक्ष बना दिया गया है।

अतः पाण्डुलिपि-विज्ञानविद् को पुस्तक की आन्तरिक और बाह्य परीक्षा द्वारा यह आश्वस्त हो लेना आवश्यक है कि कोई पाण्डुलिपि जाली तो नहीं है।

4

पाण्डुलिपियों के प्रकार

प्रकार-भेद : अनिवार्य

'पाण्डुलिपि' का अर्थ बहुत विस्तृत हो गया है, यह हम पहले के अध्यायों में देख चुके हैं। वस्तुतः विस्तृत अर्थ होने का अभिप्राय ही यह है कि उसके अन्तर्गत कितने ही प्रकारों का समावेश हो गया है। पाण्डुलिपि में विविध प्रकार के लिप्यासनों पर लिखी कृतियाँ भी आयेंगी, साथ ही वे ग्रन्थ-रूप में भी हो सकती हैं और राज्यादेशों के रूप में भी, चिट्ठी-पत्री के रूप में भी, और भी कितने ही प्रकार के कृतित्व "पाण्डुलिपि" में समावेशित हैं। अतः 'पाण्डुलिपि-विज्ञान' के क्षेत्र के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके सभी प्रकारों और प्रकार-भेदों के आधारों से कुछ परिचित होना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रकार-भेद 'पाण्डुलिपि' के अभिप्राय-क्षेत्र के आधार पर किया गया है।

इन प्रकारों को एक दृष्टि में निम्नस्थ वृक्ष से समझा जा सकता है—
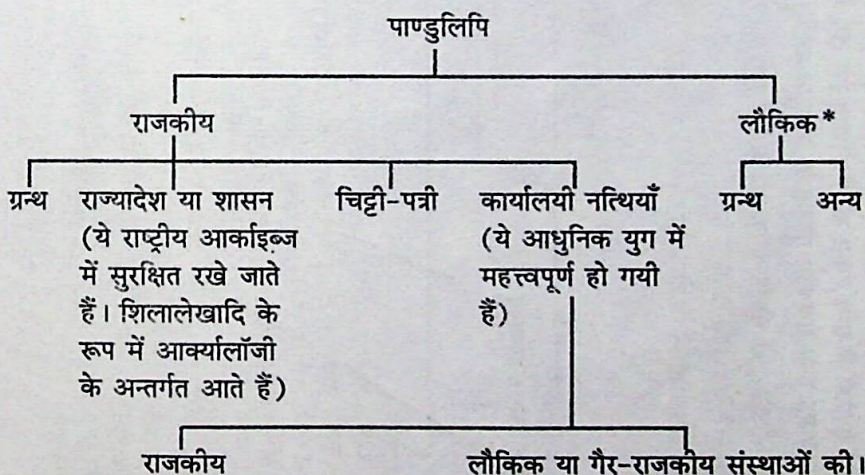
* स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत वशिष्ठोक्ति कि 'लौकिक राजकीय च लेख्य विद्यादू द्विलक्षणं (व्यवहार 1.14)।' इसी वशिष्ठोक्ति के आधार पर हमने भी यहाँ 'राजकीय' और 'लौकिक' दो भेद स्वीकार किये हैं।

उक्त वृक्ष में हमने राजकीय क्षेत्र में भी ग्रन्थ को एक प्रकार माना है, और लौकिक में भी। राजकीय क्षेत्र में भी ग्रन्थ-रचना होती थी, इसमें सन्देह नहीं। स्वयं राजाओं ने ग्रन्थ रचना की है। किन्तु इस वर्ग में ऐसे ही ग्रन्थ रखने होंगे जिनका अभिप्राय राजकीय हो। राजा का विजय या उसकी प्रशस्ति विषयक ग्रन्थ राजकीय योजनाओं पर ग्रन्थ आदि।

लिप्यासन की दृष्टि से भी पाण्डुलिपियों के भेद होते हैं। लेखों को आसन की प्रकृति के अनुसार लेखनी/कलम से, टांकी से, कोरक से, सांचे से, छेनी से, यंत्र से लिखा जाता है।

इस आधार से लिप्यासन के दो प्रकार हो जाते हैं—इन्हें 'कोमल' तथा 'कठोर' कहा जाता है। कोमल पर लिखा जाता है, कठोर पर उत्कीर्ण किया जाता है।

पाण्डुलिपि (लिप्यासन की दृष्टि से प्रकार)

- लेखन निमित्त : कोमल लिप्यासन वाली
  - ताड़पत्रीय
    - लेखनी लिखित- उत्तर में। भगवान बुद्ध के उपदेश उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद ताड़-पत्रों पर लिखे गये। प्राचीन ताड़पत्रीय ग्रन्थ भारत से बाहर एशिया में तुरफान आदि में मिले। होरीयुजी (जापान) में उष्णीय विजय धारणी 7वीं शती ई. में भारत में लिपिबद्ध हुई। नेपाल में ताड़पत्रीय स्कंद पुराण 7वीं शती का प्रतिलिपित माना जाता है।
    - शलाका-कोरित दक्षिण में 15वीं शती से पूर्व के ही मिलते हैं।
  - भोजपत्रीय — (भूर्ज का एक पर्यायवाची शब्द लेखन भी है) ग्रन्थों के अतिरिक्त भोजपत्र पर चिट्ठियाँ विशेपत: लिखी जाती थीं। अभी तक प्राप्त प्राचीनतम भोजपत्रीय ग्रन्थ खरोष्ठी लिपि में, धम्मपद हैं जो 2री-3री शती में प्रतिलिपित हैं और खोतान में मिली हैं।
  - अगरुपत्रीय या — अगरुपत्रीय या समुचीपात। ये ग्रन्थ आसाम में मिले। 15वीं शती का सुन्दर कांड पेरिस में सुरक्षित है।
  - पटीय — (वस्त्र-निर्मित) संस्कृत में कापापिक पट। 1351-52 ई. की एक प्रति श्रीप्रभसूरि की 'धर्मविधि' की उदयसिंह की टीका सहित कपड़े के 13 पन्नों में प्रत्येक पाना 13 × 5"। जैन पुस्तकालय अन्हिलवाड़ा में सुरक्षित है। रेशमी पाट भी काम में आता था।
  - चर्मपत्रीय — चर्मपत्रीय-ग्रन्थ भारत में कम। जैसलमेर में एक कोरा चर्म-पत्र मिला था। रूस में पीटसबर्ग के संग्रहालय में काशगर से प्राप्त कुछ चर्म पत्र हैं जिन पर भारतीय लिपि में लिखा हुआ है।
  - कागजीय — कागजीय-पाण्डुलिपियों पर आगे विस्तार से वर्णन है।
  - काष्ठीय
- उत्कीर्णत निमित्त : कठोर लिप्यासन वाली
  - पापाणीय
  - मृण्मय
  - सीप-दांतिकी
  - ताम्रपत्रीय
  - स्वर्ण-पत्रीय
  - रजत-पत्रीय
  - अन्य धातुओं की

पाषाणीय-शिलालेख

चट्टानीय	शिलापट्टीय	स्तम्भीय	मूर्तीय	अन्य
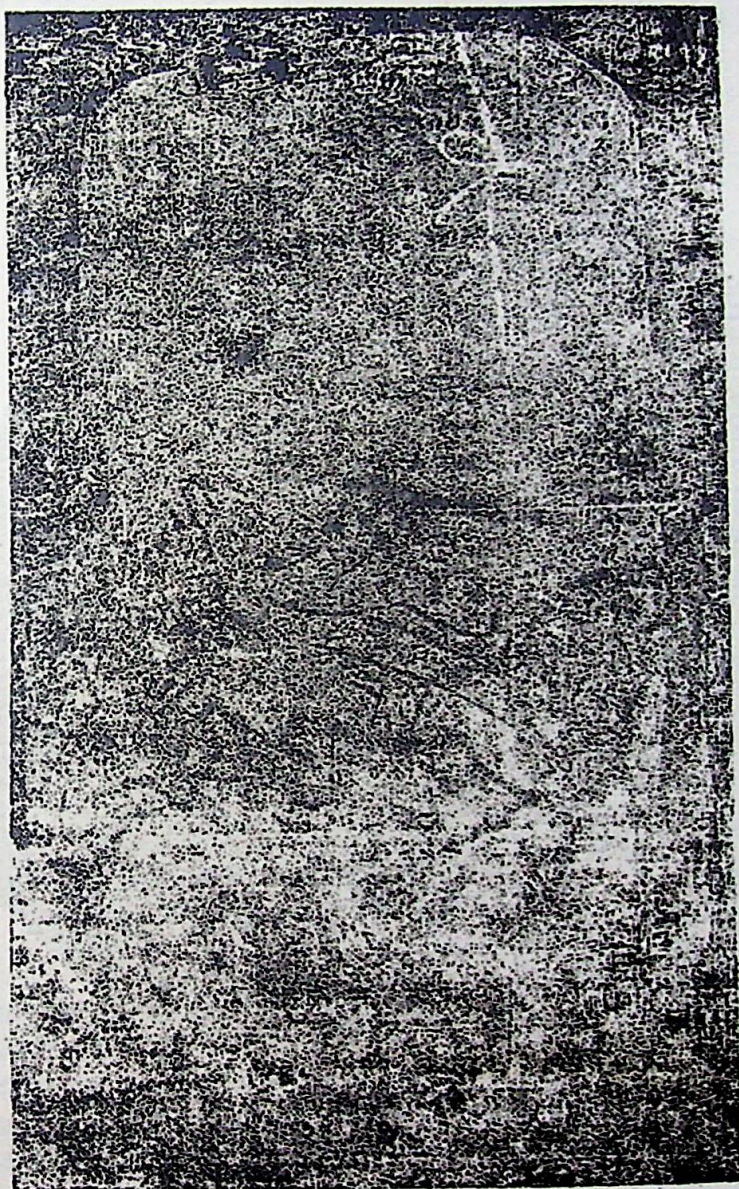
चट्टानी शिलालेख का चित्र तथा शिलापट्टीय (त्रिपुरांतकम् का)

चट्टानीय

'उन्नत शिखर पुराण' दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय की कृति है। 1170 ई. की यह कृति उदयपुर क्षेत्र के भीलवाड़ा जिले में बिजौलियाँ गाँव की चट्टान पर खुदी हुई है।
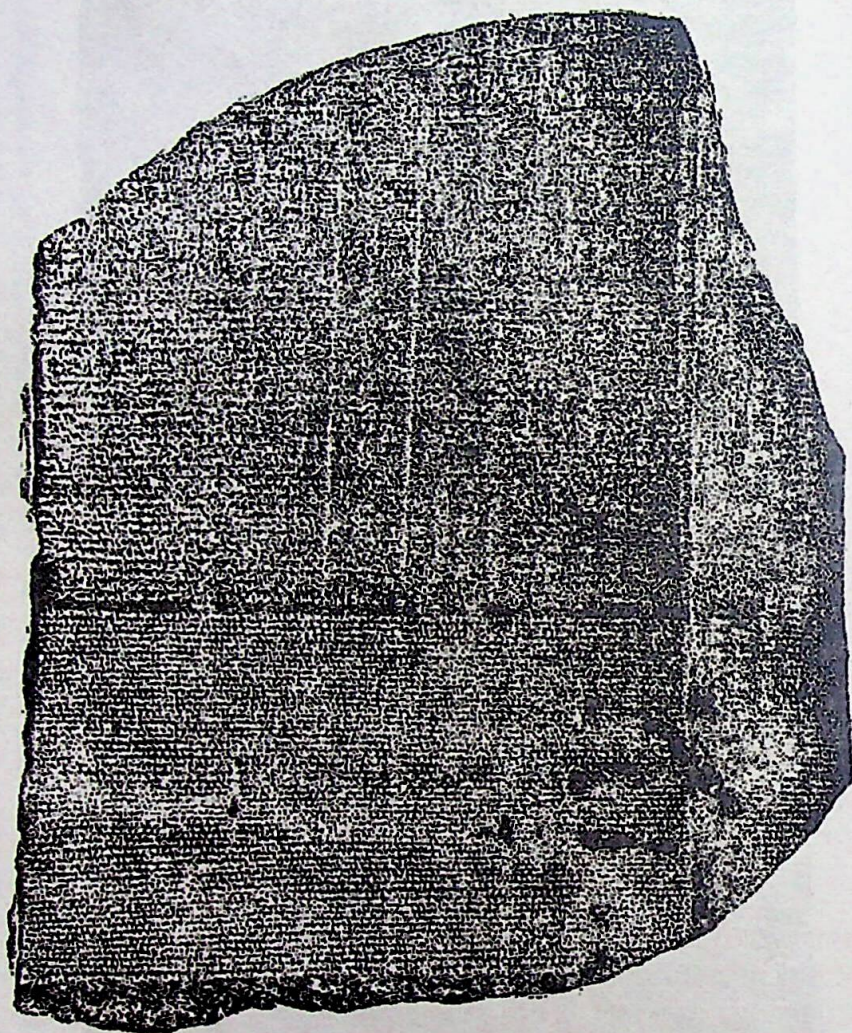
रौसेटा का शिलालेख

शिलापट्टीय

सामान्य शिलालेख एक शिला-पट्ट पर लिखे जाते थे और उचित स्थान पर जड़ दिए जाते थे। पर बड़ी-बड़ी प्रशस्तियाँ और ग्रन्थ भी शिलापट्टों पर लिखे और जड़े मिलते हैं। राणा कुम्भा का लेख पाँच शिला-पट्टों पर लिखा (खोदा) हुआ कुम्भलगढ़ के कुंभि स्वामिन् या मामदेव के मन्दिर में जड़ा मिला है। मेवाड़ में राजसमुद्र जलाशय के पुश्तों पर 24

पुष्पगिरि शिलालेख

शिलापट्टों पर जुड़ी हुई है 'राजप्रशस्ति', इसके 24 खण्ड हैं। इसके रचयिता हैं कवि रणछोड़। यह प्रशस्त राणा राजसिंह के सम्बन्ध में है। राजा भोज परमार का प्राकृत भाषा का काव्य 'कूर्मशतक', मदन की संस्कृत कृति 'पारिजातमंजरी' (या विजयश्री नाटक), चाह्माण राजा विग्रहराज चतुर्थ (1153-64 ई.) का 'हर केलि नाटक' तथा उनके राजकवि सोमेश्वर कृत 'ललित-विग्रहराज नाटक' शिला-पट्टी पर खुदवाकर दीवारों में जड़वाये गए थे। इनके अंश अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

स्तम्भीय

स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण करने की पुरानी परम्परा है। सम्भवतः प्राचीनतम स्तम्भ लेख अशोक (272-232 ई.पू.) कालीन है। इन पर खुदे लेखों में इन्हें शिला-स्तम्भ कहा गया है। ये स्तम्भ निम्न प्रकार के मिलते हैं—
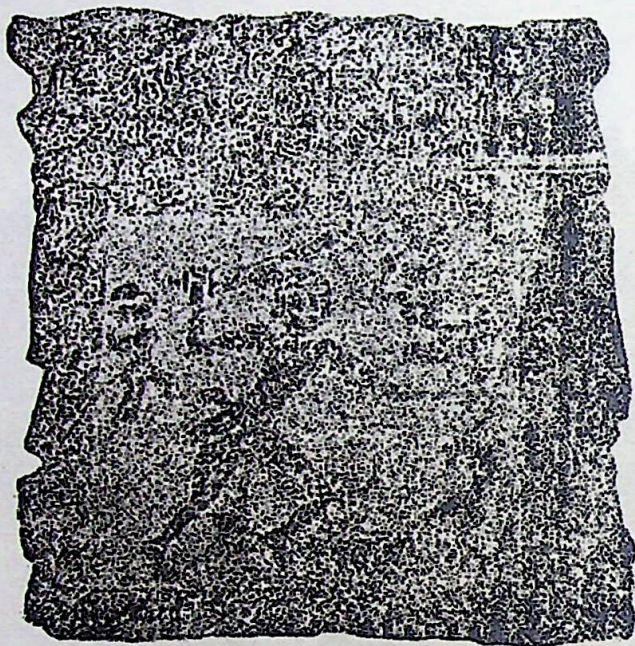
कालकुड का वीरस्तम्भ (पालिया)

स्तम्भ

1. शिलास्तम्भ	2. ध्वजस्तम्भ	3. जयस्तम्भ	4. कीर्तिस्तम्भ
	(जैसे—होलियो-डोरस का गरुड़ध्वज) मन्दिर के सामने खड़े किये जाते हैं और इन पर लेख भी रहता है।	किसी विजय पर किसी विजेता राजा की प्रशस्ति के लिए (जैसे समुद्रगुप्त का एरण का और यशोधर्मन का मन्दसौर का)	किसी यशस्वी के पुण्य कार्य के लिए खड़ा किया जाता है।

(क्रमशः)

स्तम्भ

5. वीर स्तम्भ

(गुजराती में जिन्हें 'पालियाँ' कहते हैं) गाँव या नगर के किसी वीर की युद्ध में मृत्यु होने पर। इन पर लेख भी रहते हैं।

6. सती स्तम्भ

ये सती होने वाली नारी का स्मारक होता है। इन पर भी लेख मिलते हैं।

7. धर्म स्तम्भ

(वोटिव पिलर्स) ये धर्म-स्थलों पर, विशेषत: बौद्ध धर्म के स्थलों पर स-लेख मिलते हैं।
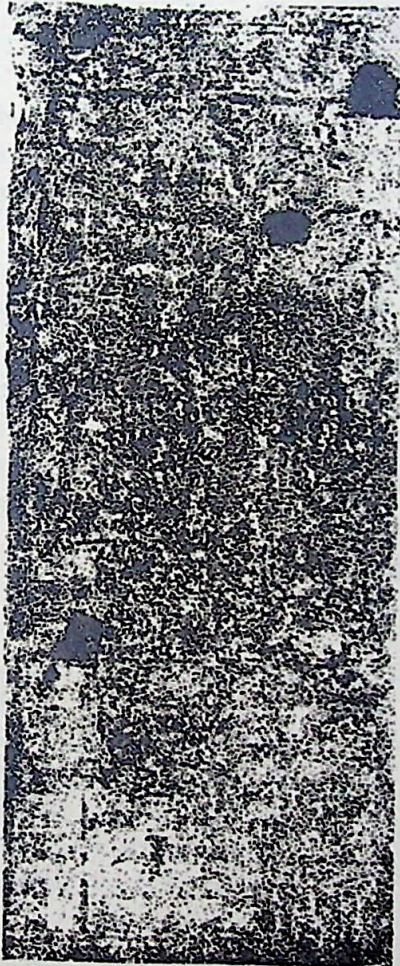
देवगिरि का सतीस्तम्भ (पालिया)
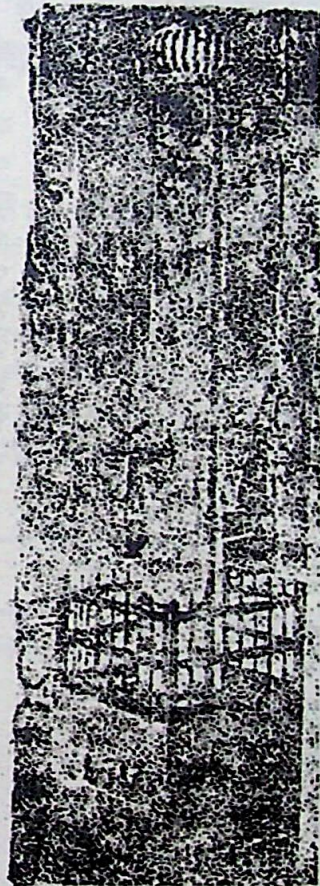
महाकुट का धर्मस्तम्भ

स्तम्भ

8. स्मृति स्तम्भ

ये गोत्र या गोत्र शालिका भी कहे जाते हैं। अपने कुटुम्ब के किसी व्यक्ति की स्मृति में खड़े किए जाते हैं।

9. छाया-स्तम्भ

इन स्मृति स्तम्भों पर स्मृत व्यक्ति की मूर्ति उकेरी रहती है।

10. यूप स्तम्भ

(यज्ञोपरान्त बलि को बाँधने के लिए बनाये गए स्तम्भ) इन पर भी लेख मिले हैं।

9. मृण्मय—मृण्मय लेख कई रूपों में मिलते हैं, तथा—

1. ईंट पकायी हुई एवं कच्ची ईंट की सामग्री, दोनों प्रकार की प्रभूत मात्रा में मिली हैं—पकायी हुई ईंटों पर भी और बिना पकायी (कच्ची) ईंटों पर भी।

   ग्रन्थ

   ईंटों पर ग्रन्थ भी लिखे गए। गिलगेमश की गाथा ईंटों पर लिखी मिली, इसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। भारत में कुछ बौद्ध-ग्रन्थ ईंटों पर उभारे गए मिले हैं। कुछ राजाओं ने अश्वमेध युद्ध किए, जैसे—दाममित्र एवं शीलवर्मन ने। इनके अश्वमेध सम्बन्धी अभिलेख ईंटों पर लिखे मिले हैं।

   अभिलेख

   ईंटों पर अभिलेख तो अनगिनती मिले हैं।

2. धोंधे

   कभी-कभी मिट्टी की ईंटें न बनाकर उसके धोंधे (मिट्टी को सानकर एक ढेर का आकार देकर ढीम के रूप में) उस पर लेख अंकित कर उसे पका लिया जाता था। धार्मिक मनोतियों के लिए विशेषत: ऐसे धोंधों पर लेख लिखे गये।

3. मुहर-मुद्रा

   ये मृणमुद्राएँ भी बहुत संख्या में मिली हैं। मोहनजोदड़ो एवं नालंदा से मिली मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं।

4. घट

   घड़ों या उनके ढक्कनों पर भी लेख उत्कीर्ण हुए मिले हैं।
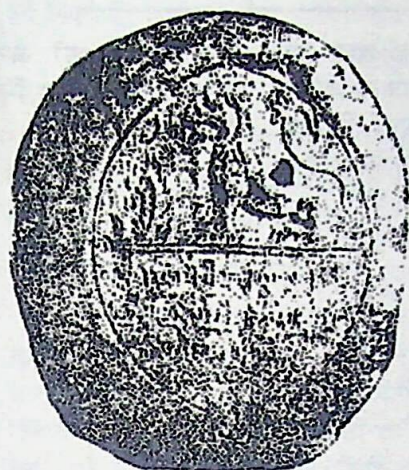
मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर

नालन्दा की मृण्यम मुहर

10. सीप, शंख, दाँत, काष्ठ आदि—शंखों पर, हाथीदाँत की बनी मुद्राओं पर, लकड़ी की लाटों या स्तम्भों पर भी अंकित लेख मिले हैं।

धातु-वस्तु—धातुओं में ताँबा सबसे अधिक प्रिय रहा है। इसके बने पत्रों पर उत्कीर्ण लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं और प्राचीन समय से मिलते हैं। कोई शासन ताम्रपत्र के एक ओर, कोई दोनों ओर लिखा होता था। कोई शासन कई ताम्रपत्रों पर लिखा जाता था। इन पत्रों को ताँबे के कड़े में पिरोकर एक घट या किसी पात्र में बन्द करके सुरक्षित रखा जाता था। ताम्रपत्रों पर कई प्रकार के लेख मिलते हैं—
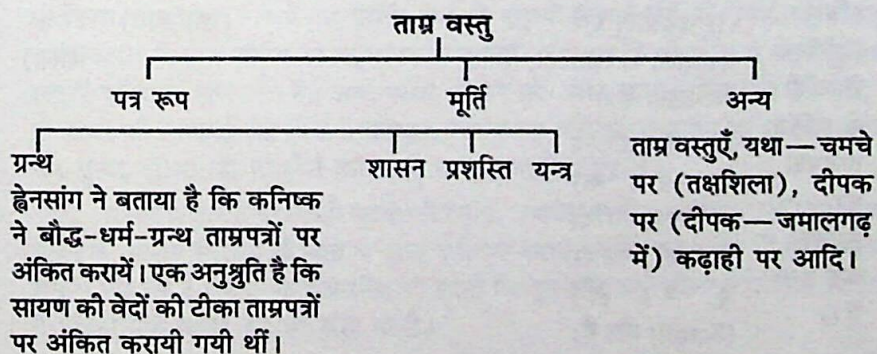
तेलुगु में रचित 'ताल्लपा कमवरी' कई ताम्रपत्रों पर खचित तिरुपति में सुरक्षित हैं।

स्वर्ण
(क) सोने के पत्तर पर
(ख) स्वर्णमंडित ताड़-पत्र (स्वर्णमंडित ताड़पत्र पर अंकित कुछ पाण्डुलिपियाँ ब्रिटिश म्यूजियम में बतायी जाती हैं।)
(ग) स्वर्ण की अन्य वस्तुएँ जिन पर लेख मिले हैं।
1. ग्रन्थ एक ग्रन्थ 24 स्वर्ण-पत्रों का ढाका के धामदह ताल से मिला था।
2. बौद्ध धारिणी (ये पत्तर भारत से बाहर मिले)
3. मंत्र
4. पत्र
राज-पत्र
व्यापारिक पत्र
1. प्याले-कटोरे
2. सुराही
3. लटकन
4. देवता की पालकी
रजत
1. ग्रन्थ
(ब्रिटिश म्यूजियम में चाँदी से मंडित ताड़पत्रों पर खचित कई ग्रन्थ हैं।)
2. अभिलेख
(i) भट्टिप्रोलु एवं तक्षशिला के रजत अभिलेख हैं।
(ii) एक तक्षशिला का 79 ई. का अभिलेख चाँदी के पतले पत्तर पर कुण्डली (Scroll) रूप हैं:
$6\frac{1''}{4} \times 1\frac{3''}{8}$
3. प्याले-कटोरे (तक्षशिला)
4. तश्तरियाँ (तक्षशिला)
5. एक गोल रकाबी (तक्षशिला)
6. एक चलनी (तक्ष-शिला)

इसी तरह कांस्य पीठिका (मूर्तिकी), कांस्य पिटक, कांस्य फलक, कांस्य मुद्राएँ भी मिली हैं, जिन पर लेख अंकित हैं।

लौह तुपक, लौह स्तम्भ (दिल्ली), लौह त्रिशूल (अचलेश्वर मन्दिर, आबू) पर भी लेख मिले हैं।

पीतल के बहुत-से घण्टों पर, जो मन्दिरों में टंगें हैं, लेख हैं।

संक्षेप में, लिप्यासन के आधार से उपर्युक्त भेदों का सर्वेक्षण किया गया है। इनके विस्तृत विवरण यहाँ दिये जाते हैं।

पाण्डुलिपियों के प्रकार

लिप्यासन भेद से—लिप्यासन कितने ही प्रकार के मिलते हैं। वृक्षों की छाल, वृक्षों के पत्ते, धातुओं के पत्तर, चमड़े, कागज, कपड़ा आदि पर ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिन वस्तुओं को ग्रन्थ-लेखन के लिए उपयोग में लाया जाता था, या लाया जा सकता है उन्हें 'लिप्यासन' (लिपि + आसन) कहा जा सकता है। ताड़पत्र, कपड़ा, कागज आदि सभी लिप्यासन है—लिपि के आसन। लिपि-आसन के भेद से पुस्तक के प्रकार स्थापित किये जा सकते हैं। क्योंकि ग्रन्थ का प्रथम भेद लिप्यासन के आधार पर ही किया जा सकता है, जैसे ताड़पत्रीय ग्रन्थ, भोजपत्रीय ग्रन्थ आदि। ये ग्रन्थ प्रस्तर-शिलाओं पर भी लिखे जाते थे। ये वस्तुतः ग्रन्थ ही थे, अभिलेख-मात्र नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि शिलाओं पर अभिलेख तो बहुत-से मिले हैं। पर चाहे बहुत ही कम संख्या में हों, ग्रन्थ भी शिलाओं पर खुदे मिले हैं।

पाषाणीय : प्रस्तर शिलाओं पर ग्रन्थ

हम समझते हैं कि पत्थर को लेखन-आधार के रूप में इतिहास के प्रस्तर-काल से ही प्रयोग में लाया जाता रहा है। मनुष्य ने जब सर्वप्रथम अपने भावों को इंगित के अतिरिक्त अन्य प्रकार से व्यक्त करने का उपाय निकाला होगा, पत्थर से पत्थर पर चिह्न बना कर ही किया होगा। मूल रूप में यह प्रवृत्ति अब भी मनुष्यों में पाई जाती है। बिना पढ़े मजदूर आदि अपना हिसाब जमीन पर या पत्थर के टुकड़ों पर पत्थर के ही ढोके से आड़ी-सीधी लकीरें खींचकर लगा लेते हैं। अतः पत्थर-लेखन का आद्य आधार हो सकता है। बाद में तो पत्थर की शिलाओं को चिकनी बनाकर, स्तम्भाकार बनाकर, तथा उन पर हाशिया उभार कर सुन्दर अक्षरों को उत्कीर्ण करने की कला विकसित हुई है।

प्रस्तर शिलाओं पर किसी घटना की स्मृति, राजाज्ञा, प्रशस्ति आदि तो उन्हें चिरस्थायी बनाने के आशय से खोदे ही जाते थे परन्तु कतिपय काव्य एवं अन्य रचनाएँ भी शिलोत्कीर्ण रूप में पाई गई हैं। कोई-कोई प्रशस्ति भी इतनी विस्तृत और बड़ी होती है कि उसे विद्वानों ने ऐतिहासिक काव्य की ही संज्ञा दी है।

हनुमन्नाटक, (जिसको महानाटक भी कहते हैं) के टीकाकार बलभद्र ने लिखा है कि इसकी रचना वायुपुत्र हनुमान ने की और महर्षि वाल्मीकि को दिखाई। वाल्मीकि ने कहा कि उन्होंने तो इस कथा को रामावतार से पूर्व ही कविताबद्ध कर दिया था। तब हनुमान

ने जिन शिलाओं पर अपनी रचना अंकित की थी उनको समुद्र-तल में रख दिया। बाद में धारा के राजा भोज को जब इसका पता चला तो उसने कुछ गोताखोरों को उन शिलाओं को निकालने के लिए नियुक्ति किया परन्तु वे इतनी भारी थीं कि उनको ऊपर लाना शक्य नहीं हुआ। तब यह उपाय काम में लाया गया कि गोताखोरों के सीने पर मधुमक्खियों का मल (अर्थात् शहद् निकालने के बाद बचा हुआ मोम) लेप दिया गया। वे सागरतल में जाकर निर्देशानुसार उन शिलाओं का आलिंगन करते। इस प्रकार शिलाओं पर लिखित अंश की छाप उन पर उभर आती। बुद्धिमान राजा भोज द्वारा इस क्रम से उद्धार किये जाने पर काशीनाथ मिश्र ने इस नाटक को ग्रन्थित किया। उसी के पुत्र बलभद्र ने इसकी टीका बनायी।

रचितमनुलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्यौ
निहितममृत बुद्धया प्राङ् महानाटक यत।
सुमति नृपति भोजेनोद्धृतं तत्क्रेमण
ग्रथितभवतु विश्वं मिश्रकाशीश्वरेण॥

इससे पता चलता है कि रचनाओं को प्रस्तर-शिलाओं पर अंकित कराने की प्रथा बहुत पुरानी है। भोजराज से पूर्व महानाटक की रचना हो चुकी थी अत: इसका शिलांकन ईसा की दसवीं शताब्दी में हुआ होगा। सम्भव है, इससे भी पूर्व हुआ हो। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन शिलाओं को प्रत्यक्ष तो नहीं देखा जा सका परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि किसी बड़ी रचना के शिलोत्कीर्ण होने की यही सबसे पुरानी सूचना है।

राजस्थान में मेवाड़ प्रदेश के बिजोलियाँ ग्राम के पास एक जैन मन्दिर है, उसके निकट ही एक चट्टान पर 'उन्नत-शिखर पुराण' खुदा हुआ है। यह पोखाड़ सेठ लोलार्क द्वारा संवत् 1226 में खुदवाया गया था। इस चट्टान के पास ही एक दूसरी चट्टान पर उक्त मन्दिर से ही सम्बद्ध एक और लेख खुदा हुआ है जिसमें चाहमान से लेकर पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर तक पूरी वंशावली उत्कीर्ण है और साथ ही लोलार्क सेठ के वंश का वर्णन भी दिया हुआ है।

इसी प्रकार अजमेर के प्रसिद्ध अढ़ाई दिन के झौंपड़े से कुछ शिलाएँ प्राप्त की गई थीं जो अब अजमेर के संग्रहालय में रखी हुई हैं। यह 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' नामक इमारत पहले बीसलदेव चौहान (विग्रहराज) द्वारा संस्थापित पाठशाला थी। इसमें उसी राजा के द्वारा रचित 'हरकेलि' नामक नाटक शिलोत्कीर्ण करके सुरक्षित किया गया था जिसकी दो शिलाएँ उक्त म्यूजियम में विद्यमान हैं। सोमेश्वर कवि रचित 'ललित विग्रहराज नाटक' की दो शिलाएँ तथा चौहानों से सम्बन्धित एक और काव्य की एक शिला भी उसी संग्रहालय में मौजूद हैं।

राजस्थान में ही मेवाड़ के महाराणा कुम्भकर्ण की रचनाएँ भी शिलाओं पर खुदवाई गयी थीं जिनका नमूना उदयपुर के म्यूजियम में देखा जा सकता है। बाद में महाराणा राजसिंह (प्रथम) ने भी रणछोड़ भट्ट रचित 'राज-प्रशस्ति' नामक काव्य 24 शिलाओं पर खुदवाकर राजसमंद सरोवर पर लगा कर चिरस्थायी बनाया।

धाराधीश्वर सुप्रसिद्ध विद्वान् राजा भोज ने भी अपने नगर में 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक पाठशाला स्थापित की थी। यह स्थान आजकल 'कमलमौला' नाम से जाना जाता है। उक्त पाठशाला में राजा भोज ने स्वरचित 'कूर्मशतक (प्राकृत) काव्य' और राजकवि मदन विरचित 'पारिजातमंजरी' नामक नाटिका को शिलांकित करवाया था।

ग्वालियर के पद्‌मनाथ देवालय (सास बहू का मन्दिर) में कछवाहा वंश का एक प्रशस्तिशतक शिलोत्खचित है जो एक उत्तम काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस शतक में कच्छपघातवंशतिलक लक्ष्मण तत्पुत्र गोपगिरि (ग्वालियर) दुर्गाधीश्वर वज्रदामा से लेकर पद्‌मपाल नामक राजा तक का वर्णन है। इस राजा ने इस मन्दिर का निर्माण कराकर ब्राह्मणों को पुष्कल दान दिया था। शतक का कवि मणिकण्ठ था जो भारद्वाज गोत्रीय रामकवीन्द्र का पौत्र और गोविन्द कवि का पुत्र था। संवत् 1150 वि. में मणिकंठ सूरि की इस रचना के वर्णों को यशोदेव दिगम्बरार्क ने लिखा। इसकी रचना के संवत् 1149 का निम्न श्लोक में उल्लेख किया गया है—

एकादशस्वतीतेषु संवत्सर शतेषु च।
एकोनपंचाशति च गतेष्वदेषु विक्रमात् ॥107 ॥[1]

धातु-पत्रों पर ग्रन्थ

'वासुदेव हिंडि' में प्रथम खण्ड में ताम्रपत्रों पर पुस्तक लिखवाये जाने का उल्लेख मिलता है—

"इयरेण तंबपत्तेसु तणुभेसु रायल क्खवणं रएऊणं निहालारसेणं तिम्मेऊण तंबभायणे पोत्थाओ पाक्खितो, निक्खितो, नयरबाहिं दुव्वावेढमज्झे।"[2]

पत्र 189

अन्य धातुओं, जैसे रौप्य, सुवर्ण, कांस्य आदि के पत्रों पर लिखी गयी पुस्तकों का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, विविध यन्त्र-मन्त्र, विविध उद्देश्यों की पूर्ति निमित्त ऐसे धातु-पत्रों पर अवश्य लिखे जाते थे। पंच धातु के मिश्रण से बने पत्रों पर भो ये लिखे जाते थे, इसी प्रकार 'अष्टधातु' के मिश्रण से बने पत्रों पर भी यन्त्र-मन्त्र लिखे जाते थे, पर इन्हें 'पुस्तक' या ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।[3]

---

1. अन्य सूचना :
   किं चित्रं यन्महीपालो भुनक्तिस्माखिलां महीम्।
   यस्यं गीर्वाणमन्त्रीव मंत्री गौरोऽभवत् सुधीः॥ 110 ॥
   प्रशस्ति रियमुत्कीर्णा पद्वर्णःपद्मशिल्पिना
   देवस्वामिसुतेन श्रीपद्मनाथ सुरालये॥ 111॥
   तथैव सिंहवाजेन माहुलेन चशिल्पिना।
   प्राप्नुवन्तु समुत्कीर्णान्यक्षराणियपार्थताम्॥ 112 ॥
2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 27।
3. वही, पृ. 27।

मृण्मय

ईंट और मिट्टी (Clay) के पात्रों पर लेख

ईंटों और मिट्टी के बरतनों पर भी लेख लिखवाये जाते थे। इसके प्रमाण ईसा से पूर्व के मिलते हैं। मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के उत्खननों में भी ऐसी ईंटें और मृण्मय-पात्र पाये गए हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं। मिट्टी के ढेलों (या धोंधों) पर मुहर लगी हुई हैं। मिट्टी पर मुहर अंकित करने का रिवाज तो अभी 20-25 वर्ष पहले तक (सन् 1950 तक) राजस्थान के गाँवों में चालू था। जिन गाँवों में राजस्व, उत्पन्न हुए अन्न का बाँटा या हिस्सा लेकर वसूल किया जाता था वहाँ पर किसान के खेत में पैदा हुए अनाज की राशि के किनारों पर और बीच में भी मिट्टी को गीली करके उसके ढेले या धोंधे बनाकर रख दिए जाते थे और उन पर लकड़ी में खुदी हुई मुद्रा का ठप्पा लगा दिया जाता था। इसे 'चाँक' कहते थे। लकड़ी के ठप्पे में प्राय: 'श्रीरामजी', ये चार अक्षर चार खानों में उलटे खुदे होते थे जो मिट्टी के धोंधे की परत पर सुलटे रूप में उभर कर आते थे। इस चाँक को लगाने वालों के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं तोड़ता था। इसे 'कच्ची चाँक' कहते थे। यह प्राय: आज लगाकर कल तोड़ ली जाती थी क्योंकि अनाज घड़ों में भर-भर कर बाँटा जाता था और पूरे गाँव का बाँटा एकत्रित होने पर तौल लिया जाता था। यदि एक-दो दिन बाद में तौलने का कार्यक्रम होता तो पक्की चाँक लगाई जाती थी। पक्की चाँक लगाने के लिए गीली मिट्टी में गोबर मिला दिया जाता था और उस गीले मिश्रण को अन्य की राशि के घेरे पर छिड़क कर उस पर चाँक का ठप्पा लगाया जाता था।
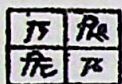
सम्भवत: मिट्टी पर लेख अंकित करने का यह प्रारम्भिक तरीका था। बाद में कच्ची ईंटों पर लेख कोर कर उन्हें पकाया जाने लगा। लम्बा लेख कई ईंटों पर अंकित करके पकाया जाता और फिर उनको क्रमात् दीवार पर लगा दिया जाता था। यह प्रथा बौद्धकाल में बहुत प्रचलित रही है। उनके धार्मिक सूत्र आदि ईंटों पर खुदे हुए मिले हैं। मथुरा के संग्रहालय में ऐसे नमूने देखे जा सकते हैं।[1]

कुछ राजाओं ने अश्वमेघ यज्ञ किए। इनके विवरण ईंटों पर अंकित[2] कराये गए। देवी मित्र, दाममित्र एवं शीलवर्मन् के अश्वमेघ यज्ञों के उल्लेख के ईंटों के अभिलेख मिले हैं। ये अभिलेख ईंटों पर अंकित कराने के बाद अश्वमेघ के चत्वरों में लगा दिए जाते थे। मृण्मय मुद्राएँ (Seal) बहुत मिली हैं। नालंदा में मृण्मय घट (घड़े) विशेषत: मिले हैं। इन पर लेख अंकित हैं। इनका सम्बन्ध भी किसी धार्मिक कृत्य से रहा है।

---

1. (अ) भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 151।
2. बौद्ध धर्म के ईंटों पर लिखे गए ग्रन्थों के विवरण के लिए देखें—कनिंघम, ASR, Wol. I, p. 47, Vol. II, पृ. 124 आदि।

लिपि विकास का अध्ययन करते हुए यह विदित होता है कि मेसोपोटामिया में उरुक या वर्का में 'उरुक युग' में ईंटों पर पुस्तकें लिखी मिली हैं। एक हजार ईंटें, क्यूनीफार्म या सूच्याकार लिपि में लिखी मिली हैं।[1]

पेपीरस

ईसा से कोई पाँच शताब्दी पूर्व ग्रीक (यूनानी) लोगों ने मिस्र से पेपायरस[2] नामक सरकंडे की छाल अपने यहाँ मँगाना शुरू किया था और उसी को लिखने के आसन के काम में लेते थे। फिर धीरे-धीरे योरोप में इसका व्यवसाय फैलने लगा और अरबों के शासनकाल में तो इटली आदि देशों में पेपायरस की खेती भी होने लगी और उनसे छाल निकाल कर लिखने की सामग्री बनायी जाने लगी। 704 ई. में अरबों ने समरकंद को जीत लिया और वहाँ पर ही सर्वप्रथम उन्होंने रुई और चिथड़ों से कागज तैयार करने की कला सीखी। इसके बाद दमिश्क (Damuscus) में भी कागज बनने लगा। ईसा की नवीं शताब्दी में सबसे पहले कागज पर अरबी में ग्रन्थ लिखे गए और अरबों द्वारा बारहवीं शताब्दी के आसपास योरोप में कागज का प्रवेश हुआ और पेपायरस का प्रचलन बन्द हो गया।

चमड़े पर लेख

देवी पुराण में पुस्तक दान का उल्लेख है। उसमें ताड़पत्र पर पुस्तक लिखवाकर उसे चर्म से सम्पुटित करने का विद्यमान है—

श्री ताड़पत्र के सञ्चे समे पत्रसुसञ्चिते।
विचित्र काञ्चिकापार्श्वे चर्मणा सम्पुटीकृते॥

इससे ज्ञात होता है कि भारत में पुस्तक-लेखन के क्रम में चर्म का भी उपयोग होता था परन्तु बहुत कम क्योंकि यहाँ ताड़पत्र और भूर्जपत्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते थे।

---

1. डिरिंजर महोदय के ये शब्द इस सम्वन्ध में ध्यातव्य हैं—

"The earliest extant written cuniform documents, consisting of over one thousand tablets and fragments, discovered mainly at Uruk or Warka, the Biblical Ereeh, and belonging to the 'Uruk period' of the Mesopotamian predynastic period, are couched in a crude pictographic script and probably Sumerian language." —**(Diringer, D.—The Alphabet, p. 41)**

2. 'पेपायरस' एक बरु या सरकण्डे की जाति का पौधा होता है जो दलदली प्रदेश में बहुतायत से पैदा होता है। मिस्र में नील नदी के किनारे व मुहाने पर इसकी खेती बहुत प्राचीन काल से होती थी। यह पौधा प्राय: 5-6 फीट ऊँचा होता है और इसके डण्ठल साढ़े चार से नौ-साढ़े नौ इंच लम्बे होते हैं। इसकी छाल से पतली चित्तियाँ निकाल कर लेई आदि से चिपका लेते थे उसी से लिखने के लिए पत्र बनाते थे। पहले इन पत्रों को दवाकर रखा जाता था फिर अच्छी तरह सुखाया जाता था। सूख जाने पर हाथी-दाँत या शंख से घोंटकर उन्हें चिकना बनाया जाता था, फिर विविध आकारों में काट कर लिखने के काम में लिया जाता था। इस तरह तैयार किये हुए लेखाधार लिप्यासन को योरोप वाले 'पेपायरस' कहते थे और इसी से पेपर शब्द बना है। पेपायरस के लम्बे-लम्बे लिखे हुए खरड़े मिस्र की कब्रों में बड़े-बड़े सन्दूकों में रखी लाशों के हाथों में या उनकी शरीरों से लिपटे हुए मिलते हैं। जो लगभग ईसा से 2000 वर्ष तक पुराने हैं। इनके नष्ट न होने का कारण मिस्र की गरम और सूखी जलवायु है।

—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 16

वैसे ब्राह्मणों और जैनों में चर्म का स्पर्श वर्जित भी माना गया है। बौद्ध ग्रन्थों में अवश्य ही चमड़े को भी लेखन-सामग्री में गिनाया गया है। जिस प्रकार कवि सम्राट कालिदास ने हिमालय के वर्णन में (क्र.सं.) किन्नर सुन्दरियों द्वारा भूर्जत्वच पर धातुरस गेरु से लिखे गए प्रेमपत्रों की उपमा बिन्दु-मण्डित हाथी की सूंड से दी है उसी प्रकार सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' नाम की आख्यायिका में भी रात्रि में काले आकाश में छिटके हुए चाँद-तारों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आकाश अँधेरे रूपी काले रंग (मषी) से रंगे हुए चर्मपत्र के समान है जिस पर विधाता विश्व का हिसाब लगा रहा और संसार की शून्यता के कारण चाँदरूपी खड़िया के टुकड़े से उस पर तारारूपी शून्य बिन्दुएँ अंकित कर रहा है।[1]

''विश्वं गणयतो विधातुः शशिकाठिनीखण्डेन तमोमषीश्योमेऽजिन इव वियति संसारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव।''

डॉक्टर बूल्हर को भी जैसलमेर के वृहद् ज्ञान-भण्डार में हस्तलिखित ग्रन्थों के साथ कुछ चर्मपत्र मिले थे जो पुस्तकें लिखने अथवा उनको आवेष्टित करने के लिए ही एकत्रित किये गए थे।[2]

परन्तु यह सब होते हुए भी भारत में लेखन के लिए चर्मपत्र का प्रयोग स्वल्प मात्रा में ही होता था। यूनान, अरब, योरोप और मध्य एशिया आदि स्थानों में लिखने के लिए चर्मपत्र का प्रयोग बहुधा पाया जाता है।[3] सोक्रेटीज (सुकरात) से जब पूछा गया—''आप पुस्तकें क्यों नहीं लिखते?'' तो उस प्रसिद्ध दार्शनिक ने उत्तर दिया—''मैं ज्ञान को मनुष्य के सजीव हृदय से भेड़ों की निर्जीव खाल पर नहीं ले जाना चाहता हूँ।'' इससे विदित होता है कि वहाँ भेड़ों का चमड़ा लिखने के काम में लाया जाता था।

आरम्भिक इस्लामी काल में चमड़े पर लिखने की प्रथा थी। कुरान की प्रतियाँ शुरू में अरबी में मृगचर्म पर ही लिखी जाती थी। ग्यारहवीं शताब्दी तक इसका खूब चलन रहा। पैगम्बर और खैबर के यहूदियों का सन्धिपत्र और किसरा के नाम पैगम्बर का पत्र भी चमड़े पर ही लिखे गए थे।

मिस्र में किर्तास (छर्त्त) में बाँस के डण्ठलों से कागज बनाया जाता था और इसी पर लिख कर खलीफा की आज्ञाएँ संसार-भर में भेजी जाती थीं। कुरान में भी करातीस कागज बनाने का उल्लेख मिलता है (सूर : 6, 96)। मिस्र में बने इस बाँस के कागज में बछड़े की चमड़ी की झिल्ली लगाई जाती थी, इस विधि से बने कागज पर लिखे हुए अक्षर सहज में मिटाये नहीं जा सकते थे।

ईरान में भी चमड़े पर ग्रन्थ लिखे जाते थे। इस चमड़े को अंग्रेजी में 'पार्चमैण्ट' कहते थे। पह्लवी भाषा में खाल का वाचक 'पुस्त' शब्द है। ईरानियों के सम्पर्क से ही यह शब्द धीरे-धीरे भारत में आ गया और यहाँ की भाषा में व्याप्त हो गया। परन्तु ईसा की

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 147।
2. वूल्हर्स इन्सक्रिप्शन रिपोर्ट, पृ. 95।
3. पार्चमेण्ट चमड़े से ही बना होता है।

पाँचवीं शताब्दी से पहले इसका प्रयोग इसका भारतीय भाषा में नहीं पाया जाता। पाणिनि, पतञ्जलि, कालिदास और अश्वघोष की कृतियों में 'पुस्तक' शब्द नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य में भी 'पुस्तक' का कहीं पता ही नहीं चलता। अमरकोष में भी यह शब्द नहीं आता। हाँ, बाद के कोषों में 'पुस्त' शब्द लेप्यादि शिल्प कर्म का वाचक बताया गया है। 'पुस्तं शोभांकर कर्म'—हलायुध कोष।

मृच्छकटिक में पुस्तक शब्द का प्राकृत रूप 'पोत्थम या पोथा' मिलता है। इसी से पोथी शब्द भी बना है। बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी, दोनों ही रचनाओं में पुस्तक शब्द का प्रयोग किया गया है। कादम्बरी में चण्डिका देवी के मन्दिर के तमिल देशवासी पुजारी के वर्णन में लिखा है—"घूमरक्तालक्तकाक्षरतालपत्रकुहकतन्त्रमन्त्रपुस्तिकासंग्राहिणा" अर्थात् उस पुजारी के पास कज्जल और लाल अलक्तक में बनी स्याही से तालपत्र पर लिखी तन्त्र-मन्त्र की पुस्तकों का संग्रह था। इससे विदित होता है कि उस समय तक तालपत्रों पर रंग-बिरंगी स्याहियों से लिखने की प्रथा भी चल चुकी थी। इसी पुजारी के वर्णन में कपड़े पर लिखित-दुर्गा-स्रोत का भी उल्लेख है। हरे पत्तों के रस और कोयले से बनी स्याही को सीपी में रखने का भी रिवाज उस समय था (हरित-पत्र-रसांगारमषीमलिनशम्बूकवाहिना)।

ताड़पत्रीय ग्रन्थ

भारत में प्राचीन काल की अधिकतर हस्तलिपियाँ ताड़पत्रों पर ही मिलती हैं। ताड़ या ताल वृक्ष दो प्रकार के होते हैं, एक खरताड़ और दूसरा श्रीताड़। गुजरात, सिंध और राजस्थान में कहीं-कहीं खरताड़ के वृक्ष हैं। इनके पत्ते मोटें और कम लम्बे-चौड़े होते हैं। ये सूखकर तड़कने भी लग जाते हैं और कच्चे तोड़ लेने पर जल्दी ही सड़ या गल जाते हैं। इसलिए उनका उपयोग पोथी लिखने में नहीं किया जाता। श्रीताड़ के पेड़ दक्षिण में मद्रास और पूर्व में ब्रह्मा आदि देशों में उगते हैं। इन पेड़ों के पत्ते अधिक लम्बे, लचीले और कोमल हैं। ये पत्ते 37 इंच तक लम्बे होते हैं। कभी-कभी इससे भी अधिक परन्तु इनकी चौड़ाई 3 इंच या इसके लगभग ही होती है।

ताड़पत्रों को उबालकर उन्हें शंख या कौड़ी से रगड़ा या घोंटा जाता था जिससे वे चिकने हो जाते थे। फिर लोहे की कलम से उन पर कुरेदते हुए अक्षर लिखे जाते थे। तदन्तर उन पर स्याही लेप दी जाती थी जो कुरदे हुए अक्षरों में भर जाती थी। यह तरीका दक्षिणी भारत में अधिक प्रचलित था। उत्तर भारत में प्रायः ताड़पत्रों पर स्याही से लेखनी द्वारा लिखा जाता था। संस्कृत में 'लिख्' धातु का अर्थ कुरेदना होता है। स्पष्ट है कि ताड़पत्रों पर पहले कुरेदकर लिखा जाता था। अतः लिखने का अर्थ हुआ—कुरेदना। अतः इस क्रिया का नाम लेखन या लिखना हुआ है। 'लिप्' धातु का अर्थ है—लीपना। ताड़पत्र पर अक्षर कुरेद कर उन पर 'स्याही लेपन' के कारण लिपि शब्द का प्रयोग भी चालू हुआ।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, ताड़पत्रों की चौड़ाई प्रायः 3 इंच की होती है। ऐसा लगता है कि बाद में, जैसे बाँस के कागज बनाए जाते थे, वैसे ही तालपत्रों को भी भिगोकर या गलाकर उनकी लुगदी बना कर और बाद में कूट-पीटकर अधिक चौड़ाई के पत्रों का निर्माण किया जाने लगा। ऐसा पूर्वीय देशों में होता था। महाराजा जयपुर म्यूजियम में

महाभारत के कुछ पर्व ऐसे ही पत्रों पर बंग लिपि में लिखे हुए हैं जिनका लिपि संवत् लक्ष्मण सेन वर्ष में है। इसी प्रकार मोटाई अधिक करने के लिए तीन या चार पत्रों को एक साथ सीकर उन पर लिखा जाता था। ऐसा करने से पुस्तक में अधिक स्थिरता आ जाती थी। ऐसे ग्रन्थ बर्मा या ब्रह्मा देश में अधिक पाए जाते हैं।

ताड़पत्रों के लिए गर्म जलवायु हानिकारक है, इसीलिए अधिक मात्रा में लिखे जाने पर भी ताड़पत्रीय ग्रन्थ दक्षिण भारत में कम मिलते हैं। काश्मीर, नेपाल, गुजरात व राजस्थान आदि ठण्डे और सूखे प्रदेशों में अधिक संख्या में मिलते हैं। नेपाल की जलवायु को इन ग्रन्थों के लिए आदर्श बताया गया है।

कई बार ऐसा देखा गया है कि यदि किसी ताड़पत्रीय प्रति के बीच में से कोई पत्र जीर्ण हो गया या त्रुटित हो गया है तो उसी आकार-प्रकार के कागज पर उस पत्र पर लिखित अंश की प्रतिलिपि करके बीच में रख दी गई है। परन्तु कालान्तर में आस-पास के ताड़पत्र तो बचे रह गये और वह कागज जीर्णशीर्ण हो गया। कभी-कभी सुरक्षा की दृष्टि से ताड़पत्रों के बीच-बीच में हल्के पतले कपड़े की परतें रखी गईं—परन्तु उसको भी पाड़पत्र खा गया, यही नहीं ताड़पत्रीय प्रति पर बाँधा हुआ कपड़ा भी विवर्ण और जीर्ण हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कपड़े, कागज और ताड़पत्र का मेल नहीं बैठता। ताड़पत्र कागज और कपड़े पर विनाशकारी प्रभाव ही पड़ता है। इसीलिए प्राय: ताड़पत्रीय प्रतियाँ वाली में न बाँध कर मुक्त रूप में ही रखी जाती है।

ताड़पत्र पर लिखित जो प्राचीनतम प्रतियाँ मिली हैं वे पाशुपत मत के आचार्य रामेश्वरध्वज कृत 'कुसुमाञ्जलिटीका' और 'प्रबोधसिद्धि' है, इनका लिपिकाल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी बताया जाता है।[1] इसी प्रकार डॉ. लूडर्स ने अपने (Kieinene Sanksrit Texie Panti) में एक नाटक के त्रुटित अंश को छपवाया है जिसकी ताड़पत्र पर दूसरी शताब्दी में लिखी प्रति का उल्लेख है। यह ताड़पत्र पर स्याही से लिखी प्रति है। जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल की संख्या 66 के पृ. 218 पर प्लेट 7, संख्या 1 में a से i तक एक संस्कृत ग्रन्थ के टुकड़े छपे हैं जो श्री मकार्ट ने काशगर से भेजे थे। ये ईसा की चौथी शताब्दी में लिखे हुए माने गये हैं। जापान के होरियूजि मठ में दो बौद्ध ग्रन्थ रखे हुए हैं जो मध्य भारत से ले जाये गये हैं। यह 'प्रजापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णषविजयधारिणी' की पुस्तकें हैं, ये ईसा की छठी शताब्दी में लिखी गयी हैं। नेपाल के ताड़पत्रीय ग्रन्थ संग्रह में 'स्कन्दपुराण' (7वीं शताब्दी में लिखित) और 'लंकावतार' (906-7 ई. में लिखित) की प्रतियाँ सुरक्षित हैं। कैम्ब्रिज के ग्रन्थ-संग्रह में प्राप्त 'परमेश्वर तन्त्र' भी ताड़पत्र पर ही लिखित है और यह प्रति हर्ष संवत् 252 (859 ई.) की है। राजस्थान में जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार अपने प्राचीन ग्रन्थ-संग्रह के लिए सर्वविदित हैं। इनमें से जिनराजसूरीश्वर के शिष्य जिनभद्रसूरि द्वारा संस्थापित वृहद्भण्डार का 1874 ई. में डॉ. ब्हूलर ने अवलोकन करके 1160 वि. की लिखी हुई ताड़पत्रीय प्रति को उस संग्रह की प्राचीनतम प्रति बतलाया है। इसके पश्चात् 1904-5 ई. में हीरालाल हंसराज नामक जैन

---

1. अक्षर अमर रहें, पृ. 4।

पण्डित ने दो हजार दो सौ ग्रन्थों का सूची-पत्र तैयार किया। उसी वर्ष अंग्रेज सरकार की ओर से प्रोफेसर श्रीधर भाण्डारकर भी जैसलमेर गये। उन्होंने अपनी विवरणी में जैन पण्डित की सूची के ही आधार पर संवत् 924 की लिखी तालपत्र प्रति को प्राचीनतम बताया। परन्तु बाद में सी.डी. दलाल द्वारा अनुसन्धान करने पर संवत् 1130 में लिखित 'तिलकमञ्जरी' और 1139 में लिपिकृत 'कुवलयमाला' की ही प्रतियाँ प्राचीनतम प्रमाणित हुईं। इस संग्रह में अर्वाचीनतम ताड़पत्रीय प्रति 'सर्वसिद्धान्त विषमपदपर्याप्त' नामक प्रति संवत् 1439 वर्ष में लिखित है। परन्तु जैसलमेर के ही दूसरे तपागच्छ ग्रन्थ भण्डार में 'पञ्चमीकहा' ग्रन्थ की प्रति 1109 वि. की लिखी हुई है जो वृहद् भण्डार की प्रति से भी प्राचीन है। इसी प्रकार हरिभद्रसूरि कृत 'पंचाशकों' की संवत् 1115 में लिखित प्रति भी इस भण्डार में विद्यमान है। जैसलमेर में डूंगरजी-यति-संग्रह और थाहरूशाह भाण्डागार नामक दो संग्रह और हैं किन्तु इनमें उक्त भण्डारों की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रथ हैं।[1]

गुजरात के खम्भात के शांतिनाथ ज्ञान भण्डार में भी संवत् 1164 में लिखित 'जीवसमासवृत्ति' और 1181 संवत् में लिखित मुनिचन्द्रसूरि रचित 'धर्माबिन्दुटीका' की प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हैं।[2]

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना में 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' नामक जैन ग्रन्थ की 178 पत्रों की ताड़पत्रीय प्रति उपलब्ध है जो विक्रम संवत् 962 (905-6 ई.) में लिखी गई है। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है।

भूर्जपत्रीय (भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थ)

भूर्जपत्र से तात्पर्य है भूर्ज नामक वृक्ष की छाल। यह वृक्ष हिमालय प्रदेश में बहुतायत से होता है। इसकी भीतरी छाल कागज की तरह होती है, उसी को निकालकर बहुत प्राचीन समय से लिखने के काम में लिया जाता था। भले ही लेखन का प्रथम अभ्यास पत्थरों पर हुआ हो पर अवश्य ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लिखने की प्रथा का वह प्रचलन पहले पत्र या पत्तों पर ही लिखने से हुआ होगा, क्योंकि पत्ते से ही लिखा 'पत्र' शब्द की उत्पत्ति हुई और बाद में जिस किसी आधार पर लिखा गया वह भी पत्र ही कहलाया। लिखी हुई भूर्ज की छाल, छाल होते हुए भी पत्र ही कहलाती है और फिर इसका नाम ही भूर्जपत्र पड़ गया। इसमें भी सन्देह नहीं कि भूर्जपत्र पर लिखने की प्रथा बहुत पुरानी है। यह छाल कभी-कभी 60 फुट तक लम्बी निकल आती है। इसको लेखक आवश्यकतानुसार टुकड़ों में काटकर विविध आकार-प्रकार का कर लेते थे और फिर उस पर तरह-तरह की स्याही से लिखते थे। चिकना तो यह अपने आप ही होता है। मूल रूप में यह छाल एक ओर से अधिक चौड़ी और फिर क्रमशः सँकड़ी होती जाती है और हाथी की सूँड की तरह होती है। कवि कालिदास ने अपने 'कुमार सम्भव' काव्य के प्रथम सर्ग (श्लोक 7) में हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

1. जैसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रन्थानां सूचीपत्रस्य प्रस्तावना—लालचन्द्र भगवानदास गाँधी, 1923 ई.।
2. श्री खंभात, शान्तिनाथ : प्राचीन ताड़पत्रीय, जैन ज्ञान भण्डार नूं सूचीपत्र, सूचीकर्ता—श्री विजयकुमुद सूरि।

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भुर्जूत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा
मनगंलेख क्रियोपयोगम्॥ (1.7)

इस श्लोक में 'भूर्जत्वक्', 'धातुरस' और 'कुञ्जरबिन्दुशोणाः' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। हिमालय में उगने वाले वृक्ष की प्रधानता, उसकी त्वक् अर्थात् छाल का लेखक्रियोपयोग, धातुरस से शोण अर्थात् लाल स्याही का प्रयोग और उस मूल रूप में भूर्ज की छाल का लिखे जाने के बाद अक्षरों से युक्त होकर बिन्दुयुक्त हाथी की सूंड के समान दिखाई देना—इसके मुख्य सूचक भाव है।[1]

कालिदास का समय यद्यपि पण्डितों में विवादास्पद है परन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी से इधर वह नहीं आता, अतः यह तो मान ही लेना चाहिए कि लिखने की क्रिया का उस समय तक बहुत विकास हो चुका था और 'भूर्जत्वक्'. जो पत्र लेखन के काम आने के कारण भूर्जपत्र कहलाने लगा था, काफी प्रचलित हो चुका था। अलबेरुनी ने भी अपनी भारत यात्रा विवरण में 'तूज की छाल' पर लिखने की सूचना दी है।

भूर्जपत्र पर लिखी हुई पुस्तकें या ग्रन्थ अधिकतर उत्तरी भारत में ही पाये जाते हैं विशेषतः कश्मीर में। भारत के विभिन्न ग्रन्थ संग्रहालयों में तथा योरप के पुस्तकालयों में जो प्राचीन भूर्जपत्र पर लिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं वे प्रायः काश्मीर से ही प्राप्त किये गए हैं। खोतान में 'धम्मपद' (प्राकृत) का कुछ अंश भूर्जपत्र पर लिखा हुआ मिला है, यही भूर्ज-पत्र का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। इसका लिपिकाल ईसा की दूसरी शती आँका गया है। दूसरा ग्रन्थ 'संयुक्तागमसूत्र' बौद्ध-ग्रन्थ भी डॉ. स्टाइन को खोतान में खड्गलिक स्थान में मिला। यह ग्रन्थ ईसा की चौथी शताब्दी का लिखा हुआ है। मिस्टर बावर को मिली पुस्तकों का उल्लेख बावर पाण्डुलिपियाँ (Bower Manuscripts) नामक पुस्तक में है। वे पुस्तकें भी ईसा की छठी शताब्दी के लगभग की हैं और बख्शाली का अंकगणित 8वीं शताब्दी का है।[2] ये पुस्तकें स्तूपों और पत्थरों के बीच में रखी होने से इतने दिन टिक सकी है अन्यथा खुले में रहने वाली पुस्तक तो 15वीं या 16वीं शताब्दी से पहले भी मिलती ही नहीं है। ताड़पत्र पर तो अब भी कोई-कोई ग्रन्थ लिखा जाता है परन्तु भोजपत्र तो अब केवल यन्त्र-मन्त्र या ताबीज आदि लिखने की सामग्री होकर रह गया है। इस पर लिखे हुए जो कई ग्रन्थ मिलते भी हैं वे भी प्रायः धार्मिक स्तोत्रादि ही हैं। राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह में 'दुर्गासप्तशती' की एक प्रति सुरक्षित है। वह 16वीं शताब्दी की (राजा मानसिंह, आमेर के समय की) है। इसी प्रकार महाराजा जयपुर के संग्रहालय में भी एक-दो पुस्तकें हैं जो 16वीं शती से पुरानी नहीं हैं। ताड़पत्र और कागज की अपेक्षा भूर्जपत्र कम टिकाऊ होता है।

---

1. शाकुन्तल नाटक में भी शकुन्तला दुष्यन्त को प्रेमपत्र लिखते समय कहती है—"लिखने के साधन नहीं हैं तो सखियाँ सुझाव देती हैं कमलिनी के पत्ते पर नखों से गड़ाकर शब्द बना दो।" यह लेखन का नियमित साधन नहीं अपितु, तात्कालिक साधन है।
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 144।

सन् 1964 ई. में विश्व-प्राच्य-सम्मेलन के अवसर पर 'राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली' द्वारा आयोजित प्रदर्शनी में तक्षशिला से प्राप्त भूर्जपत्र पर ब्राह्मी-लिपि में लिखे कुछ पाण्डुलिपिय पत्र प्रदर्शित किये गए थे, जो 5वीं-6ठी शताब्दी के थे। इसी प्रदर्शन में 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' (National Archives of India) से प्राप्त 'भैषज्यगुरुवैदूर्यप्रभासूत्र' नामक बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ की प्रति भी भूर्जपत्र पर गुप्तकालीन लिपि में लिखित देखी गई जो 5वीं-6ठी शताब्दी की है।

सांचीपातीय

भूर्जपत्र की तरह आसाम में अगरुवृक्ष की छाल भी ग्रन्थ लिखने और चित्र बनाने के काम में आती थी। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, विशेषतः राजाओं और सरदारों के लिए लिखे जाने वाले ग्रन्थों के लिए इसका उपयोग मुख्यतः किया जाता था। इस छाल को तैयार करने का प्रकार श्रम-साध्य और जटिल-सा होता है। पहले, कोई 15-16 वर्ष पुराने अगरुवृक्ष को चुन लेते हैं। इसके तने की परिधि 30 से 35 इंच तक होती है। जमीन से कोई 4 फीट की ऊँचाई पर से छाल की पट्टियाँ उतार लेते हैं जो कभी-कभी 6 से 18 फीट लम्बी और 3 से 27 इंच तक चौड़ी होती हैं। इन पट्टियों का भीतरी अर्थात् सफेद भाग ऊपर रख कर तथा बाहरी अर्थात् हरे भाग को अन्दर की तरफ रखकर गुलिया लेते हैं। फिर इनको सात-आठ दिन तक धूप में सुखाते हैं। इसके पश्चात् इनको किसी लकड़ी के पट्टे अथवा अन्य दृढ़ आधार पर फैलाकर हाथ से रगड़ते हैं जिससे इनका खुरदरापन दूर हो जाता है। तदुपरान्त इनको रात भर ओस में रखते हैं और प्रातः छाल की ऊपरी सतह (निकारी) को बहुत सावधानी से उतार लेते हैं। इस शुद्ध छाल के 9 से 27 इंच लम्बे और 3 से 18 इंच चौड़े टुकड़े सुविधानुसार काट लिए जाते हैं। कोई एक घण्टे तक ठण्डे पानी में रखकर इन पर क्षार (Alkali) छिड़कते हैं, फिर चाकू से इनकी सतह को खुरचते हैं। इसके बाद इस नरम सतह पर पकी हुई ईंट घिसते हैं जिससे रहा-सहा खुरदरापन भी दूर हो जाता है। अब इन टुकड़ों पर माटीमह (माँटीमाता) से तैयार किया हुआ लेप लगाते हैं और फिर हरताल (पीले रंग) से रंग लेते हैं। धूप में सुखाने के बाद ये अगर की छाल के पत्र संगमरमर की तरह चिकने हो जाते हैं और लेखन तथा चित्रण के योग्य बन जाते हैं।

इन पत्रों की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई विभिन्न प्रकार की होती हैं। दो फीट लम्बे और लगभग 6 इंच चौड़े टुकड़े पवित्र धार्मिक ग्रन्थों की प्रतियाँ तैयार करने के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। ऐसी प्रतियाँ प्रायः राजाओं और सरदारों के लिए निर्मित होती थीं। लिखित पत्रों पर संख्यासूचक अंक दूसरी ओर 'श्रीः' अक्षर लिखकर अंकित किया जाता था। प्रत्येक पत्र के मध्य में बाँधने की डोरी पिराने के लिए एक छिद्र बनाया जाता था। लिखित पत्रों से अपेक्षाकृत मोटे पत्र सुरक्षा के लिए प्रति के ऊपर-नीचे लगाए जाते थे। कभी-कभी लकड़ी के पटरे भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इन मोटे पत्रों पर ग्रन्थ के स्वामी और उसके उत्तराधिकारियों के नाम लिखे जाते थे अथवा उनके जीवन में अथवा परिवार में हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी लेख कभी-कभी अंकित किया जाता था। इन अतिरिक्त पत्रों को 'बेटी पत्र' कहते हैं (आसाम में 'बेटी' शब्द दासीपुत्री के रूप में प्रयुक्त होता है।) बाँधने का छिद्र प्रायः दाएँ हाथ की ओर मध्य में बनाया जाता था और इसमें बहुत बढ़िया

मुगा अथवा एण्डी का धागा पिरोया जाता था जिसको 'नाड़ी' कहते थे। 18वीं शताब्दी में लिखे गए शाही ग्रन्थों में ऐसे छिद्रों के चारों ओर बेलबूँटे और फारसी ढंग की सजावट तथा कभी-कभी सोने का काम भी दिखाई देता है।

लिखने तथा चित्रित करने से पूर्व इन पत्रों को चिकना और मुलायम बनाने के लिए प्राय: 'माटीमाह' का ही लेप किया जाता है परन्तु कभी-कभी बतख के अण्डे भी काम में लाये जाते हैं। हरताल का प्रयोग पत्रों को पीला रंगने के लिए तो करते ही हैं, साथ ही यह कृमि नाशक भी है। जब प्रति तैयार हो जाती है तो वह गन्धक के धुएँ में रखी जाती है, इससे यह विनाशक कृमियों से मुक्त हो जाती है। आहोम के दरबार में हस्तप्रतियों, दस्तावेजों, मानचित्रों और निर्माण सम्बन्धी आलेखों की सुरक्षा के लिए एक विशेष अधिकारी रहता था जो 'गन्धइया बरुआ' कहलाता था।

इस प्रकार तैयार किये हुये पत्रों को आसाम में 'साँचीपात' कहते हैं। कोमलता और चिक्कणता के कारण ये पत्र दीर्घायुषी होते हैं और कितने ही स्थानों पर बहुत सुन्दर रूप में इनके नमूने अब तक सुरक्षित पाये जाते हैं। परन्तु, ये सब 15वीं-16वीं शताब्दी से पुराने नहीं है, हाँ अगर-पत्रों का सन्दर्भ बाणकृत 'हर्षचरित' के सप्तम उच्छ्वास में मिलता है। बाण महाकवि हर्षवर्द्धन का समकालीन था और इसलिए उसका समय 7वीं शताब्दी का था। कामरूप का राजा भास्कर वर्मा भी हर्ष का समकालीन, मित्र और सहायक था। उसने सम्राट के दरबार में भेंटस्वरूप कुछ पुस्तकें भेजी थीं जो अगरु की छाल पर लिखे हुए सुभाषित ग्रन्थ थे।

"अगरुवल्कल-कल्पित-सञ्चयानि च सुभाषितभाञ्जि पुस्तकानि, परिणतपाटल-पटोलत्विषि..."[1]

बौद्धों के तान्त्रिक ग्रन्थ 'आर्यमञ्जुश्रीकल्प'[2] में भी अगरुवल्कल पर यन्त्र-मन्त्र लिखने का उल्लेख मिलता है और इस प्रकार इसके लेखाधार बनने का इतिहास और भी पीछे चला जाता है।

महाराजा जयपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित महाभारत के कुछ पर्व भी सांचीपात पर लिखे हुए हैं।

कागजीय

यों तो लेख और लेखागार दोनों के लिए संस्कृत में 'पत्र' शब्द का ही प्रयोग अधिकतर पाया जाता है, परन्तु बाद के साहित्य में और प्राय: तन्त्र साहित्य में 'कागद' शब्द भी खूब प्रयुक्त किया गया है। भूर्जपत्र, रेशम, लाल कपड़ा और तालपत्र के समान 'कागद' भी यन्त्र-मन्त्र और पताकाएँ आदि लिखने के काम में आता था। ग्रन्थ तो इस पर लिखे ही जाते थे। इसे 'शण पत्र' भी कहा गया है।[3]

---

1. हर्षचरित (सप्तम उच्छ्वास)।
2. त्रिवेन्द्रम सीरीज, भाग 1, पृ. 131।
3. वाचस्पत्यम् पृ. 1855-56, Sanskrit English Dictionary—M.M. Williams, P. 268. सुखानन्द कृत शब्दार्थ चिन्तामणि।

प्रायः कहा जाता है कि सर्वप्रथम ईस्वी सन् 105 में चीन के लोगों ने कागज बनाया। परन्तु, ईसा से 327 वर्ष पूर्व जब यूनान के बादशाह सिकन्दर ने भारत पर हमला किया तब उसके साथ निआर्कस नामक सेनापति आया था। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि उस समय भारत के लोग रूई से कागज बनाते थे। निआर्कस सिकन्दर की इस चढ़ाई के समय कुछ समय तक पंजाब में रहा था और उसने यहाँ के हालचाल का अध्ययन करके भारत के लोगों का विस्तृत वर्णन लिखा था, इसका संक्षिप्त रूप एरिअन ने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक में उद्धृत किया है। मैक्समूलर ने भी 'हिस्ट्री ऑव एंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक पुस्तक में इसी आधार पर भारतीयों के रूई को कूटकर कागज बनाने की कला से अवगत होने का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि रूई व चिथड़ों आदि को भिगो कर लुगदी बनाने तथा उसको कूटकर कागज बनाने की विधि से भारतवासी ईसा से चार शताब्दी पूर्व भी अच्छी तरह परिचित थे। परन्तु किसी भी प्रकार ऐसा कागज ताड़पत्र और भूर्जपत्र की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सुलभ नहीं था इसलिए इस पर लिखे ग्रन्थ कम मिलते हैं और उतने पुराने भी नहीं हैं।

फिर भी, यह अवश्य कहा जा सकता है कि एशिया और योरोप के अन्य देशों के मुकाबले में भारत ने कागज बनाने की कला पहले ही जान ली थी।

भारत में बहुत प्राचीनकाल से कागज बनता रहा है। यहाँ विविध स्थानों पर कागज बनाने के उद्योग स्थापित थे जिनके यत्किंचित् परिवर्तित रूप अब भी पाये जाते हैं। कागज बनाना एक गृह उद्योग भी रहा है। काश्मीर, दिल्ली, पटना, शाहाबाद, कानपुर, अहमदाबाद, खंभात, कागजपुरा (अर्थात् दौलताबाद), घोसुण्डा और सांगानेर[1] आदि स्थान कागज बनाने के केन्द्र रहे हैं और इनमें से कई स्थान तो इसी उद्योग के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। दौलताबाद का एक बड़ा भाग तो कागजपुरा ही कहलाता था। अहमदाबाद, घोसुण्डा और सांगानेर में तो कई परिवार कागज का ही उद्योग करते थे और अब भी करते हैं। इन लोगों की बस्तियों में जाकर देखने पर कई मकानों की दीवारों पर रूई, रद्दी कागज और चिथड़ों को भिगोकर गलाने के बाद लुगदी बनाकर कूट कर बनाए हुए कागज चिपके हुए मिलेंगे, जो सूखने के लिए लगाये जाते हैं। सूखने पर इनको शंख या कौड़ी अथवा हाथीदाँत के गोल टुकड़ों से घोंटकर चिकना बनाया जाता है जिससे स्याही इधर-उधर नहीं फैलती।

---

1. सांगानेर कस्बा जयपुर से 8 मील अर्थात् 13 कि.मी. दक्षिण में है। वहाँ का कागज उद्योग प्रसिद्ध है। सवाई जयसिंह के पुत्र सवाई ईश्वरीसिंह के समय में इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। उनके समय में कागज की किस्म और माप कायम की गई और वह कागज 'ईश्वरसाही' कागज कहलाता था। कागज की चिकनाई के अनुसार उस पर राज्य की मोहर लगा दी जाती थी। तद्नुसार वह कागज 'दो मोहरिया' या 'डेढ़ मोहरिया' या 'मोहरिया' कहलाता था। इस व्यवसाय को करने वाले परिवार 'कागदी' या 'कागजी' नाम से प्रसिद्ध हैं। सांगानेरी कागज बहुत टिकाऊ होता है। भूतपूर्व जयपुर राज्य के बहीखाते, स्टाम्प पेपर और अन्य अभिलेख इसी कागज पर पाये जाते हैं। सामान्य रूप से सुरक्षित रखने योग्य सभी तहरीरें लिखने के लिए इसी का प्रयोग होता था। सत्रहवीं शताब्दी या इसके बाद में लिखे हुए बहुत-से ग्रन्थ भी सांगानेरी कागज पर लिखे पाये जाते हैं।

इसी प्रकार देश में कश्मीरी, मुगलिया, अरवाल, साहबखानी, खम्भाती, शणिया, अहमदाबादी, दौलताबादी आदि बहुत प्रकार के कागज प्रसिद्ध हैं और इन पर लिखी हुई पुस्तकें विविध ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त होती हैं। विलायती कागज का प्रचार होने के बाद भी ग्रन्थों और दस्तावेजों को देशी हाथ के बने कागजों पर लिखने की परम्परा चालू रही है। वास्तव में, अब तो हाथ का बना कागज हाथ के बने कपड़े के साथ संलग्न हो गया है और यत्र-तत्र खादी भण्डारों में हाथ के बने देशी कागज बेचने के कक्ष भी दिखाई देते हैं। देशी कागजों का टिकाऊपन इसी बात से जाना जा सकता है कि सरकारी या गैर-सरकारी अभिलेखागारों में जो कागज-पत्र रखे हुए हैं उनमें से विलायती कागज (चाहे पार्चमैण्ट ही क्यों न हो) पर लिखे हुए लेख देशी कागज पर लिखी सामग्री के आगे फीके और जीर्ण लगते हैं। ग्रन्थागारों में भी देशी कागज पर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ ऐसी निकलती हैं मानों अभी-अभी की लिखी हुई हों। इन कागजों के नामकरण के विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कोई कागज अपने निर्माण-स्थान के नाम से जाना जाता है, तो कोई अपने निर्माता के नाम से। किसी-किसी का नाम उसमें प्रयुक्त सामग्री से भी प्रसिद्ध हुआ है, जैसे—शणिया, मोमिया, बाँसी, भोंगलिया इत्यादि।

मध्य एशिया में यारकंद नामक नगर से 60 मील दक्षिण में 'कुगिअर' नामक स्थान हैं। वहाँ मिस्टर वेबर को जमीन में गड़े हुए चार ग्रन्थ मिले जो कागज पर संस्कृत भाषा में गुप्त लिपि के लिखे हुए बताये जाते हैं। डॉ. हार्नली का अनुमान है कि ये ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं शताब्दी के होने चाहिए। इसी प्रकार मध्य एशिया के ही काशगर आदि स्थानों पर जो पुराने संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं वे भी उतने ही पुराने लगते हैं।[1]

भारत में प्राप्त कागज पर लिखित प्रतियों में वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय में सरस्वती भवन पुस्तकालय स्थित भागवत पुराण की एक मिश्रित प्रति का उल्लेख मिलता है। इसकी मूल पुष्पिका का संवत् 1181 (1134 ई.) बताया गया है।[2]

राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह में आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त विरचित ध्वन्यालोकलोचन टीका की प्राचीनतम प्रति संवत् 1204 (1146 ई.) की है। इसके पत्र बहुत जीर्ण हो गए हैं, पुष्पिका की अन्तिम पंक्तियाँ भी झड़ गई हैं परन्तु उसकी फोटो प्रति संग्रह में सुरक्षित है।

महाराजा जयपुर के निजी संग्रह 'पोथीखाना' में पद्मप्रभ सूरि रचित 'भुवनदीपक' पर उन्हीं के शिष्य सिंह तिलक कृत वृत्ति की संवत् 1326 त्रि. की प्रति विद्यमान है। इस वृत्ति का रचना काल भी संवत् 1326 ही है और यह बीजापुर नामक स्थान पर लिखी हुई है। इस प्रति के पत्र जीर्णता के कारण अब शीर्ण होने लगे हैं परन्तु प्रत्येक सम्भव उपाय से इसकी सुरक्षा के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

---

1. भारताय प्राचीन लिपि माला, पृ. 145। व्हूलर द्वारा संगृहीत गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध और खानदेश के खानगी पुस्तक संग्रहालयों की सूची, भाग 1, पृ. 238 पर इन ग्रन्थों का उल्लेख देखना चाहिए।
2. मैयुस्क्रिप्ट्स फ्रॉम इण्डियन कलैक्शन्स, नेशनल म्यूजियम, 1964, पृ. 8।

तूलीपातीय

आसाम में चित्रण व लेखन के लिए 'तूलीपात' का प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से होता आया है। इसके निर्माण की कला इन लोगों ने सम्भवत: 'ताइ' और 'शान' लोगों से सीखी थी जो 13वीं शताब्दी से अहोम के साथ यहाँ आये थे।

वास्तव में 'तूलिपात' एक प्रकार का कागज ही होता है जो लकड़ी के गूदे या बल्क से बनाया जाता है। यह तीन रंग का होता है—सफेद, भूरा और लाल। सफेद 'तूलिपात' बनाने के लिए महाइ (Mahai) नामक वृक्ष को चुना जाता है, गहरे भूरे रंग में तूलिपात के लिए यामोन (जामुन) वृक्ष का प्रयोग होता है और लाल 'तूलिपात' जिस वृक्ष के गूदे से बनता है उसका नाम अज्ञात है।

उपर्युक्त वृक्षों की छाल उपयुक्त परिमाण में निकाल ली जाती हैं और फिर उसे खूब कूटते हैं। इससे उनके रेशे ढीले होकर अलग-अलग हो जाते हैं। फिर इनको पानी में इतना उबालते हैं कि एक-एक कण अलग होकर उनका सब कूड़ा-करकट साफ हो जाता है। इन कणों का फिर कल्क बना लेते है। इसके बाद अलग-अलग माप वाली आयताकार तश्तरियों में पानी भरकर उस पर उस कल्क को समान रूप से फैला देते हैं और ठण्डा होने को रख देते हैं। ठण्डा होने पर पानी की सतह के ऊपर बल्क एक सख्त और मजबूत कागज के रूप में जम जाता है। साधारणतया तूलिपात पत्र दो पाठों को सीकर तैयार किया जाता है अथवा एक ही लम्बे पाठे को दोहरा करके सी लेते हैं। इससे वह पत्र और भी मजबूत हो जाता है। कागज बनाने का यह प्रकार विशुद्ध भारतीय अतिरिक्त प्रकार है। इस उद्योग के केन्द्र नम्फकिआल, मंगलोंग और नारायणपुर में स्थित थे जो आसाम के लखीमपुर जिले के अन्तर्गत हैं। नेफा में कामेंग सीमा क्षेत्र के मोंपा बौद्ध भी इसी प्रकार के कागज का निर्माण करते हैं जो स्थानीय 'सुक्सो' नामक वृक्ष की छाल से बनाया जाता है।

पटीय अथवा (सूती कपड़ों पर लिखे) ग्रन्थ

ग्रन्थ लिखने, चित्र आलेखित करने तथा यन्त्र-मन्त्रादि लिखने के लिए रूई से बना सूती कपड़ा भी प्रयोग में लाया जाता है। लेखन क्रिया से पहले इसके छिद्रों को बन्द करने हेतु आटा, चावल का माँड या लेई अथवा पिघला हुआ मोम लगाकर परत सुखा लेते हैं और फिर अकीक, पत्थर, शंख, कौड़ी या कसौटी के पत्थर आदि से घोंटकर उसको चिकना बनाते हैं। इसके पश्चात् उस पर लेखन कार्य होता है। ऐसे आधार पर लिखे हुए चित्र पट-चित्र कहलाते हैं और ग्रन्थ को पट-ग्रन्थ कहते हैं।

सामान्यत: पटों पर पूजा-पाठ के यन्त्र-मन्त्र ही अधिक लिखे जाते थे—जैसे, सर्वतोभद्र यन्त्र, लिंगतो-भद्र-यन्त्र, मातृका-स्थापन-मण्डल, ग्रह-स्थापन-मण्डल, हनुमत्पताका, सूर्यपताका, सरस्वती पताकादि चित्र, स्वर्ग-नरक-चित्र, सांपनेसनी-ज्ञान चित्र और जैनों के अढाई द्वीप, तीन द्वीप, तेरह द्वीप और जम्बू द्वीप एवं सोलह स्वप्न आदि के नक्शे व चित्र भी ऐसे ही पटों पर बनाए जाते हैं। बाद में मन्दिरों में प्रयुक्त होने वाले पर्दे अर्थात् प्रतिमा के पीछे वाली दीवार पर लटकाने के सचित्र पट भी इसी प्रकार से बनाने का रिवाज है। इनको पिछवाई कहते हैं। नाथद्वारा में श्रीनाथजी की पिछवाइयाँ बहुमूल्य

होती हैं। राजस्थान में बहुत-से कथानकों को भी पटों पर चित्रित कर लेते हैं जो 'पड़' कहलाते हैं। ऐसे चित्रों को फैलाकर लोकगायक उनके संगीतबद्ध कथानकों का गान करते हैं। पाबूजी की पेड़, रामदेवजी की पड़, आदि का प्रयोग इस प्रदेश में सर्वत्र देखा जा सकता है।

महाराजा जयपुर के संग्रह में अनेक तान्त्रिक नक्शे, देवचित्र एवं इमारती खाके विद्यमान हैं जो 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के हैं। कोई-कोई और भी प्राचीन हैं परन्तु वे जीर्ण हो चले हैं। इनमें महाराजा सवाई जयसिंह द्वारा सम्पन्न यज्ञों के समय स्थापित मण्डलों के चित्र तथा जयपुर नगर संस्थापन के समय तैयार किए गये प्रारूप-चित्र दर्शनीय है। इसी प्रकार संग्रहालय में प्रदर्शित राधाकृष्ण की होली के चित्र भी पट पर ही अंकित हैं और उत्तर 17वीं शती के हैं। दक्षिण से प्राप्त किए हुए छः ऋतुओं के विशाल पट चित्रों पर विविध अवस्थाओं में नायिकायें निरूपित हैं। ये चित्र भी कपड़े पर ही बने हैं और बहुत सुन्दर हैं।

जिस कपड़े पर मोम लगाकर उसे चिकना बनाया जाता था, उसे मोमिया कपड़ा या पट कहते थे। ऐसे कपड़ों पर प्रायः जन्म-पत्रियाँ लिखी जाती थीं। ये जन्म-पत्रियाँ पट्टियों को चिपका कर बहुत लम्बे-लम्बे आकार में बनाई जाती थीं। इन पर लिखी हुई सामग्री इतनी विशद और विशाल होती थी कि उन्हें एक ग्रन्थ ही मान लिया जा सकता है। जिसकी जन्म पत्री-होती है उसके वंश का इतिहास, वंश-वृक्ष, स्थान, प्रदेश और उत्सवादि वर्णन, नागरिक वर्णन, ग्रह स्थिति, ग्रह भावफल, दशा-निरूपण आदि का सचित्र सोदाहरण निरूपण किया जाता है। इनमें अनेक ऐसे ग्रन्थों के सन्दर्भ भी उद्धृत मिल जाते हैं जो अब नाम शेष ही रहे गये हैं। जयपुर नरेश के संग्रह में महाराजा रामसिंह प्रथम के कुमार कृष्णसिंह की जन्म-पत्री 456 फीट लम्बी और 13 इंच चौड़ाई की है जो अनेक भव्य चित्रों से सुसज्जित और विविध ज्योतिष ग्रन्थों से सन्दर्भित है। यह जन्म-पत्री संवत् 1711 से 1736 तक लिखी गई थी। इसी प्रकार महाराजा माधवसिंह प्रथम की जन्म-पत्री भी है। इसमें यद्यपि चित्र नहीं है परन्तु कछवाहा वंश का इतिहास, जयपुर नगर वर्णन और सवाई जयसिंह की प्रशस्तियाँ आदि अनेक उपयोगी सूचनाएँ लिखित हैं।

भाद्रपद मास में (बदि 12 से सुदि 4 तक) जैन लोग आठ दिन का पर्यूषण पर्व मनाते हैं। आठवें दिन निराहर व्रत रखते हैं। इसकी समाप्ति पर ये लोग एक-दूसरे से वर्ष भर में किए हुए किसी भी प्रकार के बुरे व्यवहार के लिए क्षमा माँगते हैं। ऐसे क्षमावाणी के अवसर पर एक गाँव अथवा स्थान के समस्त संघ की ओर से दूसरे परिचित गाँव के प्रति 'क्षमापन पत्र' लिखे जाते थे। संघ का मुखिया आचार्य कहलाता है अतः वह पत्र आचार्य के नाम से ही सम्बोधित होता है। इन पत्रों में सांवत्सरिक-क्षमापना के अतिरिक्त पर्यूषण-पर्व के दिनों में अपने गाँव में जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनकी सूचना आचार्य को दी जाती थी तथा यह भी प्रार्थना की जाती थी कि वे उस ग्राम में आकर संघ को दर्शन दें। ऐसे पत्र 'विज्ञप्ति-पत्र' कहलाते हैं। इनके लिखने में गाँव की ओर से पर्याप्त धन एवं समय व्यय किया जाता था। इनका आकार-प्रकार भी प्रायः जन्म-पत्री के खरड़ों जैसा ही होता है तथा ये कागज के अतिरिक्त ताड़पत्रादि पर भी लिखे मिलते हैं। कभी-कभी कोई जैन

विद्वान मुनि इनमें अपने काव्य भी लिखकर आचार्य की सेवा में प्रेषित करते थे। महामहोपाध्याय विनयविजय रचित 'इन्दुदूत', मेघविजय विरचित 'मेघदूत', समस्या-लेख और एक अन्य विद्वान द्वारा प्रणीत चेतोदूत काव्य ऐसे ही विज्ञप्ति पत्रों में पाये गये हैं। सबसे पुराने एक विज्ञप्ति-पत्र का एक ही त्रुटित ताड़पत्रीय-पत्र पाटन के प्राचीन ग्रन्थ भण्डार में मिला है जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का बताया जाता है।[1]

यद्यपि कागज पर लिखे विज्ञप्ति पत्र 100 हाथ (50 गज = 150 फीट) तक लम्बे और 12-13 इंच चौड़े 15वीं शती के जितने पुराने मिले हैं परन्तु कपड़े पर लिखित ऐसा कोई पत्र नहीं मिला। किन्तु जब इन विज्ञप्ति-पत्रों को जन्म-पत्री जैसे खरड़ों में लिखने का रिवाज था तो अवश्य ही इनके लिए रेजी, तूलिपात या अन्य प्रकार के कपड़े अथवा पट का भी प्रयोग किया ही गया होगा। ऐसे पत्रों का प्राचीन जैन-ग्रन्थ-भण्डारों में अन्वेषण होना आवश्यक है।

प्राचीन समय में पञ्चांग (ज्योतिष) भी कपड़े पर लिखे जाते थे। इनमें देवी-देवता और ग्रह-नक्षत्रादि के चित्र भी होते थे। महाराजा जयपुर के संग्रह में 17वीं शताब्दी के कुछ बहुत जीर्ण पंचांग मिलते हैं। 'राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान' जोधपुर में भी कतिपय इसी तरह के प्राचीन पंचांग विद्यमान हैं।

दक्षिण आन्ध्र प्रदेश आदि स्थानों में इमली खाने का बहुत रिवाज है। इमली के बीज या 'चीयाँ' को आग में सेंक कर सुपारी की तरह तो खाते ही हैं परन्तु इसका एक और भी महत्त्वपूर्ण उपयोग किया जाता था। वहाँ पर इस 'चीयाँ' से लेई बनाई जाती थी। उस लेई को कपड़े पर लगाकर काला पट तैयार किया जाता था। उसकी बही बनाकर व्यापारी लोग उस पर सफेद खड़िया से अपना हिसाब-किताब लिखते थे। ऐसी बहियाँ 'कडितम्' कहलाती थीं। श्रृंगेरी मठ में ऐसी सैंकड़ों बहियाँ मौजूद हैं जो 300 वर्ष तक पुरानी हैं। पाटण के प्राचीन ग्रन्थ-भण्डार में श्री प्रभसूरि रचित 'धर्म विधि' नामक कृति उदयसिंह कृत टीका सहित पाई गयी है जो 13 इंच लम्बे और 5 इंच चौड़े कपड़े के 93 पत्रों पर लिखित है। कपड़े के पत्रों पर लिखित अभी तक यही एक पुस्तक उपलब्ध हुई है।[2]

कपड़े पर लेई लगाकर काला पट् तैयार करके सफेद खड़िया से लिखने के अनुकरण में कई ऐसी पुस्तकें भी मिलती हैं जो कागज पर काला रंग पोत कर सफेद स्याही से लिखी गयी हैं।

इमली के बीच से चित्रकार भी कई प्रकार के रंग बनाते थे।

रेशमी कपड़े की

अलबेरुनी ने अपने भारत यात्रा विवरण में लिखा है कि उसको नगरकोट के किले में एक राजवंशावली का पता था जो रेशम के कपड़े पर लिखी हुई बताई जाती है। यह वंशावली काबुल के शाहियावंशी हिन्दू राजाओं की थी। इसी प्रकार डॉ. ब्यूहलर ने अपने

---

1. मुनि जिनविजय सं.—'विज्ञप्ति त्रिवेणी' पृ. 32।
2. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. 146।

ग्रन्थ निरीक्षण विवरण (पृ. 30) में लिखा है कि उन्होंने जैसलमेर के वृहद्-ग्रन्थ-भण्डार में जैन सूत्रों की सूची देखी जो रेशम की पट्टी पर लिखी थी।

काष्ठपट्टीय

लिखने के लिए लकड़ी के फलकों के उपयोग का रिवाज भी बहुत पुराना है। कोई 40-45 वर्ष पूर्व सर्वत्र और कहीं-कहीं पर अब भी बालकों को सुलेख लिखाने के लिए लकड़ी की पाटी काम में लाई जाती है। यह पाटी लगभग डेढ़ फुट लम्बी और एक फुट चौड़ी होती है। इसके सिरे पर एक मुकुटाकार भाग काट दिया जाता है जिसमें छिद्र होता है। बालक इस छिद्र में डोरा पिरोकर लटका लेते हैं। इसकी सहायता से घर पर भी इसे खूँटी पर टांग देते हैं— क्योंकि विद्या को पैरों में नहीं रखना चाहिये। इसी पाटी पर मुलतानी या खड़िया पोतते हैं। यह लेप इतना साफ और स्वच्छ करके लगाया जाता है कि पाटी के दोनों ओर की सतह समान रूप से स्वच्छ हो जाती है। पाटी पोतने और उसको सुखाने की कला में बालकों की चतुराई आँकी जाती थी। चटशाला में बच्चे सामूहिक रूप से पाटी पोतने बैठते और फिर 'सूख-सूख पाटी, विद्या आवै'[1] की रट लगाते हुए पट्टी हवा में हिलाते थे। पाटी सूख जाने पर वे इसे अपने दोनों घुटनों पर रखकर नेजे या सरकंडे की कलम और काली स्याही से सुन्दर अक्षर लिखने का अभ्यास करते थे। आरम्भ में गुरुजी कलम के उल्टे सिरे से बिना स्याही के उस पाटी पर अक्षरों के आकार (किटकिन्नां) बना देते थे और फिर बालक उस आकार पर स्याही फेरकर सुलेखन का अभ्यास करते थे।

पाटी पर जो खड़िया या मुलतानी पोती जाती थी वह पाण्डु कहलाती थी और इसीलिए आरम्भिक मूल लेख को पाण्डुलिपि कहते हैं जो अब प्रारूप, मूल हस्तलेख और हस्तलिखित ग्रन्थ का वाचक शब्द बन गया है। पाटी लिखने से पहले बच्चों को 'खोर-पाटा' देते थे। एक लकड़ी का आयताकार पाटा, जिसके छोटे-छोटे चार पाये होते थे या दोनों ओर नीचे की तरफ डाट होती थी, वह बालक के सामने बिछा दिया जाता था। इस पर लाल चूने या स्वच्छ भूरी मिट्टी बिछाकर इस तरह हाथ फेरा जाता कि उसकी सतह समतल हो जाती थी। फिर लकड़ी की तीखी नोकदार कलम से उस सतह पर लिखना सिखाते थे। इस कलम को 'बरता' या 'बरतना' कहते थे। जब पाटा भर जाता तो लेख गुरुजी को जँचवा कर फिर उस मिट्टी पर हाथ फेरा जाता और पुनः लेखन चालू हो जाता।

आजकल जैसे स्कूलों में कक्षाएँ होती हैं उसी प्रकार पहले पढ़ने वाले छात्रों की श्रेणी-विभाजन इस प्रकार होता था कि आरम्भ में 'खोरा-पाटा' की कक्षा फिर 'पाटी' कक्षा। दिन में विद्यार्थी कितनी पट्टियाँ लिख लेता था, इसके आधार पर भी उसकी वरिष्ठता कायम की जाती थी। इस प्रकार पाटी या फलक पर लिखने की परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्धों की जातक-कथाओं में भी विद्यार्थियों द्वारा काष्ठ-फलकों पर लिखने का उल्लेख मिलता है।

---

1. इसका एक रूप ब्रज में यों मिलता है—
   सूख-सूख पट्टी चन्दन गट्टी, राजा आये महल चिनाये, महल गये टूट, पट्टी गई सूख।

सुलेख सिखाने के लिए आगे का क्रम यह होता था कि पाटियों के एक ओर लाल लाख का रोगन लगा दिया जाता और दूसरी ओर काला या हरा रोगन लेपा जाता था।[1] फिर इन पर हरताल की पीली-सी स्याही या खड़िया या पाण्डु की सफेद सी स्याही से लिखाया जाता था।

दैनिक प्रयोग में बहुत से दूकानदार पहले लकड़ी की पाटी पर कच्चा हिसाब टीप लेते थे (आजकल स्लेट पर लिख लेते हैं) और फिर यथावकाश उसे स्याही से पक्की बही में उतारते थे। इसी तरह ज्योतिषी लोग भी पहले खोर पाटे पर कुण्डलियाँ आदि खींच कर गणित करते थे, पुती हुई पाटियों पर भी जन्म, लग्न, विवाह लग्न आदि टीप लेते थे और फिर उनके आधार पर हस्तलेख तैयार कर देते थे। खोर-पाटे पर लिखने को ज्योतिष-शास्त्र में 'धूलीकर्म' कहते हैं।

विद्वान भी ग्रन्थ रचना करते समय जैसे आजकल पहले रूल पेंसिल से कच्चा मसविदा कागज पर लिख लेते हैं अथवा किसी पद्य का स्फुरण होने पर स्लेट पर जमा लेते हैं और बाद में उसको निर्णीत करके स्थायी रूप से लिखते या लिखवा लेते हैं। उसी तरह पुराने समय में ऐसे प्रारूप काष्ठ-पट्टिकाओं पर लिखने का रिवाज था। जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका की रचना नैमिचन्द्र नामक विद्वान ने संवत् 1129 में की थी। उसमें इस प्रकार पाटी से नकल करके सर्वदेव नामक गणि द्वारा ग्रन्थ लिखने का उल्लेख है—

पट्टिका तोऽलिखच्चेंमाँ सर्वदेवाभिधो गणि:।
आत्मकर्मक्षयायाथ परोपकृति हेतवे॥ 14 ॥

खोतान से भी कुछ प्राचीन काष्ठ-पट्टियों के मिलने का उल्लेख है। इन पर खरोष्ठी लिपि में लेख लिखे हैं।

बर्मा में रोगनदार फलकों पर पाण्डुलिपि लिखी जाती है। ऑक्सफोर्ड की वोडलेयन पुस्तकालय में एक आसाम से प्राप्त काष्ठ-फलकों पर लिखी एक पाण्डुलिपि बतायी जाती है।

कात्यायन और दण्डी ने बताया है कि बाद-पत्र फलकों पर पाण्डु (खड़िया) से लिखे जाते थे और रोगन वाले फलकों पर शाही शासन लिखे जाते थे।

ग्रन्थों के दोनों ओर जो काष्ठफलक (या पटरी) लगाकर ग्रन्थ बाँधे जाते हैं, उन पर भी स्याही से लिखी सूक्तियाँ अथवा मूल ग्रन्थ का कोई अंश उद्धृत मिल जाता है जो स्वयं रचनाचाकर अथवा लेखक (प्रतिलिपिकर्ता) द्वारा लिखा हुआ होता है।

कभी-कभी काष्ठ स्तम्भों पर लेख खोदे गये, जैसे किरारी से प्राप्त स्तम्भ पर मिले हैं। भज की गुफा की छतों की काष्ठ महराबों पर भी लेख उत्कीर्ण मिले हैं।

---

1. ब्रज में 'हिरमिच' पोती जाती थी जिससे पट्टी लाल हो जाती थी। फिर उस पर घोंटा किया जाता था। 'घोंटा' शीशे के बड़े गोल छल्ले के आकार का लगभग तीन अंगुल चौड़ाई का होता था। उससे घोंटने पर पट्टी चिकनी हो जाती थी उस पर खड़िया के घोल से लिखा जाता था।
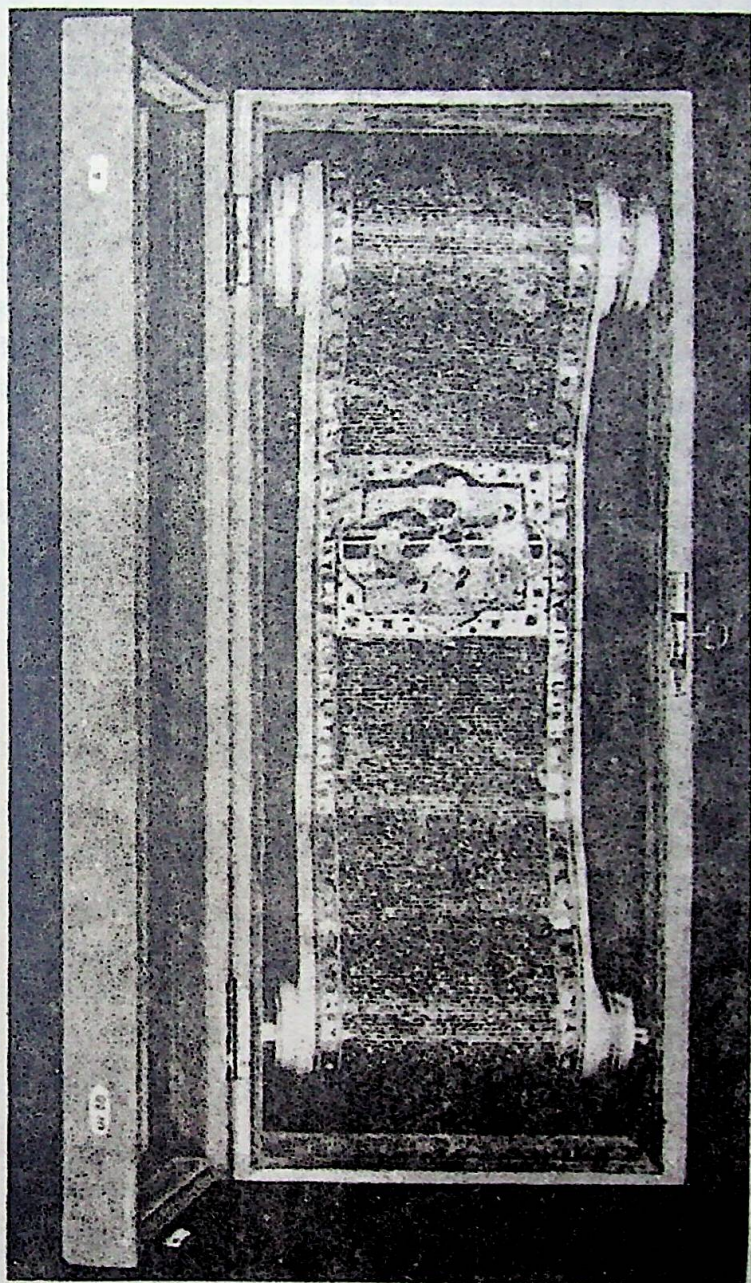
ग्रन्थों के अन्य प्रकार

आकार के आधार पर :

यहाँ तक हमने ग्रन्थ लिखने के साधन या आधार की दृष्टि से ग्रन्थों के प्रकार बताये। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः लम्बी और पतली पट्टियों के रूप में ही प्राप्त होती हैं, जिनको एक के ऊपर एक रखकर गड्डी बनाकर रखा जाता है। एक-एक पट्टी को पत्र कहते हैं। 'पत्र' नाम इसलिए दिया कि ये पोथियाँ ताड़पत्रों या भूर्जपत्रों पर लिखी जाती थीं। बाद में तत्समान आकार के मांडपत्र या कागज बनाए जाने लगे। अब वह 'पत्र' शब्द चिट्ठी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। 'पता' भी पत्र से ही निकला है। अतः प्राचीन पुस्तकें छूटे या खुले पत्राकार रूप में ही होती थी। इनके छोटे-बड़े प्रकार का भेद बताने के लिए जो शब्द प्रयुक्त हैं उनसे पता चलता है कि पोथियाँ पाँच प्रकार की होती थीं। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रकृत टीका में एवं निशीथचूर्णी आदि में पुस्तकों के 5 प्रकार इस तरह गिनाये गये हैं[1]—(1) गण्डी, (2) कच्छपी, (3) मुष्टी, (4) सम्पुटफलक और (5) छेदपाटी, छिवाडी या सृपाटिका।[2]

गण्डी

जो पुस्तक मोटाई और चौड़ाई में समान होकर लम्बी (Rectangular) होती है वह 'गण्डी' कहलाती है। जैसे पत्थर की 'कतला' होती है उसी आकार की यह पुस्तक होती है। ताड़पत्र पर या ताड़पत्रीय आकार के कागजों पर लिखी हुई पुस्तकें 'गण्डी' प्रकार की होती है।

कच्छपी

कच्छप या कछुए के आकार की अर्थात् किनारों पर सँकरी और बीच में चौड़ी पुस्तकें कच्छपी कहलाती हैं। इनके किनारे या छोर या तो त्रिकोण होते हैं अथवा गोलाकार।

---

1. 'गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए छिवाडीय'
   एयं पुत्थयपणयं, वक्खाण मिणं भवेतस्य॥
   वाहल्ल पुहत्तेहिं, गण्डी पत्थो उ तुल्लगो दीहो।
   कच्छवि अन्ते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो
   चउरं गुलदी हो वा, बट्टागिह मुट्ठि पुत्थगो अहवा।
   चउरं गुलदीहोच्चिय, चउरंगी होइ विन्नेओ॥
   सम्पुडगो दुगनाई फलगावोच्छं मेत्ता है।
   तणुपत्तूसियरुबो, होई छिवाड़ी बुहा वेंति॥
   दी होवा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पवाहल्लो।
   तं मुणियसमयसारा, छिवाडियोत्थं भणंतीह॥
   —देश वैकालिक हरिभद्री टीका, पत्र 25

   'मुनि पुण्य विजय जी : भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला में पृ. 22 पर 25वीं पाद टिप्पणी से उद्धृत।'
2. मुनि पुण्य विजयजी ने भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला में पृ. 22 की 26वीं पाद टिप्पणी में बताया है कि कुछ विद्वान् छिवाड़ी को सृपटिक मानते हैं। किन्तु मुनिजी वृहत्कल्पसूत्र वृत्ति तथा स्थानांग सूत्र टीका आदि मान्य ग्रन्थों के आधार पर छिवाड़ी को 'छेदपाटी' ही मानते हैं।

मुष्टी

छोटे आकार की मुष्टिग्राह्य पुस्तक को मुष्टी कहते हैं। इसकी लम्बाई चार अंगुल कही गई है। इस रूप में बाद के लिखे हुए छोटे-छोटे गुटके भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। हैदराबाद सालारजंग-संग्रहालय में एक इंच परिमाण वाली पुस्तकें हैं। वे मुष्टी ही मानी जायेगी।

संपुट-फलक

सचित्र काष्ठपट्टिकाओं अथवा लकड़ी की पट्टियों पर लिखित पुस्तकों को सम्पुट फलक कहा जाता है। वास्तव में, जिन पुस्तकों पर सुरक्षा के लिए ऊपर और नीचे काष्ठ-फलक लगे होते हैं, उनको ही 'सम्पुट फलक' पुस्तक कहते हैं।

छेद पाटी

जिस पुस्तक के पत्र लम्बे और चौड़े तो कितने ही हों, परन्तु संख्या कम होने के कारण उसकी मोटाई (या ऊँचाई) कम होती है उसको छेदपाटी, छिवाड़ी या सृपाटिका कहते हैं।

पुस्तकों की लेखन शैली से पुस्तक-प्रकार

लेखन शैली के आधार पर पुस्तकों के निम्न प्रकार 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' में बताये गये हैं

(1) त्रिपाट या त्रिपाठ) ये तीन भेद पुस्तक के पृष्ठ के रूप-विधान पर
(2) पंचपाट या पंचपाठ) निर्भर हैं।
(3) शूंड या शुंड)
(4) चित्र पुस्तक—यह उपयोगी सजावट पर निर्भर है।
(5) स्वर्णाक्षरी) यह लेखाक्षर लिखने के माध्यम (स्याही) के विकल्प के
(6) रौप्याक्षरी) प्रकार पर निर्भर है।
(7) सूक्ष्माक्षरी) ये अक्षरों के आकार के परिमाण पर निर्भर है।
(8) स्थूलाक्षरी आदि)

उक्त प्रकारों के स्थापित करने के चार आधार अलग-अलग हैं। ये आधार हैं—

(1) पृष्ठ का रूप-विधान।
(2) पुस्तक को सचित्र करने से भी पुस्तक का एक अलग प्रकार प्रस्तुत होता है।
(3) सामान्य स्याही से भिन्न स्वर्ण या रजत से लिखी पुस्तकें एक अलग वर्ग की हो जाती हैं।
(4) फिर अक्षरों के सूक्ष्म अथवा स्थूल परिमाण से पुस्तक का अलग प्रकार हो जाता है।

कुण्डलित, वलयित या खरड़ा

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रकार छूट गया है। वह कुण्डली प्रकार है जिसे अंग्रेजी में स्क्राल (Scroll) कहा जाता है। प्राचीन काल में फराऊनों के युग में 'मिस्र' में पेपीरस पर कुण्डली ग्रन्थ ही लिखे गये। भारत में कम ही सही कुण्डली ग्रन्थ लिखे जाते थे। 'भावगत पुराण' कुण्डली ग्रन्थ ब्रिटिश म्यूजियम में रखा हुआ है।[1] जैनियों के 'विज्ञप्ति पत्र' भी कुण्डली-ग्रन्थ का रूप ग्रहण कर लेते थे। बड़ौदा के प्राच्य-विद्यामंदिर में हस्तलिखित सचित्र सम्पूर्ण महाभारत कुण्डली ग्रन्थ के रूप में सुरक्षित है—यह 228 फीट लम्बी और 5½ फीट चौड़ी कुण्डली है जिसमें एक लाख श्लोक हैं। तेनह्वांग से डॉ. रघुवीर 8000 वलयिताओं की प्रतिलिपियाँ लाये थे।
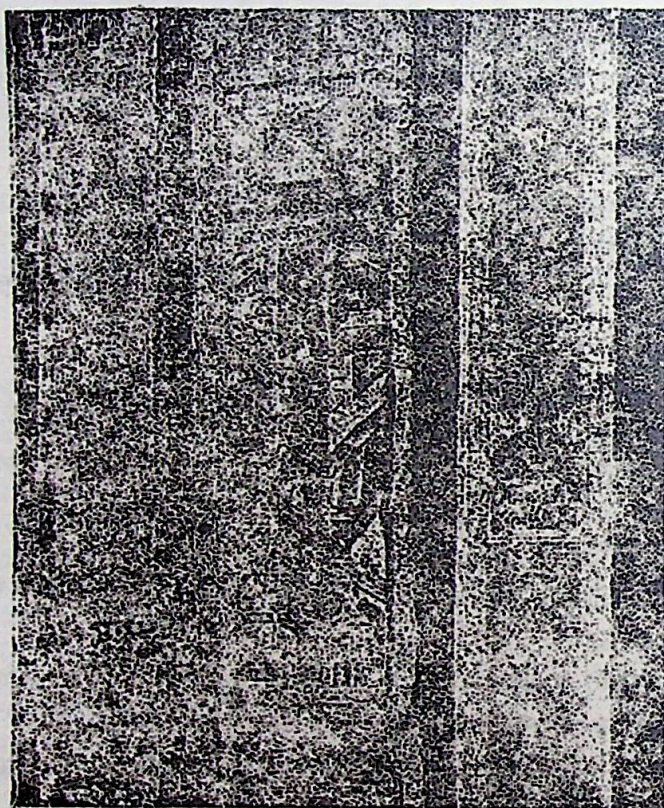
'कुण्डली ग्रन्थ' रखने के पिटक के साथ

1. यह पुराण 5 इंच चौड़ी और 55 फुट लम्बी कुण्डली में है, सचित्र है।

पृष्ठ के रूप-विधान से प्रकार-भेद

सामान्य ग्रन्थों में पाट या पाठ का भेद नहीं होता है। आदि से अन्त तक पृष्ठ एक ही रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

किन्तु जब पृष्ठ का रूप-विधान विशेष अभिप्राय: से बदला जाये तो वे निम्न प्रकार के रूप ग्रहण करते मिलते हैं—

त्रिपाठ या त्रिपाठ

इस पाट या पाठ में यह दिखाई पड़ता है कि पृष्ठ तीन हिस्सों में बाँट दिया गया है। बीच में मोटे अक्षरों में मूल ग्रन्थ के श्लोक, उसके ऊपर और नीचे छोटे अक्षरों में टीका, टीबा या व्याख्या दी जाती है। इस प्रकार एक पृष्ठ तीन भागों में या पाटों या पाठों में बँट जाता है। इसलिए इसे त्रिपाट या त्रिपाठ कहते हैं।

पंचपाट या पाठ

जब किसी पृष्ठ को पाँच भागों में बाँटकर लिखा जाये तो पंचपाट या पाठ कहलाएगा। त्रिपाट की तरह इसमें भी बीच में कुछ मोटे अक्षरों में मूल ग्रन्थ रहता है, यह एक पाट हुआ। ऊपर और नीचे टीका या व्याख्या लिखी गई, यह तीन पाट हुए फिर दाई और बाईं ओर हाशिये में भी जब लिखा जाये तो पृष्ठ का इस प्रकार का रूप-विधान पंचपाठ कहा जाता है।

शूंड या शुंड

जिस पुस्तक का पृष्ट लिखे जाने पर हाथी की सूंड की भाँति दिखलाई पड़े वह 'सूंड पाठ' कहलाएगा। इसमें ऊपर की पंक्ति सबसे बड़ी, उसके बाद की पंक्तियाँ प्राय: छोटी होती जाती है, दोनों ओर से छोटी होती जाती हैं। अन्तिम पंक्ति सबसे छोटी होती हैं और पृष्ठ का स्वरूप हाथी की सूंड का आधार ग्रहण कर लेता है। यह केवल लेखक की या लिपिकार की अपनी रुचि को प्रगट करता है। किन्तु इस प्रकार के ग्रन्थ दिखाई नहीं पड़ते। हाँ, किसी लेखक के अपने निजी लेखों में इस प्रकार की पृष्ठ रचना मिल सकती है। किन्तु 'कुमार सम्भव' में कालिदास ने श्लोक 1.7 में 'कुंजर बिदुशोण:' से ऐसी ही पुस्तक की ओर संकेत किया है। इसी अध्याय में भूर्जपत्र शीर्षक दीजिए।

अन्य

इस दृष्टि से देखा जाये तो लेखक की निजी पृष्ठ-रचना में त्रिकोण पाठ भी मिल सकता है। ऊपर की पंक्ति पूरी एक ओर हाशिये की रेखा के साथ प्रत्येक पंक्ति लगी हुई किन्तु दूसरी ओर थोड़ा-थोड़ा कम होती हुई अन्त में सबसे छोटी पंक्ति। इस प्रकार पृष्ठ में त्रिकोण पाठ प्रस्तुत हो जाता है। अत: ऐसे ही अन्य पृष्ठ सम्बन्धी रचना-प्रयोग भी लेखक की अपनी रुचि के द्योतक हैं। इनका कोई विशेष अर्थ नहीं। त्रिपाट और पंचपाठ इन दो का महत्त्व अवश्य है क्योंकि ये विशेष अभिप्राय: से ही पाठों में विभक्त होती हैं।

सजावट के आधार पर पुस्तक-प्रकार

जिस प्रकार से कि ऊपर पृष्ठ-रचना की दृष्टि से प्रकार-भेद किये गये हैं उसी प्रकार से सजावट के आधार पर भी पुस्तक का प्रकार अलग किया जा सकता है। यह सजावट चित्रों के माध्यम से होती है। एक हस्तलेख में चित्रों का उपयोग दो दृष्टियों से हो सकता है। एक— केवल सजावट के लिए और दूसरे संदर्भगत उपयोग के लिए। ये दोनों ही सादा एक स्याही में भी हो सकते हैं और विविध रंगों में भी।

ग्रन्थ में चित्र

ग्रन्थों में चित्रांकन की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। 11वीं शती से 16वीं शती के बीच एक चित्रशैली प्रचलित हुई जिसे 'अपभ्रंश-शैली' नाम दिया गया है।

इनमें सम्बन्ध में 'मध्यकालीन-भारतीय कलाओं एवं उनका विकास' नामक ग्रन्थ का यह अवतरण द्रष्टव्य है—

''मुख्यत: ये चित्र जैन सम्बन्धी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं।''[1]

इसका अर्थ यह है कि 'अपभ्रंश-कला' ग्रन्थ-चित्रों के रूप में पनपी और विकसित हुई। यह भी स्पष्ट है कि इससे जैन धर्म-ग्रन्थों का ही विशुद्ध योगदान रहा। हाँ, अकबर के समय में साम्राज्य का प्रश्रय चित्रकारों को मिला। इस प्रश्रय के कारण कलाकारों ने अन्य ग्रन्थों को भी चित्रित किया। राजस्थान-शैली में भी चित्रण हुआ। इस प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्रों की तीन शैलियाँ पनपती मिलती हैं। एक अपभ्रंश-शैली जैन-धर्म ग्रन्थों में पनपी। इसके दो रूप मिलते हैं। एकमात्र अलंकरण सम्बन्धी। 1062 ई. के 'भगवती-सूत्र' में अलंकरण मात्र हैं। अलंकरण शैली में विकास की दूसरी स्थिति का पता हमें 1100 ई. की 'निशीथ-चूर्णि' से होता है। इस पाण्डुलिपि में अलंकरण के लिए बेल-बूंटों के साथ पशुओं की आकृतियाँ भी चित्रित हैं। 13वीं शती में देवी-देवताओं का चित्रण बाहुल्य से होने लगा।

ये सभी प्रतियाँ ताड़पत्र पर हैं। चित्र भी ताड़पत्र पर ही बनाये गये हैं।

''1100 से 1400 ई. के मध्य जो चित्रित ताड़पत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं उनमें 'अंगसूत्र', 'कथा सरित्सागर', 'त्रिषष्ठि-शालाका-पुरुष-चरित', 'श्री नेमिनाथ चरित,'' श्रावक-प्रतिक्रमण-चूर्णि' आदि मुख्य हैं।[2]

1400 से ताड़पत्र के स्थान पर कागज का उपयोग होने लगा।

1400 से 1500 के बीच ही चित्रित पाण्डुलिपियों में कल्पसूत्र, कालकाचार्य-कथा, सिद्धसेन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[3]

---

1. नाथ, आर. (डॉ.)—मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृ. 43।
2. वही, पृ. 4।
3. वही, पृ. 4।

पंद्रहवीं-सोलहवीं शती में कागज की पाण्डुलिपि में कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की अनेकों प्रतियाँ चित्रित की गयी। हिन्दी में कामशास्त्र के कई ग्रन्थ इसी काल में सचित्र लिखे गये। 1451 की कृति वसंत-विलास में 79 चित्र हैं।[1]

अब यह कला प्राणवान हो चली थी और धर्म के क्षेत्र से भी बँधी हुई नहीं रही।

सजावटी पुस्तकें

सजावटी चित्र-पुस्तकों को कई प्रकार से सजाया जा सकता है। एक तो ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर चारों ओर के हाशियों को फूल-पत्तियों से या ज्यामितिक आकृतियों से या पशु-पक्षियों की आकृतियों से सजाया जा सकता है। दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आरम्भ में जहाँ पुष्पिका दी गयी हो या अध्याय का अन्त हुआ हो, वहाँ इस प्रकार का कोई सजावटी चित्र बना दिया जाय (जैसे राउलवेल में)। फूल पत्तियों वाला, अशोक चक्र जैसा कोई अनेक प्रकार के ज्यामितिक आकृतियों वाला अथवा पशु-पक्षियों वाला कोई चित्र बनाकर पृष्ठ को तथा पुस्तक को सजाया जा सकता है। पृष्ठों के मध्य में भी विशिष्ट प्रकार की आकृतियाँ लिपिकार इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि लेख की पंक्तियों को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि पृष्ठ में स्वस्तिक या स्तम्भ या डमरू या इसी प्रकार का अन्य चित्र उभर आये। पृष्ठ के बीच में स्थान छोड़कर अन्य कोई चित्र, मनुष्य की या पशु की आकृति के चित्र बनाये जा सकते हैं। ये सभी चित्र सजावट या लिपिकार के लेखन-कौशल के प्रदर्शन के लिए होते हैं। पाण्डुलिपियों में ताड़पत्रों के ग्रन्थों के पत्रों के बीच में डोरी या सूत्र डालने के लिए गोल छिद्र किए जाते थे और लिखने में बीच में इसी निमित्त लेखक गोलाकार स्थान छोड़ देता था। यह अनुकरण कागज की पाण्डुलिपियों में भी किया जाने लगा। इस गोलाकार स्थान को विविध प्रकार से सजाया भी जाने लगा।

उपयोगी चित्रों वाली पुस्तकें

सजावट वाले चित्रों से भिन्न जब ग्रन्थ के विषय के प्रतिपादन के लिए या उसे दृश्य बनाने के लिए भी चित्र पुस्तक में दिये जाते हैं, तब ये चित्र पूरे पृष्ठ के हो सकते

---

1. लखनऊ संग्रहालय में हैं : 1547 ई. में चित्रित 23 चित्रों से युक्त फिरदोसी का 'शाहनामा', अकबर के समय में चित्रित छ: चित्रों वाली पोथी हरिवंश पुराण के अंशों के फारसी अनुवाद वाली, 17वीं शताब्दी का काश्मीर शैली के 12 चित्रों वाली कुण्डली (Scroll) के रूप में 'भागवत'। कोटा-संग्रहालय में श्रीमद्भागवत की एक ऐसी पाण्डुलिपि है जिसका प्रत्येक पृष्ठ रंगीन चित्रों से चित्रित है।

   कलकत्ता आशुतोष-कला-संग्रहालय में एक कागज पर लिखी 1105 ई. की बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की पाण्डुलिपि है, इसमें बौद्ध देवताओं के आठ चित्र हैं। इस प्रति का महत्त्व इसलिए भी है कि यह कागज पर लिखे प्राचीनतम ग्रन्थों में से है।

   अलवर संग्रहालय में महत्त्वपूर्ण चित्रित पाण्डुलिपियाँ इस प्रकार हैं — (1) भागवत-कुण्डली रूप में लिखित, चित्रयुक्त 18 फुट लम्बा है, (2) गीत गोविन्द, अलवर शैली के चित्रों से युक्त है, (3) वाकयाते-बाबरी, हुमायूं के समय में तुर्की से फारसी में अनूदित हुई। इसमें चित्र भारतीय-ईरानी शैली के हैं। 'शाहनामा'— इसके चित्र उत्तर-मुगल-काल की शैली के हैं। 'गुलिस्तां'— इसकी वह प्रति यहाँ सुरक्षित है जिसे महाराजा विनयसिंह से पौने दो लाख रुपये व्यय करके तैयार कराया था और इसको तैयार करने में 15 वर्ष लगे थे।

हैं और ग्रन्थ में आने वाली किसी घटना का एवं दृश्य का चित्रण भी इनमें हो सकता है। कभी-कभी इन चित्रों में स्वयं लेखक को भी हम चित्रित देख सकते हैं। पूरे पृष्ठों के चित्रों के अतिरिक्त ऐसी चित्रित पुस्तकों में पृष्ठ के ऊपरी आधे भाग में, नीचे आधे भाग में, पृष्ठ के बाईं ओर के ऊपरी चौथाई भाग में या बाईं ओर के नीचे के चौथाई भाग में, या नीचे के चौथाई भाग में चित्र बन सकते हैं या बीच में भी बनाए जा सकते हैं। ऊपर नीचे लेख और बीच में चित्र हो सकते हैं। जब कभी किसी काव्य के भाग को प्रकट करने के लिए चित्र दिए जाते हैं तो काव्य का कोई अंश चित्र के ऊपर या नीचे अंकित कर दिया जाता है। इस प्रकार ग्रन्थ अनेक प्रकार से चित्रित किए जा सकते हैं। ये चित्र सजावट वाली चित्रशैली से भी युक्त बनाए जा सकते हैं। ऐसे चित्रों में हाशिए को विविध प्रकार की सुन्दर आकृतियों से सजाया जाता है, तब चित्र बनाया जाता है।

इन चित्रों में अपने काल की चित्र-कला का रूप उभर कर आता है। इनके कारण ऐसी पुस्तकों का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

सामान्य स्याही में भिन्न माध्यम में लिखी पुस्तक

सामान्यतः पुस्तक लेखन में ताड़पत्रों को छोड़कर काली पक्की स्याही से ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। लाल स्याही को भी हम सामान्य ही कहेंगे, किन्तु इस प्रकार की सामान्य स्याही से भिन्न कीमती स्वर्ण या रजत अक्षरों में लिखे हुए ग्रन्थ थी मिलते हैं। अतः इनका एक अलग वर्ग हो जाता है। ये स्वर्णाक्षर अथवा रजताक्षर हस्तलेखों के महत्त्व और मूल्य को बढ़ा देते हैं। साथ ही ये लिखवाने वाले की रुचि और समृद्धि के भी द्योतक होते हैं। स्वर्णाक्षर और रजताक्षरों में लिखे हुए ग्रन्थों को विशेष सावधानी से रखा जायेगा और, उनके रखने के लिए भी विशेष प्रकार का प्रबन्ध किया जायेगा। स्पष्ट है कि स्वर्णाक्षरी और रजताक्षरी पुस्तकें सामान्य परिपाटी की पुस्तकें नहीं मानी जा सकती। ऐसी पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं।

अक्षरों के आकार पर आधारित प्रकार

अक्षर सूक्ष्म या अत्यन्त छोटे भी हो सकते हैं और बहुत बड़े भी। इसी आधार पर सूक्ष्माक्षरी पुस्तकों और स्थूलाक्षरी पुस्तकों के भेद हो जाते हैं। सूक्ष्माक्षरी पुस्तक के कई उपयोग हैं। पंचापाट में बीच के पाट को छोड़कर सभी पाट सूक्ष्माक्षर में लिखने होते हैं, तभी पंचपाट एक पन्ने में आ सकते हैं। इसी प्रकार से एक ही पन्ने में 'मूल' के अंश के साथ विविध टीका टिप्पणियाँ भी आ सकती हैं।

सूक्ष्माक्षरी—सूक्ष्माक्षरों में लिखी पुस्तक छोटी होगी, और सरलता से यात्रा में साथ ले जा सकती है। वस्तुतः जैन-मुनि यात्राओं में सूक्ष्माक्षरी पुस्तकें ही रखते थे।

अक्षरों का आकार छोटे-से-छोटा इतना छोटा हो सकता है कि उसे देखने के लिए आतिशी-शीशा आवश्यक हो जाता है। सूक्ष्माक्षर में लिखने की कला तब चमत्कारक रूप ले लेती है जब एक चावल पर 'गीता' के सभी अध्याय अंकित कर दिये जायें।

स्थूलाक्षरी

पुस्तक बड़े-बड़े अक्षरों में लिखी जाती हैं। ये मंद-दृष्टि पाठकों को सुविधा प्रदान करने के लिए मोटे अक्षरों में लिखी जाती हैं अथवा इसलिये कि इन्हें पोथी की भाँति पढ़ने में सुविधा होती है।

कुछ और प्रकार

अब जो प्रकार यहाँ दिए जा रहे हैं, वे आजकल प्रचलित प्रकार हैं। इन्हीं के आधार पर आज खोज रिपोर्टों में ग्रन्थ प्रकार दिए जाते हैं।

पाण्डुलिपियाँ इतने प्रकार की मिलती हैं—

(1) खुले पन्नों के रूप में। पत्राकार।

(2) पोथी। कागज को बीच से मोड़कर बीच से सिली हुई।

(3) गुटका। बीच से या ऊपर से (पुस्तक की भाँति) सिला हुआ। इसके पत्र अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। पन्नों का आकार प्राय: 6 × 4 इंच तक होता है।

(4) पोथो। बीच से सिली हुई।
पोथी और पोथो में अन्तर है। पोथी के पन्ने अपेक्षाकृत आकार में छोटे और संख्या में कम होते हैं। पोथो में इससे विपरीत बात है।

(5) पानावली। यह बहीनुमा होती है। लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम। चौड़ाई वाले सिरे से सिलाई की गई होती है। इसे बहीनुमा पोथी भी कभी-कभी कह दिया जाता है।

(6) पोथियाँ। पुस्तक की भाँति लम्बाई या चौड़ाई की ओर से सिला हुआ।

इसमें और पोथी में सिलाई का अन्तर है। पोथियाँ प्राय: संकलन ग्रन्थ होते हैं, अथवा अनेक रचनाओं को एकत्र कर लिया जाता है, बाद में उन सबको एक साथ बड़े ग्रन्थ के रूप में सिलवा लिया जाता है। इन सिले ग्रन्थों का लिपिकाल प्राय: भिन्न-भिन्न ही होता है।

कौनसा प्रकार कितना उपयोगी है, इसको समझने के लिए उसका उद्देश्य जानना जरूरी है।

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उन्हें वस्तुत: दो बड़े वर्गों में रखा जा सकता है।

(क) ग्रन्थ प्रकार

(1)

पत्रों के रूप में

1. खुले पत्रों के रूप में
2. बीच में छेद वाले डोरी-ग्रन्थि युक्त
   इनका प्रचलन सालहवीं शताब्दी के

(2)

जिल्द के रूप में

पोथो | पोथी | गुटका

पोथी — लम्बाई-चौड़ाई बराबर

गुटका — लम्बाई-चौड़ाई में लम्बाई अपेक्षाकृत अधिक
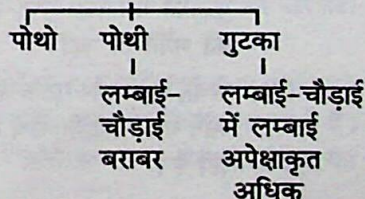
उत्तरार्द्ध से विशेष हुआ लगता है। जैनों के अतिरिक्त इसके पश्चात् जन-साधारण में और अन्यत्र यही रूप विशेष प्रचलित रहा। संख्या में सर्वाधिक यही मिलते हैं।

विशेषताएँ :

(1) इनमें पृष्ठ-संख्या लगाने की पद्धति :

(क) बायें हाथ की ओर हाशिये में सबसे ऊपर किन्तु 'श्री गणेश' भाग से हटकर कुछ नीचे, तथा

(ख) उसी पन्ने के द्वितीय भाग (पृष्ठ 2) में दायें हाथ की ओर नीचे।

(2) नाम लिखने की पद्धति :

(क) जहाँ पृष्ठ-संख्या लिखते थे उसके ठीक नीचे या ऊपर (सामान्यत:) रचना के नाम का प्रथम अक्षर (अपवादस्वरूप दो अक्षर भी) लिखते थे। ऐसा साधारणत: प्रथम पृष्ठ के बायें हाथ वाले अंक के साथ ही किया जाता था। दूसरे पृष्ठ के बायें हाशिये या दायें हाशिये में लिखी पृष्ठ-संख्या के पास भी। यों रचना नाम हाशियों (केवल बायें ही) के बीच में भी लिखे मिलते हैं।

(3) विशेष :

(क) एक पन्ने की संख्या एक ही मानी जाती थी, आधुनिक पुस्तकों में लिखी पृष्ठ-संख्या की भाँति दो नहीं।

(ख) पोथो, पोथी और गुटके में काम आने वाली पद्धति नीचे दी जा रही है।

इसका विशेष उद्देश्य—

पोथी : 1. घरू

2. सम्प्रदाय-पीठ, मन्दिर (एक शब्द में धार्मिक संख्या विशेष) के लिए

3. पीढ़ी के लिए सामूहिक रूप से भविष्य की पीढ़ियों के लिए

पोथी : ऊपर दी गयी बातों के अतिरिक्त

(i) भेंटस्वरूप देने के लिए

(ii) बेचने के लिए

(iii) किसी के कहने पर दान में देने के लिए। किसी के कहने पर लिखी गयी या बनायी गयी पोथी भी इसी वर्ग में आयेगी।

(iv) अपने लिए।

गुटका : उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित और :

(i) पाठ के लिए

(ii) स्वाध्याय हेतु

कुछ ऐसी प्रथा थी कि गुटके को सामान्यत: किसी को दिखाया या दिया नहीं जाता था। किन्तु ऐसी वर्जना उसी गुटके के लिए होती थी जिसमें धार्मिक भावना निहित होती थी, वैसे उसका खूब उपयोग होता था।

विशेष : इन सबमें गुटके के दोनों रूप विशेष प्रचलित रहे।

कारण : (1) सुविधा, (2) मजबूती एवं (3) संक्षेप लघु आकार। फलत: सैंकड़ों गुटके मिलते हैं। शेष दो रूप पोथो एवं पोथी भी मिलते हैं, पर अपेक्षाकृत कम।

विशेष उपयोगित्ता :

इन सब कारणों के अतिरिक्त इनकी कुछ और उपयोगिताएँ भी थीं, यथा—

1. राजस्थान के राजघराने में पठन-पाठन के लिए, संग्रह के लिए।
2. राजपूत राजघराने से विशेष रूप से सम्बन्धित चारण आदि जातियों में परम्परा सुरक्षित रखना और व्यवसाय की प्रतिष्ठा के लिए।
3. भाटों में.........दहेज में, गोद लेने पर, विशेष अवसर पर भेंट या प्रसन्नता के प्रतीक के रूप में दिये जाने के लिए।
4. नाथों में
5. जैनों में—तथा,
6. घनिष्ठ मित्रों आदि में आपस में दिये जाते थे—उदाहरणार्थ—
   (धर्म-भाई बनाते समय, धर्म-बहिन बनाते समय, पवित्र स्थानों में)

पोथो, पोथी, गुटका

इनमें भी पृष्ठ संख्या लगाने की पद्धति भी उपरिवत् है, प्रकार में यत्किंचत् भेद है। इन तीनों में ही 'लेजर' की भाँति 'फोलियो' संख्या रहती है। हमें 'फोलिया' शब्द ग्रहण कर लेना चाहिए।

पृष्ठ संख्या की पद्धति :

(1) बायें पन्ने के ऊपर आरम्भिक पंक्ति के बराबर या उससे कुछ नीचे संख्या दी जाती है। यही संख्या दायें पन्ने के दायें हाशिये के ऊपर इसी प्रकार लगाई जाती है। इनमें संख्या सामान्यत: ऊपर की ओर ही देने की परिपाटी रही है।

(2) दूसरा रूप इस प्रकार है—बायें पन्ने के ऊपर (उपरिवत्) तथा दायें पन्ने के दायें हाशिये में नीचे की ओर। यह पद्धति विशेष सुविधाजनक रहती है। एक ओर के किनारे नष्ट होने पर भी शेषांश बचा रहने पर इस संख्या का पता लगाया जा सकता है।

(3) पृष्ठ संख्या (फोलियो संख्या से तात्पर्य है) पोथो, पोथी, गुटका आदि में कहाँ तक दी जाय, इसके लिए दो परिपाटियाँ रही हैं—

(क) आदि से लेकर बीच की सिलाई के दायें पन्ने तक।

(ख) आदि से लेकर अन्तिम पन्ने तक।

विशेष : (ख) में दी गयी स्थिति में यदि अन्त में एक ही पन्ना हो और वह बायाँ हो सकता है, तो भी उसी ढंग से संख्या दी जाती थी। इसकी गणना ठीक उसी रूप में की जाती थी जिसमें शेष 'फोलियो' की।

(4) इनमें भी रचना का प्रथम अक्षर संख्या के नीचे लिखा रहता है किन्तु केवल बायें पन्ने की संख्या के नीचे ही।

इन तीनों के विषय में ये बातें विशेष रूप से लागू होती हैं—

(क) यदि संकलन-ग्रन्थ है, तो भिन्न रचना का नाम (उसका प्रथम अक्षर लिखा जायेगा)।

(ख) यदि हरजस, पद आदि विषयक ग्रन्थ है (जो संकलन ही है) तो उसमें 'ह.' या 'भ.' (भजन), गी. (गीत) आदि लिखा मिलता है।

(ग) यदि एक ही रचना है, तो स्वभावत: उसी के नाम का प्रथम अक्षर लिखा जायेगा।

सिलाई

(1) पत्राकार पुस्तकों में—

(क) खुले पत्रों के रूप में

(ख) बीच में छेद वाले रूप में

(क) खुले पत्रों वाली पुस्तकों की तो सिलाई का प्रश्न नहीं उठता। पन्ने क्रमानुसार सजाकर किसी बस्ते में बाँधे जाते थे। पुस्तक के ऊपर-नीचे विशेषत: लकड़ी की और गौणत: पत्तों के उसके पन्नों से कुछ बड़ी आकार की पटरियाँ लगा दी जाती थीं। इससे पन्नों की सुरक्षा होती थी। इसको भगवे, पीले या लाल रंग के वस्त्र से लपेट कर रखते थे। यह वस्त्र दो प्रकार का होता था—

(1) बुगचा—यह तीन ओर से मिला हुआ होता था, चौथे कोने में एक मजबूत डोरी भी लगी रहती थी। पटरियों सहित पुस्तक को इसमें रखकर डोरी से लपेट कर बाँध दिया जाता था।

(2) चौकोर वस्त्र—इस कपड़े से बाँध दिया जाता था।

(ख) बीच में छेद वाली खुले पन्नों की पुस्तकें अपेक्षाकृत कम मिलती हैं। प्रतीत होता है ताड़पत्र-ग्रन्थों की यह नकलें हैं। इस प्रकार की हस्तप्रति में प्रत्येक पन्ने के दोनों ओर ठीक बीच में एक ही आकार-प्रकार का फूल बना दिया

जाता था। अनेक में केवल एक पैसे (पुराने ताँबे के पैसे) के बराबर रंगीन गोला बना रहता था। इन ग्रन्थों में पन्नों की लम्बाई-चौड़ाई सावधानीपूर्वक एकसी रखी जाती थी। सब ग्रन्थ लिखे जाने के बाद उसके पन्नों में छेद करके रेशमी या ऊन की डोरी उनमें पिरो दी जाती थी। इस प्रकार इन्हें बाँध कर रखा जाता था। ऐसे ग्रन्थ सामान्यतः दूसरों को देने के लिए न होकर धर्म के स्थान-विशेष अथवा परिवार या व्यक्ति-विशेष के निजी संग्रह के लिए होते थे। इनके लिखने और रखने तथा प्रयुक्त करने में सावधानी और सतर्कता बरतनी पड़ती थी। व्यय भी अधिक होता था। यही कारण है कि ऐसे ग्रन्थ कम मिलते हैं।

(2) पोथो, पोथी, गुटका :

पुराने समय में जितने भी ऐसे ग्रन्थ देखने में आये हैं (डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने बीस हजार के लगभग ग्रन्थ देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि) वे सभी बीच से सिले हुए मिलते हैं। इनके दो रूप हैं—

(क) एक जैसे आकार के पन्नों को लेकर, उन्हें बीच से मोड़कर बीच से सिलाई की जाती थी।

(ख) क्रमशः चौड़ाई की ओर से घटते हुए आकार के पन्ने लगाना—

(1) ग्रन्थ के बड़ा होने के कारण या तथा

(2) लम्बाई अधिक होने के कारण ऐसा किया जाता था। उदाहरणार्थ—

पहले 100 पन्ने 1 फुट के

दूसरे 100 पन्ने 10 इंच (या 10" या 11") के

तीसरे 100 पन्ने 8 इंच के

ऐसे ग्रन्थ अपेक्षाकृत कम मिलते हैं, किन्तु यह पद्धति वैज्ञानिक है। ऐसे एक ग्रन्थ का उपयोग डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने डी.लिट् की थीसिस में किया है।

(3) सिलाई मजबूत रेशमी या बहुधा सूत की बटी हुई डोरी से होती थी। गाँठ वाला अंश प्रायः इनके बीच में लिया जाता था। यदि ग्रन्थ बड़ा हुआ तो मजबूती के लिए सिलाई के प्रत्येक छेद पर धागा पिरोने से पूर्व कागजों, गत्तों या चमड़ों का एक गोल आकार का अंश काटकर लगाते थे। ऐसा दोनों ओर भी किया जाता था और एक ओर भी किया जाता था। इसी को 'ग्रन्थि' कहते हैं। ज्ञातव्य है कि जिन ग्रन्थों में लिपिकार की (या जिनके लिए वह तैयार किया गया है—उनकी) किसी प्रकार की धर्मभावना निहित होती थी तो चमड़े का उपयोग कभी नहीं किया जाता था।

ऐसे ग्रन्थों की सिलाई के सम्बन्ध में दो बातें हैं—

(i) पहले सिलाई करके फिर ग्रन्थ लेखन करना,

(ii) पहले लिखकर फिर सिलाई करना। दूसरे के सम्बन्ध में एक बात और है। मान लीजिए कभी-कभी आरम्भ के 10 बड़े पन्नों पर रचना लिख ली गई है। तत्पश्चात् और अधिक रचनाओं के लिखने का विचार हुआ और उनको भी लिखा गया। अब सिलाई में आरम्भ के 10 बड़े पन्ने दो भागों में विभक्त होंगे। प्रथम 5 का अंश आदि में रहेगा और शेषांश सिलाई के मध्य भाग के पश्चात्। अतः यदि किसी ग्रन्थ के आदि भाग में कोई रचना अपूर्ण हो, और बाद में उसी ग्रन्थ में उसकी पूर्ति इस रूप में मिल जाये तो प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए।

(ग) आदि और अन्त के भाग में (प्रायः विषम संख्या के—5, 7, 9, 11) पन्ने अतिरिक्त लगा दिये जाते थे। इसके ये कारण थे

(i) मजबूती के लिए आदि और अन्त में कुछ कोरे पन्ने रहने से लिखित पन्ने सुरक्षित रहते हैं।

(ii) यदि रचना पूरी न लिखी जा सकी हो तो सम्भावित छूटे हुए अंश को लिखने के लिए।

(iii) लिपिकार, स्वामी, उद्देश्य आदि से सम्बन्धित बातें लिखने के लिए, उदाहरणार्थ—

(अ) कभी-कभी कोई ग्रन्थ बेचा भी जाता था। अन्त के पन्नों में या कभी आदि के पन्नों में भी उसका सन्दर्भ रहता था। गवाहों के नाम भी दिये जाते थे। बेचने की कीमत, मिति और संवत् का उल्लेख होता था।

(ब) यदि भेंटस्वरूप दिया गया, तो अवसर का, स्थान का, कारण का उल्लेख रहता था।

इन व्यवहारों को सूचित करने के लिए भी कुछ पन्ने कोरे छोड़े जाते थे। इन छूटे हुए या अतिरिक्त कोरे पन्नों के सम्बन्ध में ये बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(i) यदि कोई रचना अधूरी रह गई, तो प्रायः उसकी पूर्ति आरम्भ के पन्नों से की जाती थी। ऐसा करने में कभी-कभी आदि के भी तीन-चार या कम-बेशी पन्ने खाली रह जाते थे। हस्त-ग्रन्थों के विद्यार्थी और पाठक को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ii) किसी रचना का बाद में मिला हुआ कोई अंश भी इनमें लिखा जाता था, भले ही ऐसा कम ही किया जाता था।

(iii) ग्रन्थ में जिस कवि/लेखक की रचना लिपिबद्ध होती थी, प्रायः उसकी कोई अन्य रचना बाद में मिलती थी तो वह इन पत्रों में लिखी जाती थी।

शिलालेख : प्रकार

ग्रन्थों के बाद हस्तलेखों की दृष्टि से शिलालेखों का स्थान आता है। शिलालेख भी कितने ही प्रकार के माने जा सकते हैं—

(1) पर्वतांश पर लेख (पर्वत में लेखन-योग्य स्थान देकर उसे ही लेखन-योग्य बनाकर शिला-लेख प्रस्तुत किया जाता है।) ये शिला-लेख एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाये जा सकते।

(2) गुफाओं में पर्वतांश पर खुदे शिला-लेख। ये भी अन्यत्र नहीं ले जाये जा सकते।

(3) पर्वत से शिलाएँ काटकर उन पर अंकित लेख। ये शिलाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जा सकती हैं।

(4) स्तम्भों या लाटों पर लेख।

वर्णित विषय के आधार पर इन लेखों के कई भेद किए जा सकते हैं—

(1) राजकीय आदेश विषयक शिला-लेख,

(2) दान विषयक शिला-लेख,

(3) किसी स्थान निर्माण के अभिप्राय तथा काल के द्योतक शिला-लेख, तथा

(4) किसी विशेष घटना के स्मरण-लेख।

शिला-लेख सभी खुदे हुए होते हैं, किन्तु कुछ में खुदे अक्षरों में कोई काला पत्थर या सीसा (Lead) या अन्य कोई पदार्थ—मसाला भरकर लेख प्रस्तुत किये जाते हैं। ऐसा विशेषतः संगमरमर पर खुदे अक्षरों में किया जाता है।

ये सभी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। पर्वतीय शिला-लेख अचल होते हैं, अतः इन शिला-लेखों की छापें पाण्डुलिपि-आलय में रखी जाती हैं। जो शिला-लेख उठाये जा सकते हैं, वे मूल में ही ले जाकर हस्तलेखागार या पाण्डुलिपि-आलय में रखे जाते हैं।

छाप लेना—इनकी छाप लेने की प्रक्रिया यहाँ दी जाती है। यह पं. उदयशंकर शास्त्री के लेख से उद्धृत की जा रही है।

आरम्भ में इन शिलालेखों को पढ़ने के लिये अक्षरों को देखकर उनकी नकलें तैयार की जाती थीं और फिर उन्हें पढ़ने का कार्य किया जाता था। इस पद्धति से अक्षर का पूरा स्वरूप पाठक के सामने नहीं आ पाता, और इसीलिये कभी-कभी भ्रम भी हो जाया करता था। कभी-कभी पैरिस प्लास्टर की सहायता से भी छापें (Estampage) तैयार की गई, पर उनमें अक्षर की पूरी आकृति उभर नहीं पाती थी। अक्षर की पूरी गोलाई, मोटाई, उसके घुमाव, फिराव के लिये यह आवश्यक है कि जिस स्थान शिला अथवा ताम्रपट्ट पर वह

उत्कीर्ण हो उस पर छाप ली जाने वाली चीज पूरी तरह से चिपक सके। इसके लिये अब सबसे सुविधाजनक कागज उपलब्ध है, जिसे भारत सरकार जूनागढ़ से मँगवाती है। लेख वाले स्थान को पहिले साफ पानी से अच्छी तरह धोकर साफ कर लेना चाहिये ताकि अक्षरों में धूल, मिट्टी या और किसी तरह की कोई चीज भरी न रह जाये। फिर कागज को पानी में अच्छी तरह भिगोकर चिपका देना चाहिये, फिर उसे मुलायम ब्रुश से पीटना चाहिये, जिससे अक्षरों में कागज अच्छी तरह चिपक जाये। उसके बाद एक कपड़ा भिगोकर कागज के ऊपर लगा दें और उसे कड़े ब्रुश से पीट-पीट कर कागज को और चिपका दें। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि लेख पर कागज चिपकाते समय लेख और कागज के बीच में बुलबुले (Bubbles) न उठने पावें, और यदि उठ जायें तो उन्हें ब्रुश से पीट-पीटकर किनारे पर कर देना चाहिए अन्यथा अक्षर पर कागज ठीक चिपक न सकेगा। पीटते समय यदि कहीं से कागज फट जाये तो उसके ऊपर तुरन्त ही कागज का दूसरा टुकड़ा भिगोकर लगा देना चाहिये। थोड़ा पीट देने से कागज पहले वाले कागज में अच्छी तरह चिपक जायेगा। जब कागज अच्छी तरह से अक्षरों में घुस जाये तब ऊपर का कपड़ा उतार कर मुलायम ब्रुश से फिर इधर-उधर उठ गई फुटकियों को सुधार लेना चाहिये। अब थोड़ी देर तक कागज को हवा लगने छोड़ देना चाहिये जिससे कि कागज सूख जाये। फिर एक तश्तरी में कालिख (Black Japan) घोल कर डैबर की सहायता से लेख की पंक्तियों पर क्रमशः लगा देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी पंक्ति पर धब्बा न आने पाये अन्यथा अक्षर धुँधला पड़ जायेगा और उसकी आकृति स्पष्ट न हो सकेगी, कागज पर जब रोशनाई ठीक से लग जाये तब उसे सावधानी से उतार कर सुखा लेना चाहिये। आजकल कालिख को घोल कर लगाने के बजाय कोई-कोई सूखा ही लगाते हैं। पर उससे छाप (Estampage) में वह चमक नहीं आ पाती जो गीले काजल में आती है।

यह पद्धति उन लेखों के लिए है जो गहरे खोदे हुए होते हैं, पर उर्दू आदि के उभरे हुए लेखों के लिए अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है अन्यथा कागज फट जाने की बहुत सम्भावना रहती है।

साधारणतया छाप तैयार करने के लिए यह सामग्री अपेक्षित होती है—

(1) तिरछे लम्बे ब्रुश (Bent bar Brush) 2।

(2) एक गज सफेद हल्का कपड़ा।

(3) स्याही घोलने के लिये तश्तरी।

(4) एक डैबर (Dabbar) स्याही मिलाने के लिये।

(5) एक डैबर बड़ा (लेख पर स्याही लगाने के लिये)।

(6) जूनागढ़ी कागज (इसके अभाव में भी छाप लेने का काम मामूली कागज से लिया जा सकता है, पर कागज चिकना कम होना चाहिये)।

(7) चाकू।

(8) नापने के लिए कपड़े का फीता या लोहे का फुटा (यदि यह सब सामान एक छोटे सन्दूक में रखा जा सके तो यात्रा में सुविधा रहेगी)।

भारतीय लिपियों व शिला-लेखों का अनुसन्धान करने वालों को अग्रलिखित साहित्य देखना चाहिये—

एपिग्राफिया इंडिका।

एपिग्राफिया इंडोमुसोलोमिका।

एपिग्राफिया करनाटिका।

इंडिशेपैलियोग्राफी, जार्ज ब्यूलर।

इंडियन एण्टिक्वैरी।

'ए थ्योरी ऑफ ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फावेट' शामा शास्त्री का लेख, इंडियन एण्टीक्वैरी, मा. 25, पृ. 253-321।

पेलियोग्राफिक नोट्स, भंडारकर अभिनन्दन ग्रन्थ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख पृ. 309-322।

आउटलाइन्स ऑव पैलियोग्राफी, एच.आर. कापड़िया का लेख, जर्नल, ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, आर्ट एण्ड लेटर्स सं. 12, जि. 6 सन् 1938, पृ. 87-110।

ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑफ दी नागरी, गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्ट्स, एच. आर. कापडिया का लेख, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की पत्रिका भा. 19, 3 (1938) पृ. 386-418।

जैन-चित्र-कल्पद्रुम; भूमिका, मुनि पुण्य विजयजी अहमदाबाद।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला, म.म. पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अजमेर।

ओरिजन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट, राखालदास बन्द्योपाध्याय कलकत्ता।

इंडियन पेलियोग्राफी, भाग-1, डॉ. राजबली पाण्डेय काशी।

दी अल्फावेट, डी. डिरिंगर लंडन।

हिन्दी विश्व कोश (श्री नगेन्द्रनाथ वसु रचित) का 'अक्षर' शब्द कलकत्ता।

अशोक इंस्कृप्शनम इंडिकेरूम, हुल्श, लंडन।

अशोक इंस्कृप्शनम इंडिकेरूम, कनिंघम कलकत्ता।

गुप्त इंस्कृप्शनम, जे.एफ. फ्लीट. कलकत्ता।

अशोक की धर्मलिपियाँ, ओझा, श्यामसुन्दर दास काशी।

प्रियदर्शी प्रशस्तय:, म.म. रामावतार शर्मा पटना।

सेलेक्ट इंस्कृप्शन्स, डी.सी. सरकार कलकत्ता।

कलचुरी इंस्कृप्शन्स, वी.वी. मिराशी उटकमण्डु।[1]

---

1. शास्त्री, उदयशंकर (पं.)—शिला-लेख और उनका वाचन, भारतीय साहित्य (जनवरी, 1959), पृ. 132-134।

धातु पत्र : अन्य प्रकार के लेख :

ताम्र, रौप्य, सुवर्ण, कांस्य आदि के पत्र भी ऐसे ही कामों में आते हैं जैसे शिलालेख आते हैं। ये धातुपत्र एक विशेष उपयोग में भी लाये जाते हैं। वह है किसी के सम्मान में 'प्रशस्ति' लेखन। यह प्रथा तो आधुनिक युग में भी प्रचलित है। कई संस्थाओं ने विशिष्ट व्यक्तियों के सम्मान में उनकी यश:प्रशस्ति खुदवाकर ताम्रपत्रादि भेंट किये हैं।

पत्र-चिट्ठी पत्री :

यों तो सभी व्यक्तियों को लिखी चिट्ठी-पत्री को पाण्डुलिपि या हस्तलेख माना जा सकता है, पर पाण्डुलिपिकारों की दृष्टि से किसी न किसी ऐतिहासिक महत्त्व की चिट्ठी-पत्री को ही पाण्डुलिप्यागारों में स्थान दिया जा सकता है—ये पत्र कई प्रकार के हो सकते हैं, यथा—

राजकीय व्यवहार के पत्र—ये पत्र परस्पर राजकीय उद्देश्य से लिखे जाते हैं। इनसे तत्कालीन राजकीय दृष्टि और मनोवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है, और ऐतिहासिक घटनाओं का भी इनमें उल्लेख रह सकता है, तथा ये स्वयं किन्हीं राजकीय घटनाओं का कारण बन सकते हैं।

राजकीय व्यक्तियों के निजी और घरेलू पत्र—इन पत्रों से उन व्यक्तियों की निजी और स्वयं तथा नाते-रिश्ते सम्बन्धी वार्ता पर प्रकाश पड़ता है। कभी-कभी ये राजकीय घटनाओं की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि या भूमिका भी प्रस्तुत कर सकते हैं। इन पत्रों का एक वर्ग अपनी पत्नी या प्रेमिका को लिखे गये या उनसे मिले पत्रों का भी हो सकता है। इनमें एक वर्ग उन पत्रों का हो सकता है जिनसे घरेलू समस्याओं पर प्रकाश पड़ता हो।

निम्नलिखित प्रकार के पत्र भी संगृहणीय हो सकते हैं—

साहित्यकारों—कलाकारों के पत्र

बड़ी-बड़ी फर्मों के पत्र

सफल व्यापारियों के व्यावसायिक पत्र

सफल व्यापारियों के निजी पत्र

राजनेताओं तथा अन्य महान् आत्माओं के पत्र, सार्वजनिक व निजी

इसी प्रकार अन्य कोटि के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक-पत्र भी पाण्डुलिपि की कोटि में रखे जा सकते हैं।

कुछ अद्भुत लेख :

कौशल दिखाने के लिए ऐसे लेख भी लिखे गये हैं जो सीप, हाथीदाँत, चावल तथा अन्य ऐसे ही पदार्थों पर हों। वस्तुतः ये 'अद्भुतालय' (Museum) में रखने की वस्तुएँ हैं। पर पाण्डुलिपि के क्षेत्र में तो परिगणनीय है ही।

मिट्टी, चीनी या धातुओं के विविध पत्रों पर अंकित कोई लेख, जो छोटा या 2-4 अक्षरों का ही क्यों न हो, पाण्डुलिपि माना जायेगा।

इसी प्रकार विविध सिक्के भी जिन पर काई अभिप्राय या लेख या वृत्त (Legend) अंकित हैं, पाण्डुलिपि हैं।

मिट्टी के खिलौने या साँचे भी जिनमें कोई वृत्त अंकित हो, पाण्डुलिपि है।

पत्थर, धातु या अन्य प्रकार की वे मूर्तियाँ जिन पर लेख हैं, पाण्डुलिपि मानी जायेंगे।

ऐसे ही वस्त्राभूषण, अँगूठियाँ, पर्दे, पट-कथा के पट, जिन पर लिपि में कुछ हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी प्रकार के 'लिप्यासन' (लिपि का आसन) पर लिपि-रचना पाण्डुलिपि की कोटि में आयेगी।

उपसंहार

पाण्डुलिपि के कितने ही प्रकारों की विस्तृत चर्चा ऊपर की गयी है। इनमें नत्थियों एवं चिट्ठी-पत्रियों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया। इनका विवेचन आधुनिक पाण्डुलिपि पुस्तकालयों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह विषय इतना विशद् भी है कि प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड को जन्म दे सकता है।

यहाँ तक जितना विषय चर्चित हुआ है, उतना स्वमेव एक पूरे विज्ञान का एक पूरा पक्ष प्रस्तुत कर देता है। अतः इतनी चर्चा ही इस अध्याय के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है।

❑❑❑

5

लिपि-समस्या

महत्त्व :

पाण्डुलिपि-विज्ञान में लिपि का बहुत महत्त्व है। लिपि के कारण ही कोई चिह्नित वस्तु हस्तलेख या पाण्डुलिपि कहलाती है। 'लिपि' किसी भाषा को चिह्नों में बाँधकर दृश्य और पाठ्य बना देती है। इससे भाषा का वह रूप सुरक्षित होकर सहस्राब्दियों बाद तक पहुँचता है जो उस दिन था जिस दिन वह लिपिबद्ध किया गया। विश्व में कितनी ही भाषाएँ हैं, और कितनी ही लिपियाँ हैं। पाण्डुलिपि-विज्ञान के अध्येता के लिए और पाण्डुलिपि-विज्ञान-विद् बनने वालों के समक्ष कितनी ही लिपियों में लिखी गयी पाण्डुलिपियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं। पुस्तक की अन्तरंग जानकारी के लिए उन पुस्तकों की लिपियों का कुछ ज्ञान अपेक्षित है। वस्तुतः विशिष्ट लिपि का ज्ञान उतना आवश्यक नहीं जितना उस वैज्ञानिक विधि का ज्ञान अपेक्षित है जिससे किसी भी लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति का पता चलता है। इस ज्ञान से हम विशिष्ट लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति जानकर अध्येता के लिए अपेक्षित पाण्डुलिपि का अन्तरंग परिचय दे सकते हैं। अतः लिपि का महत्त्व है, किसी विशेष युग या काल के विशेष दिन की भाषा के रूप को पाठ्य बनाने के लिए सुरक्षित करने की दृष्टि से एवं इसलिए भी कि इसी के माध्यम से पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी वैज्ञानिक विधि से पुस्तक के अन्तरंग का अपेक्षित परिचय निकाल सकता है, अतः आज भी लिपि का महत्त्व निर्विवाद है, वह चाहे पुरानी से पुरानी हो या अर्वाचीन।

लिपियाँ :

विश्व में कितनी ही भाषाएँ हैं और कितनी ही लिपियाँ हैं। भाषा का जन्म लिपि से पहले होता है, लिपि का जन्म बहुत बाद में होता है। क्योंकि लिपि का सम्बन्ध चिह्नों से है, चिह्न 'अक्षर' या 'अल्फाबेट' कहे जाते हैं। ये भाषा की किसी ध्वनि के चिह्न होते हैं। अतः लिपि के जन्म से पूर्व भाषा-भाषियों को भाषा के विश्लेषण में यह योग्यता प्राप्त हो जानी चाहिये कि वे जान सकें कि भाषा में कुल ध्वनियाँ कितनी हैं जिनसे भाषा के सभी शब्दों का निर्माण हो सकता है। भाषा का जन्म वाक्य रूप में होता है। विश्लेषक बुद्धि का विकास होने पर भाषा को अलग-अलग अवयवों में बाँटा जाता है। उन अवयवों में फिर शब्दों को पहचाना जाता है। शब्दों को पहचान सकने की क्षमता विश्लेषक-बुद्धि

के और अधिक विकसित होने का परिणाम होती है। 'शब्द' अर्थ से जुड़े रहकर ही भाषा का अवयव बनते हैं। संस्कृति और सभ्यता के विकास से 'भाषा' नये अर्थ, नयी शक्ति और क्षमता तथा नया रूपान्तरण भी प्राप्त करती हैं। संशोधन, परिवर्द्धन, आगम, लोप और विपर्यय की सहज प्रक्रियाओं से भाषा दिन-ब-दिन कुछ से कुछ होती चलती है। इस प्रक्रिया में उसके शब्दों में भी परिवर्तन आते हैं, तद्नुकूल अर्थ-विकार भी प्रस्तुत होते हैं। अब 'शब्द' का महत्त्व हो उठता है। शब्द की इकाइयों से उनके 'ध्वनि-तत्त्व' तक सहज ही पहुँचा जा सकता है। यह आगे का विकास है। ध्वनियों के विश्लेषण से किसी भाषा की आधारभूत ध्वनियों का ज्ञान मिल सकता है। इस चरण पर आकर ही 'ध्वनि' (श्रव्य) को दृश्य बनाने के लिए चिह्न की परिकल्पना की जा सकती है।

भाषा बोलना आने पर अपने समस्त अभिप्राय को व्यक्ति एक ऐसे वाक्य में बोलता है जिसके अवयवों में वह अन्तर नहीं करता होता है—यथा, वह कहता है—

(i) ''मैंखानाखाताहूँ''

यह पूरा वाक्य उसके लिए एक इकाई है। फिर उसे ज्ञान होता है अवयवों का। यहाँ पहले विकास के इस स्तर पर दो अवयव ही हो सकते हैं, (i) 'मैं' तथा (ii) 'खाना खाता हूँ'। इस प्रकार उसे भाषा में दो अवयव मिलते हैं—अब वह अन्य अवयवों को भी पहचान सकता है। इन अवयवों के बाद वह शब्दों पर पहुँचता है, क्योंकि जैसे वह अपने लिए 'मैं' को अलग कर सका, वैसे ही वह खाद्य पदार्थ के लिए 'खाना' शब्द को भी अलग कर सका—अब वह जान गया कि मैंने चार शब्दों से यह वाक्य बनाया था—

	1	2	3	4
(ii)	मैं	खाना	खाता	हूँ

सांस्कृतिक विकास से उसमें यह चेतना आती है कि ये शब्द ध्वनि-समुच्चय से बने हैं। इनमें ध्वनि-इकाइयों को अलग किया जा सकता है—यहीं ध्वनि में स्वर और व्यंजन का भेद भी समझ में आता है। अब वह विकास के उस चरण पर पहुँच गया है जहाँ अपनी एक-एक ध्वनि के लिए एक-एक चिह्न निर्धारित कर वर्णमाला खड़ी कर सकता है। यहीं लिपि का जन्म होता है—हमारी लिपि में उक्त वाक्य के लिपि चिह्न ये होंगे—मैं = म + ै + ँ/खाना = ख + ा + न + ा/खाता = ख + ा + त + ा/हूँ = ह + ू + ँ।

ये लिपि चिह्न भी हमें लिपि विकास के कारण इस रूप में मिले हैं।

चित्र-लिपि :

किन्तु वर्णमाला से भी पहले लेखन या लिपि का आधार चित्र थे। चित्रों के माध्यम से मनुष्य अपनी बात ध्वनि-निर्भर वर्णमाला से पहले से कहने लगा था। चित्रों का सम्बन्ध ध्वनि या शब्दों से नहीं वरन् वस्तु से होता है। चित्र वस्तु की प्रतिकृति होते हैं। भाषा—वह भाषा जिसका मूल भाषण या वाणी है, इस भाषा से पूर्व मनुष्य 'संकेतों' से काम लेता था। संकेत का अर्थ है कि मनुष्य जिस वस्तु को चाहता है उसका संकेत कर उसके उपयोग

को भी संकेत से बताता है—यदि वह लड्डू खाना चाहता है तो एक हाथ की पाँचों उँगलियों के पोरों को ऊपर ऐसे मिलायेगा कि हथेली और अंगुलियों के बीच ऐसा गोल स्थान हो जाय कि उसमें एक लड्डू समा सके, फिर उसे वह मुँह से लगायेगा—इसका अर्थ होगा—'मैं लड्डू खाऊंगा'। इसमें एक प्रकार से चित्र प्रक्रिया ही कार्य कर रही है। हाथ की आकृति लड्डू का चित्र है, उसे मुख से लगाना लड्डू को मुँह में रखने का चित्र है। गूँगों की भाषा चित्र-संकेत-भाषा है।

मनुष्य ने चित्र बनाना तो आदिम से आदिम स्थिति में ही सीख लिया था। प्रतीत यह होता है कि उन चित्रों का वह आनुष्ठानिक टोने के रूप में प्रयोग करता था।

फिर वह चित्र बनाकर अन्य बातें भी दर्शित करने लगा। इस प्रयत्न से चित्रलिपि का आरम्भ हुआ। इस प्रकार से देखा जायें तो चित्रलिपि का आधार वाणी, बोली या भाषा नहीं, वस्तुबिम्ब ही है। वस्तुबिम्ब को रेखाओं में अनुकूल करने से चित्र बनता है। आदिम अवस्था में ये रेखाचित्र स्थूल प्रतीक के रूप में थे। उसने देखा कि मनुष्य के सबसे ऊपर गोल सिर है, अतएव उसकी अनुकृति के लिए उसकी दृष्टि से चिह्न एक वृत्त O होगा। यह सिर गरदन से जुड़ा हुआ है, गरदन कन्धे से जुड़ी है। यह उसे एक '⊥' छोटी सीधी खड़ी रेखा-सी लगी। कन्धा भी उसे पड़ी सीधी रेखा के समान दिखायी दिया '—'। इसके दोनों छोरों पर दो हाथ जो कुहनी से मुड़ सकते हैं और छोर पर पाँच अँगुलियाँ अर्थात् प्रस्तुत चित्र। धड़ को उसने दो रेखाओं से बने डमरू के रूप में समझा क्योंकि कमर, पतली, वक्ष और उरु चौड़े = धड़। कभी-कभी धड़ को वर्गाकार या आयताकार भी बनाया। नीचे पैर ⧗ और टाँगें। इन्हें बनाने के लिए दो आड़ी रेखाएँ '//' और एक दिशा में मुड़े पैर

की द्योतक दो पड़ी रेखाएँ '—' '—'। मानव के बिम्ब का रेखानुकृति ने यह रूप लिया—
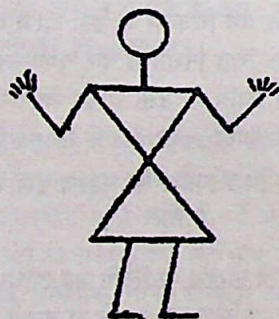
(चित्र-1)

यह रेखा-चित्र तो प्रक्रिया को समझाने के लिए है।

यह रेखांकन की प्रक्रिया है जिसमें चित्र बनाने वाले की कुशलता से रूप में भिन्नता आ सकती है पर जो भी रूप होगा, वह स्पष्टतः उस वस्तु का बिम्ब प्रस्तुत करेगा, यथा—
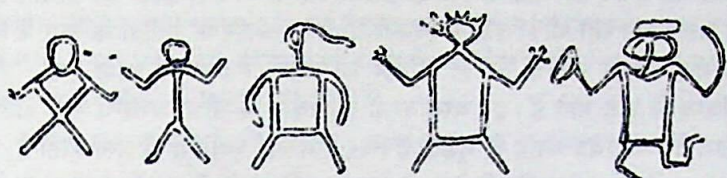
(चित्र-2)

आदिम मानव के बनाये चित्र हैं। वर्गाकार छड़ दृष्टव्य है।

चित्रलिपि में मनुष्य के विविध रेखांकन सिन्धुघाटी की मुहरों की छापों से नीने दिये गए हैं। ये वास्तविक लिपि-चिह्न हैं।

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15

I

II

III

IV
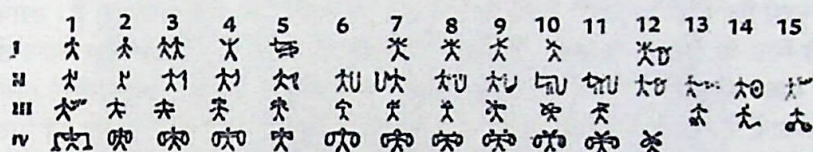
(चित्र-3)

भागते कुत्ते को बताने के लिए वह कुत्ते को भागने की मुद्रा में रेखांकित करने का प्रयत्न करेगा। भले ही उसके पास अभी कुत्ते के लिए वाणी या भाषा में कोई शब्द न हो, न भागने के लिए ही कोई शब्द हो। चित्रलिपि इस प्रकार भाषा के जन्म से पूर्व की संकेत लिपि की स्थानापन्न हो सकती थी। चित्रलिपि के लिए केवल वस्तुबिम्ब अपेक्षित था।

इतिहास से भी हमें यही विदित होता है कि चित्रलिपि ही सबसे प्राचीन लिपि है। आनुष्ठानिक टोने के चित्रों से आगे बढ़कर उसने चित्रलिपि के माध्यम से वस्तुबिम्बों की रेखाकृतियाँ पैदा कीं तथा आनुष्ठानिक उत्तराधिकार में देवी-देवताओं के काल्पनिक मूर्तरूपों रेखाकृतियाँ पैदा की तथा आनुष्ठाानिक उत्तराधिकार में देवी-देवताओं के काल्पनिक मूर्तरूपों या बिम्बों की अनुकृतियों का उपयोग भी किया। मिस्र की चित्रलिपि इसका एक अच्छा उदाहरण है। इसके सम्बन्ध में ''एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स'' में उल्लेख है कि चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति अपने आप में अभिव्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ थी। अभिव्यक्ति की यह प्रतिबन्धता विचार और भाषा के द्वारा प्रस्तुत की गई थी। इन प्रतिबन्धताओं के कारण बहुत पहले ही चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति दो भिन्न शाखाओं में बँट गयी। एक सजावटी कला और दूसरी चित्राक्षरिक लेखन (जर्नल ऑव ईजिप्ट, आर्क्योलाजी, ii [1915], 71-75)। इन दोनों शाखाओं का विकास

साथ-साथ होता गया और एक-दूसरे से मिलकर भी निरन्तर विकास में सहायक होती गई। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि एक ने दूसरे के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप किया।[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रक्रियाओं के योग से मिस्र की प्राचीन लिपि अपना रूप ग्रहण कर रही थी। चित्रों से विकसित होकर ध्वनि के प्रतीक के रूप में लिपि का विकास एक जटिल प्रक्रिया का ही परिणाम हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि 'चित्र' दृश्य वस्तुबिम्ब से जुड़े होते हैं। इन वस्तुबिम्बों का ध्वनि से सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। वस्तु को नाम देने पर चित्र ध्वनि से जुड़ता है। पर नाम कई ध्वनियों से युक्त होता है, इधर ध्वनि-समुच्चय में से एक ध्वनि-विशेष को उस वस्तुबिम्ब के चित्र से जोड़ना और चित्र का विकास वर्ण (Letter) के रूप में होना—इतना हो चुकने पर ही ध्वनि और लिपि-वर्ण परस्पर सम्बद्ध हो सकेगे और 'लिपि-वर्ण' आगे चलकर मात्र एक ध्वनि का प्रतीक हो सकेगा। यह तो इस विकास का बहुत स्थूल विवरण है। वस्तुत: इन प्रक्रियाओं के अंतरंग में कितनी ही जटिलताएँ गुँथी रहती हैं।

पर आज तो सभी भाषाएँ 'ध्वनि मूलक' हैं, किन्तु पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को तो कभी प्राचीनतम लिपि का या किसी लिपि का पूर्व रूप का सामना करना पड़ सकता है। उसके सामने मिस्र के पेपीरस आ सकते हैं। साथ ही भारत में 'सिन्धु-लिपि' के लेख आना तो बड़ी बात नहीं। सिन्धु की एक विशेष सभ्यता और संस्कृति स्वीकार की गयी है। नये अनुसन्धानों से 'सिन्धु-सभ्यता' के स्थल राजस्थान एवं मध्य भारत तथा अन्यत्र भी मिल रहे हैं और उनकी लिपि के लेख भी मिल रहे हैं। तो ये लेख कभी भी पाण्डुलिपि-वैज्ञानिक के सामने आ सकते हैं। अत: यह अपेक्षित है कि वह विश्व में लिपियों के उद्भव व विकास के सिद्धान्तों से परिचित हो।

चित्र

आदिम मानव ने पहले चित्र बनाए। चित्र उसने गुफाओं में बनाए। गुफाओं में ये चित्र अँधेरे स्थान में गुफा की भित्ति पर बनाये हुए मिलते हैं। इन चित्रों में वस्तु-बिम्ब को रेखाओं के द्वारा अंकित किया गया है। आदिम मानव के ये चित्र 20,0000 ई.पू. से 4000 ई.पू. के बीच के मिलते हैं।

इन चित्रों को बनाते-बनाते उसमें यह भाव विकसित हुआ होगा कि इन चित्रों से वह अपनी किसी बात को सुरक्षित रख सकता है और ये चित्र परस्पर किसी बात के सम्प्रेषण के उपयोग में लिए जा सकते हैं। इस बोध के साथ चित्रों का उपयोग करने से ही वे चित्र 'लिपि' का काम देने लगे। यह लिपि 'बिम्ब-लिपि' थी। कई वस्तु-बिम्बों को एक क्रम

---

1. The inability of pictorial representation, as such, to meet all the exigencies of expression imposed by thought and language early led to its bifurcation into the two separate branches of illustrative art and hieroglyphic writing (Journal of Egypt Arecheology, ii. [1915] 71-75). There two branches persued their development pari passu and in constant combination with one another, and it not seldom happened that one of them encroached upon the domain of its fellow. —**Encyclopaedia of Religion and Ethics (Vol. IX), p. 787.**

में प्रस्तुत कर, उनसे उनमें निहित गति या कार्य से भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया। यह बिम्ब-लिपि चित्रलिपि की आधारभूमि मानी जा सकती है।

जब मानव बहुत-सी बातें कहना चाहता था, वह उन्हें उस माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता था, जो चित्रों के आभास से उसे मिल गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तु-बिम्ब छोटे बनाए जाने लगे, जिससे बहुत-से बिम्ब-चित्र सीमित स्थान में आ सकें और उसकी विस्तृत बात को प्रस्तुत कर सकें।

अत: लेखन और लिपि के लिए प्रथम चरण है 1. बिम्ब-अंकन

देखिए—ये चित्र[1]

द ला ग्रेज : जंगली बैल (प्रस्तर युग)
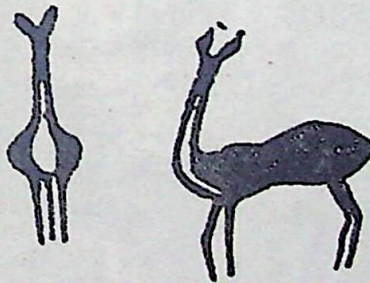
बुशमैन—चित्र, दो शैलीबद्ध हिरण, ब्रैण्डवर्ग, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका

---

1. यह चित्र 30,000 से 10,000 ई.पू. के हैं। Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the art of some of the most primitive of men known to the anthropologist (from 30,000 to 10,000 B.C.)

—The Meaning of Art, p. 53.

'बनियावेरी गुफा' (पंचमढ़ी-क्षेत्र) में गो-पंक्ति के ऊपर अंकित स्वास्तिक पूजा

और दूसरा चरण है उससे सम्प्रेषण का काम लेना। इसे हम—

2. बिम्ब-लिपि का नाम दे सकते हैं।

इस चित्र से स्पष्ट है कि स्वास्तिक पूजा और छत्र-अर्पण के पूरे शान्तिमय भाव को प्रेषित करने के लिए, पूजा-भाव में पशुओं के आदर के समावेश की कथा को और पूजा-विधान को हृदयंगम कराने के लिए चित्र-लेखक इस चित्र के द्वारा बिम्बों से संप्रेषित करना चाहता है। अतः यह लिपि का काम कर उठा है। यह लिपि ध्वनियों की नहीं, बिम्बों की है। छत्रधारी मनुष्य कितने ही हैं, अतः वे लघु आकृतियों में हैं।

'बिम्ब' और धीरे-धीरे रेखाकारों के रूप में परिवर्तित हो उठता है। तब हम इसे

3. रेखाकार चित्र-लिपि कह सकते हैं।

सहनर्तन, जम्बूद्वीप (पंचमढ़ी)

आरोही नर्तक, कुप्पगल्लु (वेलारी, रायचूर, द.भा.)

4. तब, आगे बिम्ब-लिपि और रेखाचित्र-लिपि के संयोग से 'चित्रलिपि' प्रस्तुत हुई।
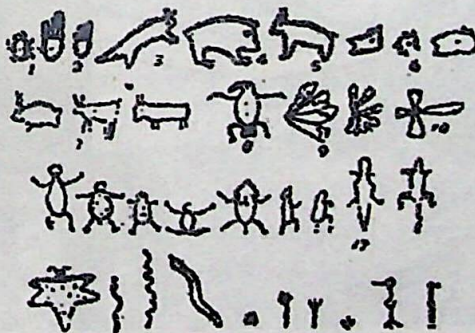
[ऐरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में से एक है।]

'चित्रलिपि' में प्राय: रेखाकारों में छोटे-छोटे चित्रों द्वारा संप्रेषण सिद्ध होता था। इसी लिपि का नाम 'हिअरोग्लाफिक' लिपि है। यह मिस्र की पुरातन लिपि है। कैलीफोर्निया और एरिजोना में भी चित्र लिपि मिली है। ये भी प्राचीनतम लिपियाँ मानी जाती हैं। ऐस्किमो जाति और अमेरिकन इण्डियनों की चित्र-लिपि को ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

मिस्र के अलावा हिट्टाइट, माया (मय?) और प्राचीन क्रीट में भी चित्रलिपि या हिअरोग्लाफ मिले हैं।

हिअरोग्लाफ का अर्थ मिस्री-भाषा में होता है, 'पवित्र अंकन', इसे यूनानियों ने 'दैवी शब्द' (Gods Words) भी कहा है। स्पष्ट है कि इस लिपि का उपयोग मिस्र में धार्मिक अनुष्ठानों में होता रहा होगा।

इस चित्रलिपि का मिस्र में उदय 3100 ई.पू. से पहले हुआ होगा।

पहले विविध वस्तु-बिम्वों के रेखाकारों को एकसाथ ऐसे संजोया गया कि उसका 'कथ्य-दृश्य' पाठक की समझ में आ जाय। इसमें जन-जन द्वारा मान्य बिम्ब लिए गये। ये चित्रलिपि कभी-कभी बहुत निजी उद्‌भावना भी हो सकती है, इस स्थिति में ऐसे चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं जिनकी आकृतियाँ सर्वमान्य नहीं होती।

फिर भी, इस भाषा में अधिकांश बहुमान्य बिम्ब आकृतियों का उपयोग ही होता है। इन्हीं के कारण यह लिपि इस रूप में आगे विकास कर सकी।

पहली स्थिति में एक बिम्ब-चित्र उस वस्तु का ही ज्ञान कराता था, जैसे 'O' यह बिम्बाकार सूर्य के लिए गृहीत हुआ। मनुष्य एक घुटने पर बैठा, एक घुटना ऊपर उठा हुआ और मुँह पर लगा हुआ हाथ—इस आकृति का अर्थ था 'भोजन करना'।

इसका विकास इस रूप में हुआ कि वही पहला चित्र एक वस्तु-बिम्ब का अर्थ न देकर उसी से सम्बद्ध अन्य अर्थ भी देने लगा—जैसे O इसका अर्थ केवल सूर्य नहीं रहा, वरन् सूर्य का 'देवता' रे (Re) या रा (Ra) भी हो गया और 'दिन' भी। इसी प्रकार 'मुख पर हाथ' वाली मानवाकृति का एक अर्थ 'चुप' भी हुआ। स्पष्ट है कि इस विकास में पूर्वाकृति वस्तुबिम्ब के यथार्थ से हटकर प्रतीक का रूप ग्रहण कर रहे विदित होते हैं।

वे बाद में इस चित्रलिपि के चित्राकार ध्वनि-प्रतीकों का काम देने लगे।

इस अवस्था में चित्रों के माध्यम से मनुष्य जो भी अभिव्यक्त कर रहा था, वह भाषा का ही प्रतिरूप था। प्रत्येक चित्रकार के लिए एक बिम्ब-चित्र एक शब्द था। कुछ चित्राकार जब व्यंजन-ध्वनियों के प्रतीक बने तो वे उस शब्द के प्रथमाक्षर की ध्वनि से जुड़े रहे। जैसे 'शृङ्गीसर्प'[1] के लिए शब्द था 'फ्त' (ft)। इसकी प्रथम ध्वनि 'फ्' से यह 'शृङ्गीसर्प' जुड़ा रहा। अर्थात् 'शृङ्गीसर्प' अब 'फ' व्यंजन के लिए 'वर्ण' का काम कर उठा था।

इस प्रकार हमने देखा कि हम विकास में 'लिपि', जिसका अर्थ है 'ध्वनि-प्रतीक' वाली वर्णमाला, ऐसी लिपि की ओर हम दो कदम आगे बढ़ाए।

5. प्रतीक चित्राकृति—चित्रलिपि में आये स्थूल चित्र जब प्रतीक होकर उस मूल बिम्बाकृति द्वारा उससे सम्बन्धित दूसरे अर्थ भी देने लगे तब वह प्रतीक अवस्था में पहुँची।

---

1. शृंगीसर्प = सींग वाला साँप।

अब चित्रलिपि के चित्र केवल चित्र ही नहीं रहे, वे प्रतीक हो गए। इसे भावमूलक या Diographic भी कहा जाता है। ये ही आगे विकसित होकर—

6. ध्वनि प्रतीक हो गए। अब 'शृङ्गीसर्प', शृङ्गीसर्प नहीं रहा, वह वर्णमाला की व्यंजन ध्वनि 'फ' का चिह्न हो गया। इस प्रकार चित्रलिपि ध्वनि की वर्णमाला की ओर अग्रसर हुई। किन्तु, चित्र ध्वनि-प्रतीक बने, अपने चित्र रूप को उसने फिर भी कुछ काल तक सुरक्षित रखा, पर अब तो वे लिपि का रूप ग्रहण कर रहे थे। अतएव अधिकाधिक उपयोग में आने के कारण उनकी आकृति में भी विकास हुआ। अब एक मध्यावस्था आयी। इसमें चित्र भी रहे, और चित्रों से विकसित वे ध्वनि-प्रतीक भी सम्मिलित हुए जो चित्रों से वर्णचिह्नों के रूप में परिणत हो रहे थे।

इसी वर्ग में वह भाषा भी आती है जिसमें वर्णमाला न होकर शब्द-माला होती है, और उन्हीं से अपने विविध भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द-रूप बनाये जाते हैं।

7. अब यह विकसित स्थिति आयी जहाँ 'चित्र' पीछे छूट गये, ध्वनि-चिह्न मात्र काम में आने लगे। अब लिपि पूर्णत: ध्वनि-मूलक हो गयी।

ध्वनिमूलक वर्णमाला के दो भेद होते हैं—

एक—अक्षरात्मक (Syllablic)

दूसरी—वर्णनात्मक (Alphabetic)

देवनागरी वर्णमाला अक्षरात्मक है क्योंकि 'क' = 'क + अ', अत: यह अक्षर या Syllabic है। रोमन वर्णमाला वर्णात्मक है क्योंकि K = क् जो वर्ण या (Alphabet) है। हिन्दी की 'क' ध्वनि के लिए रोमन वर्ण K में a मिलाना होता है— क = Ka। इसमें 'a' = अ।

आज विश्व में हमें तीन प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं—

एक— वे जिनमें एक लिपि-चिह्न एक शब्द का द्योतक होता है। यह चित्र लिपि का अवशेष है या प्रतिस्थानापन्न है।

दूसरी— वे, जो अक्षरात्मक हैं, तथा

तीसरी—वे जो वर्णात्मक हैं।

पर, ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि चित्रलिपि का उपयोग अब नहीं होता। अमरीका की एक आदिम जाति की चित्रलिपि का एक उदाहरण डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रन्थ में दिया है—
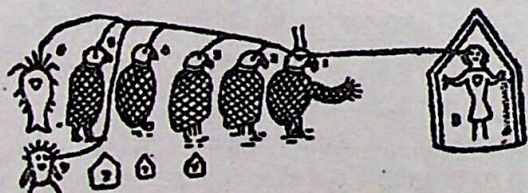
चित्र लिपि (रेड इंडियन सरदार का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति के नाम पत्र)

हमने यहाँ चित्र से चलकर ध्वनि-मूलक लिपियों तक के विकास की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में और अत्यन्त स्थूल रूप में की है, ऐसा हमने यह जानने के लिए किया है कि लिपि-विकास की कौन-कौनसी स्थितियाँ रही हैं और उनसे लिपि विकास के कौन-कौनसे स्थूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। वस्तुत: पाण्डुलिपि-वैज्ञानिक के लिए लिपि-विकास को जानना केवल इसीलिए अपेक्षित है कि इसमें विविध लिपियों से परिचित होने में और किसी भी लिपि के उद्घाटन में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता मिल सकती है।

इस दृष्टि से कुछ और बातें भी जानने योग्य हैं। यथा, एक यह कि लिपियाँ सामान्यत: तीन रूपों में लिखी जाती हैं— (1) दायें से बायीं ओर—जैसे फारसी लिपि (2) बायें से दायीं ओर जैसे, देवनागरी या रोमन, और (3) ऊपर से नीचे की ओर— यथा, 'चीनी' लिपि। किसी भी अज्ञात लिपि के उद्घाटन (Decipher) या पठन के लिए यह जानना प्रथम आवश्यकता है कि वह लिपि दायें से बायें, बायें से दायें या ऊपर से नीचे की ओर लिखी गयी है। वस्तुत: यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में मिस्र की चित्रलिपि में, और भारत की प्राचीन देवनागरी में हमें दायें से बायें और बायें से दायें दोनों रूपों में लिखने के उदाहरण मिल जाते हैं, और एकाध ऐसे भी कि एक पंक्ति बायें से दायें और दूसरी दायें से बायें हो, पर आज यह द्वैत किसी भी लिपि में शेष नहीं रह गया। हाँ, प्राचीनकाल की लिपि को पढ़ने के लिए लिपि के इस रूप को भी ध्यान में रखना होगा।

अज्ञात लिपियों को पढ़ने (उद्घाटन) के प्रयास :

हम यह जानते हैं कि हिन्दी की वर्णमाला या लिपि का विकास अशोक कालीन लिपि से हुआ। आज भारत के पुरातत्त्व-वेत्ताओं में ऐसे लिपि-ज्ञाता हैं जो भारत में प्राप्त सभी लिपियों को पढ़ सकते हैं। हाँ, 'सिन्धु-लिपि' अब भी अपवाद है। इसे पढ़ने के कितने ही प्रयत्न हुए हैं पर सभी सुझाव के या प्रस्ताव के रूप में ही हैं। किन्तु एक समय ऐसा भी था कि प्राचीन लिपियों को पढ़ने वाला कोई था ही नहीं। फिरोजशाह तुगलक ने एक विशाल अशोक-स्तम्भ मेरठ से दिल्ली मंगवाया कि उस पर खुदा लेख पढ़वाया जा सके। पर कोई उसे नहीं पढ़ सका। वह उसने एक भवन पर खड़ा कर दिया। इन स्तम्भों को कहीं-कहीं लालबुझक्ककड़ लोग भीम का गिल्ली-डण्डा आदि भी बता देते थे। लिपियों के सम्बन्ध में यह अन्धकार-युग था। फिर आधुनिक युग में भारत की लिपियों को कैसे पढ़ा जा सका। इसका रोचक विवरण मुनि जिनविजय जी के शब्दों में पढ़िये—

"इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विषय का ज्ञान प्राप्त हुआ और बहुत-सी वस्तुएँ जानकारी में आईं परन्तु प्राचीन लिपियों का स्पष्ट ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया था। अत: भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान पर अभी भी अन्धकार का आवरण ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। बहुत-से विद्वानों ने अनेक पुरातन सिक्कों और शिलालेखों का संग्रह तो अवश्य कर लिया था परन्तु प्राचीन लिपि-ज्ञान के अभाव में वे उस समय तक उसका कोई उपयोग न कर सके थे।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के प्रथम अध्याय का वास्तविक रूप में आरम्भ 1837 ई. में होता है। इस वर्ष में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ जिससे भारतीय पुरातत्त्व विद्या

पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हुआ। ऐशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के दिन से 1834 ई. तक पुरातत्त्व सम्बन्धी वास्तविक काम बहुत थोड़ा हो पाया था, उस समय तक केवल कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद ही होता रहा था। भारतीय इतिहास के एक मात्र सच्चे साधन रूप शिलालेखों सम्बन्धी कार्य तो उस समय तक नहीं के बराबर ही हुआ था। इसका कारण यह था कि प्राचीन लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना अभी बाकी था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि संस्कृत भाषा सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स् था और सबसे पहले शिलालेख की ओर ध्यान देने वाला भी वही था। उसी ने 1785 ई. में दीनाजपुर जिले में बदाल नामक स्थान के पास प्राप्त होने वाले स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ा था। यह लेख बंगाल के राजा नारायणलाल के समय में लिखा गया था। उसी वर्ष में, राधाकांत शर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने टोमरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अनलदेव के पुत्र बीसलदेव के तीन लेखों को पढ़ा। इनमें से एक लेख की भित्ति 'संवत् 1220 बैशाख सुदी 5' है। इन लेखों की लिपि बहुत पुरानी न होने के कारण सरलता से पढ़ी जा सकी थी। परन्तु उसी वर्ष जे.एच. हेरिंग्टन ने बुद्धगया के पास वाली नागार्जुनी और बराबर की गुफाओं में से मौखरी वंश के राजा अनन्त वर्मा के तीन लेख निकलवाये जो ऊपर वर्णित लेखों की अपेक्षा बहुत प्राचीन थे। इनकी लिपि बहुत अंशों में गुप्तकालीन लिपि से मिलती हुई होने के कारण उनका पढ़ा जाना अति कठिन था। परन्तु, चार्ल्स विल्किन्स् ने चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन तीनों लेखों को पढ़ लिया और साथ ही उसने गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुप्तलिपि क्या है, इसका थोड़ा सा परिचय यहाँ करा देता हूँ। आजकल जिस लिपि को हम देवनागरी (अथवा बालबोध) लिपि कहते हैं उसकी साधारणतया तीन अवस्थाओं में से प्रसार हुआ है। वर्तमान काल में प्रचलित आकृति से पहले की आकृति कुटिल लिपि के नाम से कही जाती थी। इस आकृति का समय साधारणतया ईस्वीय सन् की छठी शताब्दी से 10वीं शताब्दी तक माना जाता है। इससे पूर्व की आकृति गुप्त-लिपि के नाम से कही जाती है। सामान्यतः इसका समय गुप्त-वंश का राजत्वकाल गिना जाता है। अशोक के लेख इसी लिपि में लिखे गये हैं। इसका समय ईसा पूर्व 500 से 350 ई. तक माना जाता है।

सन् 1818 ई. से 1823 ई. तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताना के इतिहास की शोध-खोज करते हुए राजपूताना और काठियावाड़ में बहुत-से प्राचीन लेखों का पता लगाया। इनमें से सातवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक लेखों को तो उक्त कर्नल साहब के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने पढ़ा था। इन लेखों का सारांश अथवा अनुवाद टॉड साहब ने अपने 'राजस्थान'[1] नामक प्रसिद्ध इतिहास में दिया है।

सन् 1828 ई. में बी.जी. वेविंग्टन ने मागल्लपुर के कितने ही संस्कृत और तमिल लेखों को पढ़कर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाड़ी अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके उसकी विस्तृत वर्णमाला प्रकाशित की।

---

1. इसका वास्तविक नाम है—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान।

ईस्वी सन् 1834 में केप्टेन ट्रॉयर ने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त के लेख का बहुत-सा अंश पढ़ा और फिर उसी वंश में डॉ. मिले ने उस सम्पूर्ण लेख को पढ़कर 1837 ई. में भिटारी के स्तम्भ वाला स्कन्दगुप्त का लेख भी पढ़ लिया।

1835 ई. में डब्ल्यू. एम. वॉथ ने वलभी के कितने ही दानपत्रों को पढ़ा।

1837-38 ई. में जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली, कुमाऊँ और ऐरन के स्तम्भों एवं अमरावती के स्तूपों तथा गिरनार के दरवाजों पर खुदे हुए गुप्तलिपि के बहुत-से लेखों को पढ़ा।

साँची-स्तूप के चन्द्रगुप्त वाले जिस महत्त्वपूर्ण लेख के सम्बन्ध में प्रिंसेप ने 1834 ई. में लिखा था कि "पुरातत्त्व अभ्यासियों को अभी तक भी इस बात का पता नहीं चला है कि साँची के शिलालेखों में क्या मिला है।" उसी विशिष्ट लेख को यथार्थ अनुवाद सहित 1837 ई. में प्रस्तुत करने में वही प्रिंसेप साहब सम्पूर्णतः सफल हुए।

अब, बहुत-सी लिपियों की आदि जननी ब्राह्मी-लिपि की बारी आयी। गुप्तलिपि से भी अधिक प्राचीन होने के कारण इस लिपि को एकदम समझ लेना कठिन था। इस लिपि के दर्शन तो शोधकर्ताओं को 1795 ई. में कही हो गये थे। उसी वर्ष सर चार्ल्स मैलेट ने ऐलोरा की गुफाओं के कितने ही ब्राह्मी लेखों की नकलें सर विलियम जेम्स के पास भेजीं। उन्होंने इन नकलों को मेजर विल्फोर्ड के पास, जो उस समय काशी में थे, इसलिए भेजा कि वे इनको अपनी तरफ से किसी पण्डित द्वारा पढ़वायें। पहले तो उनको पढ़ने वाला कोई पण्डित नहीं मिला, परन्तु फिर एक चालक ब्राह्मण ने कितनी ही प्राचीन लिपियों की एक कृत्रिम पुस्तक बेचारे जिज्ञासु मेजर साहब को दिखलाई और उन्हीं के आधार पर उन लेखों को गलत-सलत पढ़कर खूब दक्षिणा प्राप्त की। विल्फोर्ड साहब ने उस ब्राह्मण द्वारा कल्पित रीति से पढ़े हुए उन लेखों पर पूर्ण विश्वास किया और उसके समझाने के अनुसार ही उनका अंग्रेजी में भाषान्तर करके सर जेम्स के पास भेज दिया। इस सम्बन्ध में मेजर विल्फोर्ड ने सर जेम्स को जो पत्र भेजा उसमें बहुत उत्सुकतापूर्वक लिखा है कि "इस पत्र के साथ कुछ लेखों की नकलें उनके सारांश सहित भेज रहा हूँ। पहले तो मैंने इन लेखों के पढ़े जाने की आशा बिल्कुल ही छोड़ दी थी, क्योंकि हिन्दुस्तान के इस भाग में (बनारस की तरफ) पुराने लेख नहीं लिखते हैं, इसलिए उनके पढ़ने की कला में बुद्धि का प्रयोग करने अथवा उनकी शोध-खोज करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह सब कुछ होते हुए भी और मेरे बहुत-से प्रयत्न निष्फल चले जाने पर भी अन्त में सौभाग्य से मुझे एक वृद्ध गुरु मिल गया जिसने इन लेखों को पढ़ने की कुन्जी बताई और प्राचीनकाल में भारत के विभिन्न भागों में जो लिपियाँ प्रचलित थीं उनके विषय में एक संस्कृत पुस्तक मेरे पास लाया। निस्सन्देह, यह एक सौभाग्य सूचक शोध हुई है जो हमारे लिए भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" मेजर विल्फोर्ड की इस 'शोध' के विषय में बहुत वर्षों तक किसी को कोई सन्देह नहीं हुआ क्योंकि सन् 1820 ई. में खंडगिरि के द्वार पर इस लिपि में लिखे हुए लेख के सम्बन्ध में स्टर्लिंग ने लिखा है कि "मेजर विल्फोर्ड ने प्राचीन लेखों को पढ़ने की कुन्जी एक विद्वान ब्राह्मण से प्राप्त की और उनकी विद्वता एवं बुद्धि से इलोरा व शालेसेट के इसी लिपि में लिखे हुए लेखों के कुछ भाग पढ़े गये। इसके पश्चात् दिल्ली तथा अन्य स्थानों के ऐसे ही लेखों को पढ़ने में उस कुन्जी का कोई उपयोग नहीं हुआ, यह शोचनीय है।"

सन् 1833 ई. में मि. प्रिन्सेप ने सही कुन्जी निकाली। इससे लगभग एक वर्ष पूर्व उन्होंने भी मेजर विल्फोर्ड की कुन्जी का उपयोग न करने की बाबत दुःख प्रकट किया था। एक शोधकर्ता जिज्ञासु विद्वान को ऐसी बात पर दुःख होना स्वाभाविक भी है। परन्तु उस विद्वान ब्राह्मण की बताई हुई कुन्जी का अधिक उपयोग नहीं हुआ, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार शोध-खोज के दूसरे कामों में मेजर विल्फोर्ड की श्रद्धा का श्राद्ध करने वाले चालाक ब्राह्मण के धोखे में वे आ गये इसी प्रकार इस विषय में भी वही बात हुई। कुछ भी हुआ हो, यह तो निश्चित है कि मेजर विल्फोर्ड के नाम से कहलाने वाली सम्पूर्ण खोज भ्रमपूर्ण थी। क्योंकि उनका पढ़ा हुआ लेख-पाठ कल्पित था और तदनुसार उसका अनुवाद भी वैसा ही निर्मूल था—युधिष्ठर और पाण्डवों के वनवास एवं निर्जन जंगलों में परिभ्रमण की गाथाओं को लेकर ऐसा गड़बड़-घोटाला किया गया है कि कुछ समझ में नहीं आता। उस धूर्त ब्राह्मण के बताए हुए ऊटपटांग अर्थ का अनुसन्धान करने के लिए विल्फोर्ड ने ऐसी कल्पना कर ली थी कि पाण्डव अपने वनवासकाल में किसी भी मनुष्य के संसर्ग में न आने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए विदुर, व्यास आदि उनके स्नेही सम्बन्धियों ने उनको सावधान करने की सूचना देते रहने के लिए ऐसी योजना की थी कि वे जंगलों में, पत्थरों और शिलाओं (चट्टानों) पर थोड़े-थोड़े और साधारणतया समझ में न आने योग्य वाक्य पहले ही से निश्चित की हुई लिपि में संकेत रूप से लिख-लिख कर अपना उद्देश्य पूरा करते रहते थे। अंग्रेज लोग अपने को बहुत बुद्धिमान मानते हैं और हंसते-हंसते दुनियाँ के दूसरे लोगों को ठगने की कला उनको याद है परन्तु वे भी एक बार तो भारतवर्ष की स्वर्गपुरी मानी जाने वाली काशी के 'वृद्ध गुरु' के जाल में फँस ही गये, अस्तु।[1]

एशियाटिक सोसाइटी के पास दिल्ली और इलाहाबाद के स्तम्भों तथा खण्डगिरी के दरवाजों पर लिखे लेखों की नकलें एकत्रित थीं, परन्तु विल्फोर्ड साहब की 'शोध' निष्फल चली जाने के कारण कितने ही वर्षों तक उनके पढ़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। इन लेखों के मर्म को जानने की उत्कट जिज्ञासा को लिए हुए मिस्टर जेम्स प्रिंसेप ने 1834-45 ई. में इलाहाबाद, रधिया और मथिआ के स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों की छापें मंगवायी और उनको दिल्ली के लेख के साथ रखकर यह जानने का प्रयत्न किया कि उनमें कोई शब्द एक सरीखा है या नहीं। इस प्रकार उन चारों लेखों को पास-पास रखने से उनको तुरन्त ज्ञात हो गया कि ये चारों लेख एक ही प्रकार के हैं। इससे प्रिंसेप का उत्साह बढ़ा और उनकी जिज्ञासापूर्ण होने की आशा बँध गई। इसके पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद स्तम्भ के लेख के भिन्न-भिन्न आकृति वाले अक्षरों को अलग-अलग छाँट लिया। इससे उनको

1. ऐसी ही घटना इतिहास में नैपोलियन के समय में हुई थी। उस समय मिस्री फराऊनों की लिपि पढ़ने के प्रयास हो रहे थे। फ्रान्स में शांपोलियो नाम का विद्वान् इस लिपि के उद्घाटन में संलग्न थे। इसी समय शांपोंलियों की एक पुस्तक मिली जिसके लेखक ने यह दावा किया था कि उसने लिपि पढ़ने की कुन्जी ढूँढ ली है। पर वह कुन्जी भी ठीक ऐसी ही काल्पनिक और निराधर थी जैसी काशी में 'वृद्ध गुरु' ने भारतीय लिपियों के लिए निकाली थी। शांपोलियों ने इसकी पोल तत्काल खोल दी थी। अत: वहाँ वह छल इतने समय तक नहीं चल सका जितने समय तक भारत में चला।

यह बात मालूम हो गयी कि गुप्त लिपि के अक्षरों की भाँति इसमें भी कितने ही अक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं के भिन्न-भिन्न पाँच चिह्न लगे हुए हैं। इसके बाद उन्होंने पाँचों चिह्नों को एकत्रित करके प्रकट किया। इससे कितने ही विद्वानों का इन अक्षरों के यूनानी अक्षर होने सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया।

अशोक के लेखों की लिपि को देखकर साधारणतया अंग्रेजी अथवा ग्रीक लिपि की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। टॉम कोरिएट नामक यात्री ने अशोक के दिल्ली वाले स्तम्भ-लेख को देखकर एल. व्हीटर को एक पत्र में लिखा था कि "मैं इस देश के दिल्ली नामक नगर में आया हूँ कि जहाँ पहले अलेक्जेण्डर ने हिन्दुस्तान के पोरस नामक राजा को हराया था और अपनी विजय की स्मृति में एक विशाल स्तम्भ खड़ा किया था जो आज भी यहाँ पर मौजूद है।" पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि "टॉम कोरिएट ने मुझे कहा था कि उसने दिल्ली में ग्रीक लेख वाला एक स्तम्भ देखा था जो अलेक्जेण्डर महान् की स्मृति में वहाँ पर खड़ा किया गया था।" इस प्रकार दूसरे भी कितने ही लेखकों ने इस लेख को ग्रीक लेख ही माना था।

उपर्युक्त प्रकार से स्वर-चिह्नों को पहचान लेने के बाद मि. जेम्स प्रिंसेप ने अक्षरों के पहचानने का उद्योग आरम्भ किया। उन्होंने पहले प्रत्येक अक्षर को गुप्त लिपि के अक्षरों के साथ मिलाने और मिलते हुए अक्षरों को वर्णमाला में शामिल करने का क्रम अपनाया। इस रीति से बहुत-से अक्षर उनकी जानकारी में आ गये।

पादरी जेम्स स्टीवेन्सन् ने भी प्रिंसेप साहब की तरह इसी शोधन में अनुरक्त होकर 'क' 'ज' 'थ' 'प' और 'व' अक्षरों को पहचाना और इन्हीं अक्षरों की सहायता से पूरे लेखों को पढ़कर उनका अनुवाद करने का मनोरथ किया, परन्तु कुछ तो अक्षरों की पहचान में भूल होने के कारण, कुछ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण और कुछ इन लेखों की भाषा को संस्कृत समझ लेने के कारण यह उद्योग पूरा-पूरा सफल नहीं हुआ। फिर भी प्रिंसेप को इससे कोई निराशा नहीं हुई। सन् 1835 ई. में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प्रो. लॉसेन ने एक ऑस्ट्रियन ग्रीक सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ अँ गँ थाँ किलस का नाम पढ़ा। परन्तु 1837 ई. के आरम्भ में मि. प्रिंसेप ने अपनी अलौकिक स्फुरणा द्वारा एक छोटा-सा 'दान' शब्द-शोध निकाला जिससे इस विषय की बहुत-सी ग्रन्थियाँ एकदम सुलझ गई। इसका विवरण इस प्रकार है। ई.स. 1837 में प्रिंसेप ने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितने ही छोटे-छोटे लेखों की छापों को एकत्रित करके देखा तो बहुत-से लेखों के अन्त में दो अक्षर एक ही सरीखे जान पड़े और उनके पहले 'स' अक्षर दिखाई पड़ा जिसको प्राकृत भाषा की छठी विभक्ति का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' के बदले) मानकर यह अनुमान किया कि भिन्न-भिन्न लेख भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये हुए दानों के सूचक जान पड़ते हैं। फिर उन एक सरीखे दिखने वाले और पहचान में न आने वाले दो अक्षरों में से पहले के साथ 'ा' (आ की मात्रा) और दूसरे के साथ 'ं' (अनुस्वर चिह्न) लगा हुआ होने से उन्होंने निश्चय किया कि यह शब्द 'दानं' होना चाहिये। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' की पहचान होने से आधी वर्णमाला पूरी हो गयी और उसके आधार पर दिल्ली, इलाहाबाद, साँची, मेथिया, रधिया, गिरनार, धौरमी आदि स्थानों से प्राप्त अशोक के विशिष्ट लेख

सरलतापूर्वक पढ़ लिये गये। इससे यह भी निश्चित हो गया कि इन लेखों की भाषा, जैसा कि अब तक बहुत-से लोग मान रहे थे, संस्कृत नहीं है वरन् तत्स्थानों में प्रचलित देश-भाषा थी (जो साधारणतया उस समय प्राकृत नाम से विख्यात थी)।

इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके योग से भारत के प्राचीन से प्राचीनतम लेखों को पढ़ने में पूरी सफलता मिली।

अब, उतनी ही पुरानी दूसरी लिपि की शोध का विवरण दिया जाता है। इस लिपि का ज्ञान भी प्रायः उसी समय से प्राप्त हुआ था। इसका नाम खरोष्ठी लिपि है। खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है अर्थात् अनार्य लिपि है यह। सेमेटिक लिपि के कुटुम्ब की अरमेइक् लिपि से निकली हुई मानी जाती है। इस लिपि को लिखने की पद्धति फारसी लिपि के समान है अर्थात् यह दांयें हाथ से बांयी ओर लिखी जाती है। यह लिपि ईसा से पूर्व तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में केवल पंजाब के कुछ भागों में ही प्रचलित थी। शहाबाजगढ़ी और मन्सोरा के दरवाजों पर अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। इसके अतिरिक्त शक, क्षत्रप, पार्थिअन् और कुषाणवंशीय राजाओं के समय कितने बौद्ध लेखों तथा वाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशों के कितने ही सिक्कों में यह लिपि उत्कीर्ण हुई मिलती है। इसलिए भारतीय पुरातत्त्वविज्ञों को इस लिपि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता थी।

कर्नल जेम्स टॉड ने वाक्ट्रिअन्, ग्रीक, शब्द पार्थिअन् और कुषाणवंशी राजाओं के सिक्कों का एक बड़ा संग्रह किया था। इन सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षर लिखे हुए थे। सन् 1830 ई. में जनरल वेंटुराँ ने मानिकिआल स्तूप को खुदवाया तो उसमें से खरोष्ठी लिपि के कितने ही सिक्के और दो लेख प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त अलेक्जेण्डर, बन्स आदि प्राचीन शोधकों ने भी ऐसे अनेक सिक्के इकट्ठे किये थे जिनमें एक ओर वे ग्रीक अक्षर तो पढ़े जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों के पढ़े जाने का कोई साधन नहीं था। इन अक्षरों के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगीं। सन् 1824 ई. में कर्नल टॉड ने कड्फिसेस् के सिक्के पर खुदे इन अक्षरों को 'ससेनिअन्' अक्षर बतलाया। 1833 ई. में अंपोलोडोट्स के सिक्के पर इन्हीं अक्षरों को प्रिंसेप ने 'पहलवी' अक्षर माना। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्के की इसी लिपि तथा मानिकिआॅल के लेख की लिपि को उन्होंने ब्राह्मी लिपि माना और इसकी आकृति कुछ टेढ़ी होने के कारण अनुमान लगाया कि जिस प्रकार छपी हुई और बही में लिखी हुई गुजराती लिपि में अन्तर है उसी प्रकार अशोक के दिल्ली आदि के स्तम्भों वाली और इस लिपि में अन्तर है। परन्तु बाद में स्वयं प्रिंसेप ही इस अनुमान को अनुचित मानने लगे। सन् 1834 ई. में केप्टन कोर्ट को एक स्तूप में से इसी लिपि का एक लेख मिला जिसको देखकर प्रिंसेप ने फिर इन अक्षरों के विषय में 'पहलवी' होने की कल्पना की। परन्तु उसी वर्ष में मिस्टर मेसन नामक शोधकर्ता विद्वान ने अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त किये जिन पर खरोष्ठी और ग्रीक दोनों लिपियों में राजाओं के नाम अंकित थे। मेसन साहब ने ही सबसे पहले मिनेंड्रों, ओपोलडोटो, अरमाइओ, वासिलिओ और सोट्रों आदि नामों को पढ़ा था, परन्तु यह उनकी कल्पना मात्र थी। उन्होंने इन नामों को प्रिंसेप साहब के पास भेजा। इस कल्पना को सत्य

का रूप देने का यश प्रिंसेप के ही भाग्य में लिखा था। उन्होंने मेसन साहब के संकेतों के अनुसार सिक्कों को बाँचना आरम्भ किया तो उनमें से बारह राजाओं और सात पदवियों के नाम पढ़ निकाले।

इस प्रकार खरोष्ठी लिपि के बहुत-से अक्षरों का बोध हुआ और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि यह लिपि दाहिनी ओर से बाँयी ओर पढ़ी जाती है। इससे यह भी निश्चय हुआ कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है, परन्तु इसके साथ ही इसकी भाषा को, जो वास्तव में ब्राह्मी लेखों की भाषा के समान प्राकृत है, पहलवी मान लेने की भूल हुई। इस प्रकार ग्रीक लेखों की सहायता से खरोष्ठी लिपि के बहुत-से अक्षरों की तो जानकारी हुई परन्तु भाषा के विषय में भ्रान्ति होने के कारण पहलवी के नियमों को ध्यानमें रखकर पढ़ने से अक्षरों को पहचानने में अशुद्धता आने लगी जिससे थोड़े समय तक इस कार्य में अड़चन पड़ती रही। परन्तु 1838 ई. में दो बाक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्कों पर पालि लेखों को देखकर दूसरे सिक्कों की भाषा भी यही होगी, यह मानते हुए उसी के नियमानुसार उन लेखों को पढ़ने से प्रिंसेप का काम आगे चला और उन्होंने एकसाथ 17 अक्षरों को खोज निकाला। प्रिंसेप की तरह मिस्टर नॉरिस ने भी इस विषय में कितना ही काम किया और इस लिपि के 7 नये अक्षरों की शोध की। बाकी के थोड़े से अक्षरों को जनरल कनिंघम ने पहचान लिया और इस प्रकार खरोष्ठी की सम्पूर्ण वर्णमाला तैयार हो गई।

यह भारतवर्ष की पुरानी से पुरानी लिपियों के ज्ञान प्राप्त करने का संक्षिप्त इतिहास है। उपर्युक्त वर्णन से विदित होगा कि लिपि-विषयक शोध में मिस्टर प्रिंसेप ने बहुत काम किया। एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित 'सैन्टरी रिव्यू' नामक पुस्तक में 'एन्श्यण्ट इण्डिअन अलफाबेट' शीर्षक लेख के आरम्भ में इस विषय पर डॉ. हॉर्नली लिखते हैं कि—

''सोसाइटी का प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने और उनका भाषान्तर करने का अत्युपयोगी कार्य 1834 ई. से 1839 ई. तक चला। इस कार्य के साथ सोसाइटी के तत्कालीन सेक्रेटरी, मि. प्रिंसेप का नाम, सदा के लिए संलग्न रहेगा, क्योंकि भारत-विषयक प्राचीन-लेखनकला, भाषा और इतिहास सम्बन्धी हमारे अर्वाचीन ज्ञान की आधारभूत इतनी बड़ी शोध-खोज इसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ से इतने थोड़े समय में हो सकी।''

प्रिंसेप के बाद लगभग तीस वर्ष तक पुरातत्व संशोधन का सूत्र जेम्स फर्ग्युसन, मॉर्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्जेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन्, डॉ. भाउदाजी आदि के हाथों में रहा। इनमें से पहले चार विद्वानों ने उत्तर हिन्दुस्तान में, इलियट साहब ने दक्षिण भारत में और पिछले तीन विद्वानों ने पश्चिमी भारत में काम किया। फर्ग्युसन साहब ने पुरातन वास्तु-विद्या (Architecture) का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ा परिश्रम किया और उन्होंने इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस विषय का उनका अभ्यास इतना बढ़ा-चढ़ा था कि किसी भी इमारत को केवल देखकर वे सहज ही में उसका समय निश्चित कर देते थे। मेजर किट्टो बहुत विद्वान तो नहीं थे परन्तु उनकी शोधक बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। जहाँ अन्य अनेक विद्वानों को कुछ जान न पड़ता था वहाँ वे अपनी गिद्ध जैसी पैनी दृष्टि से कितनी ही बातें खोज निकालते थे। चित्रकला में वे बहुत निपुण थे। कितने ही

स्थानों के चित्र उन्होंने अपने हाथ से बनाए थे और प्रकाशित किए थे। उनकी शिल्पकला विषयक इस गम्भीर कुशलता को देखकर सरकार ने उनको बनारस के संस्कृत कॉलेज का भवन बनवाने का काम सौंपा। इस कार्य में उन्होंने बहुत परिश्रम किया जिससे उनका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त में इंग्लैण्ड जाकर वे स्वर्गस्थ हुए। टॉमस साहब ने अपना विशेष ध्यान सिक्कों और शिलालेखों पर दिया। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके ई.सं. पूर्व 246 से 1554 ई. तक के लगभग 1800 वर्षों के प्राचीन इतिहास की शोध की। जनरल कनिंघम ने प्रिंसेप का अवशिष्ट कार्य हाथ में लिया। उन्होंने ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इलियट साहब ने कर्नल मेकेन्जी के संग्रह का संशोधन और संवर्द्धन किया। दक्षिण के चालुक्य-वंश का विस्तृत ज्ञान सर्वप्रथम उन्होंने लोगों के सामने प्रस्तुत किया। टेलर साहब ने भारत की मूर्ति-निर्माण-विद्या का अध्ययन किया और स्टीवेन्सन् ने सिक्कों की शोध-खोज की। पुरातत्त्व-संशोधन के कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान् डॉक्टर भाउदाजी थे। उन्होंने अनेक शिलालेखों को पढ़ा और भारत के प्राचीन इतिहास के ज्ञान में खूब वृद्धि की है। इस विषय में दूसरे नामांकित भारतीय विद्वान् काठियावाड़ निवासी पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने पश्चिम भारत के इतिहास में अमूल्य वृद्धि की है। उन्होंने अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों को पढ़ा है परन्तु उनके कार्य का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा उड़ीसा के खण्डगिरि-उदयगिरि वाली हाथी-गुंफा में सम्राट खारवेल के लेखों को शुद्ध रूप से पढ़ा जाना ही है। बंगाल के विद्वान् डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र का नाम भी इस विषय में विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। उन्होंने नेपाल के साहित्य का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।[1]

इस विवरण से एक चित्र तो काशी के पण्डित का उभरता है, जिसने अपने कौशल से मिथ्या कुन्जी प्राचीन लिपि को पढ़ने के लिए प्रस्तुत की और वह भी ऐसी कि पहले उस पर सभी को विश्वास हो गया।

दूसरा चित्र उभरता है उस मुद्रा का जो अफगानिस्तान में मिली और उसके सम्बन्ध में यह धारणा बना ली गई कि इसकी भाषा पहलवी है और लिपि ऐसी होगी जो दायें से बायें लिखी जाती होगी। फलतः यह बहुत आवश्यक है कि पहले भाषा का निर्धारण किया जाय, फिर लिपि-लेखन की प्रवृत्ति का भी। क्योंकि उसकी लिपि वस्तुतः खरोष्ठी थी और उसकी भाषा पालि। पहलवी का पीछा विद्वानों ने तब छोड़ा जब 1838 ई. में दो वाक्ट्रीअन ग्रीक सिक्कों पर पाली लेखों को देखा।

एक तीसरा चित्र यह उभरता है कि मात्र वर्णों की आकृति से लिपि किस भाषा की है यह नहीं कहा जा सकता। इसके लिए टॉम कोरिएट नामक यात्री की भ्रान्ति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अशोक-लिपि की ग्रीक-लिपि से समानता देखकर उसने उसे ग्रीक लेख समझ लिया था।

वस्तुतः लिपि के अनुसन्धान में वही वैज्ञानिक प्रक्रिया काम करती है जिसमें ज्ञात से अज्ञात की ओर वढ़ा जाता है। इसी आधार पर बदाल स्तम्भ का लेख एवं टोपरा वाले

1. मुनि जिन विजयजी—पुरातत्त्व संशोधन का पूर्व इतिहास-स्वाहा, वर्ष 1 अंक 2-3, पृ. 274-34।

दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर बीसलदेव के तीन लेख पढ़े गये। इससे जो प्राचीन लेख थे उनको पढ़ने में बहुत कठिनाई और परिश्रम हुआ क्योंकि उनके निकट की ज्ञात लिपियाँ थी ही नहीं। अब यहाँ पर प्रिंसेप महोदय ने अनुसन्धान की विशेष सूझ-बूझ का परिचय दिया। उन्होंने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितनी ही छापों को तुलनापूर्वक देखा। इन सबमें उन्हें दो अक्षर समान मिले और अनुमान लगाया कि दो अक्षरों वाला शब्द दान हो सकता है और इस अनुमान के आधार पर 'द' और 'न' अक्षरों का निर्धारण हुआ और इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का उद्घाटन हो सका। स्पष्ट है कि इस प्रकार लिपि की गाँठ खोलने के लिए तुलना भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

यह तो ब्राह्मी लिपि को पढ़े जाने के प्रयत्नों की चर्चा हुई। अब अनुसन्धानकर्ताओं में और विद्वानों में अनुसन्धान-विषयक वैज्ञानिक प्रवृत्ति खूब मिलती है, फिर भी, लिपि विषयक कुछ कठिन समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं। भारतवर्ष में सिन्धुघाटी की लिपि का रहस्य अभी भी नहीं खुला है। अनेक प्रकार के प्रयत्न हुए हैं, किन्तु जितने प्रयत्न हुए हैं उतनी ही समस्या उलझी है। इसी प्रकार और भी विश्व की कई लिपियाँ हैं जिनका पूरा रहस्य नहीं खुला। तो प्रश्न यह है कि यदि कोई एकदम ऐसी लिपि सामने आ जाय जिसके सम्बन्ध में आगे पीछे कोई सहायक परम्परा न मिलती हो तो क्या किया जाय? इस सम्बन्ध में डॉ. पी.बी. पण्डित का 'हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली' (रविवार, मार्च, 1969) में प्रकाशित 'क्रेकिंग द कोड' (Cracking the Code) उन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जिनसे ऐसी लिपि को समझा जा सके जिसकी न तो लेखन प्रणाली का और न उसमें लिखे कथ्य का ज्ञान हो। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसी लिपि की कुन्जी पाने में अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। वे कठिनाइयाँ भी ऐसी हो सकती हैं जिन पर पार पाना असम्भव हो। फिर भी, उनके सुझाव हैं कि पहले तो ये निर्धारित किया जाना चाहिए कि जो विविध चिह्न और रेखांकन मिले हैं क्या वे भाषा को व्यक्त करते हैं। यदि यह माना जाय कि वे चिह्न भाषा की लिपि के ही हैं तो प्रश्न यह खड़ा होता है कि यह किस प्रकार की लेखन प्रणाली है। अर्थात् क्या यह लेखन प्रणाली चित्रात्मक है अथवा शब्दात्मक (Logographic) है या वर्णात्मक (Alphabetic)। यद्यपि आज कुछ लिपियाँ अक्षरात्मक (Syllabic) भी हैं पर यह अक्षरता (Syllable) वर्ण से ही जुड़ी मिलती हैं, क्योंकि दोनों ही ध्वनिमूलक हैं।

चित्रलिपि शब्दलिपि में तभी परिणत होती है जब एक चित्र कई भावों या वस्तुओं का अर्थ देने लगता है। तब एक चित्राकार या चित्रलिपि का एक-एक चित्र एक उच्चरित (Logo) शब्द का स्थान ले लेता है। डॉ. पण्डित ने अंग्रेजी का स्टार शब्द लिया है। 'स्टार' का चित्र जब तक केवल स्टार का ही ज्ञान कराता है तब तक वह चित्रलिपि का अंश है। इसके बाद 'स्टार' का उपयोग केवल तारे के लिए ही नहीं, आकाश के द्युतिमान सभी तारों और तारिकाओं के लिए होने लगता है या उसका अर्थ चमकदार या शिरोमणि वस्तुओं के लिए होने लगे तो वह भावचित्रलिपि (Ideograph) का रूप धारण कर लेता है। अब यदि 'स्टार' की चित्राकृति और उसकी चित्रलिपि और भाव-चित्रलिपि को कोई शब्द मिल गया है—जैसे स्टार, तब यह शब्द हो गया। भावलिपि का एक अंग होकर अब उसने चित्र

रूप के साथ शब्द रूप में भी सम्बद्धता प्राप्त कर ली, यही इस शब्द-ध्वनि की लिपि या शब्दमूलक चित्रलिपि (Logograph) कहलाती है।[1]

अब शब्द का अर्थ अपने ध्वनि-चित्र से किसी सीमा तक स्वतन्त्र हो चला क्योंकि 'शुद्ध स्टार ध्वनि' के लिए तो उसका ध्वनि-चित्र आयेगा ही, सम्भवत: 'स्टार' की समवर्ती ध्वनि 'स्टार' के लिए भी प्रयोग में आ सकेगा और परसर्ग रूप में गैंगस्टर में गैंग के साथ भी जुड़ जायेगा।

अब स्थिति यह हो गयी कि—

वस्तु → वस्तु-चित्र → चित्रलिपि → भावचित्रलिपि → चित्र शब्दित → शब्दात्मक चित्र → शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक।

ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक वाली लिपि में शब्दों की ध्वनि से उनमें 'मोरफीम' का ज्ञान होने लगता है तथा इन मोरफीमों के अनुसार लिपि-प्रतीकों में विकार हो जाता है। यहाँ आकर वह प्रक्रिया जग उठती है जो शब्द प्रतीकों की ध्वनिमूलक वर्णमाला की ओर जाने में प्रवृत्त करती है। 'स्टार' में एक मोरफीम है अत: शब्द-प्रतीक ज्यों का त्यों रहेगा। पर बहुवचन 'स्टार्स' में 'स' मोरफीम बढ़ा, अत: कोई विकार 'स्टार' मारफीम में 'स' का द्योतन करने के लिए बढ़ाना पड़ेगा। 'स' यहाँ मोरफीम भी है और एक वर्णात्मक अकेली ध्वनि भी। ऐ-ली-फेंट में तीन मोरफीम हैं अत: शब्दलिपि भी तीन योग दिखाने लगेगी। इसीलिए इस अवस्था पर पहुँच कर ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक, प्रतीक में ध्वनि-द्योतक चिह्नों को नियोजित करने का प्रयत्न करेगा— ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द प्रतीकगत ध्वनि-प्रतीक → ध्वनि-प्रतीक अक्षर → ध्वनि-प्रतीक वर्ण। चित्रलिपि से वर्णात्मक लिपि तक के विकास का यह क्रम सम्भावित है और स्थूल है।

विद्वानों ने Pictorial Art से Pictograph, Pictograph से Ideograph, Ideograph से Logograph तक का विकास तो स्थूलत: ठीक अथवा सहज माना है। उससे आगे ध्वनि की ओर लिपि का संक्रमण उतना स्वाभाविक नहीं। कुछ विद्वानों की राय में यह सम्भव भी नहीं।

पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से तो वे प्रक्रियाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे ये विकार होते हैं और लिपि का विकास होता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हमने विकास-प्रक्रिया में जहाँ → (तीर) दिया है, वहाँ बीच में और भी कई विकार-चरण हो सकते हैं। मोहनजोदड़ों की-सी स्थिति भी हो सकती है जिसमें चित्रलिपि और ध्वनिलिपि दोनों ही प्रयुक्त हों। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब 'स्टार' से 'स्टार्स' तक भाषा पहुँचती हैं, तब 'एक और बहुत' का भेद करने की शक्ति उसमें आ जाती है। साथ ही शब्दों में चिह्नों द्वारा अन्य सम्बन्धों को बताने की क्षमता भी आ जानी चाहिये। व्यंजन और स्वरों के भेद अक्षरात्मक लिपि में प्रस्तुत होने लगते हैं।

---

1. 'Histories of writing system indicate that the Pictorial scripts develop into logographic script where a picture gets a phonetic value corresponding to its pronunciation : then it can be used for all other items which have similar pronunciation.'

(Pandit, P.B. (Dr.)—Cracking the Code—Hindustan Times Weekly, Sunday, March 30, 1969)

शब्द चिह्नों से व्याकरण-सम्बन्धों को जानने के लिए डॉ. पण्डित का निम्न उद्धरण एक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है—

सम्भवत: एक या अधिक मोरफीमों (Morphemes) से बने शब्द संकेत-चिह्नों की संख्याओं के आधार पर सबसे अधिक प्रयुक्त समुच्चय हैं। कोई चाहे तो प्रत्यय उपसर्ग-परसर्ग आदि को भी उनके स्थान और वितरण के आवर्तन से ढूँढ़ सकता है। मान लीजिए नीचे दिये सोलह वाक्यों में से वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण एक मोरफीम है तो इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में कोई क्या बता सकता है (तब भी जबकि वाक्यों के अर्थ विदित नहीं हैं)।[1]

1	AXZ	2	AXYZ	3	BX	4	CZ
5	CYZ	6	DX	7	EX	8	FZ
9	GZ	10	A	11	B	12	C
13	D	14	E	15	F	16	G

यह कहा जा सकता है कि A B C D E F G तो नाम धातुयें हैं XYZ परसर्ग हैं। XYZ का स्थानगत मूल्य ऐसा है कि वे अपने-अपने निजी क्रम को सुरक्षित रखते हैं। अन्त में Z आता है और Y X के बाद आती है। X धातु नाम के तुरन्त बाद आता है।[2]

तात्पर्य यह है कि उपलब्ध सामग्री का इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये जिससे कि यह विदित हो सके कि कितने चिह्न स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग में आये और कितने चिह्न ऐसे हैं जो किसी न किसी अन्य चिह्न से जुड़कर आये हैं—और ये ऐसे चिह्नों से जुड़े मिलते हैं, जो बिना किसी चिह्न के भी प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह अनुमान होता है कि जो चिह्न स्वतन्त्र रूप से आये हैं वे 'Stems', संज्ञानाम या क्रियानाम हैं और जो इनसे जुड़कर आते हैं वे उपसर्ग-प्रत्यय हैं। उसी लिपि के चिह्नों की पारस्परिक तुलना से वाक्य के रूप का अनुमान लगाया जा सकता है।

किन्तु इससे भाषा का उद्भव नहीं हो सकता, न लिपि के चिह्नों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है कि वे क्या शब्द हैं या किस ध्वनि के प्रतीक हैं। प्रिंसेप ने ब्राह्मी के 'द' और 'न' अक्षरों को समझ लिया था, क्योंकि वह उनकी भाषा से परिचित था, और उन लेखों के अभिप्राय को भी समझता था।

---

1. "The most frequent groups are possibly words, consisting of one or more morphemes according to the number of signs. One can also deduct the affixes-suffixes, prefixes etc. by their positions and frequency distribution. Suppose, in the following data of sixteen sentences, each letter of the alphabet is a morpheme, what could one say the grammar of the language (even of the meaning of The sentences are not known)." [वही, मार्च 30, 1969]

2. One could say that the letters A, B, C, D, E, F, G are stems and the X Y & Z are suffixes. The positional values of X, Y and Z are such that they maintain their respective order Z occurs finally, Y occurs after X, X occurs immediately after the stem.

[वही, मार्च 30, 1969]

किन्तु मोहनजोदड़ों की लिपि की भाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं, अतः लिपि को ठीक-ठीक नहीं उद्घाटित किया जा सका है। लिपि जहाँ मिली हैं—(1) उसकी पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा, अंग, संस्कृति आदि की सम्भावनाओं के आधार पर, तथा (2) अन्य ज्ञात लिपियों से तुलना करके विकल्पात्मक अनुमान खड़े किये जाते हैं।

सिन्धुघाटी की लिपि के विषय में उक्त दोनों बातों के सम्बन्ध में न तो प्रामाणिक आधार हैं, न मत हैं क्योंकि

पहला, पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से एक ओर यह माना गया कि यह आर्यों के भारत में आने से पूर्व की संस्कृति की लिपि है। आर्य पूर्व भारत में द्रविड़ थे अतः यह द्रविड-सम लिपि है और द्रविड-सम भाषा की प्रतीक है।

दूसरा विकल्प यह रहा कि आर्यों से पूर्व या 4000 ई.पू. यहाँ सुमेर लोग निवास करते थे और यह उन्हीं की लिपि है।

तीसरा विकल्प यह है कि इस क्षेत्र के निवासी आर्य या उन्हीं की एक शाखा के 'असुर' थे। यह उन्हीं की भाषा और लिपि है।

इन तीनों परिकल्पनाओं के आधार पर विविध भाषाओं की लिपियों की तुलना करते हुए उनके प्रमाणों से भी अपने-अपने मत की पुष्टि की गयी है।

अब जी.आर. हंटर[1] महोदय ने 'दि स्क्रिप्ट ऑव हड़प्पा एण्ड मोहनजोदड़ों एण्ड इट्स कनैक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स' में बताया है कि—

बहुत-से चिह्न प्राचीन मिस्र की महान लिपि से उल्लेखनीय समता रखते हैं। सभी एन्थ्रोपो-मारफिक चिह्न मिस्री समता वाले हैं, और ये यथार्थतः ठीक उसी रूप के हैं और यह रोचक बात है कि इन एन्थ्रोपो-मारफिक चिह्नों से दूर की भी समता रखने वाले चिह्न सुमेरियन या प्रोटो-एलमाइट लिपि में नहीं मिलते। दूसरी ओर हमारे बहुत-से चिह्न ऐसे हैं जो प्रोटो-एलमाइट और जेमदेत नस्र की पाटियों के चिह्नों से हू-ब-हू मिलते हैं, और जिनकी मिस्री मोरग्राफिक समकक्षता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इससे कोई भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह मान्यता बलवती ठहरती है कि हमारी लिपि कुछ तो मिस्र से ली गयी है और कुछ मेसोपोटामिया से। किंबहुना, एक अच्छे अनुपात में ऐसे चिह्न भी हैं जो तीनों में समान हैं, जैसे—वृक्ष, मछली, चिड़िया आदि के चिह्न। किन्तु ऐसा होना सम-आकस्मिक (Concidental) है और अनिवार्य भी है, क्योंकि लिपि की प्रवृत्ति चित्रात्मक है।

फिर वे आगे कहते हैं कि प्रोटो-एलामाइट से और भी साम्य है अतः हमने मिस्री चिह्न ही उधार लिए हैं।

और आगे वे यह सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं कि हो सकता है कि मिस्री, प्रोटोएलामाइट और सिन्धुघाटी की लिपियों की जनक या मूल एक चौथी ही भाषा-लिपि हो, जो इनसे पूर्ववर्ती हो।

---

1. Hunter, G.R.—The Script of Hadappa and Mohan Jodaro and its connection with other Scripts, P. 45-47.

अब ये सभी परिकल्पनाएँ (हाइपोथीसीस) ही हैं। अभी तक भी हम सिन्धुघाटी की लिपि पढ़ सके हों, ऐसा नहीं लगता।

अभी हाल में फिर प्रयत्न हुए हैं और फिनिश-दल तथा रूसी दल ने सिन्धु-लिपि और सिन्धु-भाषा को समझने का प्रयत्न किया है। कम्प्यूटर का भी उपयोग किया गया है और ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह द्रविड़ोन्मुख भाषा और तद्नुकूल लिपि है। साथ ही दो भारतीय विद्वानों ने भी नये प्रयत्न किये हैं। एक ही श्री कृष्णराव, दूसरे हैं डॉ. फतेहसिंह। इन दोनों का ही मन्तव्य है कि सिन्धुघाटी की लिपि ब्राह्मी का पूर्वरूप एवं भाषा वेदपूर्वी संस्कृत ही है। यूनीवर्सिटी ऑफ कैम्ब्रिज की फैकल्टी ऑव ओरियण्टल स्टडीज के एफ. चार. अल्लचिन ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक अंक में एक पात्र में, जहाँ पाश्चात्य प्रयत्नों को रचनात्मक (Constructive) प्रयत्न बताया है और भारतीय प्रयत्नों को अंत: प्रज्ञाजन्य (Intuitive), अन्त में उसने लिखा है कि—

"In the mean while let us recognise that while so many new decipherments are appearing they cannot all be right, and are more likely all to be wrong."

इतना विवेचन 'सिन्धुघाटी लिपि' के सम्बन्ध में करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि यह जाना जा सके कि किसी अज्ञात लिपि को पढ़ने में कितनी समस्याएँ निहित रहती हैं और उन सबके रहते भी किसी और महत्त्वपूर्ण बात का अभाव रहने से अज्ञात लिपि को ठीक-ठीक जानने की प्रक्रिया असफल हो जाती है। सिन्धुघाटी सभ्यता के सम्बन्ध में जितने भी विकल्प रखे गये हैं वे सभी इतिहास से न तो पुष्ट ही हैं, न सिद्ध ही हैं।

यथा—पहला विकल्प यह है कि यह सभ्यता आर्यों के आगमन से पूर्व की द्रविड़ सभ्यता है। आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड़ सारे भारतवर्ष में बसे हुए थे। अब आर्यों के आगमन का सिद्धान्त तथा द्रविड़ों का आर्यों से भिन्न रक्त या नस्ल का होने का नृतात्त्विक सिद्धान्त, ये दोनों ही पूर्णत: सिद्धप्रमेय नहीं माने जा सकते, न अकाट्य प्रमाणों से पुष्ट हैं।[1] इस सम्बन्ध में एक अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है, मूलत: यह सिद्धान्त विदेशियों के द्वारा ही प्रतिपादित हुए थे, और मूलत: सिन्धुघाटी को द्रविड़ सभ्यता के अवशेष बताने वाले भी अधिकांशत: विदेशी ही हैं, और भारतीयों का झुकाव अभेद की स्वीकृति पर निर्भर करता है। इसी अप्रामाणिक अन्तर के कारण द्रविड़ भाषा, द्रविड़-लिपि और आर्य भाषा तथा असुर भाषा का विकल्प उठा है।

सिंधु-लिपि में मिस्र की चित्रलिपि तथा सुमेर की लिपि के साथ ब्राह्मी लिपि से साम्य भी हैं। इससे कल्पना की गयी कि मिस्र और सुमेर से उधार लिये गये शब्द और वर्ण हैं। डॉ. राजबली पाण्डेय ने यह सुझाव दिया है कि जहाँ तक एक से दूसरे के

---

1. The use of Aryan and Dravadian as racial terms is unknown to scientific students of Anthropology (Nilkantha Shastri, cultural contacts between Aryon & Dravadians P. 2) There is no Dravadian race and no Aryan Race. (A.L. Bashem : Bulletin of the Institute of Historical research II (1963), Madras. (स्वाहा पृ. 80 पर उद्धृत)

द्वारा उधार लेने का प्रश्न है निम्नलिखित ऐतिहासिक परम्पराएँ इसमें हमारी सहायता कर सकती हैं—

(अ) प्राचीन मिस्र की सभ्यता के निर्माता लोग पश्चिमी एशिया से मिस्र को गये थे।

(आ) यूनानी लेखकों के अनुसार फोनेशियन्स, जो कि प्राचीन काल के महान् सामुद्रिक यात्रा-दक्ष और संस्कृति-प्रसारक लोग थे, त्यर (TYR) में उपनिवेश बनाकर रहते थे जो कि पश्चिमी एशिया का बड़ा बन्दरगाह था।

(इ) सुमेरियन लोग स्वयं भी समुद्र के मार्ग से बाहर से आकर सुमेरिया में बसे थे।

(ई) पुरानी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार, जो कि पुराणों और महाकाव्यों में दी हुई हैं, आर्य-जातियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत से उत्तर की ओर और पश्चिम की ओर आर्य जातियाँ गयी थीं।[1]

इन परिस्थितियों में इस तथ्य के सम्बन्ध में असम्भावना नहीं मानी जा सकती है कि या तो आर्य लोग या उनके असुर नाम के बन्धुओं ने सिन्धुघाटी की लिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिमी एशिया और मिस्र में ले गये। इस प्रकार संसार के उन भागों में लिपि के विकास को प्रोत्साहित किया।[2]

डॉ. राजबली पांडेय का सुझाव ऐतिहासिक तर्कमत्ता के अनुकूल हैं—निश्चय ही इस लिपि की उद्भावना भारत में हुई और यहीं से सुमेर और मिस्र को गयी, वहाँ इस लिपि का और विकास हुआ। पर इस सिद्धान्त से भी भाषा और लिपि के उद्घाटन में यथार्थ सहायता नहीं मिल पाती।

---

1. As regards the question of borrowing by one from the others, the following historical tradition will help us :
   (i) The authors of ancient Egyptian civilisation migrated from Western Asia to Egypt.
   (Maspeor—The Dawn for civilisation : Egypt and chaldea, p. 45; Passing of the Empire, VIII, Smith, Ancient Egyptians, P. 24)
   (ii) The Phonecians the great sea-faring and culture spreading people of ancient times, were colonists in TYR, the great sea-port of Western Asia, according to the Great Writers. (Herodotus, 11, 44)
   (iii) The Summerians themselves came to Sumeria from outside through seas.
   (Wolley, C.L .—The Summerians, 189)
   (iv) The Aryans Tribes, according to the ancient historical, tradition recorded in the Puranas and Epics migrated from N.W. India towards the north and the west.
   (F.E. Pargiter—Ancient Indo-Historical Traditions, XXV)
2. Under the circumstances, there is no impossiblity about the fact that either the Aryans or their cousins the Asuras invented the Indus Valley script and carried it to Western Asia and Egypt and thus inspired the evolution of scripts in these parts of the world.
   (Pandey, R.B. — Indian Paleography, P. 34)

सिन्धु-लिपि दायें से बायें खरोष्ठी या फारसी लिपि की भाँति लिखी गयी है, या बायें से दायें, रोमन और नागरी लिपि की भाँति। इस सम्बन्ध में भी द्वैध है—एक कहता है दायें से बायें, दूसरा कहता है बायें से दायें। यह समस्या एक समय ब्राह्मी के सम्बन्ध में भी उठी थी। ब्राह्मी की एक शैली दायें से बायें लिखने की भी थी, अवश्य कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं।

ब्यूह्लर ने ब्राह्मी को दाहिने से बाएं लिखने का जो प्रमाण दिया है वह अशोक के येरगुडी (करनूल, मद्रास) लेख तथा एरण के एक मृदा-लेख पर आधारित है। कनिंघम ने मध्य प्रदेश के जबलपुर से उस सिक्के का पता लगाया था जिस पर ब्राह्मी में मुद्रा-लेख दाहिने से बाएँ लिखा है। इसे एक आकस्मिक घटना मान सकते हैं और टकसाल के साँचा-निर्माता की भूल से ऐसा हो गया होगा। इसी तरह अशोक के लेख में लिखने का क्रम उलटा मिलता है। येरगुडी के लेख में पहली पंक्ति ठीक ढंग से बाँए से दाहिने लिखी है और दूसरी पंक्ति दाहिने से बाँए। तीसरी बाँए से दाहिने तथा चौथी दाहिने से बाँए। इससे स्पष्ट है कि लेख अंकित करने वाला वास्तविक रूप में ब्राह्मी लिखना जानता था। पर एक नयी प्रणाली (दाहिने से बाँए) का उसी लेख में समावेश करना चाहता था। इसलिए उलटे क्रम (दाहिने से बाएँ) का भी उसने उपयोग किया। किन्तु इस कृत्रिम रूप के आधार पर कोई गम्भीर सिद्धान्त स्थिर करना युक्तिसंगत न होगा।[1]

ब्राह्मी को, दिल्ली के अशोक-स्तम्भ पर अंकित ब्राह्मी को, एक व्यक्ति ने यूनानी लिपि माना था, और उस ब्राह्मी लेख को अलैक्जेंडर की विजय का लेख माना था। काशी के ब्राह्मण ने एक मनगढ़न्त भाषा और उसकी लिपि बतायी, किसी ने उनको तंत्राक्षर बताया; एक जगह किसी ने पहलवी माना; और भी पक्ष प्रस्तुत हुए, पर प्रत्येक लेख की स्थिति और उनका परिवेश, उनका स्थानीय इतिहास तथा अन्य विवरणों की ठीक जानकारी हुईं और तब तुलना से वे अक्षर ठीक-ठीक पढ़े जा सके हैं।

पर सिन्धुघाटी की सभ्यता विषयक विविध समस्याएँ अभी समस्याएँ ही बनी हुई हैं। यह सभ्यता भी केवल सिन्धुघाटी तक सीमित नहीं थी, अब तो मध्य प्रदेश और राजस्थान में भी इसके गढ़ भूमि-गर्भ में गर्भित मिले हैं। लगता यह है कि महान् जल-प्लावन से पूर्व की यह संस्कृति-सभ्यता थी। पानी के साथ मिट्टी बह आयी और उनमें ये नगर दब गये। पर ये सभी कल्पनाएँ हैं और अधिक उत्खनन से कहीं कोई ऐसी कुंजी मिलेगी जो इसका रहस्य खोल देगी। तो पाण्डुलिपि-विज्ञान के जिज्ञासु के लिए उन अड़चनों, कठिनाइयों और अवरोधों को समझने की आवश्यकता है जिनके कारण किसी अज्ञात लिपि का उद्घाटन सम्भव नहीं हो पाता।

वे अड़चनें हैं—

(1) किसी सांस्कृतिक परम्परा का न होना। ऐसी परम्परा प्राप्त होनी चाहिये जिसमें विशेष लिपि को बिठाया जा सके;

---

1. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 249।

(2) ठीक इतिहास का अभाव तथा इतिहास की विस्तृत जानकारी का अभाव या विद्यमान ऐतिहासिक ज्ञान में अनास्था।

(3) अयथार्थ और अप्रामाणिक पूर्वाग्रहों का होना।

(4) तुलना से समस्या का और जटिल होना।

(5) लिपि-विषयक प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में भ्रम होना।

(6) लिपि में लिखी भाषा का ठीक ज्ञान न होना, यथा—प्राकृत के स्थान पर पहलवी और प्राकृत के स्थान पर संस्कृत भाषा समझकर किये गये प्रयत्न विफल हो गये थे।

ऊपर हम 'स्वाहा' से लिये गये उद्धरण में ब्राह्मी लिपि पढ़ने के प्रयत्नों की सामान्य रूप-रेखा पढ़ चुके हैं। यहाँ महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से भी इस सम्बन्ध में एक उद्धरण दिया जाता है, इससे ब्राह्मी लिपि में पढ़ने के प्रयत्नों का अच्छा ज्ञान हो सकेगा।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में देहली और इलाहाबाद के स्तम्भों तथा खंडगिरि के चट्टान पर खुदे हुए लेखों की छापें आ गई थी, परन्तु विल्फर्ड का यत्न निष्फल होने से अनेक वर्षों तक उन लेखों के पढ़ने का उद्योग न हुआ। उन लेखों का आशय जानने की जिज्ञासा रहने के कारण जेम्स प्रिन्सेप के ई.सं. 1834-35 में इलाहाबाद, रधिया और मथिया के स्तम्भों पर के लेखों की छापें मंगवाई और उनको देहली के लेख से मिलाकर यह जानना चाहा कि उनमें कोई शब्द एक-सा है या नहीं। इस प्रकार उन चारों लेखों को पास-पास रखकर मिलाने से तुरन्त ही यह पाया गया कि ये चारों लेख एक ही हैं। इस बात से प्रिन्सेप का उत्साह बढ़ा और उसे अपनी जिज्ञासा पूर्ण होने की दृढ़ आशा बंधी। फिर इलाहाबाद के स्तम्भ के लेख से भिन्न-भिन्न आकृति के अक्षरों को अलग-अलग छांटने पर यह विदित हो गया कि गुप्ताक्षरों के समान उनमें भी कितने अक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं के पृथक्-पृथक् पाँच चिह्न लगे हुए हैं, जो एकत्रित कर प्रकट किये गये।[1] इससे अनेक विद्वानों को उक्त अक्षरों के यूनानी होने का जो भ्रम था[2] वह दूर हो गया।

---

1. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ. 7, प्लेट 5।

2. अशोक के लेखों की लिपि मामूली देखने वाले को अंग्रेजी या ग्रीक लिपि का भ्रम उत्पन्न करा दे, ऐसी है। टॉम कोरिअट् नामक मुसाफिर ने अशोक के देहली के स्तम्भ के लेख को देखकर एल. ह्विटकर को एक पत्र में लिखा है कि ''मैं इस देश (हिन्दुस्तान) के देली (देहली) नामक शहर में आया जहाँ पर 'अलेक्जैंडर दी ग्रेट' (सिकन्दर) ने राजा पोरस को हराया और अपनी विजय की यादगार में उसने एक वृहत् स्तम्भ खड़ा करवाया जो अब तक वहाँ विद्यमान है'' (केरस वाँयेजिज एण्ड ट्रेवल्स, जि. 9, पृ. 423 क. आ. स. रि. जि. 1 पृष्ठ 163) इस तरह जब टॉम कोरिअट् ने अशोक के लेख वाले स्तम्भ को बादशाह सिकन्दर का खड़ा करवाया हुआ मान लिया तो उस पर के लेख के पढ़े जाने तक दूसरे यूरोपिअन् यात्री आदि का उसकी लिपि को ग्रीक मान लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि टॉम कोरिअट ने मुझसे कहा कि मैंने देली (देहली) में ग्रीक लेख वाला एक बहुत बड़ा पाषाण का स्तम्भ देखा जो ''अलेक्जैंडर दी ग्रेट'' ने उस प्रसिद्ध विजय की यादगार के निमित्त उस समय वहाँ पर खड़ा करवाया था (क. आ. स. रि. जि. 1, पृ. 163-64) इसी तरह दूसरे लेखकों ने उस लेख को ग्रीक लेख मान लिया था।

स्वरों के चिह्नों को पहिचानने के बाद मि. प्रिन्सेप ने अक्षरों के पहिचानने का उद्योग करना शुरू किया और उक्त लेख के प्रत्येक अक्षर को गुप्तलिपि से मिलाना और जो मिलता गया उसको वर्णमाला के क्रमवार रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार बहुत-से अक्षर पहिचान में आ गये।

पादरी जेम्स स्टिवेन्सन् ने भी प्रिन्सेप की भाँति इसी शोध में लग कर 'क', 'ज', 'प' और 'ब' अक्षरों[1] को पहिचाना और इन अक्षरों की सहायता से लेखों को पढ़कर उनका अनुवाद करने का उद्योग किया गया परन्तु कुछ तो अक्षरों के पहिचानने में भूल हो जाने, कुछ वर्णमाला पूरी ज्ञात न होने[2] और कुछ उन लेखों की भाषा को संस्कृत मानकर उसी भाषा के नियमानुसार पढ़ने से वह उद्योग निष्फल हुआ। इससे भी प्रिन्सेप को निराशा न हुई। ई.स. 1836 में प्रसिद्ध विद्वान् लँसन् ने एक बैक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में अँगँयाँक्लिस का नाम पढ़ा। ई.सं. 1837 में मि. प्रिन्सेप ने साँची के स्तूपों से सम्बन्ध रखने वाले स्तम्भों आदि पर खुदे हुए कई एक छोटे-छोटे लेखों की छापें एकत्र कर उन्हें देखा तो उनके अन्त के दो अक्षर एक-से दिखाई दिये और उनके पहिले प्रायः 'स' अक्षर पाया गया जिसको प्राकृत भाषा के सम्बन्ध कारक के एक वचन का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' से) मानकर यह अनुमान किया कि ये सब लेख अलग-अलग पुरुषों के दान प्रकट करते होंगे और अंत के दोनों अक्षर, जो पढ़े नहीं और जिनमें से पहिले के साथ 'आ' की मात्रा और दूसरे के साथ अनुस्वार लगा है उनमें से पहिला अक्षर 'दा' और दूसरा 'न' (दानं) ही होगा। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' के पहिचाने जाने पर वर्णमाला सम्पूर्ण हो गई और देहली, इलाहाबाद, साँची, मथिया, रधिया, गिरनार औली आदि के लेख सुगमतापूर्वक पढ़ लिए गये। इससे यह भी निश्चय हो गया कि उनकी भाषा, जो पहिले संस्कृत मान ली गई थी वह अनुमान ठीक न था, वरन उनकी भाषा उक्त स्थानों की प्रचलित देशी (प्राकृत) भाषा थी। इस प्रकार प्रिन्सेप आदि विद्वानों के उद्योग से ब्राह्मी अक्षरों के पढ़े जाने से पिछले समय के सब लेखों को पढ़ना सुगम हो गया क्योंकि भारतवर्ष की समस्त प्राचीन लिपियों का मूल यही ब्राह्मी लिपि है।[3]

ब्राह्मी वर्णमाला

जिस 'ब्राह्मी वर्णमाला' के उद्घाटन का रोचक इतिहास ऊपर दिया गया है, उसे पढ़ने में आज विशेष कठिनाई नहीं होती। प्रिन्सेप आदि के प्रयत्नों ने वह वर्णमाला हमारे लिए हस्तामूलकवत कर दी है। वह वर्णमाला कैसी है, इसे बताने के लिए नीचे उसका पूरा रूप दे रहे हैं—

---

1. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक् सोसायटी ऑफ बंगाल, जि. 3, पृ. 485।
2. 'न' को 'र' पढ़ लिया था और 'द' को पहिचाना न था।
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 39-40।

अशोककालीन सामान्य ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला यह है—

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ अं

मात्रा

क ख ग घ   य र ल व

च छ ज झ ञ   श ष स ह

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

(भारतीय साहित्य-जनवरी, 1959)

इस अशोक लिपि से विकसित होकर भारत की विविध लिपियाँ बनी हैं। इन लिपियों की आधुनिक वर्णमाला से तुलनात्मक रूप बताने के लिए पं. उदयशंकर शास्त्री ने एक चार्ट बनाया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

भारत में लिपि-विचार

श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने लिपि के सम्बन्ध में जो टिप्पणियाँ भेजी हैं, उनमें पहले लिपि विषयक प्राचीन उल्लेखों की चर्चा की गयी है। वे लिखते हैं—

बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तार'[1] के दसवें अध्याय में 64 लिपियों के नाम आये हैं। 1. ब्राह्मी, 2 खरोष्ठी, 3. पुष्करसारी, 4. अंगलिपि, 5. बंगलिपि, 6. मगधलिपि, 7. मंगत्यलिपि, 8. मनुष्यलिपि, 9. अंगुलीय लिपि, 10. शकारिलिपि, 11. ब्रह्मवल्ली, 12. द्राविड़, 13. मनारि, 14. दक्षिण, 15. उग्र, 16. संख्या लिपि, 17. अनुलोम, 18. ऊर्ध्वध्वनु, 19. दरदलिपि, 20. खास्यलिपि, 21. चीनी, 22. हूण, 23. मध्याक्षर-विस्तार लिपि, 24. पुष्पलिपि, 25. देवलिपि, 26. नाग लिपि, 27. यक्षलिपि, 28. गन्धर्व-लिपि, 29. किन्नरलिपि, 30. महोरगलिपि, 31. असुरलिपि, 32. गरुड़लिपि, 33. मृगचक्र लिपि, 34. चक्रलिपि, 35. वायुमरुलिपि, 36. भौमदेवलिपि, 37. अन्तररिक्षदेवलिपि, 38. उत्तरबुरुद्वीपलिपि, 39. अपरगौडादिलिपि, 40. पूर्वविदेहलिपि, 41. उत्क्षेपलिपि, 42. निक्षेपलिपि, 43. विक्षेप लिपि, 44. प्रक्षेप लिपि, 45. सागर लिपि, 46. ब्रजलिपि, 47. लेख-प्रतिलेख लिपि, 48. अनुद्रुतलिपि, 49. शास्त्रवर्तलिपि, 50. गणावर्तलिपि, 51. उत्क्षेपावर्त, 52. विक्षेपावर्त, 53. पादलिखितलिपि, 54. द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित लिपि, 55. दशोत्तरपदसंधिलिखित लिपि, 56. अध्याहारिणी लिपि, 57. सर्वरुतसंग्रहणी लिपि, 58. विद्यानुलोभलिपि, 59. विमिश्रितलिपि, 60. ऋषिपस्तप्तलिपि, 61. धरणी-प्रेक्षजालिपि, 62. सर्वोषधनिष्यन्दलिपि, 63. सर्वसारसंग्रहणी लिपि, 64. सर्वभूतरुद्ग्रहणी लिपि।

उक्त लिपियों के नाम पढ़ने से ही ज्ञात हो जायेगा कि इनमें से बहुत-से नाम तो लिपि-द्योतक न होकर लेखन-प्रकार के हैं, कितने ही कल्पित लगते हैं और कितने ही नाम पुनरावृत्त भी हैं।

किन्तु डॉ. राजबली पाण्डेय इस मत को मान्यता नहीं देते। उन्होंने इन चौसठ लिपियों को वर्गीकृत करके अपनी व्याख्या दी है। इन लिपियों पर डॉ. पाण्डेय की पूरी टिप्पणी यहाँ उद्धृत की जाती है। लिखते हैं कि—

"ऊपर की सूची में भारतीय तथा विदेशी उन लिपियों के नाम हैं जिनसे उस काल में, जबकि ये पंक्तियाँ लिखी गयी थीं, भारतीय परिचित थे या जिनकी कल्पना उन्होंने की थी। पूरी सूची में से केवल दो ही लिपियाँ ऐसी हैं जिन्हें साक्षात प्रमाण के आधार पर पहचाना जा सकता है। ये लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी है। चीनी विश्वकोष फा-बन-सु-लिव (रचना-काल 668 ई.) इस प्रसंग में हमारी सहायता करता है। इसके अनुसार लेखन का आविष्कार तीन दैवी शक्तियों ने किया था, इनमें पहला देवता था फन (ब्रह्मा) जिसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, जो बांये से दांये लिखी जाती है, से दूसरी दैवी शक्ति थी किया-लू (खरोष्ठ) जिसने खरोष्ठी का आविष्कार किया, जो दांये से बांये लिखी जाती है, तीसरी

---

1. मूल 'ललितविस्तार' ग्रन्थ संस्कृत में है इसमें बुद्ध का चरित्र वर्णित है। इसके रचना-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता-परन्तु इसका चीनी भाषा में अनुवाद 308 ई. में हुआ था। डॉ. राजबलीप पांडेय ने इतना और बताया है कि यह कृति अपने चीनी अनुवाद से कम से कम एक या दो शताब्दी पूर्व की तो होनी ही चाहिये। (पांडे, राजबली—इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ. 26)

फलक 1

हस्तलेखों की वर्णमाला

[पं. उदय शंकर शास्त्री का चार्ट]

अ॰ का॰ ब्राह्मी	गु॰ का॰ ब्राह्मी	कुटिल	टाकरी	१२वीं शती	१३वीं शती	१४वीं शती	१५वीं शती	गुरमुखी	कैथी पूर्वी	कैथी पश्चिमी	१६वीं शती	१७वीं शती	१८वीं शती	हिन्दी
𑀅	𑀅	अ	अ	अ	अ	अ	अ	ਅ	अ	अ	अ	अ	अ	अ
𑀆		आ	आ	आ	आ	आ	आ	ਆ	आ		आ			आ
𑀇	:	इ	इ	इ	इ	इ	इ	ੲ	इ	इ	इ	इ	इ	इ
𑀈		ई	ई		ई	ई	ई	ਈ	ई	ई	ई	ई	ई	ई
𑀉	𑀉	उ	उ	उ	उ	उ	उ	ਉ	उ	उ	उ	उ	उ	उ
		ऊ	ऊ	ऊ			ऊ	ਊ	ऊ	ऊ	ऊ	ऊ	ऊ	ऊ
		ऋ	ऋ					ਰਿ						ऋ
			ॠ											ॠ
			ऌ											ऌ
			ॡ											ॡ
𑀏	𑀏	ए	ए	ए	ए	ए	ए	ਏ	ए	ए	ए	ए	ए	ए
		ऐ	ऐ	ऐ	ऐ			ਐ	ऐ	ऐ				ऐ
𑀑		ओ	ओ	ओ				ਓ	ओ					ओ
		औ	औ	औ				ਔ	औ	औ				औ
𑀅𑀁		·	·					ਅਂ	अं					अं
		:	:					ਆਂ						अः
𑀓	𑀓	क	क	क	क	क	क	ਕ	क	क	क	क	क	क
𑀔	𑀔	ख	ख	ख	ख	ख	ख	ਖ	ख	ख	ख	ख	ख	ख
𑀕	𑀕	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ਗ	ग	ग	ग	ग	ग	ग
𑀖	𑀖	घ	घ	घ	घ	घ	घ	ਘ	घ	घ	घ	घ	घ	घ
		ङ	ङ					ਙ						ङ
𑀘	𑀘	च	च	च	च	च	च	ਚ	च	च	च	च	च	च
𑀙	𑀙	छ	छ	छ	छ	छ	छ	ਛ	छ	छ	छ	छ	छ	छ

और सबसे कम महत्त्वपूर्ण दैवी शक्ति थी त्साम-की (Tsam-ki) जिसके द्वारा आविष्कृत लिपि ऊपर से नीचे की ओर लिखी है। यही विश्व-कोष हमें आगे बताया है कि पहले दो देवता भारत में उत्पन्न हुए थे और तीसरा चीन में..........।''

सूक्ष्मता से विचार करने पर अधिकांश लिपियाँ (ललितविस्तार में बतायी गयी) निम्नलिखित वर्गों में विभाजित की जा सकती है; कुछ तो फिर भी ऐसी रह जाती हैं जिन्हें पहिचानना और परिभाषित करना कठिन ही है—

(1) भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि—**ब्राह्मी**। यह लिपि की अकारादिक (Alphabetic) प्रणाली थी।

(2) वह लेखन प्रणाली जो भारत के उत्तर-पश्चिम तक ही सीमित रही—खरोष्ठी।

(3) भारत में ज्ञात **विदेशी लिपियाँ**—

(क) यवनाली (यवनानी)—यूनानी (ग्रीक) वाणिज्य व्यवसाय के माध्यम से भारत इससे परिचित था। यह भारत-बाख्त्री और कुषाण सिक्कों पर भी अंकित मिलती है।

(ख) दरदलिपि—(दरद लोगों की लिपि)

(ग) खस्यालिपि (खसों-शकों की लिपि)

(घ) चीना लिपि (चीनी लिपि)

(च) हूण लिपि (हूणों की लिपि)

(छ) असुर लिपि (असुरों की लिपि, जो कि पश्चिम एशिया में आर्यों की शाखा के ही थे।)

(ज) उत्तर कुरुद्वीप लिपि (उत्तर कुरु, हिमालय, उत्तर के क्षेत्र की लिपि)

(झ) सागर-लिपि (समुद्री क्षेत्रों की लिपि)

(4) **भारत की प्रादेशिक लिपियाँ**—आधुनिक प्रादेशिक लिपियों की भाँति पूर्वकाल में ब्राह्मी के साथ-साथ ऐसी प्रादेशिक लिपियाँ भी रही होंगी जो या तो ब्राह्मी का ही रूपान्तर हों, या उससे ही विकसित या व्युत्पन्न हों या पुरा-ब्राह्मी या तत्कालीन किसी अन्य स्वतन्त्र लिपि से व्युत्पन्न न हों। ब्राह्मी के रूपान्तरों को छोड़ कर उक्त सभी कालकवलित हो गयीं। फिर भी नीचे लिखे नामों में कुछ की स्मृति अवशिष्ट है—

(क) पुखरसारीय पुष्करसारीय अधिक सम्भावना यह है कि यह पश्चिमी गांधार में प्रचलित रही हो। जिसकी राजधानी पुष्करावती थी।

(ख) पहराइय (उत्तर पहाड़ी क्षेत्र की लिपि)।

(ग) अंग लिपि (अंग उ.पू. बिहार की लिपि)।

(घ) बंग लिपि (बंगाल में प्रचलित लिपि)।

(च) मगध लिपि (मगध में प्रचलित लिपि)।

(छ) द्रविड़ लिपि (दमिलि) (द्रविड़ प्रदेश की लिपि)।

(ज) कनारी लिपि (कनारी क्षेत्र की लिपि)।

(झ) दक्षिण लिपि [दखन (दक्षिण) की लिपि]।

(ट) अपर-गौआद्रिड़-लिपि (पश्चिमी गौड़ की लिपि)।

(ठ) पूर्व विदेह लिपि (पूर्व विदेह की लिपि)।

(5) जनजातियों की (Tribal) लिपियाँ—

(क) गंधर्व लिपि (गंधर्वों की लिपि, ये हिमालय की जन-जाति हैं)।

(ख) पौलिंदी (पुलिंदो की—विंध्यक्षेत्र के लोगों की)।

(ग) उग्रलिपि (उग्र लोगों की लिपि)।

(घ) नागलिपि (नागों की लिपि)।

(च) यक्षलिपि [यक्षों (हिमालय की एक जाति) की]।

(छ) किन्नरलिपि (किन्नरों, हिमालय की एक जाति की लिपि)।

(ज) गरुड़लिपि (गरुड़ों की लिपि)।

(6) साम्प्रदायिक लिपियाँ—

(क) महेसरी (महेस्सरी माहेश्वरी, शैवों में प्रचलित एक लिपि)।

(ख) भौमदेव लिपि [भूमि के देवता (ब्राह्मण) द्वारा प्रयुक्त लिपि]।

(7) चित्ररेखान्वित लिपियाँ—

(क) मंगल्य लिपि (एक मंगलकारी लिपि)।

(ख) मनुष्य लिपि (एक ऐसी लिपि जिसमें मानव-आकृतियों का उपयोग हो)।

(ग) आंगुलीय लिपि (अंगुलियों के से आकार वाली लिपि)।

(घ) उर्ध्व धनु लिपि (चढ़े हुए धनुष के से आकार वाली लिपि)।

(च) पुष्पलिपि (पुष्पांकित लिपि)।

(छ) मृगचक लिपि (वह लिपि जिसमें पशुओं के चक्रों का उपयोग किया गया हो।)

(ज) चक्र लिपि (चक्राकार रूप वाली लिपि)।

(झ) वज्र लिपि वज्र के समरूप वाली लिपि।

(8) स्मरणोपकारी (Memoric) लिपि—

(क) अंकलिपि (या संख्या लिपि)।

(ख) गणित लिपि (गणित के माध्यम वाली लिपि)।

(9) **उभारी या खोदी लिपि—**

(क) आदर्श या आयस लिपि [बाच्यार्थतः कुतरी हुई (Bitten) अर्थात् छेनी से खोदी हुई]।

(10) **शैली-परक लिपियाँ—**

(क) उत्क्षेप लिपि [ऊपर की ओर उभार कर (उछालकर) लिखी गयी लिपि]।

(ख) निक्षेप लिपि (नीचे की ओर बढ़ा कर लिखी गयी लिपि)।

(ग) विक्षेप लिपि (सब ओर से लंवित लिपि)।

(घ) प्रक्षेप लिपि (एक ओर विशेष संवर्द्धित लिपि)।

(च) मध्यक्षर विस्तार लिपि (वह लिपि जिसमें मध्य-अक्षर को विशेष सम्वर्द्धित किया गया हो)।

(11) **संक्रमण-स्थिति द्योतक लिपि—**

विभिन्न लिपि [चित्ररेखान्वित, अक्षर (Syllabics) तथा वर्ण से विमिश्रित लिपि]।

(12) **त्वरा लेखन—**

(क) अनुद्रुत लिपि-शीघ्रगति से लिखने की लिपि या त्वरा लेखन की लिपि।

(13) **पुस्तकों के लिए विशिष्ट शैली—**

शास्त्रावर्त (परिनिष्ठत कृतियों की लिपि)।

(14) **हिसाबकिताब की विशिष्ट शैली—**

(क) गणावर्त (गणित मिश्रित कोई लिपि)।

(15) **दैवी या काल्पनिक—**

(क) देवलिपि (देवताओं की लिपि)।

(ख) महोरग लिपि सर्पों (उरगों) की लिपि।

(घ) अन्तरिक्ष-देव लिपि (आकाश के देवताओं की लिपि)।

दैवी या काल्पनिक लिपियों को छोड़ कर शेष भेद या रूप भारत के विविध भागों की लिपियों में, पड़ौसी देशों की लिपियों में, प्रादेशिक लिपियों में और अन्य चित्र-रेखानन्वयी या आलंकारिक लेखन में कहीं न कहीं मिल ही जाते हैं।[1]

इस लेखक ने मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की लिपि को विमिश्रित लिपि माना है जिसमें संक्रमण सूचक चित्ररेखक (Pictographs), भावचित्र रेखिक (Ideographs) तथा ध्वनि-चिह्नक (अक्षर) रूप मिलेजुलते मिलते हैं[2]

---

1. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, P. 25-28.
2. Ibid, P. 29.

किन्तु अठारह लिपियों का उल्लेख कई प्रमाणों में मिलता है। इस सम्बन्ध में हम पुनः श्री बहुरा जी की टिप्पणी उद्धृत करते हैं—

वर्णक समुच्चय में मध्यकालीन अट्ठारह लिपियों के नाम इस प्रकार हैं—

1. उड्डी (उड़िया), 2. कीरी, 3. चणक्की, 4. जक्खा (यक्ष लिपि), 5. जवणी (यावनी ग्रीक लिपि), 6. तुरक्की (तुर्की), 7. द्राविड़ी, 8. नडि, नागरी (ई.स. की 8वीं शताब्दी के बाद में विकसित), 9. निमित्री (ज्योतिष सम्बन्धी), 10. पारसी, 11. मूयलिबि, मालविणि (मालव प्रदेशीय लिपि), 12. मूलदेवी (चौरशास्त्र के प्रणेता मूलदेव प्रणीत संकेत लिपि), 13. रक्वशी (राक्षसी), 14. लाडलि (लाट प्रदेशीय), 15. सिधविया (सिंधी), 16. हंसलिपि (Arrow headed alphabets) के नाम तो लावण्यसमयकृत 'विमलप्रबन्ध' में मिलते हैं और इनसे जूनी (प्राचीन) लिपियों के नाम, 17. जवणालिया अथवा जवणनिया और 18. दामिलि और है।

'पन्नवणा सूत्र' की प्राचीन प्रति में 18 लिपियों के नाम इस प्रकार हैं—1. बंगी, 2. जवणालि, 3. दोसापुरिया, 4. खरोष्ठी, 5. पुक्खरसारिया, 6. भोगवइया, 7. पहाराइया, 8. उपअंतरिक्खिया, 9. अक्खरपिट्ठिया, 10. तेवणइया (वेवणइया), 11. गिलिगहइया, 12. अंकलिपि, 13. गणितलिपि, 14. गंधव्य लिपि, 15. आदंस (आयस) लिपि, 16. माहेसरी, 17. दमिली, 18. पोलिंदी।

'जैन समवायांग सूत्र' की रचना अशोक से पूर्व हुई मानी जाती है। इसमें दी हुई अट्ठारह लिपियों की सूची में ब्राह्मी और खरोष्ठी के अतिरिक्त जिन लिपियों के नाम दिए गए हैं उनमें लिखा हुआ कोई शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है। सम्भवतः वे सभी लुप्तप्रायः हो गई होंगी और उनका स्थान ब्राह्मी ने ही ले लिया होगा।

इसी प्रकार 'विशेषावश्यक सूत्र' की गाथा 464 की टीका में भी 18 लिपियों के नाम गिनाये गए हैं—1. हंसलिपि, 2. मुअलिपि, 3. जक्खीतट लिपि, 4. रक्खी अथवा बोधधा, 5. उड्डी, 6. जवणी, 7. तुरुक्की, 8. कीरी, 9. दविडी, 10. सिंधविया, 11. मालविणी, 12. नड़ि, 13. नागरि, 14. लाडलिपि, 15. पारीसी या बोधध, 16. तहअनिमित्तीय लिपि, 17. चाणक्की, 18. मूलदेवी।

'समवायांगसूत्र' और 'विशेषावश्यक' टीका में आयी हुई 18 लिपियों के नामों में बड़ा अन्तर है। 'समवायांग' में ब्राह्मी और खरोष्ठी के नाम आते हैं परन्तु विशेषावश्यक टीका में एशिया और भारत के प्रदेशों के नामों पर आधारित तथा कतिपय प्रसिद्ध पुरुषों की नामाश्रित लिपियों के नाम देखने को मिलते हैं, यथा—तुरुक्की, सिंधविया, दविड़ी, मालविणी, पारसी ये देशों के नाम पर हैं और बाणक्की, मूलदेवी आदि व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित हैं। रक्खसी और पारसी दोनों के पर्याय बोधधा दिए हैं। ये दोनों एक ही थीं क्या? समवायांगसूत्र वाली सूची स्पष्ट है।

इनमें कुछ तो शुद्ध सांकेतिक लिपियाँ हैं जो अमुक-अमुक वर्णों का सूचन करती हैं और कुछ एक ही लिपि के वर्णों में क्रम-परिवर्तन करके स्वरूप-ग्रहण करती हैं, यथा—चाणक्की और मूलदेवी लिपियाँ नागरी के वर्णों में परिवर्तन करके ही उत्पन्न की गयी हैं।

वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' में परिणगणित 64 कलाओं में ऐसी लिपियों का भी उल्लेख आता है और इनको 'म्लेच्छित विकल्प' की संज्ञा दी गयी है। जब शुद्ध शव्द के अक्षरों में विकल्प या फेरफार करके उसे अस्पष्ट अर्थ वाला बना दिया जाता है तो वह **'म्लेच्छित विकल्प'** कहलाता है, यथा—'क', 'स', 'थ' और 'द' से 'क्ष' तक के अक्षरों को ह्रस्व और दीर्घ तथा अनुस्वार और विसर्ग, इन सबको उल्टा क्रम करके अन्त में क्ष लगाकर लिखने से दुर्बोध्य 'चाणक्यी' लिपि बन जाती है।

अ क, ख ग, घ ङ, च ट, त प, य श, इनको नस्ल अर्थात् अ की जगह क, ख के स्थान पर ग रखने तथा शेष को यथावत् रखने से मूलदेवीय रूप हो जाता है। गूढ़ लेख-ग्रह 9-अइउऋऌएऐओऔ, नयन-2 दीर्घ, वस्तु 8-कखगघङचछज, षडानन 6—षयटठडढ, सागर 7-णतथदधनप, मुनि 7-फबभमयरल, ज्वलनांग 5-वशषसह, तुंकश्रृंग—विसर्ग-अनुस्वार। इस कुन्जी से लिखा गूढ़ लेख कहलाता है—''ग्रहनयनवसुसमेतं षडाननख्यानि सागरा मुनयः।'' ज्वलनांग तुंकश्रृंग दुर्लिखिंत गूढ़ लेख्यामिदम्॥ यथा—

वसु	1 = क् + ग्रह 1 नयन = आ = क + अ + आ	= का
मुनि	4 = म् + ग्रह 1 अ = म + अ	= म
सागर	4 = द् + ग्रह 6 = द + ए	= दे
ज्वलनांग	1 = ब + ग्रह 1 = ब + अ	= ब
		= कामदेव

एवं ''प्रकारा अन्येऽपि द्रष्टव्याः''

इसी प्रकार अंक पल्लवी, शून्य पल्लवी और रेखा पल्लवी लिपियाँ भी होती थीं। अंक पल्लवी में पहला अंक वर्ण का द्योतक, दूसरा उस वर्ग के अक्षर का और तीसरा मात्रा का द्योतक होता है। अ पहला वर्ग है, सभी स्वर इसके अक्षर है। क, च, ट, त, प, य और श ये अन्य वर्ग हैं। इन वर्गों के अंक ये होंगे—1 = अ वर्ग-स्वर वर्ग, 2 = क वर्ग, 3 = च वर्ग, 4 = ट वर्ग, 5 = त वर्ग, 6 = प वर्ग तथा 7 = यरलव एवं 8 = शषसह। अंक पल्लवीं में लेख यों लिखा जायेगा

212	651	537	741
का	म	दे	व

शून्यांकों में हल्की और गहरो शून्य से लघु और गुरु का संकेत किया जाता है, इसी प्रकार रेखांकों में हल्की-गहरी और बड़ी-छोटी रेखाओं से संकेत बनाये जाते हैं।

कितनी ही प्राचीन ताड़पत्रीय और कागज पर लिखी प्रतियों में अक्षरात्मक अंक भी पाये जाते हैं, जैसे—रोमन-लिपि में १० (10) के लिए X, ५० (50) के लिए L, १०० (100) के लिए C अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। जैसे दस, बीस, तीस आदि दशक संख्याओं के सूचक अक्षर लिखे जाते हैं, परन्तु शून्य के स्थान पर शून्य ही चलता है, जैसे—

र्लृ = 10, थ = 20, ला = 30, प्त = 40, 0 = 50, र्थु = 60, र्थू = 70, 0 = 80, 0 = 90,

0 0 0 0 0

सु = 100, सू = 200, स्ता = 300, स्ति = 400, स्तो = 500, स्तं = 600, स्तः = 700

0 0 0 0 0 0 0

0 0 0 0 0 0 0

इत्यादि।

हम देखते हैं कि इन संख्याओं को पोड़ी पंक्ति में न लिख कर ऊपर-नीचे खड़ी पंक्ति में लिखा जाता है। कुछ अंकों के स्थान पर दहाई में वे अंक ही अपने रूप में लिखे जाते हैं और कुछ के लिए अन्य अक्षर नियत हैं, यथा—र्लृ = 11, र्लृ = 12, र्लृ = 13,

1 2 3

परन्तु, 14 के लिए र्लृ लिखा जायेगा। इसी प्रकार र्लृ = 15, र्लृ = 16, र्लृ = 17, र्लृ = 18,

एक र्लृ फ्रु र्या ब्रा

र्ल = 19 इत्यादि।

उ

हमारे बचपन में चटशालाएँ चलती थीं। चटशालाएँ सम्भवतः चेट्टिशाला का रूपान्तर हैं। चेट्टि शब्द शिष्य का वाचक है। चटशाला के बड़े छात्र या अध्यापक को जोशीजी कहते थे। मानीटर को 'वरचट्टी' कहा जाता था। उन दिनों पहले एक पटरे पर गेरू या लाल मिट्टी बिछा कर लकड़ी के 'बरते' से अक्षर लिखना सिखाया जाता था। फिर लकड़ी की पाटी पर मुल्तानी पोत कर नेजे (सरकण्डे) की कलम और गोंदवाली काली स्याही से सुलेख लिखाया जाता था। इसको 'अक्षर जमाना' कहते थे। पहले वर्णमाला फिर गणित पाटी आदि तो लिखाते ही थे, परन्तु बड़े छात्रों को 'सिद्धा' अर्थात् कातन्त्र सूत्र 'सिद्धो वर्णाः' लिखाते थे—पर साथ ही, हमें याद है कि एक 'दातासी' लिपि भी लिखाई जाती थी। इसको जानने वाला सबसे चतुर छात्र समझा जाता था—स्वर तो वही रहते हैं, परन्तु 32 व्यंजनों के लिए ये अक्षर होते थे—

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

श्री दा — ता — ध — न — को — स — मा — वो — वा — ल

11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24

म — हि — ष — गो — घ — टी — आ — ई — पू — छ — ज — डा — थ — ढा

25 26 27 28 29 30 31 32 इति दातासी।

उ — च — री — य — ठ — ण — झ — फू

इसका दूसरा सूत्र इस प्रकार है—

दाता धण कोस भावं, बाला महं खगं घटा।
आशा पीठं जढे षण्डे, चयं रिच्छं थनं झफा॥

इति दातासी।

वर्ण विपर्यय द्वारा लिखी जाने वाली एक सहदेवी विधि भी है, जिसका क्रम इस प्रकार है—

अप। फब। मम। कच। खछ। गज। घझ। ङञ ।
टत। ठथ। डद। ढध। णन। हय। शव। रस। लष ॥

इति सहदेवी।

लिपि

व्यावहारिक समस्यायें :

यहाँ तक हमने ऐतिहासिक दृष्टि से लिपि के स्वरूप पर विचार किया है। साथ ही विविध लिपियों की वर्णमालाओं पर भी प्रकाश डाला है। पाण्डुलिपि-विज्ञान के अध्येता और अभ्यासी को तो आज विविध ग्रन्थागारों में उपलब्ध ग्रन्थों का उपयोग करना पड़ता है। इन ग्रन्थों में देवनागरी के ही कुछ अक्षरों के ऐसे रूप मिलते हैं कि उन्हें पढ़ना कठिन होता है। इस दृष्टि से ऐसे कुछ अक्षरों का ज्ञान यहाँ करा देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

एक अनुसन्धानकर्ता गुजरात के ग्रन्थागारों के ग्रन्थों का उपयोग करने गये तो उन्हें एक प्रतिष्ठित आचार्य ने ऐसे ही विशिष्ट अक्षरों की एक अक्षरावली दी थी और उस अक्षरावली के कारण उन्हें वहाँ के ग्रन्थों को पढ़ने में कठिनाई नहीं हुई। वह अक्षरावली[1] नीचे दी जाती है—

उ ऊ ओ औ छ ज झ

ड ढ भ ल क्ष स ह ख

(क= के, (के= कै, (का= को, (को= कौ, क= कु, कू= कू

---

1. सत्येन्द्र (डॉ.)—अनुसन्धान, पृ. 111।

संयुक्त वर्ण

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इस अक्षरावली पर दृष्टि डालने से एक बात तो यह विदित होती है कि 'उ ऊ ओ औ' चारों स्वरों में 'मूल स्वर' का एक रूप है, उ ऊ में भी और 'ओ औ' में भी वह इसमें शिरोरेखा देकर 'उ' बनाया गया है। इसी में 'ऊ' की मात्रा लगाकर 'ऊ' बनाया गया है। यह 'ऊ' की मात्रा है— ' ' और यह अशोककालीन ब्राह्मी की 'ऊ' की मात्रा का ही अवशेष है जो आज तक चला आ रहा है। ओ औ में 2 की रेखा को 3 की भाँति वृत्तांवित या घुण्डीयुक्त कर दिया गया है। फिर 3 पर शिरोरेखा में भी अशोक लिपि की परम्परा मिलती है। दोनों ओर '—' यह लगाने से 'औ' बनता है, ये 'ओ' की मात्राएँ हैं। 'औ' की मात्रा में भी एक रेखा (ऊ) की मात्रा के सिर पर चढ़ाई गयी है। ये ब्राह्मी के अवशेष हैं। यही प्रवृत्ति कु-कू में भी मिलती है। के कै, को कौ में बंगला लिपि की मात्राओं से सहायता ली गई है।

अब यहाँ कुछ विस्तार से राजस्थान के ग्रन्थों में मिलने वाली अक्षरावली या वर्णमाला पर विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्वक विचार डॉ. हीरालाल माहेश्वरी के शब्दों में दिये जाते हैं—राजस्थानी की और राजस्थान में उपलब्ध प्रतियों के विशेष सन्दर्भ में उनकी वर्णमाला विषयक ज्ञातव्य बातें निम्नलिखित हैं—

1. (क) राजस्थान में उपलब्ध ग्रन्थों में प्रयोग में आयी देवनागरी की वर्णमाला की कुछ विशेषताएँ कहीं-कहीं मिलती हैं। उन्हें हम इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) विवादास्पद वर्ण

(आ) भ्रान्त वर्ण

(इ) प्रमाद से लिखे गये वर्ण

(ई) विशिष्ट वर्ण चिह्न, उनका प्रयोग करना अथवा न करना तथा

(उ) उदात्त-अनुदात्त-ध्वनि वर्ण

पहले प्रत्येक के एकाध उदाहरण देकर इनको स्पष्ट करना है—

(अ) विवादास्पद (Controversial) वर्णों के उदाहरण

1— थ > छ / छ > थ

च / थ — थ / छ (सं. 1887 पोह सुदि 1 को लिखे गए बीकानेर परवाने से) अन्य परवानों में भी ऐसे ही रूप दोनों के मिलते हैं, सं. 1907 तक।

थ > छ

प्रयोग के उदाहरण

थाप > छाप / छेक > थेक
था > छा / छड़ी > थड़ी
थो > छो / छुणछुणो > थुणथुणो

2—र > द। द > र।

द।र।र। र द ८ (ये रूप सभी प्रतियों और परवानों में)

र द

चवरा > चवदा। चवदा > चवरा
(4) (14)

3—थ > ब। ब > थ। (ब)

थोबड़ो > बोबड़ो।

(आ)

1—छ > ब। ब > छ

छुरी > बुरी। (परनारी पैनी छुरी) बंद > छंद।
(परनारी बुरी) पद्घड़िया छद।

छाप > बाप > अै तो म्हारे छाप का।
अै तो म्हारे बाप का॥

2—ट > ढ।

वह बट गया इवांणी (अज्ञानी पृथक्-पृथक् हो गए) (मेल-मिलाप न रखकर)
बढ बढ गया इवांणी अज्ञानी कह बढ़ गए

3—भ > म।

भरेड़ी > मरेड़ी

4—स > म।

सिसियर > मिसियर

(चन्द्रमा) (काला, काले वर्ण का, काले वर्ण के समूह का)

5—छ > ध।

छपछप करती आई।

धमधम करती आई।

6—च > व।

चांदणी > वांदणो

7—ज > त।

जाण्यो तेरो जत।

जाण्यो तेरो तत।

8—ण्य > ण।

जाण्यो पण आण्यो नहीं → (जाना किन्तु लाया नहीं)

जाणो पण आणो नहीं → (जानते हो किन्तु लाते नहीं)

9—त > ट।

तूटेगी > टूटेगो

10—ध > घ।

धण ज्यों यां काई मिलै। (स्त्रियों को देखने से क्या मिलता है)

धण जों यां काई मिलै। [अधिक (आतुरता) दिखाने से क्या मिलता है]

11—न > त।

नातो तैंरै नाम रो। (तेरे नाम का नाता है)

तातौ तैंरै नाम रो। (तेरे नाम का प्रेमी हूँ)

12—प > म।

पड़ै पड़ ताल समंदा पारी। (समुद्रों के पार तक खबर होती है)

मड़ै मड़ ताल समंदा पारी (सरोवरों, समुद्रों के पार तक लाशें ही लाशें है।)

13—फ > क फ फ फ / क

फर फरड़ाटो आयो

कर करड़ाटो आयो

14—य > म।

जय कुंण जांणै।

जम कुंण जांणै।

15—म > स।

मान निहोरा कित रह्या।

सान निहोरा कित रह्या।

16—ह > ड। ह . ड . ह / ह

17—ड > द।

हडूकियो > डदूकियो

डेल्ह > देल्ह (सुप्रसिद्ध कवि का नाम)

(ब) भ्रामक वर्ण

1— त्र > त्र । त्र > त्र
त्रपत > त्रपत । त्रपत > त्रपत

2— हलन्त् 'र' के लिए दो अक्षरों के बीच "—" चिह्न भी लिखा मिलता है (अनेक प्रतियों में)। सत्रहवीं शताब्दी की प्रतियों में अपेक्षाकृत अधिक।

उदाहरणार्थ—

धाख्या > धा—या

माख्या > मा—या

इससे ये भ्रम हो सकते हैं—

(अ) सम्भवतः धा और या को मिलाया गया (धाख्या > धा-या)।

(ब) सम्भवतः इन दोनों के बीच कोई अक्षर, मात्रादि छूट गया है।

(स) सम्भ्वतः इसके पश्चात् शब्द समूह या ओल (पंक्ति) छूट गई है।

इसको कोई चिह्न-विशेष न समझकर 'र' का हलन्त रूप (–) समझना चाहिए। यह (–) अन्तिम अक्षर के साथ जुड़े हुए रूप में मिलती है, पृथक् नहीं।

(स) प्रमाद से लिखे गये वर्ण

इस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित (अ) विवादास्पद (Controversial) और (आ) भ्रामक (Confusing) दोनों वर्ग भी सम्मिलित हैं। अब यहाँ प्रमादी लेखन से क्या परिणाम होते हैं और क्या कठिनाईयाँ खड़ी होती हैं, उन्हें देखना है। पहले मात्राओं पर ध्यान जाता है—

(1) मात्रा :

1— ा > ी । का की

का > की । का > की

(ा > ी).

2—(क) उ > अः

(ख) ओ > आ आ

(क) ध्र > ध

मात्रा (ा > उ)

(ख) कामोदरी > कामादरी

↓

कामादरी कामादरी

कामादरी

दृष्टव्य है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियों में दो मात्राएँ बंगाली लिपि की भाँति लगी मिलती हैं। यह प्रवृत्ति 19वीं शताब्दी तक की प्रतियों में पाई जाती हैं। दोनों मात्राएँ नं. (1) में दृष्टव्य हैं। यह प्रवृत्ति बीकानेर के 'दरबार पुस्तकालय' में सुरक्षित ग्रन्थों में विशेष मिली हैं।

3— उ > अ

ए > ऐ । ऐ > ए

4— ओ > औ । औ > ओ ^ >

प्रतीत होता है कि यह गुरुमुखी के प्रभाव का परिणाम है और यह प्रवृत्ति 18वीं शताब्दी और उससे आगे लिखे ग्रन्थों में अधिक मिलती है।

अब हम इन वर्णों में मिलने वाले वैशिष्ट्य को ले सकते हैं—

(2) वर्ण

क > फ।

ष > प। दृष्टव्य है कि राजस्थानी 'ख' वर्ण 19वीं शताब्दी तक की प्रतियों में नहीं पाया जाता। बदले में 'ष' ही पाया जाता है। इसके अपवाद ये हैं— 1 संस्कृत शब्द में 'ख' भी मिलता है, 2. ब्राह्मण प्रतिलिपिकारों ने दोनों का प्रयोग किया है।

ग > म। स्याही की अधिकता, पन्ने का फटना, स्याही का फैलना तथा लिखे हुए पर लिखने के कारण कुछ का कुछ पढ़ना मिलता है। इससे अर्थ का अनर्थ बहुत हुआ है।

च > व।

झ > भु या भु > झ। फ > पु। पु > फ।

बंगला लिपि के अनुसार लिखित 'उ' में यथा

झम > भुम। यहाँ भ में ' ु' (उ़) की मात्रा मिलायी गयी है, इससे 'भ' 'झ' लगने लगा है।

ट > ठ। ठ > ट।

ड > उ। उ > ड।

द > ब। ब > द।

ख > त्त (द्वित्व युक्त त्)

लत < त्तत

व > न।

स > य्य

व > प्त। त्त (त्र)

दृष्टव्य है कि इस वर्ग के अन्तर्गत जो उदाहरण मिलते हैं, वे अनेक हैं और प्रत्येक लिपिकार के अनुसार बदलते, घटते-बढ़ते रहते हैं 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पात' के सिद्धान्त पालन करने वाले मामूली पढ़े-लिखे लिपिकार ऐसी भूलें किया करते हैं।

(द) विशिष्ट वर्ण-चिह्न

य और व के नीचे बिन्दी लगाने की प्रथा राजस्थान में बहुत पुराने काल से है। इनको क्रमशः य और व लिखा जाता है। पुराने ढंग की पाठशालाओं में वर्णमाला सिखाते समय

'ववा तकै स़ बींदली' तथा 'ययियो पेटक' और 'ययियो वींदक' बताया जाता था। ववा तले स वींदली अर्थात् 'व' के तले बिन्दी (ब)। ययियो पेटक अर्थात् य शुद्ध। ययिया बींदक अर्थात् य के नीचे बिन्दी (य)। 17वीं शताब्दी तक य य दो पृथक ध्वनियाँ थीं, इसके संकेत रूप में प्रमाण मिलते हैं। उसके पश्चात् शब्द के आदि के य को तो प और बीच के प को य करके लिखा जाता रहा। अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद की प्रतियों में प्रत्येक 'य' को 'य' करके ही लिखा जाने लगा चाहे आदि में हो या मध्य में या अन्त में। य (अ) और (य) के बीच ध्वनि (yeh, Yes को yeh जैसे बोलते हैं) रही थी। इसी प्रकार व और व में अन्तर है। व को W और व को V की सी ध्वनियाँ मान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीन लिपि में बिन्दी लगाई जाती थी जो अर्थ-भेद स्पष्ट करने का प्रयास था। अठारहवीं शताब्दी से (य, य) की भाँति व व को भी व करके लिखा जाने लगा।

इनसे फायदा यह है कि एक तो व और य का निश्चित पता चल जाता है, अन्यथा व को प, य को म या प आदि-आदि समझने की भ्रांति हो सकती है। दूसरे यह पता लग जाता है कि या तो रचना, अथवा लिपिकार, राजस्थानी है, और सामान्यतया जो भूलें राजस्थानी लिपिकार करता है, वे सम्बन्धित प्रति में भी होंगी।

ड और ड़ पृथक् ध्वनियाँ हैं। कहीं-कहीं दोनों के लिए केवल 'ड' ही लिखा मिलता है। पहचान यह है कि 'ड़' आदि में नहीं आता। इसके अतिरिक्त जो भ्रांति हो सकती है, उसका निराकरण अन्य उपायों से होगा।

चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग कहीं भी नहीं होता। जहाँ चन्द्र बिन्दु जैसा प्रयोग होता है, निश्चित समझना चाहिए कि या तो यह छूटे हुए अंश को द्योतित करने का ( ) चिह्न है, अथवा बड़ी 'इ' की मात्रा (हजारों प्रतियों में मुझे तो एक भी चन्द्र बिन्दु का उदाहरण नहीं मिला।) ध्यातव्य है कि गुजराती लिपि में चन्द्र-बिन्दु नहीं है। भाषा-शास्त्रीय और सांस्कृतिक दृष्टियों से राजस्थान का उससे विशेष सम्वन्धों के कारण भी ऐसा हुआ लगता है।

क्ष को ष्य लिखा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी से 'क्ष' भी लिखा मिलने लगता है, किन्तु यह ध्वनि संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त राजस्थानी में नहीं है। ङ नहीं है। ध्यातव्य है कि ड़ को 'ङ' करके लिखा जाता है इसको 'ड' समझना चाहिए 'ङ' नहीं।

'ञ' को पाठशालाओं में तो 'नदियो खांडो चाँद' करके पढ़ाया जाता था। खंडित चन्द्राकार होने से इसको ऐसा कहा गया। केवल बारहखड़ी काव्य में ही 'ञ' आया है। इसी प्रकार 'ड़' भी बारहखड़ी काव्य में प्रयुक्त हुआ है। अन्य स्थानों पर ये दो (ङ और ञ) नहीं आते। ज्ञ को सदा ग्य करके लिखा जाता है।

विराम चिह्नों के लिए चार बातें देखने में आई हैं— (,) कोमा का प्रयोग नहीं होता, केवल पूर्ण विराम का होता है। (2) पूर्ण विराम या तो (1) की भाँति लिखा जाता है अथवा (3) विसर्ग की भाँति या (:) या (4) कुछ स्थान छोड़ दिया जाता है। विराम चिह्न रूप में विसर्ग अक्षर से ठीक जुड़ती हुई न लगाकर कुछ जगह छोड़कर लगाई जाती है, यथा 'जाणो चाहिजै : काम करणौ चाहिजै' : आदि। इसी प्रकार कुछ न लगाकर रिक्त स्थान

छोड़ने का तात्पर्य भी पूर्ण विराम है, यथा 'जाणो चाहिजै = काम करणो चाहिजै'। रेखांकित स्थान पर पूर्ण विराम मानना चाहिए।

छूटे हुए अक्षर और मात्रादि, तथा जुड़वे संकेत (–) के लिए ये बातें दृष्टव्य हैं—

छूटा हुआ अक्षर दाएँ, बाएँ हाशिये में, मात्रादि भी हाशिये में लिखी जाती हैं। किस हाशिये में कौन-सा अक्षर और मात्रादि लिखा जाये इसका सामान्य नियम यह है कि यदि आधे से पूर्व तक कोई अक्षरादि छूट गया है, तो बाएँ में और बाद में कोई अक्षरादि छूट गया है तो दाएँ में लिखा जाता है। इसका चिह्न ‸ अथवा/अथवा L है।

अन्तिम को आधा प या = न समझना चाहिए। यदि अर्ध या पूर्ण पंक्ति छूट गई है, तो वह प्राय: ऊपर के स्थान पर या नीचे के स्थान पर लिखी जाती है। मूल लिखावट में दो स्थानों पर ‸ ‸ चिह्न देकर ऊपर या नीचे (ओ) या (वो) लिखकर छूटी हुई पंक्ति लिखते हैं। यह पंक्ति प्रधान बाएँ हाशिये से कुछ हटकर दाहिनी ओर होती है, ताकि पाठक को आसानी से पता चल जाए ओ अर्थात् ओली-Live, और वो अर्थात् वोली > ओली।

लिखते समय यदि शब्द तो पूरा लिखा गया किन्तु मात्रा छूट गई या स्थान नहीं रहा तो वह बाएँ या दाएँ हाशिये में लिखी जाएगी। आधे वाला नियम यहाँ भी लागू होगा। इससे कभी-कभी बड़ा भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

इस सम्बन्ध में तीसरी स्थिति यह है कि यदि आधा शब्द लिखा गया और एक या अधिक उसके अक्षर लिखे जाने से रह गए तो लिपिकार हाशिये में एक चिह्न (ऽ) देता है, इसको आ (ा) या पूर्ण विराम (।) समझना चाहिए। यह सदैव दाएँ हाशिए में ही होगा। उदाहरणार्थ—एक शब्द 'अकरण' को लें। लिखते समय पूर्व पंक्ति में अक तक लिखा गया क्योंकि बाद में हाशिया आ गया था। इसको यों लिखा जाएगा—अक। रण। भूल से इसको अकारण न समझना चाहिए। (हाशिया)

विद्वानों ने उपर्युक्त चारों वर्गों वाली अनेक भूलें की हैं। पाठ को हड़बड़ी में पढ़ने, प्रतिप्रकृति को ठीक से न समझने आदि-आदि के कारण ऐसी भूलें हुई हैं। एक अत्यन्त मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। डॉ. सियाराम तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी खण्ड काव्य' में रामलता कृत रुक्मणी-मंगल का परिचय दिया है। उस मूल प्रति में पन्नों का व्यतिक्रम था जो डॉ. तिवारी के ध्यान में नहीं आया। ध्यान में न आने का कारण यह था कि 'मंगल' में छन्द संख्या क्रम से न होकर रागों के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् है। क्रम से यदि संख्या होती तो वे संगति बैठा लेते। इस प्रति को क्रमानुसार (अरेन्ज) न करके उसी रूप में उन्होंने लिखा है। इस कारण उनका यह समूचा अंश सर्वथा गलत और भ्रांतिपूर्ण हो गया है।

(ई) उदात्त-अनुदात्त ध्वनियों से सम्बन्धित कोई चिह्न नहीं है, केवल प्रसंग, अर्थ और अनुभव ज्ञान से ही सहायता मिल सकती है। कहीं-कहीं तो यह भी संभव नहीं है। एक उदाहरण यह है, शब्द है 'सांड' यह सांड भी हो सकता है और सां'ड' भी। सां'-ड का तात्पर्य ऊँटनी है। जहाँ अनेक पशुओं की नामावली आदि हो, वहाँ बड़ी भ्रान्ति की

संभावना है, क्योंकि उदात्त और अनुदात्त शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार धन और ध'न है। धन अर्थात् सम्पत्ति और ध'न (ध'ण) अर्थात् पत्नी।

उपसंहार

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। गुजरात के पुस्तकालयों/ग्रन्थागारों के ग्रन्थों को पढ़ने के लिए एक अक्षरावली एक विद्वान् ने शोध-छात्र को दी थी। प्रश्न यह है कि वह उन्हें कहाँ से उपलब्ध हुई थी? फिर डॉ. माहेश्वरी ने जो विविध अक्षर-रूपों को उद्धृत कर उदाहरणपूर्वक हस्तलेखों को पढ़ने की अड़चनों की ओर संकेत किया है, उसके लिए उन्हें सामग्री किसने दी? दोनों का उत्तर है कि 'स्वानुभव' से। इन दो उदाहरणों से मिले इस निष्कर्ष के अनुसार पाण्डुलिपि विज्ञानविद् को चाहिये कि वह अन्य क्षेत्रों में पाण्डुलिपियों को देखकर उनके आधार पर ऐसी ही क्षेत्रीय लिपि-मालाएँ तैयार कराये। ये स्वयं उसके उपयोग में आ सकेंगी तथा अन्य अनुसंधित्सुओं को भी पाण्डुलिपियों की शोध में सहायक हो सकेंगी।

विविध क्षेत्रीय वर्णमालाओं के समस्या-शोधक रूप प्रस्तुत हो जाने पर तुलनात्मक आधार पर आगे के चरण को प्रस्तुत कर सकना संभव होगा। इस प्रकार किसी भी एक लिपि के व्यवहार-क्षेत्र की समस्त समस्याएँ एक स्थान पर मिल सकेंगी और उनके समाधान का मार्ग भी तुलनात्मक पद्धति से प्रशस्त हो सकेगा।

6

पाठालोचन

'लिपि' की समस्या के पश्चात् 'पाठ' आता है। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल लेखक जो लिखता है वह मूल पाठ होता है। मूल पाठ—स्वयं लेखक के हाथ का लिखा हुआ पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान वस्तु होती है। यदि किसी भी हस्तलेखागार में किसी भी ग्रन्थ का मूल पाठ सुरक्षित है तो उस ग्रन्थागार की प्रतिष्ठा और गौरव बहुत बढ़ जाता है। ऐसी प्रति का मूल्य वस्तुतः रुपये-पैसों में नहीं आँका जा सकता। अतः ऐसे ग्रन्थ पर आगाराध्यक्ष को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

मूल-पाठ के उपयोग

मूल-पाठ के कितने ही उपयोग हैं। कुछ उपयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं—

(1) लेखक की लिपि-लेखन शैली का पता चलता है जिससे उसको लिखते समय की स्थिति और अभ्यास का भी ज्ञान हो जाता है।

(2) उसकी अपनी वर्तनी-विषयक नीति का पता चलता है।

(3) ग्रन्थ-संघटन सम्पादन में मूल-पाठ आदर्श का काम दे सकता है। वस्तुतः पाठालोचन-विज्ञान इस मूलपाठ की खोज करने वाला विज्ञान ही है।

(4) मूल-पाठ से लेखक की शब्दार्थ-विषयक-प्रतिभा का शुद्ध ज्ञान होता है।

(5) मूलपाठ से अन्य उपलब्ध पाठों को मिलाने से पाठान्तरों और पाठभेदों में लिपि, वर्तनी और शब्दार्थ के रूपान्तर में होने वाली प्रक्रिया का पता चल जाता है; इस प्रक्रिया का ज्ञान अन्य पाठालोचनों में बहुत सहायक हो सकता है।

(6) मूलपाठ के कागज, स्याही, पृष्ठांकन, तिथिलेखन, चित्र, हाशिया, हड़ताल, उपयोग, आकार, ग्रन्थन आदि से बहुत-सी ऐतिहासिक बातें विदित हो सकती हैं या उनकी पुष्टि-अपुष्टि हो सकती हैं। कागज-स्याही आदि के अलग-अलग इतिहास में भी ये बातें उपयोगी हैं।

लिपिक का सर्जन

अतः हस्तलेखाधिकारी को अपेक्षित है कि वह इनके सम्बन्ध में समान्य वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सूचनाएँ अपने पास रखे। ये सूचनाएँ उसके स्वयं के लिए भी उपयोगी और मार्ग-दर्शक हो सकती हैं। किन्तु सभी हस्तलेख मूलपाठ में नहीं होते हैं। वे तो मूलपाठ के वंश की आगे की कई पीढ़ियों से आगे हो सकते हैं। मूलपाठ से आरम्भ में जितनी प्रतिलिपियाँ तैयार हुईं वे सभी मूलपाठ के वंश की प्रथम स्थानीय संतानें मानी जा सकती हैं। मूल-पाठ से ही मान लीजिये तीन लिपिक प्रतिलिपि प्रस्तुत करते हैं, वह इस प्रकार हैं—

पहला लिपिक—3 प्रतियाँ

दूसरा लिपिक—2 प्रतियाँ

तीसरा लिपिक—4 प्रतियाँ

अब यह स्पष्ट है कि प्रत्येक लिपिक अपनी ही पद्धति से प्रतिलिपि प्रस्तुत करेगा। हम इस सम्बन्ध में 'अनुसन्धान' में जो लिख चुके हैं उसे उद्धृत करना समीचीन समझते हैं—

पाठ की अशुद्धि और लिपिक

प्राचीनकाल में प्रेस के अभाव में ग्रन्थों को लिपिक द्वारा लिखवा-लिखवा कर पढ़ने वालों के लिए प्रस्तुत किया जाता था। फ़ल यह होता था कि लिपिक की कितनी ही प्रकार की अयोग्यताओं के कारण पाठ अशुद्ध हो जाता था, यथा—लिपिक में रचयिता की लिपि को ठीक-ठीक पढ़ने की योग्यता न हो तो पाठ अशुद्ध हो जायेगा। सभी लेखकों के हस्तलेख सुन्दर नहीं होते, यदि लिपिक बुद्धिमान न हुआ और ग्रन्थ के विषय से अपरिचित हुआ अथवा उसका शब्दकोष बहुत सीमित हुआ तो वह किसी शब्द को कुछ का कुछ लिख सकता है।

शब्द विकार : काल्पनिक

'राम' को राय पढ़ लेना या 'राय' को राम पढ़ लेना असम्भव नहीं। र और व (र व) को 'ख' समझा जा सकता है। ऐसे एक नहीं अनेक स्थल,किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थ को पढ़ने में आते हैं, जहाँ किंचित् असावधानी के कारण कुछ का कुछ पढ़ा जा सकता है और फलतः लिपिक भ्रम से कुछ का कुछ लिख सकता है। इस भ्रम की परम्परा लिपिक से लिपिक तक चलते-चलते किसी मूल शब्द में भयंकर विकास पैदा कर देती है, परिणामतः काव्य के अर्थ ही कुछ के कुछ हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—

लेखक ने लिखा — राम

पहले लिपिक ने पढ़ा — राय

दूसरे ने इसे पढ़ा — राच (लिखने में य की शीर्ष रेखा कुछ हटा ली तो 'य' को 'च' पढ़ लिया गया)।

तीसरे ने इसे पढ़ा	—	सच (उसे लगा कि र और 'आ' के डंडे के बीच 'स' बनाने वाली रेखा भूल से छूट गई है।)
चौथे ने इसे पढ़ा	—	सत्र ('च' लिपिक की शैली के कारण च = त्र पढ़ा जा सकता है।)
पाँचवें ने इसे पढ़ा	—	रुच ('स' को जल्दी में रु के रूप में लिखा या पढ़ा जा सकता है।)

इस शब्द से विकार का यह एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है, पर होता ऐसा ही है, इनमें संदेह नहीं। इसके कुछ यथार्थ उदाहरण भी यहाँ दिये जाते हैं—

शब्द-विकार—यथार्थ उदाहरण

'पद्मावत'—में ''होइ लगा जेंवनार सुसारा''—पाठः मा. प. गुप्त

''होइ लगा जेंवनार पसाहा''—पाठः आ. शुक्ल

एक ने 'ससारा' पढ़ा, दूसरे ने 'पसारा'।

'मानस' के एक पाठ में एक स्थान पर 'सुसारा' है, बाबू श्यामसुन्दर दास के पाठ में 'सुआरा' है।

'काव्य निर्णय' (भिखारीदास) में एक चरण है—

''अहट करै ताही करन'' **चरबन फेरुबदार**

इसे एक ने लिखा	च रबन के खदार
दूसरे ने	चिरियन फै र बदार
तीसरे ने	चरवदन के खदार
चौथे ने	चखन फैरबदार

प्रमाद का परिणाम

लिपिक पुष्पिकाओं में यही कहता है कि ''मक्षिका स्थाने मक्षिका पात'' किया गया है, ''जैसा देखा है वैसा ही लिखा है'' पर ऊपर के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि लिपिक ऐसा करता नहीं या कर नहीं पाता। जो रचयिता ने लिखा होता है उसे पढ़कर ही तो लिपिक लिखेगा और पढ़ने एवं लिखने दोनों में अज्ञान और प्रमाद से कुछ का कुछ परिणाम जाता है। ऊपर दिये गये उदाहरण लिपिक के प्रभाव के उदाहरण हैं। यह प्रमाद 'दृष्टिकोण' कहा जा सकता है। पर एक अन्य प्रकार का प्रमाद हो सकता है, इस प्रमाद को 'लोपक प्रमाद' कह सकते हैं। इसमें लिपिक किसी शब्द को या वाक्य को किसी अंश को ही छोड़ जाता है।

छूट और भूल और आगम और अन्य विकार

उदाहरणार्थ, लिपिक सरवर का 'सवर' भी लिख सकता है। वह 'र' लिखना ही भूल गया। बिन्दु, चन्द्र बिन्दु तथा नीचे ऊपर की मात्राओं को भूलने के कितने ही उदाहरण

मिल सकते हैं। कभी-कभी लिपिक प्रमाद में किसी अक्षर का आगम भी कर सकता है। एक ही अक्षर को दो बार लिख सकता है।

कभी लिपिक रचनाकार से अपने को अधिक योग्य समझ कर या किसी शब्द के अर्थ को ठीक न समझ कर अज्ञान में अपनी बुद्धि से कोई अन्यार्थक शब्द अथवा वाक्य-समूह[1] रख देता है। 'छरहटा' लिपिक को जँचा नहीं तो उसने 'चिरहटा' कर दिया, अथवा 'चिर हटा' को 'छर हटा'। अभी कुछ वर्ष पूर्व जायसी के पाठ को लेकर इन दो शब्दों पर विवाद हुआ था। इसी प्रकार कहीं उसने सूर के पद में 'हटरी' शब्द देखा, वह इससे परिचित नहीं था उसे 'ह री' (अर्थात् अरी हट) कर दिया। ऐसी ही भूल 'आखत ले' को 'आख तले' करने और बाद में उसे 'आँख तले' करने में भी है।

ऐसे लिपिकार के प्रमादों के कारण पाठ में बड़े गम्भीर विकार हो जाते हैं।

मुनि पुण्यविजय[2] जी ने (क) हस्तलिखित ग्रन्थों में आने वाले ऐसे अक्षरों की सूची दी है जिसमें परस्पर समानता के कारण लिपिकार एक के स्थान पर दूसरा अक्षर लिख जाता है, वह सूची यहाँ उद्धृत करना उपयोगी रहेगा—

क का क् लिया जा सकता है।

ख का र व स्व,,	त्त तू,,
ग,, रा ,,	छ,, द्व, द्व, द्र
द्य,, घ, व, थ, प्य	ग्र,, गग, ग्ज
च,, वु ठ, ध	द्र,, उ
छ,, ब,, ,,	वु,, तु
ज,, ज्ञ,,	घ,, थ, थ, ध
ञ,, ज,, ,,	ज्ज,, व्व, द्य
ट,, ठ द	सू, स्त, स्व, म्
उ,, र, म	त्थ,, च्छ
त,, ब	कृ,, क्ष
च,, व	त्व,, च, न

---

1. ऐसे ही लिपिकों के लिए डॉ. टैसीटरी ने यह लिखा था कि मैं 'वचनिका' की उन तेरह प्रतियों का वंशवृक्ष नहीं बना सका क्योंकि एक तो प्रतियाँ बहुत अधिक मिलती हैं, दूसरे, "In the peculiar Conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alternations by the Copyists who generaly are bard themselves and often think themselves authorized to modify or.........improve any text they Copy to suit their tastes or ignornace as the case may be". (वचनिका, भूमिका, पृ. 9 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय में डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने भी कुछ ऐसी ही बातों की ओर ध्यान आकर्षित कराया है।)
2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 78।

न,, त, व	प्रा,, था,,
नु,, तु	टा,, य
पं,, ए, य	त्र,, थ
फ,, पु	एय,, णा, एम
भ,, स, म	था,, ध्य
म,, फ	पा,, प्य
म,, स, रा, ग,	सा,, स्य
व,, ब, त	षा,, ष्य
ह,, इ	ड्ढ,, ट्ट द्द
	त्त,, न्न
	च्च,, थ
	इ,, दृ द्र
	ई,, ई
	ए,, प, च
	ऐ,, पे ये
	क्ष,, क्र, कु, क्ष
	प्त,, पु, पृ
	सु,, मु
	ष्ठ,, ष्व, ष्ट, ष्ट, ब्द
	त्म,, त्स, ता, त्य
	क क्त ऋ

(ख) मुनिजी[1] ने लिपिकार की भ्रान्तियों से शब्दरूपों के परस्पर भ्रान्त लेखन की एक सूची दी है। यह सूचियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

1.	प्रभाव	प्रमाद से	प्रसव	लिखा जा	सकता है
2	स्तवन	,,	सूचन	,,	,,
3	यच्च	,,	यथा	,,	,,
4	प्रत्यक्षतोवगम्या	प्रत्यक्ष बोधगम्या			
5	नवाँ	,,	तथा		
6	नच	,,	तव		
7	तदा	,,	तथा	,,	,,

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 79।

8 पर्वत्तस्य ,, पवन्नस्य ,, ,,

9 जीवसालिम्मी कृतं ,, जीवमात्मीकृत

10 परिवुड्ढि ,, परितुट्ठि

11 नचैंव तदैव

12 अरिदारिणा ,, अरिवारिणी या अविदारिणी

13 दोहल क्खेविया ,, दो हल कबे दिया

कभी-कभी लिपिक अक्षर ही नहीं 'शब्द' भी छोड़ जाता है, दूसरा लिपिक इस कमी का अनुभव करता है, क्योंकि छंद में कुछ गड़बड़ दिखायी पड़ती है, अर्थ में भी बाधा पड़ती है, तो वह अपने अनुमान से कोई शब्द वहाँ रख देता है।

लिपिक के कारण वंश-वृक्ष

लिपिक की लिखने की दक्षता की कोटि, उसकी लिखावट का रूप कि वह 'अ' या 'अ्र' लिखता है, 'ष' या 'ख' लिखता है, शिरोरेखाएँ लगाता है या नहीं, भ और म में, 'प' और 'य' में अन्तर करता है या नहीं—ये सभी बातें लिपिकार की प्राकृति-प्रवृत्ति से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक अक्षर के लेखन के साथ उसकी अपनी प्रकृति जुड़ी हुई हैं, जिससे प्रत्येक लिपिकार की प्रति अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त होने के कारण दूसरे लिपिक से भिन्न होगी। अत: वंशवृक्ष में प्रथम-स्थानीय सन्तानें ही तीन लिपिकों के माध्यम से तीन वर्गों में विभाजित हो जायेंगी। इन प्रथम-स्थानीय प्रतियों से फिर अन्य लिपिकार प्रतिलिपियाँ तैयार करेंगे और एक के बाद दूसरी से प्रतिलिपियाँ तैयार होती चली जायेंगी। इस प्रकार एक ग्रन्थ का वंशवृक्ष बढ़ता जाता है। इसके लिए उदाहरणार्थ एक वंशवृक्ष का रूप यहाँ दिया जाता है।
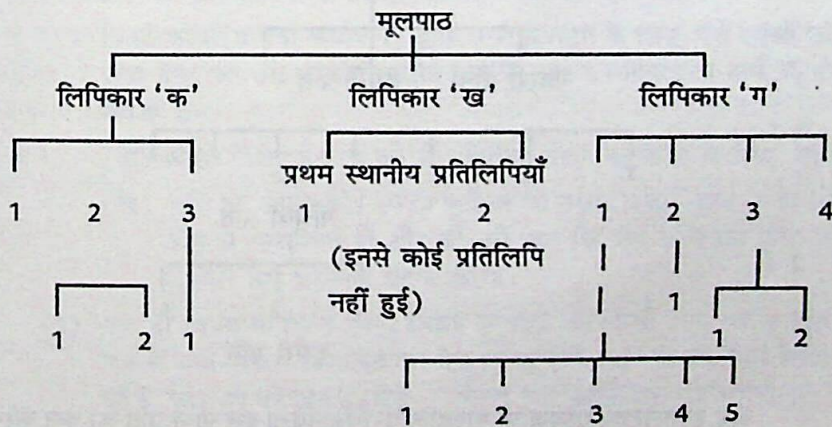
इस प्रकार वंश-वृक्ष बढ़ता जायेगा। प्रत्येक पाठ में कुछ वैशिष्ट्य मिलेगा ही। यह वैशिष्ट्य ही प्रत्येक प्रति का निजी व्यक्तित्व है। यह तो प्रतिलिपि की सामान्य सृजन की निर्माण-प्रक्रिया है।

पाठालोचन की आवश्यकता

पाठालोचन की हमें आवश्यकता तब पड़ती है, जब हस्तलेखागार में एक प्रति उपलब्ध होती है, पर वह 'मूलपाठ' वाली नहीं—वह प्रतिलिपि है निम्नलिखित वर्ग की—

(4) 2-3-1-5-2

अर्थात् चौथी पीढ़ी की दूसरी शाखा की 3 प्रतियों में से पहली प्रति की पाँचवीं प्रति की दूसरी प्रति। इसे यहाँ दिए वंशवृक्ष से समझा जा सकता है—
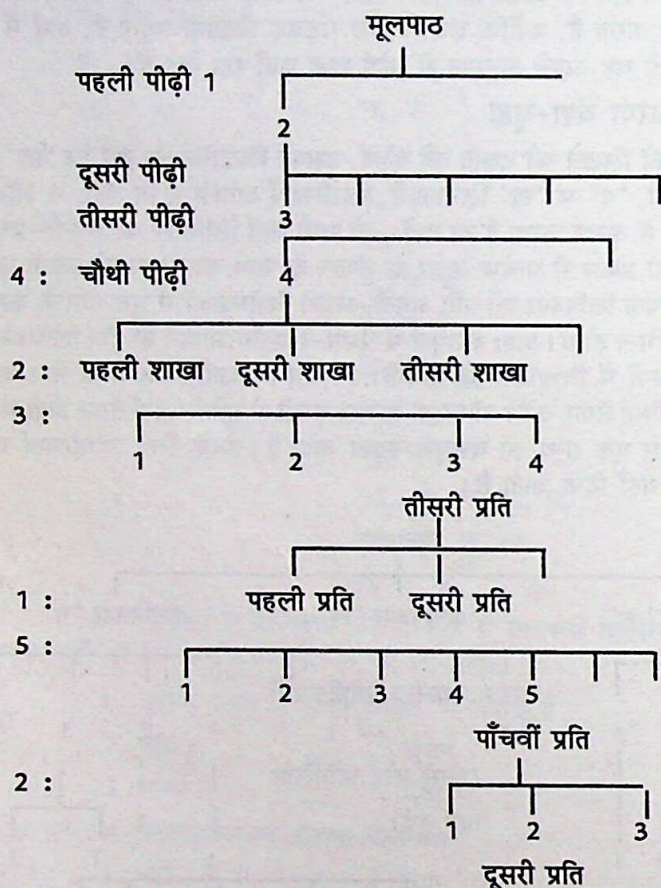
अब हस्तलेखागाराध्यक्ष या पाण्डुलिपि-विज्ञानवेत्ता इस प्राप्त प्रति का क्या करेगा? यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के पूरे वंशवृक्ष में प्रत्येक प्रति का महत्त्व है, क्योंकि प्रत्येक प्रति एक कड़ी का काम करती है।

प्रक्षेप या क्षेपक

ऊपर हमने प्रतिलिपिकार के प्रमाद से हुए पाठान्तरों का उल्लेख किया है और उनमें वर्तनी और शब्द-भेदों की ही चर्चा की है। पर प्राचीन ग्रन्थों में प्रक्षेपों और छूटों के कारण भी विकार आता है—

प्राचीन ग्रन्थों में 'प्रक्षेपों' का या 'क्षेपकों' का समावेश प्रचुर मात्रा में हो जाता है। कुछ काव्यों को एक नये नाम से पुकारा जाने लगा है। उन्हें आज 'विकसन-शील' काव्य कहा जाने लगा है, यह बताने के लिए कि मूल रूप में छोटे काव्य को बाद के कवियों ने या पाठकों ने या कथावाचकों ने अपनी ओर से कुछ जोड़-तोड़ कर उस वाक्य को विशाल बना दिया है।

'महाभारत' के विद्वान् अध्येता यह मानते हैं कि मूल रूप में यह काफी छोटा था।

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में भी यह झगड़ा है। उसके तीन संस्करण विद्वानों ने ढूँढ़ निकाले हैं, कुछ की धारणा है कि 'लघु' संस्करण मूल रहा होगा, बाद में उसमें अन्य बहुत-सी सामग्री जुड़ती गयी। इस प्रणाली से उसका आधुनिक वृहद् रूप खड़ा हुआ।

हमारे यहाँ कुछ ग्रन्थों का उपयोग 'कथा' कहने के लिए होता रहा है। तुलसी का 'रामचरित मानस' इसका एक उदाहरण है। कथाकार को कथा कहते समय कोई प्रसंग ऐसा विदित हुआ, जो और विस्तार चाहता है, तो उसने 'स्वयं' की रचना कर डाली और अपनी प्रति में उसे जोड़ दिया। मानस में 'गंगावतरण' का प्रसंग ऐसा ही प्रक्षेप या क्षेपक माना जाता है।

प्रक्षिप्त या क्षेपक के कारण

इन प्रक्षेपों का पाँच कारणों से किसी काव्य में समावेश हो जाता है—

(1) किसी कवि (अथवा कथाकार) द्वारा अपने उपयोग के लिए, ऐसे स्थलों को जोड़ देना, जो उसे उपयोगी प्रतीत होते हैं, यह उपयोगिता दो रूपों में हो सकती हैं—

(क) किसी विशेष प्रकरण को और अधिक पल्लवित करने के लिए, तथा

(ख) कवि का अपना कोई स्वतंत्र कृतित्व जो उसके पाठ्य-ग्रन्थ के किसी अंश से सम्बन्धित हो और जो उसे लगे कि मूल कवि की कृति में जुड़कर उसे प्रसन्नता प्रदान करेगा।

(2) एक ही विषय के भिन्न-भिन्न स्वतंत्र कृतित्वों को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा एक में यथा-सन्दर्भ सम्पादित कर देना। कुछ कवि इस बात को स्वयं लिख देते हैं, कुछ चुप बने रहते हैं। जैसे—'गोयम'* ने चतुर्भुजदास की 'मधुमालती'

---

* 'नंददास' की अनेकार्थ मंजरी और 'यान' मंजरी में 'रामहरि' ने जो अंश जोड़ा है, उसका उल्लेख कर दिया है। यथा, बीस ऊपरें एक सौं नंददास जू कीस और दोहरा रामहरि कीजै है जु नवीन में 55 अनेकार्थ ध्वनि मंजरी।

में अपने द्वारा किये परिवर्द्धन का उल्लेख कर दिया है। गोयम या गोतम 'स्वयं' ऐसा उल्लेख नहीं करता तो प्रक्षिप्तांश किसके रचे हैं, यह समस्या बनी रहती, जैसी कि 'रामचरितमानस' के गंगावतरणादि के सम्बन्ध में बनी हुई है।

(3) कभी-कभी कवि के अधूरे काव्य को उसी कवि के पुत्र या शिष्य पूरा करते हैं या उसमें आगे कुछ परिवर्द्धन करते हैं, और कभी-कभी पूर्व कृतित्व को भी संशोधित कर देते हैं।

(4) किसी बिखरी सामग्री को एक व्यवस्था में रखते समय बीच की लुप्त कड़ियों को जोड़ने के प्रयत्न भी कविगण करते हैं, और ये कड़ियाँ या तो व्यवस्था करने वाला कवि अपने कौशल से जोड़ देता है, जैसे कुशललाभ ने लोक प्रचलित 'ढोला मारू रा दूहा' के दोहे को लेकर उन्हें एक व्यवस्था में बांध और कथा-पूर्ति के लिए बीच-बीच में चौपाई द्वारा अपना कृतित्व दिया। इस प्रकार पूरक कृतित्व के रूप में वह एक अन्य कृति में अपने कृतित्व का समावेश करता है या फिर वह किसी अन्य कवि से उपयोगी सामग्री ले लेता है और अपनी पाठ्य-कृति में जोड़ देता है।

(5) मुक्तकों के संग्रह ग्रन्थों में समान-भाव से मुक्तक अन्य कवियों के भी स्थान पा लें तो आश्चर्य नहीं। ऐसे संग्रहों में नाम छाप भी बदल दी जाती है। 'सूरसागर' में ऐसे पद मिलते हैं जो किसी अन्य कवि के हो सकते हैं। यह नाम छाप की अदला-बदली कभी-कभी लोक-क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय कवियों के साथ हो जाती है। कबीर, मीरा, सूर, तुलसी की छाप गायक चाहे जिस पद में लगा देता है।

फलतः पाठानुसन्धान का धर्म है कि ऐसे प्रक्षेपों या क्षेपकों को वैज्ञानिक प्रणाली से पहचाने और उन्हें निकाल कर प्रामाणिक मूल प्रस्तुत करें। यह वैज्ञानिक प्रणाली से होना चाहिये, स्वेच्छा या वैज्ञानिक ढंग से नहीं। अवैज्ञानिक ढंग से स्वेच्छ या जैनोडोटस जैसे विद्वान ने होमर की कृति का सम्पादन करते समय बहुत-सा अंश निकाल दिया था। उसकी दृष्टि में वह अंश प्रक्षिप्त था, जबकि आगे के विद्वानों ने वैज्ञानिक पद्धति से पाया कि वे अंश प्रक्षिप्त नहीं थे।[1]

छूट :

प्रक्षेपों की भाँति ही काव्य में 'छूट' भी हो सकती है। प्रतिलिपिकार कभी तो प्रमाद में कोई पंक्ति, शब्द या अक्षर छोड़ जाता है पर कभी वह प्रतिलिपि किसी विशेष दृष्टि से करता है और कुछ अंशों को अपने लिए अनावश्यक समझ कर छोड़ देता है।

पाठालोचन का यह कार्य भी होता है कि ऐसी छूटों की भी प्रामाणिक मूल पाठ की प्रतिष्ठा करके वह पूर्ति करे।

---

1. Smith, William, (Ed)—Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology, p. 510-512.

अप्रामाणिक कृतियाँ :

यहीं यह बताना भी आवश्यक है कि कभी-कभी ऐसी कृतियाँ भी मिल जाती हैं जो पूरी की पूरी अप्रामाणिक होती है। उस ग्रन्थ का रचयिता, जो कवि उस ग्रन्थ में बताया गया है, यथार्थतः वह उसका कर्ता नहीं होता। इस छल का उद्‌घाटन पाठालोचन ही कर सकता है।

अतः स्पष्ट है कि पाठालोचन अथवा पाठानुसन्धान एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान है। किसी भी अन्य अनुसन्धान से इसका महत्त्व कम नहीं माना जा सकता। इस अनुसन्धान में उन सभी मनःशक्तियों का उपयोग करना पड़ता है जो किसी भी अन्य अनुसन्धान में उपयोग में लायी जाती हैं।

पाठालोचन में शब्द और अर्थ का महत्त्व

पाठालोचन का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनों से होता है अतः इसे केवल भाषा-वैज्ञानिक विषय ही नहीं माना जा सकता, साहित्यिक भी माना जा सकता है। डॉ. किशोरीलाल ने अपने एक निबन्ध में इसी सम्बन्ध में यों विचार प्रकट किये हैं

"इस दृष्टि से सम्पादन की दो सारणियों का उपयोग हो रहा है—(1) वैज्ञानिक-सम्पादन, और (2) साहित्यिक सम्पादन।

वैज्ञानिक एवं साहित्यिक प्रक्रिया में मूलतः अन्तर न होते हुए भी आज का वैज्ञानिक सम्पादक शब्द को अधिक महत्त्व देता है और साहित्यिक सम्पादक अर्थ को। इसमें सन्देह नहीं कि शब्द और अर्थ की सत्ता परस्पर असंपृक्त नहीं है फिर भी अर्थ को मूलतः ग्रहण किये बिना प्राचीन हिन्दी काव्यों का सम्पादन सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं। इन्हीं सब कारणों से शब्द की तुलना में अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आज अधिकतर पाठ-सम्पादन में जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अर्थ न समझने के कारण।"[1]

डॉ. किशोरीलाल जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे समीचीन हैं, पर किसी सीमा तक ही। ठीक पाठ न होने से ठीक अर्थ पर भी नहीं पहुँचा जा सकता। डॉ. किशोरीलाल जी ने अपने निबन्ध में जो उदाहरण दिये हैं, वे गलत अर्थ से गलत शब्द तक पहुँचने के हैं। उदाहरणार्थ, 'आँख तले' जिसने पाठ दिया, उसकी समझ में 'आखतले' नहीं जमा, उसे लगा कि 'आँख' को ही गलती से 'आख' लिख दिया गया है। 'आख' का कोई अर्थ नहीं होता, ऐसा उसने माना। क्योंकि पाठ-सम्पादन या लिपिक ने अर्थ को महत्त्व दिया उसने 'आख' को 'आंख' कर दिया। अब आप अर्थ को महत्त्व देकर 'आखत ले' कर रहे हैं, तो भ्रांत पाठ वाले की परिपाटी में ही खड़े हैं। यथार्थ यह है कि 'आँख' और 'आख' शब्द रूप से अर्थ ठीक नहीं बैठता। आपने उसके रूप की नयी सम्भावना देखी। 'तले' का 'त' आंख से मिलाया और 'ले' को स्वतंत्र शब्द के रूप में स्वीकार किया। 'आँख तले' शब्द रूप के स्थान पर 'आखत ले' रूप जैसे ही खड़ा हुआ, अर्थ ठीक लगने लगा।

---

1. लाल, किशोरी—प्राचीन हिन्दी काव्य : पाठ एवं अर्थ विवेचन, सम्मेलन पत्रिका (चैत्र-भाद्रपद, अंक 1892), पृ. 177।

शब्द रूप 'आख + तले' नहीं 'आखत + ले' है। जब हम शब्द का रूप 'आखत ले' ग्रहण करेंगे तंभी ठीक अर्थ पर पहुँच सकेंगे। शब्द ही ठीक नहीं होगा तो अर्थ कैसे ठीक हो सकता है। शब्द से ही अर्थ की ओर बढ़ा जाता है। अत: आवश्यक यह है कि वैज्ञानिक प्रणाली से ठीक या यथार्थ शब्द पर पहुँचा जाय, क्योंकि शुद्ध शब्द ही शुद्ध या समीचीन अर्थ दे सकता है। वस्तुत: ग्रन्थ से अर्थ प्राप्त करने का एक अलग ही विज्ञान है। उक्त उदाहरण को ही लें तो 'आख' (आँख) + तले 'आखत + ले' और 'आ + ख + तले' ये तीन रूप एक शब्द के बनते हैं, तो इसमें से किस रूप को पाठ के लिए मान्य किया जाय? यहाँ अर्थ ही सहायक हो सकता है।

अत: यह मानना ही होगा कि वैज्ञानिक विधि से पाठ-निर्धारण में भी अर्थ का महत्त्व है। हाँ, पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रणाली में शब्दों का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है।

पाण्डुलिपि-विज्ञान और पाठालोचन

इस दृष्टि से यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि हस्तलेखवेत्ता को 'पाठालोचन' का ऐसा ज्ञान हो कि वह किसी प्रति का महत्त्व आँकने या अँकवाने में कुछ दखल रख सके।

पाठालोचन की प्रक्रिया से अवगत होने पर और कागज, लिपि, वर्तनी तथा स्याही के मूल्यांकन की पृष्ठभूमि पर तथा विषय की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में वह उस ग्रन्थ पर सरसरा मत निर्धारित कर सकता है। यह मत उस प्रति के उपयोगकर्ताओं और अनुसंधित्सुओं को 'अनुसंधेय धारणा' (Hypothesis) के रूप में सहायक हो सकता है।

स्पष्ट है कि पाठालोचन का ज्ञान पाण्डुलिपि-विज्ञानवेत्ता को पाठालोचन की दृष्टि से नहीं करना, वरन् इसलिए करना है कि उस ज्ञान से ग्रन्थ की उस प्रति का मूल्य आँकने में कुछ सहायता मिल सकती है, और वह उसके आधार पर ग्रन्थ-विषयक बहुत-सी भ्रान्तियों से भी बच सकता है। पाठालोचन वास्तविक पाठ तक पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है और पाठ 'ग्रन्थ' का ही एक अंग है, और वह ग्रन्थ उसके पास है, अत: अपने ग्रन्थ के अन्य अवयवों के ज्ञान की भाँति ही इसका ज्ञान भी अपेक्षित है।

पाठालोचन-प्रणालियाँ

पाठालोचन की एक सामान्य प्रणाली होती है। सम्पादक पुस्तक का सम्पादन करते समय जो प्रति उसे उपलब्ध हुई है, उसी पर निर्भर रह कर, अपने सम्पादित ग्रन्थ में वह उन दोषों को दूर कर देता है, जिन्हें वह दोष समझता है। इसे 'स्वेच्छया-पाठ-निर्धारण-प्रणाली' का नाम दे सकते हैं।

दूसरी प्रणाली को 'तुलनात्मक-स्वेच्छया-सम्पादनार्थ-पाठ-निर्धारण' की प्रणाली कह सकते हैं। सम्पादक को दो प्रतियाँ मिल गयीं। उसने दोनों की तुलना की, दोनों में पाठ-भेद मिला, तो जो उसे किसी भी कारण से कुछ अच्छा पाठ लगा, वह उसने मान लिया। ऐसे सम्पादनों में वह पाठान्तर देने की आवश्यकता नहीं समझता। हाँ, जहाँ वह देखता है कि उसे दोनों पाठ अच्छे लग रहे हैं वहाँ वह नीचे या मूलपाठ में ही कोष्ठकों में दूसरा पाठ भी दे देता है।

इसी प्रणाली का एक रूप यह भी मिलता है कि ऐसे विद्वान् को कई ग्रन्थ मिल गये तब भी पाठ-निर्धारण का उसका सिद्धान्त तो वही रहता है कि स्वेच्छया जिस पाठ को ठीक समझता है, उसे मूल में दे देता है। इस स्वेच्छया पाठ-निर्धारण में उसकी ज्ञानगरिमा का योगदान तो अवश्य रहता है, एक पाठ स्वेच्छया स्वीकार कर वह उसे ही प्रामाणिक घोषित करता है—इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह कवि-विषयक अपने पाण्डित्य का सहारा लेता है, और कवि की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं की भी दुहाई देता है। किन्तु यथार्थतः इस सम्पादन में पाठ के निर्धारण में वस्तुतः अपनी रुचि को ही महत्त्व देता है, फिर उसे ही कवि का कर्त्तव्य मान कर वह उसे सिद्ध करने के लिए कवि के तत्सम्बन्धी वैशिष्ट्य को सिद्ध करता है। अपनी इस प्रणाली की चर्चा वह भूमिका में कर देता है। हाँ, जब उसे दो प्रतियों के पाठों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि किसमें ऐसा श्रेष्ठतम भाव है, जो कवि को अपेक्षित रहा होगा, अथवा जब वह समझता है कि दोनों ही या दोनों में से कोई भी पाठ कविसम्मत हो सकता है, क्योंकि उत्कृष्टता में उसे दोनों एक-दूसरे से कम नहीं लगते तब वह एक पाठ के साथ दूसरा पाठ विकल्प में दे देता है। इसे वह पाठान्तर की तरह पाद टिप्पणी के रूप में भी दे सकता है।

इसी प्रणाली का आगे का चरण वह होता है जिसमें पाठालोचनकार को दो से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मिल जाती हैं। इन समस्त प्रतियों के पाठों में से वह उस पाठ को ग्रहण कर लेता है जो उसे अपनी दृष्टि से सर्वोत्तम लगता है। अब वह अन्य प्रतियों के सभी पाठों को पाठान्तर के रूप में पद के नीचे दे देता है।[1]

---

1. "स्वेच्छया पाठ निर्धारण का ऐसा ही रोचक वृत्तांत होमर काव्य के पाठ-निर्धारण के सम्बन्ध में मिलता है। यह माना जाता है कि जेनोडोट्स ने व्यवस्थित आलोचना (पाठालोचन) की नींव रखी थी। उसने कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए थे—(1) समस्त ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में जो सामग्री विरुद्ध है अथवा अनावश्यक है, उसे निकाल दिया जाय। (2) कवि की प्रतिमा की दृष्टि से जो सामग्री अयोग्य लगे उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिए। इन सिद्धान्तों के आधार पर अपने ढंग से उसने लम्बे प्रघटकों को काट फेंका, अन्यों की स्वेच्छया परिवर्तित कर दिया तथा इधर-उधर रख दिया। संक्षेप में, यह सब उसने उसी प्रकार किया जिस प्रकार वह अपनी कृति में करता। उसके बाद के गम्भीर आलोचकों को इस प्रणाली से बहुत धक्का लगा।"

—विलियम स्मिथ—डिक्शनी ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथालोजी, पृ. 510.

स्वेच्छया पाठ-निधारण का यही परिणाम होता है। जैनेडोट्स का समय सिकन्दर महान् के बाद पड़ता है।

होमर के साथ एक और बात भी थी। होमर का सम्पूर्ण काव्य पहले कंठस्थ ही था। पीजिस्ट्रेटस के समय से होमर काव्य लिपिबद्ध किया गया। पाठालोचन की समस्या वस्तुतः जैनोडोट्स के समय से ही खड़ी हुई। इस समय तक होमर का काव्य अध्ययन और चर्चा का विषय बन गया था। एल.सी. वाइडीज के समय में ही होमर का काव्य पाठशालाओं में अनिवार्यतः पढ़ाया जाने लगा था। इसी समय के लगभग समाज में दो वर्ग हो गए थे—एक वर्ग उसके क.व्य में नैतिकता के रू. । में असन्तुष्ट था, दूसरा उसे रूपक मान कर उसका पोषक था। इस स्थिति में भी होमर-काव्य के लिखित रूपों की माँग बढ़ी। सिकन्दर महान् तो इस काव्य-ग्रन्थ को एक राजसी सुन्दर पेटिका में सदा अपने साथ रखता था। अतः कितने ही हस्तलेख इस काव्य के प्रस्तुत किये गए। तब अलेक्जैण्ड्रिया में आलोचकों का दल खड़ा हुआ और पाठालोचनात्मक संकरण होमर-काव्य के प्रस्तुत किए जाने लगे। यहीं से वैज्ञानिक पाठालोचन प्रणाली का भी जन्म माना जा सकता है। पर सभी देशों की आरम्भिक कृतियाँ कंठस्थ रहती हैं। भारत में भी वेद कंठस्थ रखे जाते थे और इनका इतना महत्त्व था कि कंठस्थ स्थिति में ही यहाँ के ऋषियों ने कई प्रकार के पाठों का आविष्कार किया और इन पाठों की प्रणालियों से वेदों की वर्ण-शब्द संरचना सबकी विकृति से रक्षा की तथा प्रक्षेपों से भी रक्षा की। वेद मंत्र थे और यह धारणा इस काल में प्रबल थी कि किंचित् भी विकृत उच्चारण से कुछ का कुछ परिणाम हो सकता है। अतः वेदों की पाठ-शुद्धि पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया।

वैज्ञानिक चरण

और अब वह चरण आता है जिसे वैज्ञानिक चरण कह सकते हैं। इस चरण की प्रणाली में कई हस्तलेखों की तुलना की जाती है। अब तुलनात्मक आधार पर प्राय: प्रत्येक प्रति में मिलने वाली त्रुटियों में साम्य वैषम्य देखा जाता है। इसके परिणाम के आधार पर इन समस्त हस्तलेखों का एक वंशवृक्ष तैयार किया जाता है और कृति का आदर्श पाठ या मूल पाठ निर्धारित किया जाता है।[1]

यहाँ से वैज्ञानिक पाठालोचन का आरम्भ माना जा सकता है। आज पाठालोचन एक अलग विज्ञान का रूप ग्रहण कर रहा है। यह भी हुआ है कि पाठालोचन को भाषा-विज्ञान या भाषिकी का एक अंग माना जाने लगा है, साहित्य का नहीं, जैसाकि इससे पहले माना जाता था।

पाठालोचन अथवा पाठानुसंधान की प्रक्रिया :

(क) अन्य संग्रह—किसी एक ग्रन्थ का पाठालोचन करने के लिए यह अपेक्षित है कि पहले उस ग्रन्थ की प्रकाशित तथा हस्तलेख में प्राप्त प्रतियाँ एकत्र करली जाये। इसके लिए पहले तो उनके प्राप्ति-स्थलों का ज्ञान कराना होगा। कहाँ-कहाँ इस ग्रन्थ की प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यह कोई साधारण कार्य नहीं है। सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी से, मित्रों के द्वारा, यात्रा करके, सरकारी माध्यम से एक जाल-सा बिछा लेना होगा। पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'सूरसागर' विषयक सामग्री का जो लेखा-जोखा दिया है, उसे पढ़कर इसकी गरिमा को समझा जा सकता है।[2]

---

1. The chief task in dealing with several MSS of the same work is to investigate their mutual relations, especially in the matter of mistakes in which they agree and to construct a geneological table, to establish the text of the archetype, or original, from which they are derived.

—The New Universal Encyclopaedia (Vol. 10), p. 5499.

किन्तु यह वंशवृक्ष (Geneological table) प्रस्तुत करना बहुत कठिन कार्य है और कभी-कभी तो असम्भव हो जाता है। इसके लिए टेसीटरी महोदय का यह कथन पठनीय है। वे 'वर्चनिका' का पाठ-निर्धारण करते समय लिखते हैं—

"I have tried hard to trace the pedegree of each of these thirteen MSS and ascertain the degree of their depending on the archetype and one another and have been unsuccessful. The reason of the failure is to be sought partly in the great number of MSS in existence and partly in the peculiar conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alterations by the copyists who generally are bards themselves and often think themselves authorized to modify or, as they would say, improve any text they copy, to suit their tastes or ignorance as the case may be."

—टेसीटरी—वचनिका (भूमिका), पृ. 9.

यह एक दृष्टि से अत्यन्त विशिष्ट स्थिति है, जिसमें इतनी अधिक प्रतियों के उपलब्ध होने के कारण भी वंशवृक्ष बनाने में सफलता नहीं मिल सकी।

2. चतुर्वेदी, जवाहर लाल—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 119-132।

ऐसी सूचना के साथ-साथ ही उन ग्रन्थों को प्राप्त करने के भी यत्न करने होंगे। कहीं से ये ग्रन्थ आपको उधार मिल जायेंगे, जिनसे काम लेकर आप लौटा सकेंगे। कहीं से इन ग्रन्थों को किसी सुलेखक से प्रतिलिपि करानी पड़ेगी, कहीं से इनके फोटो-चित्र तथा माइक्रोफिल्म मँगानी होंगी। इस प्रकार ग्रन्थों का संग्रह किया जायेगा।

(ख) तुलना—अब इन ग्रन्थों के पाठ की पारस्परिक तुलना करनी होगी। इसके लिए—

(1) पहले इन्हें कालक्रमानुसार सजा लेना होगा, तथा

(2) प्रत्येक ग्रन्थ को एक संकेत नाम देना होगा।

संकेत नाम देने से ग्रन्थ के पाठ-संकेत देने में सुविधा होती है, स्थान कम घिरता है और समय की बचत भी होती है।

'संकेत प्रणाली'—संकेत देने की कई प्रणालियाँ हो सकती हैं, जैसे—(क) क्रमांक—सभी आधार-ग्रन्थों को सूची-बद्ध करके उन्हें जो क्रमांक दिये गये हों उन्हें ही 'ग्रन्थ' संकेत मान लिया जाय—यथा (1) महावनवाली प्रति, (2) आगरावाली प्रति, आदि। अब इनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं रही केवल 'संकेत' संख्या लिख देने से काम चल जायेगा। प्रति संख्या (3) सदा आगरा वाली प्रति समझी जायेगी। यह आवश्यक है कि सूची-बद्ध करते समय प्रत्येक 'संकेत' के साथ ग्रन्थ का विवरण भी दिया जाय। जिससे उस संख्या के ग्रन्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सके। उदाहरणार्थ—हम 'पृथ्वीराज रासो' की एक प्रति का परिचय उद्धृत करते हैं

क्रमांक-1—यह प्रति प्रसिद्ध जैन विद्वान मुनि जिनविजय के संग्रह की है। यह 'रासो' के सबसे छोटे पाठ की एकमात्र अन्य प्राप्त प्रति है, और उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी 'धा.' है। इस प्रति के लिए मुनि जी को जब मैंने लिखा, वह श्री अगरचन्दजी नाहटा के पास थी। कदाचित् प्रति की जीर्णता के ध्यान से नाहटा जी ने मूल प्रति न भेजकर उसकी एक फोटोस्टेट कापी मुझे भेज दी। इस बहुमूल्य प्रति के उपयोग के लिए मैं मुनिजी का अत्यन्त आभारी हूँ। प्रस्तुत कार्य के लिए इसी फोटोस्टेट कापी का उपयोग किया गया है। मूल प्रति मैंने 1956 के जून में डॉ. दशरथ शर्मा के पास दिल्ली में देखी थी। फोटोस्टेट होने के कारण यह कापी प्रति की एक वास्तविक प्रतिकृति है।

इस प्रति के प्रारम्भ के दो पन्ने नहीं है, शेष सभी है। इसमें भी खण्ड-विभाजन और छन्दों की क्रम-संख्या नहीं है। इसमें वार्त्ताओं के रूप में इस प्रकार के संकेत भी प्राय: नहीं दिये हुए हैं जैसे 'धा.' में हैं। प्रारम्भ के दो पन्ने न होने के कारण इसकी निश्चित छन्द संख्या कितनी थी, यह नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इन त्रुटित दो पत्रों में से प्रथम पृष्ठ-रचना के नाम का रहा होगा, जैसा अनिवार्य रूप से मिलता है, और शेष तीन पृष्ठ ही रचना के पाठ के रहे होंगे। तीसरे पत्र के प्रारम्भ में जो छन्द आता है वह 'धा.' में 17 है, जिसका कुछ अंश पूर्ववर्तीय द्वितीय पत्र पर रहा होगा और 'धा.' की तुलना में इसमें 30-31 प्रतिशत रूपक अधिक है। इसलिए 'धा.' के 16 रूपकों के स्थान पर इसके प्रथम दो पत्रों में 20-21 रूपक रहे होने चाहिये। फलत: इन निकले हुए दो पत्रों में 20 छन्द

मान लेने पर प्रति की कुल छन्द संख्या 552 ठहरती है। यह प्रति अत्यन्त सुलिखित है और उपर्युक्त दो पत्रों के अतिरिक्त पूर्णतः सुरक्षित भी है। इसका आकार 6.25"×3" और इसकी पुष्पिका इस प्रकार है।

''इति श्री कविचन्द विरचिते प्रथीराज रासुँ सम्पूर्ण। पण्डित श्री दान कुशल गणि। गणि श्री राजकुशल। गणि श्री देव कुशल। गणि धर्म कुशल। मुनि भाव कुशल लषितं। मुनि उंदय कुशल। मुनि मान कुशल। सं. 1697 वर्ष पौष सुदि अष्टम्याँ तिथौ गुरु वासरे मोहनपुरे।''

यह एक काफी सुरक्षित पाठ-परम्परा की प्रति लगती है, क्योंकि इसमें पाठ-त्रुटियाँ बहुत कम हैं, और अनेक स्थानों पर एकमात्र इसी में ऐसा पाठ मिलता है जो बहिरंग और अन्तरंग सभी सम्भावनाओं की दृष्टि से मान्य हो सकता है। फिर भी श्री नरोत्तमदास स्वामी ने कहा है कि इसका 'पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्ट है।' उन्होंने यह धारणा इस प्रति के सम्बन्ध में कैसे बनाई है, यह उन्होंने नहीं लिखा है। किन्तु इस प्रकार की धारणा के दो कारण सम्भव प्रतीत होते हैं, एक तो यह कि इसमें वर्तनी-विषयक कुछ ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जिनके कारण शब्दावली और भाषा का रूप विकृत हुआ लगता है, दूसरे यह कि इसका पाठ अनेक स्थलों पर अपनी सुरक्षित प्राचीनता के कारण दुर्बोध हो गया है, और उन स्थलों पर अन्य प्रतियों में बाद का प्रक्षिप्त किन्तु सुबोध पाठ मिलता है। कहीं-कहीं पर ये दोनों कारण एकसाथ इकट्ठा होकर पाठक को और भी अधिक उलझा देते हैं।

वर्तनी सम्बन्धी इसकी सबसे अधिक उलझन में डालने वाली प्रवृत्तियाँ आवश्यक उदाहरणों के साथ निम्नलिखित हैं—

(1) इसमें 'इ' की मात्रा का अपना सामान्य प्रयोग तो है ही, 'अइ' के लिए भी उसका प्रयोग प्रायः हुआ है, यथा—

गुन तेज प्रताप ति वर्णि 'कहि'। दिन पंच प्रजंत न अन्त लहइ।
(मो. 95.51-52)

ब्रह्म वेद नहि चषि अलप युधिष्ठिर 'बोलि'।
जु शायर (सायर) जल 'तजि' मेरे मरजादह डोलइ। (मो. 224.3-4)

रहि गय उर झंषेव उरह मि (मइ) अवर न बुझइ।
मुउ न जीवइ कोइ मोहि परमषर 'सूझि'। (मो. 545.3-4)

किरणाटी रांणी 'कि' (कइ) आवासि राजा विदा मांगन गयु।
(मो. 122 अ)

'पछि' (पछइ) राजा परमारि आवासि विदा मांगन गयु। (मो. 123 अ

'पछि' (पछइ) राजा परमारि सुषुली विदा मांगन गयु। (मो. 123 अ)

तुलना कीजिये—

'पछइ राजा कछवाही 'कइ' आवासि विदा मांगन गयु। (मो. 125 अ)

मनु अकाल टडीअ शघन 'पवि' (पव्वइ) छूटि प्रवाह। (मो. 234.2)

तिन 'मि' (मइ) दसि 'सि' (सइ) अरि दलन 'उप्परि' (उप्पारइ) गज दंत। (मो. 438.2)

तिन 'मि' (मइ) कवि गन पंज सिहिं (सइहिं) भाष भाष दिठउ काज।
विन 'मि' (मइ) दिवगति देवन समह तिन महि पुहु प्रथीराज। (मो. 439)

जे कछु साध मन 'मि' (मइ) भइ सब ईछा रस दीन्ह। (मो. 513.2)

'असमि' (असमइ) सोइ मग्यु सुकवि नृपति 'विचार' (विचारइ) सब। (मो. 503.2)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि कहीं-कहीं 'इ' की मात्रा को 'अइ' के रूप में पढ़ा गया है—

तम 'सरवगइ' (सरवग्गि) सू केवि राज गुरू राज सम। (मो. 402.3)

(2) 'इ' की मात्रा का प्रयोग पुनः 'ऐ' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा— ऊपर मो. 122अ, 123अ, 124अ तथा 125अ के उद्धरणों में आए हुए 'कि' की तुलना कीजिए—

पछइ राजा भटिआनी कै आवासि विदा मांगन गयु। (मो. 127अ)

भरी भोज 'भाजि' (भाजइ) नहीं सारि भागि।
भरि मल मानै नहीं लौह लागै। (मो. 327.19-20)

सुनि त पंग चहूआन कुं मुष जंपि इह 'विन' (वैन)।
बोल सूर सामंत सब कहु एकठु शेन (सैन)। (मो. 229)

जल बिन भट सुभट भो करि अपहि भुज 'विन' (वैन)।
परमतत्त्व सूझि (सूझइ) नृपति मगि मगि फरमानन (फरमानेन)। (मो. 547)

'ति' (तै) राषुं हींदुआन गंज गौरी ग़ाहंतु।
'तै' राषु जालोर चंपि चालूंक बाहंतु।
'तै' राषु पगुरु भीम भटी 'दि' (दै) मथु।
तै राषु रणथंभ राय जादव सि (सई) हिथु। (मो. 308.1-4)

भये तोमर मतिहीन कराय किली 'ति' (तै) ढिली। (मो. 33.4)

'ति' (तै) जीतु गंजंनुं गंजि अपार हमीरह।
'ति' (तै) जीतु चालुक विहरि संनाह सरीरह।
'ति' (तै) पहुपंग सू गहुँ इदु जिम गाहि सू रहह।
'ति' (तै) गोरीय दल दहु वारि कट जिन बन दहह।

तुव तु ग तेग तब उचतम तिं (तै) तो पाशन मिलयु। (मो. 424.1-5)

भरे देव दानक जिम 'विर' (वैर) चीतु। (मो. 454, 45)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी इस प्रकार होती है कि कहीं-कहीं पर 'इ' की मात्रा को 'ऐ' के रूप में पढ़ा गया है, यथा

विदूजन 'बौलै' (बोलि) दिन धरहु आज। (मो. 40.54)

(3) कहीं-कहीं 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'अ' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा—

'किमास' (मो. 73.4)

वही (मो. 77.1)

वही (मो. 82.2)

वही (मो. 99.2)

वही (मो. 101.2)

वही (मो. 105.1)

वही (मो. 108.3)

वही (मो. 116.1)

वही (मो. 121.1)

वही (मों. 548.3)

तुलना कीजिए—

सा मन्त्री 'कयमास' काम अन्धा देवी विइदा गति। (मो. 74.4)

हि (हइ) 'कयमास' कहूँ कोइ जानहुँ। (मो. 98.4)

(4) 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'ए' की मात्रा के लिए भी हुआ है, यथा

दुहु राय रषत ति रत 'उठि'।

विहुरे जन पावस श्रम उठे। (मो. 314.5-6)

नीयं देह दिषि विरषि ससाने।

जिते मोह मज्जा लगये 'आसमानि'। (मो. 498.35-36)

शकुंने मरंने जनंगे विहाने।

वजे दहुँ दुभिदे विभू 'मनि'। (मो. 498.39-40)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी कहीं-कहीं 'इ' की मात्रा के 'ए' की मात्रा के रूप में पढ़े गए होने से होती है, यथा—

पिनि गंड्डु नृप अधनिसा सम दासी 'सूरिआत' (सुरिआति)।

देव धरह जल धन अनिल कहिग चंद कवि प्रात॥ (मो. 87)

पहिचानु जयचन्द इहत ढिलीसुर पेषें।
नहिन चंदु उनुहारि दुसह दारुण तब दिषै। (मो. 223.1-2)
गहीय चंदु रह गजने जाहाँ सजन जु 'नरेंद'।
कबहुँ नयन निरषहूँ मनहु रवि अरविंद। (मो. 474)

(5) 'इयइ' या 'इयै' के स्थान पर प्रायः 'ईह' लिखा गया है, यथा—

सोइ एको बान संभरि घनी बीउ बान नह 'संवीइ'।
धारिआर एक लग मोगरीअ एक बार नृप ढुकीयै। (मो. 544.5-6)
हम बोल रिंहि कलि अन्तिर देहि स्वामि पारथीइ (पारथयइ)।
अरि असीइ लष को अंगमि परणि राय सारथीह (सारथियइ)।
(मो. 305.5-6)
मंगल वार हि मरन की ते पति सधि तन (षंडिगइ)।
जेत चढि युथ कमधज सू मरन सब मुष (मंडियइ)। (मो. 309.5-6)
क्षिनु इक दरहि 'विलंबिइ' (विलंबियइ) कवि न करि मनु मंदु।
(मो. 488.2)
सह सहाव दर 'दिषीइ' (दिषियइ) सु कछू भूमि पर मिछ।
(मो. 479.2)
सीरताज साहि 'सोभीइ' (सोभियइ) सुदेसि। (मो. 492.17)
'सुनीइ' (सुनियइ) पुन्य सम मझ राज। (मो. 52.5)

(6) 'इयउ' के स्थान पर प्रायः 'ईऊ' लिखा मिलता है

इम जंपिंचंद 'विरदीउ' (विरदियउ) सु प्रथीराज उनिहारि एहि।
(मो. 189-6, 190.6)
इम जंपि चंद 'विरदीउ' (विरदियउ) षट त कोस चहुवान गयु।
(मो. 335.6)
इम जंपि चंद 'विरदीउ' (विरदियउ) दस कोस चहंआंन गउ।
(मो. 343.7)
जिम सेत वज 'साजीउ' (साजियउ) पथ। (मो. 492.24)

(7) 'उ' की मात्रा का प्रयोग प्रायः 'अउ' के लिए हुआ है, यथा—

तव ही दास कर हथ सुवंय सुनाययूड।
बानावलि वि दहु बांन रोस रिस 'दाहयु'।
मनहू नागपति पतिन अप 'जगाइयु'। (मो. 80.2-4)

पायक धनू धर कोटि गनि असी सहस हयमंत जहु।
पंगुर किहि सामंत सुइ जु जीवत ग्रहि प्रथीराज 'कुं'। (मो. 230.5-6)
निकट सुनि सुरतांन वांम दिसि उच हथ 'सु' (सउ)
जस अवसर सतु सचि अछि लुटीय न करीय 'भू' (भउ)।
(मो. 533.3-4)
'सु' (सउ) बरस राज तप अंत किंन। (मो. 21 की अन्तिम अर्द्धाली)
'सु' सउ उपरि 'सु' (सउ) सहस दौह अगनित लष दह। (मो. 283.2)
कन उ ज राडि पहिलि दिवसि 'शु' (शउ) मिं सात निवटिया।
(मो. 298.6)

(8) कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'ओ' की मात्रा का भी काम लिया गया है—
निशपल पंच घटीए दोई 'धायु'।
आखेटकन्नंखे नृप आयो। (मो. 92.3-4)

(9) और कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'औ' की मात्रा का काम लिया गया है—
कवि देषत कवि कु मन 'रत्तु'
न्याय नयन कन (उ) जि पहुत्तो। (मो. 176.1-2)

इसकी पुष्टि एकाध स्थान पर 'उ' के स्थान पर 'ओ' की मात्रा मिलने से भी होती है—

प्रात राउ संप्रापतिग जाहां दर देव 'अनापं'।
सयन करि दरबार जिहि सात सहस अंस भूप॥ (मो. 214)

(10) इसी प्रकार कहीं-कहीं 'उ' वर्ण का प्रयोग 'ओ' के लिए हुआ मिलता है—

तुलंत जू तुज तराजूंन्ह गोप।
मनु धन मझि तडितह 'उ'। (मो. 161.27-28)
गंग जल जिमन धर हलि 'उजे'।
पंगरे राय राठुर फोजे। (मो. 284.15-16)

प्रति की वर्तनी-सम्बन्धी ऐसी ही प्रवृत्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है जो हिन्दी की प्रतियों में प्राय: नहीं मिलती हैं, और इसीलिए हिन्दी पाठक को ऐसा लग सकता है कि ये प्रतिलिपिकार की अयोग्यता के कारण है, किन्तु ऐसा नहीं है। नारायणदास तथा रत्नरंग रचित 'छिताई वार्ता' की भी एक प्रति में, जो इस प्रति के कुछ पूर्व की है, वर्तनी-सम्बन्धी ये सारी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, यद्यपि ये परिमाण में कम हैं, पश्चिमी राजस्थानी तथा गुजराती की इस समय की प्रतियों में तो ये प्रवृत्तियाँ प्रचुरता से पाई जाती हैं। फलत: वर्तनी-सम्बन्धी

इन प्रवृत्तियों का परिहार के अनन्तर मो. का पाठ किसी भी प्रति से बुरा नहीं रहता है, वरन् वह प्राय: प्राचीनतर और इसलिए कभी-कभी दुर्बोध भी प्रमाणित होता है, यह सम्पादित पाठ और पाठान्तरों पर दृष्टि डालने पर स्वत: स्पष्ट हो जायेगा।[1]

"अत: इस प्रति को हम '।' मानेंगे और जहाँ-जहाँ इस प्रति का उल्लेख करेंगे— '।' का ही उल्लेख करेंगे।"

यदि इस समस्त कथन का विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि इसके परिचय में निम्न बातें दी गई हैं—

(क) प्रति के प्राप्ति स्थान एवं उसके स्वामी का परिचय।

(ख) प्रति की दशा (1) पूरी है या अधूरी है या कुछ पृष्ठ नहीं हैं, या फटे हैं या कीट-भक्षित है? (2) पृष्ठ में पंक्तियों की और शब्दों की संख्या, (3) स्याही कैसी, एक रंग की या दो की, (4) कागज कैसा, (5) सचित्र या सादा? कितने चित्र?

(ग) छन्द संख्या—पृष्ठगत तथा कुल ग्रन्थ में कुछ त्रुटित पत्र हों तो उनके सम्बन्ध में भी अनुमान।

(घ) लेख की प्रवृत्ति—सुलेख, कुलेख, स्पष्ट आदि।

(ङ) आकार—फुट तथा इंच में।

(च) प्राप्ति से उपाय।

(छ) पुष्पिका।

(ज) ग्रन्थ आदि का इतिहास।

(झ) पाठ-परम्परा तथा पाठ-विषयक उल्लेखनीय बातें। वर्तनी भेद के उदाहरणों के साथ।

(न) इस शोध की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व।

ग्रन्थों का यह क्रम 'कालक्रमानुसार' भी रखा जा सकता है, पर नाम उसका 'क्रमांक' ही बनायेगा। हाँ, यदि एक ही सन् या संवत् में एक ही प्रति मिलती है, और पूरी सूची-भर में ऐसी ही स्थिति हो तो सन् या संवत् को भी 'संकेत' माना जा सकता है—यथा, सन् 1762 वाली प्रति आदि।

प्रतिलिपिकार-प्रणाली

ग्रन्थों के नाम-संकेत 'अंकों' में न रखकर ग्रन्थ के प्रतिलिपिकार के नाम के पहले अक्षर के आधार पर रखे जा सकते हैं जैसे 'बीसलदेव रास' की एक प्रति का संकेत 'प' उसके प्रतिलिपिकार 'पण्डित सीहा' के प्रथम अक्षर के आधार पर रखा गया है।

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—पृथ्वीराज रासउ, पृ. 5-9।

स्थान संकेत प्रणाली

ग्रन्थ की प्रतिलिपि अथवा रचना के स्थान का उल्लेख ग्रन्थ की पुष्पिका में हो तो उसके नाम के प्रथम अक्षर के आधार पर भी 'संकेत' बनाया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो की एक प्रति को 'मो.' संकेत इसलिए दिया गया है कि उसकी पुष्पिका में स्थान का उल्लेख है कि सं. 1697 वर्ष पोष सुदि अष्टमी तिथो गुरुवासरे मोहनपूरे।

पाठ-साम्य के समूह की प्रणाली

समस्त प्रतियों का वर्गीकरण पाठ-साम्य के आधार पर किया जा सकता है। इस वर्गीकरण का नाम भी उक्त प्रणालियों से दिया जा सकता है, फिर ग्रन्थांक भी। जैसे 'पद्मावत' के सभी आधार ग्रन्थों को पाँच पाठ-साम्य-समूहों में बाँट दिया गया और नाम रखा—'प्र.' प्रथम समूह का, 'द्वि' द्वितीय समूह का, 'पंचम' पाँचवें समूह का। अब प्रथम समूह में दो ग्रन्थ हैं तो उनके संकेत होंगे 'प्र. 1' तथा 'प्र. 2'।

पत्र-संख्या प्रणाली

जब ग्रन्थ से और कोई सूचना नहीं मिलती जिसके आधार पर संकेत निर्धारित किया जा सकें तो पत्रों की संख्या को ही आधार बनाया जा सकता है।

एक प्रति आठ पत्रों में ही पूरी हुई है, केवल इसी आधार पर इसे 'आ.' कहा गया है।

अन्य प्रणाली

(क) डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने एक अन्य प्रणाली का उपयोग किया है जिसे उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"इस प्रति की पुष्पिका भी स्पष्टतः अपर्याप्त थी। किन्तु इसको देखने पर ज्ञात हुआ कि इसके कुछ पत्रे एक प्रति के थे और शेष पत्रे दूसरी प्रति के थे—दोनों प्रतियाँ खंडित थीं और उन्हें मिलाकर एक पुस्तक पूरी कर दी गई थी—यही कारण है कि 19वीं संख्या के इसमें दो पत्रे हैं। इसी पुनरुद्धार के आधार पर इस प्रति का संकेत 'पु.' रख लिया गया है।"[1]

(ख) मूल पुष्पिका नष्ट हो गयी, पर ग्रन्थ-स्वामी ने किसी अन्य ग्रन्थ से वह पुष्पिका लिखकर जोड़ दी, तो स्वामी के नाम से ही ग्रन्थ का संकेत दे दिया है।

(ग) ऊपर की प्रणालियों का बिना अनुगमन किये अनुसन्धानकर्ता स्वयं अपनी कल्पना से या योजना से कोई भी संकेत ग्रन्थ को दे सकता है।

पाठ-प्रतियाँ

ग्रन्थों के 'संकेत-नाम' निर्धारित हो जाने पर उनमें से प्रत्येक के एक-एक छन्द को क्रमशः एक-एक कागज पर लिख लिया जाना चाहिये। प्रत्येक छन्द की प्रत्येक पंक्ति

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—बीसलदेव रास, पृ. 5।

को भी क्रमांक दे देना चाहिये, तथा छन्द का भी क्रमांक (वह अंक जो उसके लिए ग्रन्थ में दिया हो) देना चाहिये। यथा—

। 0 ।

पंडियउ पहुतउ सातमई मास (1)

देव कह थान करी अरदास (2)

तपीय सन्यासीय तप करह (3)

प्रत्येक पत्र इतना बड़ा होना चाहिये कि पूरा छंद लिखने के बाद उसमें आवश्यक टिप्पणियाँ देने के लिए स्थान रहे।

इन प्रतिलेखों को सावधानी से उस ग्रन्थ-मूल से फिर मिला लेना चाहिए।

पाठ-तुलना

इसके उपरान्त प्रत्येक छंद की समस्त प्रतियों के रूपों से तुलना की जानी चाहिए। इसमें ये बातें देखनी होंगी।

(क) इस छंद के चरण सभी प्रतियों में एक से हैं अर्थात् यदि एक में पूरा छन्द चार में चरणों है तो शेष सभी में भी वह चरण वाला ही है।

अथवा

एक चरण में संख्या कुछ, दूसरे में कुछ आदि।

(ख) यदि किसी-किसी प्रति में कम चरण हैं तो किस प्रति में कौनसा चरण नहीं है।

(ग) यदि किसी में अधिक चरण है तो कौनसा चरण अधिक है।

(घ) फिर क्रमशः प्रत्येक चरण की तुलना—

क्या चरण के सभी शब्द प्रत्येक प्रति में समान हैं अथवा शब्दों में क्रम-भेद हैं?

किस प्रति में किस चरण में कहाँ-कहाँ वर्तनी-भेद हैं?

किस-किस प्रति में इस चरण में कहाँ-कहाँ अलग-अलग शब्द हैं?

जैसे बीसलदेव की एक प्रति में 102 छंद का 6ठा चरण हैं—''ऊँचा तो धरि-धरि वार''। यह चरण एक अन्य प्रति में है—

'धरि धरि तोरण मंगल ध्यारि।'

इसी प्रकार चरण प्रति चरण, शब्द प्रति शब्द तुलना करके प्रत्येक शब्द के पाठों के अन्तरों की सूची प्रस्तुत करनी चाहिए। प्रत्येक परिवर्तित चरण की सूची, प्रत्येक लोप की सूची, प्रत्येक अधिक चरण (आगम) की सूची बनायी जानी चाहिए।

साथ ही प्रत्येक प्रति चरण की छन्द-शास्त्रीय संगति भी देखी जानी चाहिए।

इसके अनन्तर उक्त आधारों पर तीन 'सम्बन्धों' की दृष्टि से तुलना करनी होगी—प्रतिलिपि सम्बन्ध से, प्रक्षेप सम्बन्ध से, पाठान्तर सम्बन्ध से।

प्रामाणिक पाठ के निर्धारण में प्रतियों के प्रतिलिपि सम्बन्ध की महत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इसी से हमें उन सीढ़ियों का पता लग सकता है जिनके आधार पर मूल प्रामाणिक पाठ का अनुसन्धान किया जा सकता है। प्रतिलिपि सम्बन्धों की तुलना से ही हमें विदित होता है कि किस प्रति की पूर्वज कौनसी प्रति है। इस प्रकार समस्त प्रतिलिपित ग्रन्थों का एक वंश-वृक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। वंश-वृक्ष बनाने के लिए समस्त प्रतियों के पाठों का गहन अध्ययन अपेक्षित होता है तभी हम उन प्रतियों के पूर्वजों की कल्पना भी कर सकते हैं जो हमें शोध में प्राप्त हुई हैं। ऐसे कल्पित पूर्वज को वंश-वृक्ष में (×) गुणन के चिह्न से बताया जाता है। इससे प्रतियों के परस्पर सम्बन्ध ही नहीं विदित होते वरन् प्रामाणिकता की दृष्टि से महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार प्रक्षेपों की तुलना की जा सकती है। इनके भी परस्पर सम्बन्धों का वंश-वृक्ष दिया जा सकता है।

पाठान्तर सम्बन्ध की तुलना सभी ग्रन्थों में नहीं हो सकती, क्योंकि कुछ ग्रन्थ तो ऐसे मिलते हैं जिनमें लिपिकार हाशिये में किसी शब्द का पाठान्तर लिख देता है। पद्मावत की प्रतियों में ऐसे पाठान्तर मिले थे। पर अन्य बहुत-से ग्रन्थों में पाठान्तर नहीं लिखे होते। यदि प्रतिलिपियों में पाठान्तर मिलते हैं तो उनकी तुलना से भी मूल पाठ के अनुसन्धान में सहायता ली जा सकती है।

इन तीन सम्बन्धों के द्वारा तुलनापूर्वक जब सबसे अधिक प्रामाणिक पाठ वाली प्रति निर्धारित कर ली जाय तो उसके पाठ को आधार मान सकते हैं, या मूल पाठ मान सकते हैं, किन्तु उसे अभी प्रामाणिक पाठ नहीं कह सकते।

प्रामाणिक पाठ पाने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त पाठ-सम्बन्धों की विवेचना करके पाठ सम्पादन के सिद्धान्त निर्धारित कर लिये जायें। इसमें हमें यह देखना होगा कि जिन प्रतियों के पाठ मिश्रण से बने हैं वे प्रामाणिक पाठ नहीं दे सकते, जिन प्रतियों की परम्परा पर दूसरों का प्रभाव कम से कम पड़ा है, वे ही प्रामाणिक मानी जानी चाहिये।

प्रामाणिकता के लिए विधि पाठान्तरों की तुलना अपेक्षित है। तुलनापूर्वक विवेचना करके 'शब्द' और 'चरण' के रूप को निर्धारित करना होगा।

इसमें यह देखना होगा कि यदि कम विकृत पाठ किसी प्राचीन पीढ़ी का है तो वह अतिविकृत बाद की पीढ़ी से अधिक प्रामाणिक होगा।

इसके साथ ही यह स्पष्ट है कि यदि कोई एक पाठ कुछ स्वतंत्र पाठ-परम्पराओं के समान मिलता है तो वह निस्संदेह प्रामाणिक होगा। इसी प्रकार अन्य स्वतंत्र परम्पराओं या कम प्रमाणित परम्पराओं के पाठों का सापेक्षिक महत्त्व स्थापित किया जा सकता है।

क्योंकि कुछ अंश तो ऐसा हो सकता है जो सभी स्वतंत्र और कम प्रभावित परम्पराओं में समान मिले, कुछ ऐसा अंश होगा जो सब में समान रूप से प्राप्त नहीं, तब तुलना से जिनको दूसरी कोटि का प्रमाण माना है उन पर निर्भर करना होगा। हमें दूसरी कोटि के

पाठ को पूर्णतः प्रामाणिक बनाने के लिए ''शेष समस्त बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिए।''

इसे डॉ. माताप्रसाद गुप्त[1] के 'बीसलदेव रास' की भूमिका में दी गयी प्रक्रिया के एक अंश के उद्धरण से समझाया जा सकता है। डॉ. गुप्त ने विविध प्रतिलिपि-सम्बन्धों का भली प्रकार विवेचन करके उन प्रतियों के पाठ-सम्बन्धों का एक 'वंश-वृक्ष' प्रस्तुत किया है।
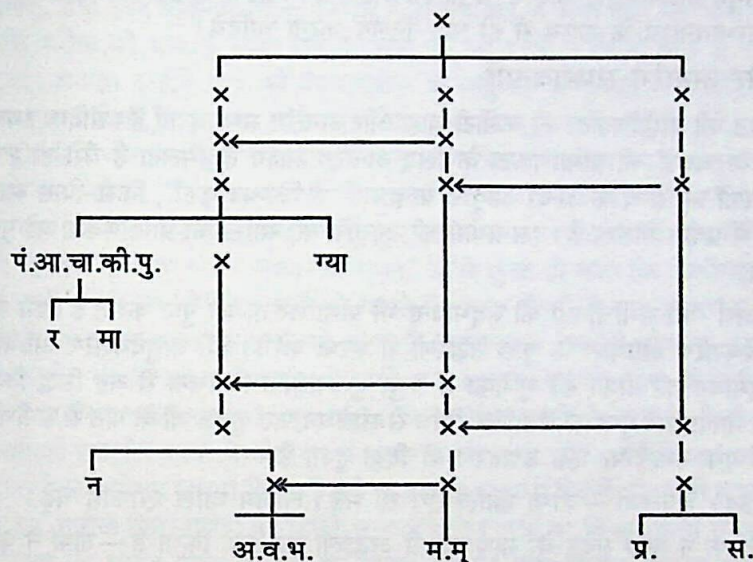
इस वृक्ष से स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक मूल ग्रन्थ से प्रतियों की तीन स्वतंत्र परम्पराएँ चलीं। इसमें पं. समूह की प्रतियाँ बहुत पतली पीढ़ी की हैं, तीसरी-चौथी पीढ़ी की ही हैं और इस पर 'म' के किसी पूर्वज का, सम्भवतः पाँचवीं पीढ़ी पूर्व की प्रति का प्रभाव 'प' समूह के पूर्व की दूसरी पीढ़ी के पूर्व के प्रति पर पड़ा है, और कोई नहीं पड़ा है। 'म' समूह पर 'स' समूह की दूसरी-तीसरी पीढ़ी पूर्व के प्रभाव पड़े हैं, अन्यथा वह दूसरी स्वतंत्र धारा है। 'स' तीसरी स्वतंत्र धारा है। अतः निष्कर्ष निकाले गये कि—

← उपर्युक्त चित्र में × गुणा का चिह्न यह बताता है कि यह प्रति प्राप्त नहीं हुई है किन्तु उपलब्ध प्रतियों के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसी प्रति होनी चाहिए।

तीर का यह चिह्न यह बताता है कि तीर शीर्ष जिस प्रति की ओर है उस पर उस प्रति का प्रभाव है, जिससे तीर आरम्भ होता है।

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)तथा नाहटा, अगर चंद—बीसलदेव रास, (भूमिका), पृ. 47।

(1) पं. समूह का पाठ 'स' समूह का अथवा उसके किसी पूर्वज का ऋणी नहीं है। इसलिए इन दोनों समूहों का जिनमें पं. आ. चा. की. पु. तथा 'या' प्रतियाँ आती हैं, पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के लिए साधारणत: प्रामाणिक माना जाना चाहिये।

(2) जिन विषयों में म. प. तथा स. तीनों समूहों में पाठ-साम्य हैं, उनकी प्रामाणिकता स्वत: सिद्ध मानी जानी चाहिये।

(3) जिन विषयों में म. तथा प. समूह एकमत हों और स. भिन्न हो, अथवा म. तथा स. समूह एकमत हों, और प. समूह भिन्न हो, उन विषयों में शेष समस्त बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाओं के साम्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिये।

बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाएँ

पाठ की प्रामाणिकता की कसौटी बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाएँ हैं। संदिग्ध स्थलों के शब्दों या चरणों की प्रामाणिकता के लिए अन्तरंग साक्ष्य तो मिलता है वैसे ही शब्द अथवा चरणों की ग्रन्थ के अन्दर आवृत्ति के द्वारा........'अन्यत्र कहाँ', किस-किस स्थान और रूप में प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग की आवृत्ति की सांख्यिकी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है।

'अर्थ' की समीचीनता की उद्भावना भी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। इसे हम डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट करेंगे। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने पद्मावत की टीका की भूमिका में प्रचुर तुलनात्मक विवेचना से यह सिद्ध किया है कि डॉ. माताप्रसाद गुप्त का वैज्ञानिक विधि से संशोधन पाठ शुक्ल जी के पाठ से समीचीन है। उसमें एक स्थान पर एक उदाहरण यों दिया हुआ है—

(34) शुक्लजी—जीभा खोलि राग सौं मढ़े। लेजिम घालि एराकह्नि चढ़े।

शिरेफ ने कुछ संदेह के साथ पहली अर्द्धाली का अर्थ किया है—तोपों ने कुछ संगति के साथ अपना मुँह खोला। वस्तुत: यह जायसी की अतिक्लिष्ट पंक्ति थी जिसका मूल पाठ इस प्रकार था—

गुप्तजी—जेबा खोलि राग सौं मढ़े।

इसमें जेबा, खोल, राग तीनों पारिभाषिक शब्द हैं। शाह की सेना के सरदारों के लिए कहा गया है कि वे जिरहबख्तर (जेबा), झिलमिल टोप (खोल) और टाँगों के कवच राग से ढके थे। 512/4 में भी 'राग' मूलपाठ को बदलकर 'सजे' कर दिया गया।[1]

इसमें 'जेबा', 'खोलि', 'राग' ये पारिभाषिक शब्द हैं। अत: इस विषय के बाह्य प्रमाण से इसकी पुष्टि होती है, और 'शुक्ल' जी के पाठ की अपेक्षा इस वैज्ञानिक-विधि से प्राप्त पाठ की समीचीनता सिद्ध होती है।

पाठानुसंधान में भ्रम से अथवा संशोधन-शास्त्र से नियमों के पालन में असावधानी से अभीष्ट पाठ और अर्थ नहीं मिल सकता। इसे समझाने के लिए डॉ. अग्रवाल ने अपनी ही एक भ्रान्ति का उल्लेख यों किया है—

---

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)—पद्मावत (प्राक्कथन), पृ. 19।

इस प्रकार की एक भ्रान्ति का मैं सविशेष उल्लेख करना चाहता हूँ क्योंकि वह इस बात का अच्छा नमूना है कि कवि के मूल पाठ के निश्चय करने में संशोधन शास्त्र के नियमों के पालन की कितनी आवश्यकता है और उसकी थोड़ी अवहेलना से भी कवि के अभीष्ट अर्थ को हम किस तरह खो बैठते हैं। 152/4 का शुक्लजी का पाठ इस प्रकार है—

सांस डांडि मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी॥

माताप्रसाद जी को डांडि के स्थान पर वेध, वोठ, वैठ, वोइठा, दूध, दहि, दधि, दंवाल, डीढ इतने पाठान्तर मिले। सम्भव है और प्रतियों में अभी और भी भिन्न पाठ मिलें। मनेर शरीफ की प्रति में ओढ़ पाठ है। गुप्त जी को इनमें से किसी पाठ से सन्तोष नहीं हुआ। अतएव उन्होंने अर्थ की आवश्यकता के अनुसार अपने मन से 'दहेंडि' इस पाठ का सुझाव दिया, पर उसके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया—स्वांस दहेंडि (?) मन मंथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी। मैंने इस प्रश्न चिह्न पर उचित ध्यान न ठहरा कर सांस दही की हांडी है, मन दृढ़ मथानी है, ऐसा अर्थ कर डाला। प्रसंगवश श्री अम्बाप्रसाद सुमन के साथ इस पंक्ति पर पुनः विचार करते हुए इसके प्रत्येक पाठान्तर को जब मैं देखने लगा तो 'दवालै' शब्द पर ध्यान गया। 'श्री सुमन' जी ने सुनते ही कहा कि अलीगढ़ की बोली में द्वाली चमड़े की डोरी या तस्में को कहते हैं। काश देखने से ज्ञात हुआ कि फारसी में दवाल या दुवाल रकाब के तस्में को कहते हैं (स्टाइनगास, फारसी कोश पृ. 539)। क्रुक ने दुआलि, दुआल का अर्थ चमड़े की बग्घी, हल आदि बाँधने का तस्मा किया है (ए रूरल एण्ड एग्रीकल्चरल ग्लासरी, पृ. 91)। जियाउद्दीन बरनी ने तारीखे फिरोजशाही में अलाउद्दीनकालीन वस्त्रों के विवरण में बुरदा नामक वस्त्र को 'दवाले लाल' अर्थात् लाल डोरियों का धारीधार कपड़ा लिखा है (सैयद अतहर अब्बास रिजीव, खिलजी कालीन भारत, पृ. 82, तारीखे फिरोजशाही का हिन्दी अनुवाद)। इन अर्थों पर विचार करने से मुझे निश्चय हो गया कि प्रस्तुत प्रसंग में डोरी का वाचक दुआल शब्द नितान्त क्लिष्ट पाठ था, और वही कविकृत मूल पाठ था। पद्मावत की एक ही हस्तलिखित प्रति में अभी तक यह शुद्ध पाठ प्राप्त हुआ है (गोपालचन्द जी को फारसी लिपि की प्रति जो बहुत सुलिखित है—यही गुप्त जी की 'च'। प्रति है)। सम्भव है भविष्य में किसी और अच्छी प्रति में भी यह पाठ मिल जावे। रामपुर की प्रति का पाठ इस समय विदित नहीं है। इस प्रकार इस पंक्ति का कविकृत पाठ यह हुआ—

सांस दुआलि मन मथनी गाढ़ी। हिए चोट बिनु फूट न साढ़ी॥

सांस दुआली या डोरी है। शुक्लजी ने 'डांडि' पाठान्तर को प्रसंगवश डोरी अर्थ में ही लिया है पर डांडि पाठ किसी प्रति में नहीं मिला। मूल पाठ दुआलि होने में सन्देह नहीं। सांस का ठीक उपमान डोरी ही हो सकती है दहेंडि नहीं।[1]

इसमें डॉ. अग्रवाल ने एक 'बाह्य' सम्भावना से 'दुआलि' पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है। डॉ. गुप्त ने ग्रन्थों में प्राप्त किसी पाठान्तर को ठीक नहीं माना, और 'दहेंडि'

---

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)— पद्मावत (प्राक्कथन), पृ. 26।

की कल्पना 'अर्थ-न्यास' के आधार पर की। यह प्रयत्न पाठालोचन के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल नहीं।

पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'शब्दों' को तत्कालीन 'रूप' और 'अर्थों' से भी पुष्ट करने की आवश्यकता है। जैसे 'पद्मावत' के अनेक शब्दों के अर्थ 'आईने अकबरी' के द्वारा पुष्ट होते हैं। इसी प्रकार से अन्य समकालीन कवियों की शब्दावली अथवा तत्कालीन नाममालाओं से 'शब्दों' की पुष्टि की जा सकती है।

पाठ-सिद्धान्त निर्धारित हो जाने के बाद, जिसका पूर्ण विवेचन ऊपर लिखे ढंग से आरम्भ में किया जाना चाहिये, एक पृष्ठ पर एक छन्द रहना चाहिये और उसके नीचे जितने भी पाठान्तर मिलते हैं वे सभी दे दिये जाने चाहिये। पाठान्तर किस-किस प्रति के क्या-क्या हैं, इसका भी संकेत रहना चाहिये। डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराज रासउ' से एक उदाहरण लेकर इस बातं को भी स्पष्ट किया जा सकता है।

साटिका— [1]छन्त या[2] मद गंध घ्राण* लुब्धा[3] आलि भूरि[4] आच्छादिता[5]। (1)
गुंजाहार आधार[1] सार गुन या[2] रुंजा पया[3] भासिता। (2)
अग्रे या[2] स्तुति कुंडला[2] करि नवं[3] तुंडीर[4] × उद्धारया[5] ×। (3)
सोंयं पातु गणेस सेस सफलं[1] प्रिथिराज काव्ये हितं[2]। (4)

पाठान्तर— × चिह्नित शब्द धा. में नहीं है।
* चिह्नित शब्द नां. में नहीं है।

(1) 1. मो. में यहाँ 'पुन' है, जो अन्य किसी प्रति में नहीं है। 2. धा. या, मो. जां. शेष में 'जा'। 3. मो. रागुरु वांश, धा. गंधरसिका, स. राग रुचयं म.अ. घ्राण (घ्रान-म.) लुब्धा, ना-लुब्धा। 4. मो. भार, ना. अ. भोर स. भूर. म. भौंर। 5. म. आच्छादितं।

(2) 1. मो. आधार, स. आधार, ना. म. अ. बिहार (तुल. अगले छन्द का चरण।) 2. मो. गुनीजा, धा. गुनीजा, म. गुनया, ना. अ. गुणजा। 3. मो. झंच. पया. धा. रुंजा पिया, अ. रुंजा पया, ना. रंजा पया झंझा पया।

(3) 1. धा. म. या, शेष में 'जा'। 2. मो. सुत कुंडलं। 3. मो. नवुं धा. नवं, ना. णव, अ.फ. करा, म. करि., सं. कर। 4. मो. थुंडीर, अ. तुद्धीर, म. जुदीर, नां थुदीर। 5. मा. उदारवं।

(4) 1. मो.सं. सेस सफलं (शेष सफलं-मो.) धा. सतत फल., अं. ना. सेवित फलं। 2. मो. काव्यहितं, मं स, काव्यं कृतं।[1]

इसमें ऊपर प्रामाणिक पाठ दिया हुआ है। नीचे 'पाठान्तर' शीर्षक से मूल प्रामाणिक पाठ के शब्दों से भिन्न शब्द रूपों का उल्लेख किया गया है, और साथ में प्रति संकेत दिया गया है 'धा' 'ना' 'यो' 'स' 'व', 'अ' 'फ'— ये अक्षर प्रतियों के संकेताक्षर हैं।

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—पृथ्वीराज रासउ, पृ. 3।

प्रामाणिक पाठ निर्धारित करने में बहुत-सी सामग्री 'प्रक्षेप' के रूप में अलग निकल जाएगी। उस सामग्री को ग्रन्थ में 'परिशिष्ट' रूप में, उसके पाठ को भी यथासम्भव प्रामाणिक बनाकर दे देना चाहिये। इस प्रकार इस समस्त सामग्री को सजा देने में सिद्धान्त यह है कि 'पाठालोचक' की वैज्ञानिक कसौटी में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो विद्वान पाठक अपनी कसौटी से समस्त सामग्री की स्वयं जाँच कर सके। अनुसन्धानकर्ता का और कोई आग्रह नहीं होता, अतएव भूलचूक के लिए वह स्वयं समस्त सामग्री और समस्त प्रक्रिया को विज्ञ पाठक के समक्ष रख देता है।

पाठानुसन्धान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि 'अर्थ-न्यास' का पाठालोचन में क्या महत्त्व है?

यों तो यह सत्य है कि किसी भी कृति का पाठ उसका अर्थ प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है। विकृत पाठ से अपेक्षित अर्थ नहीं पाया जा सकता, ऐसे अर्थ को प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता। पाठालोचन का महत्त्व ही इसी अर्थ के लिए है पर यथार्थ यह है कि पाठालोचन प्रक्रिया में 'अर्थ' का विशेष महत्त्व नहीं हो सकता। घह सहायक अवश्य है। 'शब्द' के अर्थ का ज्ञान अध्ययन परिमाण-सापेक्ष्य है। यदि 'क' का ज्ञान बहुत सीमित है तो कभी-कभी वह एक क्षेत्र के बहुप्रचलित शब्द का अर्थ भी नहीं जानेगा और अर्थ को दृष्टि में रखेगा तो अपने सीमित ज्ञान से त्रुटिपूर्ण संशोधन कर देगा। जैसे यदि कोई ब्रज में प्रचलित 'हटरी' से परिचित नहीं है तो वह सूरसागर में इस शब्द को 'हट री' (हटरी) कर सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में 'हटरी' कोई शब्द ही नहीं। पाठालोचनकार भी शब्दों के समस्त अर्थों से परिचित होगा, विशेषत: कृतिकालीन अर्थ से यह सम्भव नहीं। अत: पाठ विज्ञान से जो रूप निर्धारित हो उसे ही रखना चाहिये, क्योंकि कोई ऐसा शब्द हो सकता है, जिसका अर्थ आगे ज्ञान-वर्द्धन के साथ प्राप्त हो। जैसे सांस दुआलि के उदाहरण से सिद्ध है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी ग्रन्थ की अन्य प्रतियाँ न मिलती हों, केवल एक ही प्रति उपलब्ध हो, और वह लेखक के हाथ की प्रति न हो तो क्या उसका भी सम्पादन हो सकता है? सामान्य पाठालोचक कहेगा कि नहीं हो सकता।

किन्तु मैं समझता हूँ कि उसका भी सम्पादन या पाठालोचन हो सकता है। ऐसे ग्रन्थ के सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक बाह्य साक्ष्य से यह जाना जाय कि ग्रन्थ का रचना-काल क्या था, ग्रन्थ कहाँ लिखा गया? क्या एक ही स्थान पर लिखा गया? या, कवि घूमता-फिरता रहा, अत: ग्रन्थ का कुछ अंश कहीं लिखा गया, कुंछ कहीं फलत: कागज बदला, स्याही बदली। जिस स्थान पर कवि रहता था, वहाँ का वातावरण कैसा था? किस प्रकार की भाषा उस क्षेत्र में बोली जाती थी। ऐसे कवि कौनसे हैं जिनसे उसके रचयिता का परिचय था। उसके क्षेत्र में और काल में कौनसे ग्रन्थ लिखे गये और उनकी भाषा तथा शब्दावली कैसी थी? आदि बातों का सम्यक् पता लगाये। ये बाह्य साक्ष्य इस पाठालोचन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

किन्तु ऐसे पाठालोचन के लिए बाह्य साक्ष्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है अन्तरंग का ज्ञान कुछ ऐसी ही प्रक्रियाओं से पाठ के उद्घाटन में काम लेना होता है। जिनका उपयोग इतिहास-पुरातत्वान्वेषी शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के पाठ के उद्घाटन के लिए करते हैं।

इसमें 'अर्थ-न्यास' को अवश्य महत्त्व देना होगा क्योंकि उसी का अनुमान सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के उपरान्त लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करने से शब्दावली और वाक्य-पद्धति का भी संशोधक को इतना परिचय हो जाता है कि वह संदिग्ध अथवा त्रुटित स्थलों की पूर्ति प्राय: उपयुक्त शब्द या वाक्य से कर सकता है। ऐसे अनुमान को सदा कोष्ठकों ( ) में बन्द करके रखना चाहिये। इन कोष्ठकों से यह पता चल सकेगा कि ये स्थल सम्पादक के सुझाव हैं।

ऐसे पाठ निर्धारण में सांख्यिकी (Statistics) का भी उपयोग हो सकता है। शब्दों के कई रूप मिलते हों उनमें कौनसा रूप लेखक का अपना प्रामाणिक हो सकता है इसकी कसौटी सांख्यिकी द्वारा आवृत्ति निर्धारित करके की जा सकती है। सांख्यिकी से ऐसे शब्दों के विविध रूपों की आवृत्तियाँ (Frequencies) देखी जा सकती हैं।

जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जा रहा है, उसकी भाषा का व्याकरण भी बना लेना चाहिये। इसके द्वारा वाक्य रचना के प्रामाणिक आदर्श स्वरूप की परिकल्पना हो सकती है। यदि इसके रचयिता की कोई अन्य कृति मिलती हो तो उससे तुलनात्मक इस ग्रन्थ के पाठ के कितने ही संदिग्ध स्थलों को प्रामाणिक बनाया जा सकता है।

ऐसे ग्रन्थों में शब्दानुक्रमणिका देना उपयोगी रहता है।

पाठानुसंधान (Textual Criticism) भाषा-विज्ञान (Linguistics) का महत्त्वपूर्ण अंग है। अत: इसके सिद्धान्त वैज्ञानिक हो गये हैं। ऊपर उसी वैज्ञानिक पद्धति पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

इस वैज्ञानिक पद्धति के प्रचलन से पूर्व हमें पाठ-सम्पादन के कई प्रकार मिलते हैं।

एक पद्धति तो सामान्य पद्धति थी—किसी ग्रन्थ की एक प्रति मिली, उसके ही आधार पर 'प्रेस-कापी' तैयार कर दी गई। हस्तलिखित ग्रन्थों में शब्द-शब्द में अन्तर नहीं किया जाता था। एक शीर्ष-रेखा से शब्द-शब्द को जोड़कर लिखा जाता था, यथा—

आगेचलेबहुरिरघुराई
ऋष्यमूकपर्वतनियराई

इस पद्धति का सम्पादक जो अधिक से अधिक कर सकता है वह यह है कि अपनी बुद्धि का उपयोग करके चरण-बन्ध को तोड़कर 'शब्द-बन्ध' से पाण्डुलिपि प्रस्तुत कर दे। यह शब्द 'बन्ध' वह अपने शब्दार्थ ज्ञान के आधार पर ही करता था। स्पष्ट है कि ऐसे सम्पादन का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नहीं। पर किसी अच्छी प्रति का ऐसा पाठ भी प्रकाशित हो जाय तो यह महत्त्व तो उसका है ही कि एक अच्छा ग्रन्थ प्रकाश में आया।

दूसरी पद्धति को पाठान्तर पद्धति कह सकते हैं। पाठ संशोधक एकाधिक ग्रन्थ एकत्र कर लेता है। उन ग्रन्थों में से सरसरे अध्ययन के उपरान्त जो अर्थ आदि की कसौटी पर ठीक प्रतीत हुआ, उसे मूल पाठ मान लिया और नीचे पाद टिप्पणियों में अन्य ग्रन्थों से पाठान्तर दे दिये। वैज्ञानिक पाठालोचन पाठान्तर देने का भी क्रम रहता, इस पद्धति में वैसा नहीं होता।

तीसरी पद्धति को भाषा-आदर्श पद्धति कह सकते हैं। इस पद्धति में जिस ग्रन्थ का सम्पादन करना है उसकी वर्तनी के रूपों का निर्धारण और व्याकरण विषयक नियमों का निर्धारण उस ग्रन्थ का अध्ययन करके और उस कृति की और उस काल की अन्य रचनाओं से तुलनापूर्वक कर लिया जाता है। इस प्रकार उस ग्रन्थ की भाषा का आदर्श रूप खड़ा कर लिया जाता है और उसी के आधार पर पाठ का संशोधन प्रस्तुत कर दिया जाता है।

इन पद्धतियों का वैज्ञानिक पद्धति के समक्ष क्या मूल्य हो सकता है, सहज ही समझा जा सकता है।

पाठ-निर्माण

पाठ का पुनर्निर्माण, वह भी प्रामाणिक निर्माण, भी पाठालोचन का ही एक पक्ष है। एजरटन महोदय ने पंत्रतंत्र के पाठ का पुनर्निर्माण किया था। पाठ-निर्माण में उनका कार्य आदर्श कार्य माना गया है।

एजरटन महोदय ने 'पंचतंत्र पुनर्निर्मित' नामक ग्रन्थ में विविध क्षेत्रों से प्राप्त पंचतंत्र के विविध रूपों को लेकर उनमें पाये जाने वाले अन्तरों और भेदों की दृष्टि से रख कर उसके 'मूलरूप' का निर्माण करने का प्रयत्न किया। पंचतंत्र के विविध रूपान्तरों में कहानियों में आगम, लोप और विषयक मिलते हैं। प्रथम, प्रश्न यही उपस्थित होता है कि तब पंचतंत्र का मूलरूप क्या रहा होगा और उसमें कौन-कौनसी कहानियाँ थीं और वे किस क्रम में रही होंगी। यह माना जाता है कि विश्व में लोकप्रियता की दृष्टि से बाइबिल के बाद पंचतंत्र का स्थान है। इसी कारण पंचतंत्र के कितने ही संस्करण मिलते हैं। उनमें अन्तर है—अतः पंचतंत्र के मूलरूप का निर्माण करने की समस्या भी 'पाठालोचन' के अन्तर्गत ही आती है।

इसके लिए एजरटन[1] महोदय ने वंशवृक्ष बनाया। वह अगले पृष्ठ (274) पर है।

वंशवृक्ष

प्राचीनतर पंचतंत्र के संस्करणों के आन्तरिक सम्वन्ध दिखाने के लिए।

एजरटन महोदय ने 'पंचतंत्र' के पुनर्निर्माण में जिस प्रक्रिया का पालन किया है, उसकी चर्चा उन्होंने खण्ड 2 के तृतीय अध्याय में की है।

---

1. Edgerton, Franklin—The Panchatantra Reconstructed, Vol. II, p. 48
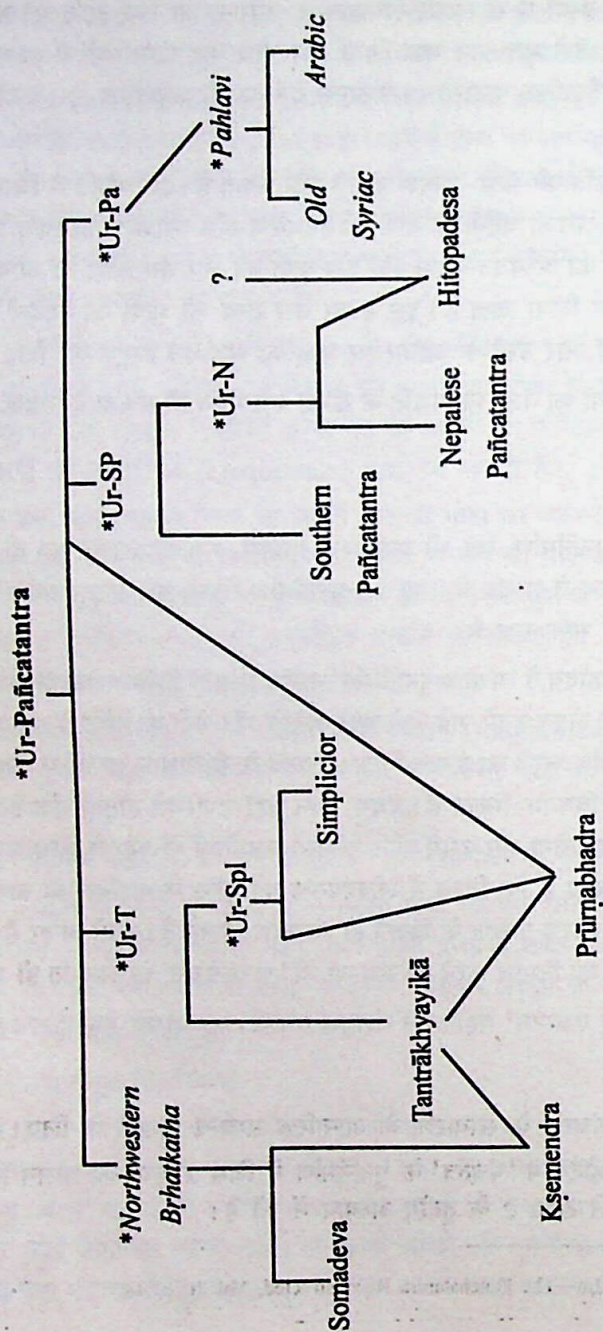
* Indicates hypothetical versions. Italics indicate translations into other language than Sanskrit

उनकी एक स्थापना यह है कि मूल (पंचतंत्र) के सम्बन्ध में उस समय तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता जब तक कि यह निर्धारित न हो जाय कि कौनसे संस्करण द्वितीय स्थानीय रूप में परस्पर अन्तरतः सम्बन्धित हैं।

दो संस्करणों में द्वितीय स्थानीय आन्तरिक सम्बन्ध (Secondary Interrelationship) से यह अभिप्राय है कि मूल पंचतंत्र के बाद के और उससे तुलना में द्वितीय स्थानीय (Secondary) प्रति की सर्वमान्य (Common) मूलाधार (Archetype) ग्रन्थ की प्रति से पूर्णतः या अंशतः उनकी उद्‌भावना या अवतीर्णता की स्थिति इस उद्‌भावना (Descent) या अवतीर्णता को सिद्ध करने के तीन ही मार्ग हैं—

एक—यह प्रमाण (सबूत) कि उन संस्करणों में ऐसी सामग्री और बातें प्रचुर मात्रा में है, जो मूल ग्रन्थ में हो सकती हैं। दो या अधिक संस्करणों में वह महत्त्वपूर्ण सामग्री और वे विशिष्ट बातें ऐसे रूप में और इतनी मात्रा में मिलती हैं कि यह सम्भावना की जा सकती है कि यह सामग्री मूल से ही अवतीर्ण की गयी है, और उन सभी संस्करणों में वे ऐसे स्थानों पर नियोजित हैं, जिन पर स्वतंत्र रूप से तैयार किया गया है, और वह किसी अन्य ग्रन्थ से अवतीर्ण नहीं हुआ है तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनमें दी गई कहानियाँ एक ही क्रम में और एक जैसे स्थलों पर ही नियोजित होंगी, ऐसा हो नहीं सकता। अतः यदि कुछ प्रतियों या संस्करणों में कहानियों का समावेश एक जैसे क्रम और स्थलों पर मिले तो यह मानना ही पड़ेगा कि उनका सम्बन्ध किसी मूल स्रोत से है।

दूसरे—यह प्रमाण कि कितने ही संस्करणों या प्रतियों या रूपों में परस्पर बहुत छोटी-छोटी महत्त्वपूर्ण बातों में साम्य नियमितता भाषागत रूप-विधान में मिलता है। साथ ही यह साम्य भी कि साम्य प्रचुर मात्रा में है और ऐसा है जिसे संयोग मात्र माना जा सकता। ऐसे अवतरणों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित होता है।

तीसरा—प्रमाण (सबूत) कुछ दुर्बल बैठता है। वह प्रमाण यह है कि जो रूप या संस्करण हमारे समक्ष हैं वे एक वृहद् पूर्ण संस्करण के अंश है, और वह संस्करण सर्व-सामान्य मूल का ही है।

एजरटन महोदय इन तीन कसौटियों में से पहली दो को अधिक प्रामाणिक मानते हैं, यदि इन तीनों से विविध प्रतियों का अन्तर सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता तो यह मानना होगा कि वे मूल पंचतंत्र की स्वतंत्र शाखाएँ हैं, जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं।

तब उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि यह कैसे माना जाय कि मूल में कोई 'पंचतंत्र' था भी, क्योंकि कहानियाँ लोक प्रचलित हो सकती हैं*, जिन्हें संकलित करके संग्रहकर्ताओं ने यह रूप दे दिया। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पंचतंत्र के जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं उनमें (1) वे सभी कहानियाँ समान रूप से विन्यस्त हैं, जिन्हें मूल माना जा सकता है। (2) और यह महत्त्वपूर्ण है कि वे सभी संस्करणों में एक ही क्रम में हैं तथा (3) अधिकांशतः कथा (Frame Story) समान हैं। (4) गर्भित कथाएँ अधिकांश संस्करणों में समान-स्थलों पर ही गुंथी हुई मिलती हैं। इन चारों बातों से सिद्ध होता है कि पंचतंत्रों में कहानियों के संग्रह का यह विशिष्ट विन्यास एक दैवयोग मात्र या

संयोग-मात्र नहीं हो सकता। इस कसौटी से वे कहानियाँ अलग छँट जाती हैं जो इन विविध संस्करणों के संग्रहकर्ताओं ने अपनी रुचि से कहीं अन्यत्र से लेकर सम्मिलित कर दी हैं।

इन समस्त कसौटियों से अधिक प्रामाणिक कसौटी है सभी मूल कहानियों की भाषा और मुहावरे का साम्य। स्पष्ट है कि तब तक इतने संस्करणों में भाषा-साम्य नहीं हो सकता, जब तक कि वे किसी एक मूल से प्रतिलिपि मूल संस्करण से प्रतिलिपि रूप में प्रस्तुत न किये गये हों।

इन कसौटियों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि एक मूल ग्रन्थ अवश्य था। यह भी है कि—

(1) जो बातें सभी संस्करणों या ग्रन्थों में समान हैं, वे मूल में होनी चाहिये।

(2) यदि कुछ बातें किन्हीं एक दो पुस्तकों में छूट भी गई हों तो, उनका कोई महत्त्व नहीं।

(3) कुछ अत्यन्त सूक्ष्म बातें यदि स्वतंत्र संस्करणों की अपेक्षाकृत कम संख्या में समान रूप से मिलती हों, तब भी उन्हें अनिवार्यत: मूल का नहीं माना जा सकता।

(4) कुछ स्वतंत्र संस्करणों में यदि अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण बातें समान रूप से मिलती हैं तो यह अधिक सम्भावना है कि वे मूल से ही आयी हैं। इनके सम्बन्ध में यह धारणा समीचीन नहीं मानी जा सकती कि इनका समावेश यों ही स्वतंत्र रूप से हो गया है, क्योंकि ये अन्य स्वतंत्र संस्करणों में नहीं मिलती। वरन् यह मानना अधिक संगत होगा कि ऐसी विशिष्ट महत्त्वपूर्ण बातें अन्यों में छोड़ दी गई हैं।

(5) यदि पूरी की पूरी कहानियाँ कितनी ही स्वतंत्र प्रतियों में समानरूपेण समाविष्ट मिलती हैं, और वे भी प्राय: सभी में एक ही जैसे स्थलों पर, तो वे भी भूल से आयी माननी होगी। यदि बड़ी कहानियाँ स्वतंत्र रूप से कहीं किसी कहानी में जोड़ी गयी होंगी तो उसकी स्थिति बिल्कुल भिन्न होंगी। प्रथम स्थिति में कहानी जहाँ स्वाभाविक रूप से अपने स्थान पर जुड़ी समीचीन प्रतीत होगी, वहाँ दूसरी स्थिति में वह थेगरी (Patch) जैसी लगेगी। एजरटन से ये कुछ प्रमुख बातें हमने यहाँ दी है। जो बातें पंचतंत्र के पाठ के पुनर्निर्माण के लिए दी गयी हैं, वे किसी भी ग्रन्थ के पुनर्निर्माण में, उस ग्रन्थ के रूप में और विषय के अनुसार उचित संशोधन-पूर्वक उपयोग में लायी जा सकती हैं। पूर्व में दी गई पाठालोचन-प्रक्रिया भी ऐसी पाठालोचन में उपयोग में लानी ही पड़ेगी, क्योंकि एजरटन ने भी भाषा (Verbal) पक्ष को पूरा महत्त्व दिया है।

पाठालोचन या पाठ की पुनर्ररचना या पुनर्निर्माण में कुछ और पक्ष भी हैं, उन पक्षों के लिए ठोस-वैज्ञानिक-पद्धति स्थापित हो चुकी है। इनमें से कुछ का उल्लेख

संक्षेप में डॉ. छोटे लाल शर्मा ने अपने निबन्ध 'हिन्दी-पाठ-शोधन विज्ञान' में संक्षेप में यों किया है—

कवि विशेष की व्यक्तिगत भाषा (Ideolect) को समझने-परखने के और भी तरीके हैं—

(1) **हर्डन की सांख्यिकीय पद्धति**—हर्डन प्रयोगावृत्ति की शैली का प्रधान लक्षण स्वीकार करता है। उसका कहना है कि जब दो लेखकों में एक ही प्रकार की प्रयोगावृत्ति दीख पड़ती है तो उसकी शक्ति और क्षमता की पुष्टि की सम्भावना बढ़ जाती है। उसकी यह सहज स्वीकृति है कि भाषा में नियम और आकस्मिकता—दोनों ही तत्त्व काम करते हैं, यहाँ तक कि शब्दों के चुनाव में भी आकस्मिकता का आग्रह रहता है। यह आकस्मिकता समसामयिक लेखकों की तुलना के अनन्तर ग्रन्थ-विशेष की आकस्मिक प्रयोगावृत्ति से स्पष्ट होती है जो पाठ-शोध में ही नहीं रचनाओं के कालक्रमिक निर्णय एवं पाठ-प्रामाणिकता आदि में विशेष सफल एवं उपादेय सिद्ध होती है।

(2) **तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक पद्धति**—उक्त पद्धति में छन्द पर विशेष विचार किया जाता है। परिणामत: भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है और लुप्तप्राय: भाषाओं के उच्चार का आनुमानिक पुनरुद्धार प्रयोगवादी स्वन-वैज्ञानिकों ने छंद निर्माण की व्याख्या अनुतान की अभिरचना के आधार पर की है जो उस भाषा के बोलने वाले प्रयोग में लाते हैं। छंदों का अध्ययन तीन रूपों में किया जाता हैं—(1) लेख वैज्ञानिक, (2) संगीतात्मक, और (3) ध्वनिक। लेख-विज्ञान में ठीक-ठीक ध्वनियों एवं अनुतानों का प्रयोग संगीतात्मक रूप में होता है। संगीतात्मक-अध्ययन में छंद संगीत की लय के सदृश होता है जिसका ज्ञापन संगीत-चिह्नक के द्वारा हो सकता है। यह पद्य के आत्म-परकतालोकन के झुकाव को समृद्ध करता है। ध्वनिक अध्ययन स्वराघात, प्रबलता तथा संधि को विभक्त करता है और अर्थ पर कोई ध्यान नहीं देता है। यह पद्य की ध्वनि का अनुक्रम स्वीकार करता है और अर्थ तथा शब्द एवं वाक्यांश सीमा (Boundary) के लिए परेशान नहीं होता है। इस प्रकार भाषा के खण्डेतर पुन: निर्माण के अनन्तर खण्डीय पुनर्निर्माण सरल हो जाते हैं क्योंकि खण्डेतर ध्वनि विस्तार खण्डीय ध्वनियों के संयोग से नियामक होते हैं। त्रुटियाँ प्राय: विपरीत दिशा से पुनर्निर्माण के कारण होती हैं।

(3) **संकल्पनात्मक पद्धति**—उक्त पद्धति में अभिव्यंजना की इकाइयों को पार्यतिक रूप में संक्षिप्त किया जाता है और तब तर्क-संगत प्रमेयों का सरलीकरण प्रारम्भ होता है जो कहानी के अभिप्राय-परिगणन में सहायक होते हैं, जिसके सहारे कथ्य की तुलना की जाती है। काव्य में वे परिवेश के ग्रहण के तरीके को बताते हैं जिससे कविता का निर्माण होता है। इस प्रकार पाठ के संक्षिप्तीकरण

से अलंकरण-कोटि, निर्माण कला एवं रचनाकार की वैयक्तिक शैली स्पष्ट हो जाती है। यह पद्धति सूक्ष्म संरचनात्मक संक्राम्य पद्धति से अनेक रूपों में भिन्न है। सूक्ष्म संरचना एक धारणा मात्र है जो भाषा-विशेष के वाक्यों की प्रजनक होती है। व्याकरण की सरलता से इसकी प्रकृति एवं अवयवों का निर्धारण होता है। संकल्पनात्मक प्रतिमान भावानयन है जो एक ही विषय से सम्बद्ध एक या अनेक वाक्यों के संक्षिप्तीकरण से उत्पन्न होता है। सूक्ष्म संरचना में हर शब्द की कैफियत तलाश करनी होती है लेकिन संकल्पनात्मक प्रतिमान परिवर्त्य सम्बन्धों के संक्षिप्तीकरण का उद्धरण मात्र है। फिर सूक्ष्म संरचना में भावानयन क्रमशः नहीं होता है, जबकि संकल्पनात्मक में क्रमशः होता है।

इन तीनों पद्धतियों के योग से कथ्य एवं भाषा दोनों का पुनः निर्माण प्रामाणिक रूप से सम्भव है और विकृतियों का निराकरण अत्यन्त सरल एवं सफल।[1]

❑❑❑

1. शर्मा, छोटेलाल (डॉ.)—हिन्दी पाठ-शोधन विज्ञान-विश्वभारती पत्रिका (खण्ड 13, अंक 4), पृ. 330।

7

काल निर्धारण

पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर पहली समस्या तो उसे पढ़ने की होती है। इसका अर्थ है—'लिपि का उद्‌घाटन'। इस पर पहले 'लिपि समस्या' वाले अध्याय में चर्चा हो चुकी है।

दूसरी समस्या उस पाण्डुलिपि के काल-निर्धारण की होती है। प्रश्न यह है कि काल-निर्धारण की समस्या खड़ी क्यों और कैसे होती है?

हमें जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें 'काल' की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है—

एक वर्ग उन पाण्डुलिपियों का है जिनमें 'काल-संकेत' दिया हुआ है।

दूसरा वर्ग उनका है जिनमें काल-संकेत का पूर्णत: अभाव है।

'काल-संकेत' से समस्या

सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि जिस पाण्डुलिपि में काल-संकेत हैं, उसके सम्बन्ध में तो कोई समस्या उठनी ही नहीं चाहिये। किन्तु वास्तव में काल-संकेत के कारण अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं और कोई-कोई समस्या तो ऐसी होती है कि सुलझने का नाम ही नहीं लेती। उदाहरणार्थ—पृथ्वीराज रासो में संवतों का उल्लेख है। उनको लेकर विवाद आज तक चला है।

'काल-संकेत' के प्रकार

वस्तुत: समस्या स्वयं 'काल-संकेत' में ही अन्तर्मुक्त होती है, क्योंकि 'काल-संकेत' के प्रकार भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिए काल-संकेत के प्रकारों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

'संकेत-संकेत' का पहला प्रकार हमें अशोक के शिलालेखों में मिलता है। वह इस रूप में है—

द्वादसवसामि सितेन मया इदं आजापितं

इसमें अशोक ने बताया है कि मैंने यह लेख अपने राज्याभिषेक के 12वें वर्ष में प्रकाशित कराया।

अन्य लेखों में 'मया', 'मेरे द्वारा' या 'मैंने' के स्थान पर 'देवनां प्रिय' या 'प्रियदर्शी' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है; पर प्राय: सभी 'काल-संकेतों' का प्रकार यही है कि काल-गणना अपने अभिषेक वर्ष से बतायी गयी है, यथा—राज्याभिषेक के आठवें/इक्कीसवें वर्ष में लिखाया, आदि।

अत: काल-संकेत का पहला प्रकार यह हुआ कि अभिलेख लिखाने वाला राजा काल-गणना के लिए अपने राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख कर देता है।[1] इस प्रकार को 'राज्यवर्ष' नाम दे सकते हैं।

अशोक के लेखों में केवल राज्याभिषेक के 'वर्ष' का आठवाँ, बारहवाँ, बीसवाँ वर्ष आदि दिया हुआ है। शुंगों के शिलालेखों में भी 'राज्यवर्ष' ही दिया गया है।

आन्ध्रों के शिलालेखों में 'काल-संकेत' में कुछ विस्तार आया है। उदाहरणार्थ—गौतमी पुत्र सातकर्णि के एक लेख से काल-संकेत यों है—

"सवछरे, 10 + 8 कस परवे 2 दिवसे"

इसका अर्थ हुआ कि 18वें वर्ष में वर्षा ऋतु के दूसरे पाख का पहला दिन।

यहाँ 18वां वर्ष गौतमी पुत्र सातकर्णि के राजत्व-काल का है।

इसमें केवल राज्याभिषेक से वर्ष-गणना का ही उल्लेख नहीं वरन् ऋतु पक्ष तथा दिन या तिथि का भी उल्लेख है।

'सबच्छर'/संवत्सर शब्द वर्ष के लिए आया है। इस समय भी राज्य वर्ष का ही उल्लेख मिलता है, यों तिथि-विषयक अन्य ब्यौरे इसमें हैं। ऋतुओं का उल्लेख हैं, मास का नहीं।

पाख (पक्ष) का उल्लेख है, प्रथम या द्वितीय पाख का। दिवस का भी उल्लेख है।

तब महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जयिनी के महाक्षत्रपों के शिलालेख आते हैं। इन्होंने ही पहले ऋतु के स्थान पर मास का उल्लेख किया "बसे 40 + 2 वैशाख मासे"।

इन्होंने ही पहले मास से बहुल (कृष्ण) या शुद्ध (शुक्ल) पक्ष का सन्दर्भ देते हुए तिथि दी "वर्ष द्विपंचाशे 50 + 2 फगुण बहुलस द्वितीय वारे।" इस उद्धरण में 'वार' शब्द का भी पहले-पहल प्रयोग हुआ है, दिवस आदि के लिए, 'मार्ग शीर्ष बहुल प्रतिपदा' में 'प्रतिपदा' या 'पड़वा' तिथि है, कृष्ण अथवा बहुल पक्ष की। इनके किसी-किसी शिलालेख में तो नक्षत्र का मुहूर्त तक दे दिया गया है, यथा—

"बैशाख शुद्धे पंचम—धन्य तिथौ रोहिणी नक्षत्र मुहूर्ते"

---

1. अशोक के अभिलेख प्राचीनतम अभिलेख हैं। बस एक शिलालेख ही ऐसा प्राप्त हुआ है जो अशोक से पूर्व का माना जाता है। यह लेख अजमेर के अजायबघर में रखा हुआ है और बदली से प्राप्त हुआ था। इसमें भी दो पंक्तियों में काल संकेत हैं। एक पंक्ति में 'वीराय भगवत' और दूसरी में 'चतुरासीति बस'। निष्कर्षत: यह वीर या महावीर के निर्वाण के चौरासीवें वर्ष में लिखा गया। अशोक पूर्व का लेख ओझाजी द्वारा विशिष्ट बताया गया है क्योंकि यह वीर-निर्वाण से काल-गणना देता है।

पहले इन्हीं के शिलालेखों में नियमित संवत् वर्ष का उल्लेख हुआ, और उसके साथ राज्यवर्ष का उल्लेख भी कभी-कभी किया गया, यथा--

श्री-धरवर्मणा..........स्वराज्याभि वृद्धि करे वैजयिके संवतत्सरे त्रयोदशमे।

श्रावण बहुलस्थ दशमी दिवसं पूर्वक मेत.........20 + 1 अर्थात् श्रीधरवर्मा के विजयी एवं समृद्धिशाली तेरहवें राज्य वर्ष में और 201वें (संवत्) में श्रावण मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन.....' विद्वानों का मत है कि राज्यवर्ष के अतिरिक्त जो वर्ष 201 दिया गया है वह शक संवत् ही है। यह द्रष्टव्य है कि 'शक' या 'शाके' शब्द का उपयोग नहीं किया गया, केवल 'वर्ष या संवत्सरे' से काम चलाया गया है।

संवत् के लेख के साथ 'शक' शब्द संवत् 500 के शिलालेखों से जुड़ा हुआ मिलता है। शक संवत् जिस घटना से आरम्भ हुआ वह 78 ई. में घटी। वह थी चष्टण द्वारा अवन्ति की विजय। इसी विजय के उपलक्ष्य में अवन्ति में 78 ई. में यह संवत् आरम्भ हुआ जिसे आरम्भ में बिना नाम के काम में लिया गया। इसके बाद 500वें वर्ष के शक या शाके शब्द का प्रयोग नियमित रूप से होने लगा। शक सं. 500 से 1263 तक के शिलालेखों में वर्ष के साथ नीचे लिखी शब्दावली का प्रयोग किया गया—

(1) शकनृपति राज्याभिषेक संवत्सर

(2) शकनृपति संवत्सर

(3) शकनृप संवत्सर

(4) शकनृपकाल

(5) शक-संवत

(6) शक

(7) शाक[1]

स्पष्ट है कि आरम्भ में 'राज्य वर्ष' के रूप में इसे शकनृपति के राज्याभिषेक का संवत् माना गया। उस राज्याभिषेक का अभिप्राय शकों की विजय के उपरान्त हुए अभिषेक से था। इसी शंक संवत् के साथ शालिवाहन शब्द भी जुड़ गया और यह 'शाके शालिवाहन' कहलाने लगा। इस प्रकार यह दक्षिण तथा उत्तर में लोक-प्रिय हो गया। शिलालेखों में सबसे पहले हमें नियमित संवत् के रूप में शक संवत् का ही उल्लेख मिलता है। अत: 'काल संकेत' की एक प्रणाली तो राजा के शिलालेख यानी राजा द्वारा लिखाये गये शिलालेख के लिखे जाने के समय का उल्लेख उसी के राज्य के वर्ष के उल्लेख की प्रणाली में मिलता है, तब, नियमित संवत् देने की परिपाटी से दूसरे प्रकार का 'काल-संकेत' हमें मिलता है।

---

1. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, p. 191.

इन काल संकेतों से भी कुछ समस्याएँ प्रस्तुत होती हैं जिनमें से पहली समस्या राजा के अपने राज्य वर्ष के निर्धारण की है। अशोक के 8वें वर्ष में कोई शिलालेख लिखा गया तो अशोक के सन्दर्भ में तो उसके राज्यकाल के 8वें वर्ष का ज्ञान इस शिलालेख से हमें उपलब्ध हो जाता है किन्तु इतिहास के कालक्रम में किसी राजा का राज्य वर्ष किस प्रकार से अपने स्थान पर बिठाया जायेगा, यह समस्या खड़ी होती है। यह समस्या तब कुछ कठिन हो सकती है जब वह राजा कोई ऐसा राजा हो जिसके राज्यारोहण का वर्ष कहीं से भी उपलब्ध न होता हो। यथार्थ में ऐसे काल-संकेत से ठीक-ठीक काल निर्धारण ऐसी स्थिति में तभी हो सकता है कि जब राजा के राज्यारोहण-काल का ज्ञान हमें सन् संवत् की उस प्रणाली में उपलब्ध हो सके जिसे हम अपने सामान्य इतिहास में काम में लाते हैं। जैसे, आधुनिक इतिहास में हम ई. सन् का उपयोग करते हैं और उसी के आधार पर ई. सन् के पूर्व की घटनाओं को भी (ई. पू.) द्वारा द्योतित करते हैं।

जब 'काल-संकेत' दूसरी प्रणाली से दिया गया हो जिसमें किसी नियमित संवत् का निर्देश हो तो समस्या यह उपस्थित होती है कि उसे उस कालक्रम में किस प्रकार यथास्थान बिठाया जाय जिसका उपयोग हम वर्तमान समय में इतिहास में करते हैं। जैसे—अशोक के काल से पूर्व का लिखा जो एक शिलालेख अजमेर के बडली ग्राम में मिला उसमें 'वीराय भगवत' पहली पंक्ति है और दूसरी पंक्ति 'चतुराशि बसे' है, जिसका अर्थ हुआ कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 84वें वर्ष में। अब 84वें वर्ष का उल्लेख तो ऐसी घटना की ओर संकेत करता है जो एक प्रसिद्ध महापुरुष से जुड़ी हुई है, जिसके सम्बन्ध में उनके धर्म के अनुयायी जैन धर्मावलम्बियों ने निर्भ्रान्त रूप से 'महावीर संवत्' या 'वीर' निर्वाण संवत्' की गणना सुरक्षित रखी है। जैन लेखक अपने ग्रन्थों में निर्वाण संवत् का उल्लेख करते रहे हैं। श्वेताम्बर जैन मेरुतुङ्ग सूरि ने 'विचार श्रेणी' में बताया है कि 'महावीर संवत्' और विक्रम सं. में 470 वर्षों का अन्तर आता है। इस गणना से महावीर संवत् का आरम्भ 527 ई. पू. में हुआ, क्योंकि विक्रम संवत् का आरम्भ 57 ई.पू. में होता है और 470 वर्ष का अन्तर होने से 57 + 470 = 527 ई.पू. महावीर का निर्वाण संवत् हुआ। इस विधि से 3 संवतों का पारस्परिक समन्वय हमें प्राप्त हो जाता है। विक्रम संवत् का 'वीर निर्वाण संवत्' से और दोनों का परस्पर 'ई. सन्' से। यदि 'वीर निर्वाण' के वर्ष का ज्ञान संदिग्ध हो तो इस प्रकार का 'काल-संकेत' किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेगा। यह स्थिति किसी छोटे और अज्ञात राजा के राज्यारोहण काल की हो सकती है क्योंकि उसे जानने के कोई पक्के प्रमाण हमारे पास नहीं हैं, वही स्थिति कुछ ऐसे कम प्रचलित अन्य संवतों के सम्बन्ध में भी हो सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक राजा के राज्यारोहण के सन्दर्भ से काल के संकेत से अधिक उपयोगी काल-निर्धारण की दृष्टि से नियमित संवत् का उल्लेख होता है। यों मूलतः यह नियमित संवत् भी किसी घटना से सम्बद्ध रहता है, हम देख चुके हैं कि 'शक संवत्' शक नृपति के राज्यारोहण के काल का संकेत करता है, 'वीर संवत्' का सम्बन्ध महावीर 'निर्वाण' से है किन्तु 'शंक संवत्' नियमित हो गया क्योंकि यह सर्वजन मान्य हो गया है।

ऊपर काल-निर्धारण विषयक दो पद्धतियों का उल्लेख किया गया—(1) राज्यारोहाण के काल के आधार पर, तथा (2) नियमित संवत् के उल्लेख से।[1] किन्तु ऐसे लेख भी हो सकते हैं जिनमें न राज्यारोहण से वर्ष की गणना दी गई हो, न नियमित संवत् का ही उल्लेख हो। ऐसी दशा में लेखों में संदर्भित समकालीन राजाओं का व्यक्तियों के आधार पर कला-निर्धारण किया जाता है, यथा—अशोक के तेरहवें शिलालेख में अनेक समकालीन विदेशी शासकों के नाम आये हैं। यदि उनकी तिथियाँ प्राप्त हों तो अशोक की तिथि पाई जा सकती है। यूनानी राज अंतियोकास द्वितीय का उल्लेख है। इनकी तिथि ज्ञात है। ये ई.पू. 261-46 तक पश्चिमी एशिया के शासक थे। द्वितीय टॉलेमी का भी उल्लेख है जो उत्तरी अफ्रीका में ई.पू. 282-40 तक शासक था। इन समकालीन शासकों की तिथियों के आधार पर अशोक के राज्यारोहण का वर्ष ई.पू. 270 निकाला गया है।

इस प्रकार से तिथि निर्धारण करने में भी कठिनाइयाँ आती हैं—एक तो यह कठिनाई ठीक पाठ न पढ़े जाने से खड़ी होती है। गलत पाठ से गलत निष्कर्ष निकलेगा। 'हाथी गुम्फा' के लेख में एक वाक्य यों पढ़ा गया—"पनंतरिय सन् वस सते राज मुरिय काले।" स्तेन कोनो ने इसका अर्थ दिया मौर्य काल के 165वें वर्ष में। इसी के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक संवत् चलाया था जो मौर्य-संवत् (मुरिय काले) कहा गया। अब कुछ विद्वान् इस पाठ को ही स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में ठीक पाठ है—"पानतरीय सब सहसेहि, मुखिय कल वोच्छिन।" इसमें वर्ष या संवत् या काल का कोई संकेत नहीं। अब यह सिद्ध-सा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने कोई मौर्य-संवत् नहीं चलाया था।

किन्तु किसी न किसी 'काल-संकेत' से कुछ न कुछ सहायता तो मिलती ही है, और समकालिता एवं ज्ञात संवत् की पद्धति में सन्तोषजनक रूप में नियमित संवत् में काल-निर्धारित किया जा सकता है।

पर काल निर्धारित करने में यथार्थ कठिनाई तब आती है, जब कोई काल संकेत रचना में न दिया गया हो। अधिकांश प्राचीन साहित्य में काल-संकेत नहीं रहते। वैदिक साहित्य का काल-निर्धारण कैसे किया जाय। इतिहास के लिए यह करना तो होगा ही। इस प्रकार की समस्या के लिए वर्ण्य-विषय में मिलने वाले उन संकेतों या उल्लेखों का सहारा लिया जाता है, जिनमें काल की ओर किसी भी प्रकार से इंगित करने की क्षमता होती है। अब इस प्रकार से काल निर्धारण करने की प्रक्रिया को हम पाणिनि के उदाहरण से समझ सकते हैं—

---

1. नियमित संवत् का उल्लेख कुषाण नरेशों के समय से मिलता है। आरम्भ के संवत् वर्षों में संवत् का नाम नहीं दिया गया, पर यह निर्धारित हो चुका है कि वह शक-संवत् है जो 78 ई. से आरम्भ हुआ। इससे आगे द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय से गुप्तों के लेखों में जो वर्षों का निर्देश है वह भी राज्य—हर्ष का न होकर गुप्त-संवत् के वर्ष का है। यथा—भानुगुप्त का एरण स्तम्भ का लेख, इसमें 191वें वर्ष का उल्लेख किया गया है, यह 191वां गुप्त संवत् है।

—हर्षवर्धन की तिथियाँ 'हर्ष-संवत्' की सूचक हैं। नेपाल के लेखों में भी हर्ष-संवत् है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से उसकी रचना का 'काल-संकेत' नहीं मिलता। अतः अष्टाध्यायी में जो सामग्री उपलब्ध है उसी के आधार पर समय का अनुमान विद्वानों ने किया है। ये अनुमान कितने भिन्न हैं, यह इसी से जाना जा सकता है कि एक विद्वान ने उसे 400 ई. पू. माना। गोल्डस्टुकर ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के उपरान्त यह निर्धारित किया कि पाणिनि यास्क के बाद हुआ और बुद्ध से पूर्व था, क्योंकि अष्टाध्यायी से विदित होता है कि वह बुद्ध से परिचित नहीं था। आर.जी. भांडारकर यह मानते हैं कि पाणिनि दक्षिण भारत से अपरिचित थे, अतः इनकी दृष्टि में पाणिनि 7-8वीं शताब्दी ई.पू. में ही थे। 'पाठक' महोदय पाणिनि को महावीर स्वामी से कुछ पूर्व 'सातवीं' शताब्दी ई.पू. के अन्तिम चरण में मानते हैं। डी.आर. भांडारकर ने पहले सातवीं शताब्दी में माना, बाद में छठी शताब्दी ई.पू. के मध्य सिद्ध किया। चार पेंटियर पाणिनि को 550 ई.पू. में विद्यमान मानते हैं, बाद में इन्होंने 500 ई.पू. को अधिक समीचीन माना। ह्वोथलिंक ने 350 ई.पू. का ही माना है। वेवर ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र के भ्रमात्मक अर्थ के आधार पर पाणिनि को सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त का बताया।

ये सभी अनुमान अष्टाध्यायी की सामग्री पर ही खड़े किये गए हैं। ऐसे अध्ययन का एक पक्ष तो यह होता है कि पाणिनि किन बातों से अपरिचित था, जैसे—गोल्डस्टुकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद तथा षड्दर्शनों से परिचित नहीं थे। अतः निष्कर्ष निकला कि जिन बातों से वह परिचित नहीं वह उन बातों से पूर्व हुआ। तो वह उपनिषद् युग से पूर्व रहे होंगे।

इसका दूसरा पक्ष है कि वह किनसे परिचित था, यथा—ऋग्वेद, सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे। फलतः जिनसे परिचित थे उनकी समयावधि के बाद और जिनसे अपरिचित उनके लोक प्रचलित होने के काल से पूर्व पाणिनि विद्यमान रहे अर्थात् 400 ई.पू.।

अब गोल्डस्टुकर के इस निष्कर्ष को अमान्य करने के लिए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी से ही यह बताया है कि (1) पाणिनि, 'उपनिषद्' शब्द से परिचित थे, पाणिनि महाभारत से भी परिचित थे, वे श्लोक और श्लोककारों का उल्लेख करते हैं, नटसूत्र, शिशु क्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रनर्तनीय जैसे संस्कृत के महान काव्यों का भी ज्ञान रखते थे।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से इस तर्क को भी अमान्य कर दिया है कि पाणिनि 'दक्षिण' से अपरिचित थे। अन्तरयन देश, अश्मक, एवं कलिंग अष्टाध्यायी में आये हैं।

मस्करी परिव्राजकों के उल्लेख में मंखली गोसाल से परिचित थे। (पाणिनि) मंखली गोसाल बुद्ध के समकालीन थे। अतः इस सन्दर्भ से और कुमारश्रमण और निर्वाण जैसे शब्दों के अष्टाध्यायी में आने से बौद्ध-धर्म से उन्हें अपरिचित नहीं माना जा सकता।

श्रविष्ठा (या धनिष्ठा) को नक्षत्र-व्यूह में प्रथम स्थान देकर पाणिनि ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी कालावधि की निम्नस्थ तिथि 400 ई.पू. हो सकती है।

पाणिनि ने लिपि, लिपिकार, यवनानी लिपि तथा 'ग्रन्थ' शब्द का उपयोग किया है। यवनानी लिपि से कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में यवनों से परिचय सिकन्दर के आक्रमण से हुआ, अत: अष्टध्यायी में 'यवनानी लिपि' का आना यह सिद्ध करता है कि पाणिनि सिकन्दर के बाद हुए। पर यह 'यवनानी' शब्द आयोनियन (Ionian) ग्रीस निवासियों के लिए आया है, जिनसे भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से बहुत पहले था।

यहाँ काल-निर्धारण में अन्तरंग साक्ष्य का मूल्य बताने के लिए पाणिनि के सम्बन्ध में यह स्थूल चर्चा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के ग्रन्थ India as Known to Panini (पाणिनि कालीन भारत) के आधार पर की गई है। विस्तार के लिए यहीं ग्रन्थ देखें।

यहाँ हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस ग्रन्थ या ग्रन्थकार के समय निर्धारण में उसके ग्रन्थ में आयी सामग्री के आधार पर भी निर्भर किया जा सकता है। उसके ग्रन्थ के अध्ययन से एक ओर तो यह ज्ञात होता है कि वह किन बातों से परिचित नहीं था।[1] तथा दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि वह किन बातों से परिचित था।[2] फिर यह आवश्यक होता है कि इन दोनों की सप्रमाण[3] व्याख्या करके और उनके ऐतिहासिक काल के सन्दर्भ से उस कवि की समयावधि की ऊपरी काल-सीमा और निचली काल-सीमा सावधानीपूर्वक निर्धारित की जाय। इस सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुतियों की भी परीक्षा की जानी चाहिये। प्राचीन साहित्य, ग्रन्थ, हस्तलेख आदि के सम्बन्ध में इस 'अन्तरंग-साक्ष्य' की काल-गत परिणति की प्रक्रिया का बहुत सहारा लेना पड़ा है।

यह बात ध्यान में रखने की है कि अन्तरंग साक्ष्य या अन्तरंग संगत कथनों की कालगत परिणति प्रामाणिक और निर्भ्रान्त रूप से स्थापित की जाय, जैसे—'श्राविष्ठा' का आदि नक्षत्र के रूप में उल्लेख सिद्ध करता है। अत: तर्क और प्रमाण प्रबल होने चाहिए,

---

1. जैसे रुद्रट का समय निर्धारित करते हुए काणे महोदय ने बताया कि "वह ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णत: अपरिचित है।" अत: ध्वनिकार का समसामयिक था उससे कुछ पूर्व।
2. काणे महोदय ने बताया है कि रुद्रट की भामह और उद्भट से बहुत निकटता है। रुद्रट ने भामह, दण्डी एवं उद्भट से अधिक अलंकारों की चर्चा की है और इसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक है। किसी बात के विकास के चरणों के अनुमान को भी एक प्रमाण माना जा सकता है।
3. प्रमाण के लिए बाह्य साक्ष्य का उपयोग किया जाता है। काणे ने रुद्रट के सम्बन्ध में बताया है कि दसवीं शताब्दी के आगे के कितने ही लेखकों ने रुद्रट का उल्लेख किया है—"राजशेखर ने काव्य-मीमांसा" में काकु वक्रोर्क्तिनाम शब्दालंकारों मिति रुद्रट। रुद्रट के एक छन्द को भी उद्धृत किया है। प्रती हरिंदुराज ने बिना नामोल्लेख किये उसके छंद उद्धृत किए हैं। धनिक की 'दश रूपावलोकन टीका में उद्धृत है। लोचन में भी उल्लेख है। मम्मट ने रुद्रट का नाम लेकर आलोचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रुद्रट 800-850 ई. के बीच हुए।'

उदाहरणार्थ—यवनानी लिपि विषयक तर्क की आयोनियनों से भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से पूर्व से था, प्रबल और पुष्ट तर्क माना जा सकता है।

दुर्बल और असंगत तर्क आगे के विद्वानों द्वारा काट दिये जाते हैं। दूसरे प्रबल तर्क देकर काल-निर्धारण करने का प्रयत्न निरन्तर होता रहता है। जैसे—साहित्यदर्पण की भूमिका में काणे[1] महोदय ने लिखा है कि —Attempts are made to fix the age of both भामह and दण्डी by reference to parallel passages from early writers and it is argued that they are later than these poets. Unless the very words are quoted I am not at all disposed to attach the slightest weight to parallelism of thought. There is not monopoly in the realm of thought as was observed by the ध्वनिकार (iv II संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसामा)। काणे महोदय ने यहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि केवल विचार-साम्य काल निर्धारण में सहायक नहीं, समान वाक्यावली अवश्य प्रमाण बन सकती है पर केवल शब्दावली साम्य ही पर्याप्त नहीं, सन्दर्भगत अभिप्राय-साम्य भी हो तो प्रमाण अच्छा माना जा सकता है।

काल-संकेतों के रूप

काल निर्धारण में ऐसे लेखकों और ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो कठिनाई आती ही है, जिनके काल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु जहाँ काल-संकेत दिया गया है वहाँ भी यथार्थ काल निर्धारण में जटिल कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऊपर 'शिलालेखों' के काल-सन्दर्भ में हमने यह देखा था कि एक लेख में 'मुरिय' पढ़ा गया और उसका अर्थ लगाया गया 'मौर्य संवत्' जबकि कुछ विद्वान यह मानते थे कि यह पाठ गलत है, गलत पढ़ कर गलत अर्थ किया गया, अत: मौर्य संवत् की धारणा निराधार है। किन्तु शिलालेखों में 'अंक' भी कभी-कभी ठीक नहीं पढ़े जाते, इससे काल निर्धारण सदोष हो जाता है।[2]

हम यहाँ यह देखेंगे कि ग्रन्थादि में 'काल-संकेत' किस-किस प्रकार से दिये गए हैं? और उनके सम्बन्ध में क्या-क्या समस्याएँ खड़ी हुई हैं?

इतिहास से हमें विदित होता है कि सबसे पहले शिलालेख में जो अजमेर के पास बडली ग्राम में मिला था—

(1) अशोक से पूर्व में वीर संवत् (महावीर निर्वाण संवत्) का उल्लेख दिया।

(2) अशोक के अभिलेखों में राज्य-वर्ष का उल्लेख है।

---

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), p. 37.
2. देखिए—गुरु गुगा के पूर्वज का शिलालेख, शोध पत्रिका (वर्ष 22 अंक 1), सन् 1971 में श्री गोविन्द अग्रवाल का निबन्ध—'ओझा (बीकानेर) के कुछ संदिग्ध स्थल'।

(3) आगे शकों के समय में राज्य-वर्ष के साथ 'शक संवत्' का वर्ष दिया गया. हाँ, वर्ष संख्या के साथ 'शक' का नाम संवत् के साथ नहीं लगाया गया। बाद में 'शक' का नाम दिया।

(4) वर्ष या संवत्सर के साथ पहले ऋतुओं का उल्लेख एवं उनके पाखों का उल्लेख होने लगा। इसके साथ ही तिथि, मुहूर्त को भी स्थान मिलने लगा।

(5) बाद में ऋतुओं के स्थान पर महीनों का उल्लेख होने लगा। महीनों का उल्लेख करते हुए दोनों पाखों को भी बताया गया है। शुक्ल या शुद्ध और बहुल या कृष्णपक्ष भी दिया गया।

(6) इसी समय नक्षत्र यथा रोहिणी का समावेश भी कहीं-कहीं किया गया।

(7) वर्ष संख्या अंकों में ही दी जाती थी पर किसी-किसी शिलालेख में शब्दों के अंक बताये गए हैं।

(8) हिन्दी के एक कवि 'सबलश्याम' ने अपने ग्रन्थ का रचना-काल यों दिया है—

संवत सत्रह सै सोरह दस, कवि दिन तिथि रजनीस वेद रस।

माघ पुनीत मकर गत भानू

असित पक्ष ऋतु शिशिर समानू।

कवि ने इसमें संवत् दिया है—सत्रह सौ सोरह दस

1716 + 10 = 1726

यह विक्रम संवत् है, क्योंकि हिन्दी में सामान्यतः इसी संवत् का उल्लेख हुआ है। संवत् का नामोल्लेख न होने पर भी हम इसे विक्रम संवत् कह सकते हैं।

कवि ने तब दिन का उल्लेख किया है—'कवि दिन' का उल्लेख भी अद्‌भुत है। कवि दिन = शुक्रवार।

तिथि अंकों में न लिखकर शब्दों में बायी गयी हैं—

रजनीस	:	चन्द्रमा 1 +
वेद	:	4 +
रस	:	6 + = 11

अर्थात् एकादशी।
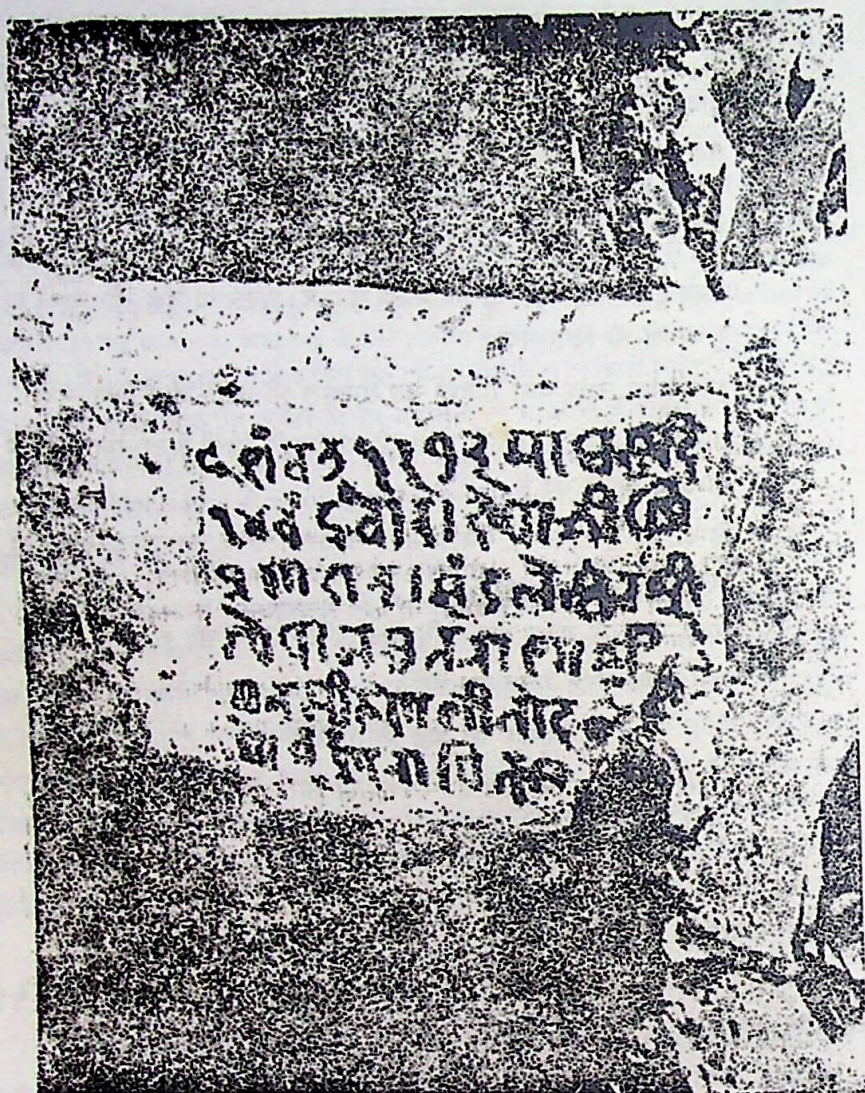
'ददरेवा' ग्राम में प्राप्त विद्यमान 'जैतसो' का शिलालेख

(जान कवि ने 'क्यामखा रासो' [सम्वत् 1273] में क्यामखानी चौहानों की वंशावली प्रस्तुत की है, उसमें गोगाजी व जैतसी का भी उल्लेख है। अत: इसके आधार पर जैतसी गोगाजी के वंश है।)

—माघ सुदि 14 चंद्रवार, (सम्वत् 1373)

माघ महीने के असित पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में ऋतु शिशिर, तथा—
भानु मकर के—यह पवित्र संयोग

इसमें कवि ने ऋतु का भी उल्लेख किया है और महीने का भी।

स्पष्ट है कि यह कवि सामान्य परिपाटी से अपने को भिन्न सिद्ध करने के प्रयत्न में है।

काल संकेत की सामान्य पद्धति यह है कि यदि कवि शब्दों में काल-संकेत देता है तो वह संवत् को शब्दांकों में रखता है, तिथि को नहीं। इस कवि ने तिथि को शब्दांकों में रखा है जो क्रमशः 1, 4, 6 होता है। अतः तीनों को जोड़कर (11) तिथि निकाली गयी। पर संवत् को अंकों में दिया है, उसे भी वैशिष्ट्य के साथ सत्रह सै सोरह दस। यहाँ भी संवत् जोड़ के प्राप्त होता है—संवत् सत्रह सै छब्बीस = 1726।

इस बात में भी यह अनोखा है कि इसमें महीना भी दिया गया है और ऋतु भी साथ है। यह पद्धति किसी-किसी अभिलेख में ही मिलती है।

काल-संकेत की यह एक जटिल पद्धति मानी जा सकती है।

सामान्य पद्धति

अब हम देखेंगे कि सामान्य पद्धति क्या होती है—सामान्य पद्धति में संवत् अंकों में किन्तु अक्षरों में दिया जायेगा। 1726 को अक्षरों में 'सत्रह सै छब्बीस' लिखा जायेगा। कहीं-कहीं पाण्डुलिपियों में संवत् को अक्षरों में देकर उसी के साथ अंकों में भी लिख दिया गया है, यथा 'सत्रह सै छब्बीस 1726' तिथि भी अंकों में अक्षरों के द्वारा अर्थात् ग्यारस (11)।

सामान्य रूप से संवत् और तिथि के साथ दिन का, महीने का और पक्ष का उल्लेख भी किया जाता है।

इस रूप के अतिरिक्त जो कुछ भी वैशिष्ट्य लाया जाता है, वह कवि-कौशल माना जायेगा।

यह सन्-संवत् रचना के काल के लिये ही नहीं दिया जाता, इससे लिपि-काल भी द्योतित किया जाता है, लिपिकर्ता भी अपना वैशिष्ट्य दिखा सकता है।

कठिनाइयाँ

अब कुछ यथार्थ कठिनाइयों के उदाहरणों से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कठिनाई का मूल कारण क्या है?

पुष्पिका

1. बीसल देव रासो की एक प्रति में रचना-तिथि यों दी गई हैं—बारह सै बहोत्तराहां मँझारि, जेठ बदी नवमी बुधिवारि। नाल्ह रसाइण आरम्भइ। शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि। कासमीराँ मुख मंडनी। राम प्रगासों बीसल दे राइ।
2. एक अन्य प्रति में यों है—संवत सहस सतिहत्तरई जाणि। नल्ह कबीसरिं कही अमृतवाणि। गुण गुथ्थउ चउहाण का। सुकुलपक्ष पंचमी श्रावणमास। रोहिणी नक्षत्र सीहामणउ।
3. एक अन्य प्रति में—संवत तेर सतोत्तरइ जाणि सुक पंचमी नइ श्रावण मास, हस्त नक्षत्र रविवार सुं
4. एक अन्य में—संवत सहस तिहुत्तर जाणि नाल्ह कबीसरि सरसिय वाणि
5. डॉ. गुप्त ने एक अन्य प्रति के आधार पर एक संवत् 1309 और बताया है। उन्होंने इस प्रति को 'अ.सं.' नाम दिया है।

संवत् पर टिप्पणियाँ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बारह सै बहोत्तराहां' का अर्थ 1212 किया है। बहोत्तर द्वादशोत्तर का रूपान्तर है।
2. बहोत्तर को बहत्तर (72) का रूपान्तर क्यों न माना जाय। लाला सीताराम ऐसा ही मानते हैं।
3. इस पाठ में संवत् सत्तहत्तर अर्थात् 1077 निकलता है।
4. इसमें 1377 संवत् आता है।
5. इसका एक अर्थ हो सकता है—सतोत्तरह = शत उत्तर एकसौ तेर = 13—अर्थात् 1013
6. इससे संवत् 1073 निकलता है।

'बीसलदेव रास' के रचना काल के सम्बन्ध में कठिनाइयों का एक कारण तो यह है कि विविध उपलब्ध पाण्डुलिपियों में संवत् विषयक पंक्तियों में पाठ-भेद है। पाँच प्रकार के पाठ-भेद ऊपर बताये गये हैं। इतने संवतों में से वास्तविक संवत् कौन-सा है, इसे पाठालोचन के सिद्धान्त से भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। बहुत बड़े विद्वान पाठालोचक डॉ. गुप्त ने टिप्पणी में दिये पूर्व संवत् को नहीं लिया शेष छः को लेकर किसी निर्णय पर न पहुँच सकने के कारण व्यंग्यात्मक टिप्पणी दी है जो पठनीय है—"चैत्रादि और कार्तिकादि, दो प्रकार के वर्षों के अनुसार इन छः की बारह तिथियाँ बन जाती हैं और यदि 'गत' और 'वर्तमान्' संवत् लिये जायें तो उपर्युक्त से कुल चौबीस तिथियाँ होती है।" डॉ. गुप्त ने पाठ-भेद की कठिनाई का समाधान निकालने की बजाय तद्विषयक कठिनाइयाँ और बढ़ा के प्रस्तुत कर दी हैं। स्पष्ट है कि पाठालोचन के सिद्धान्त से किसी एक पाठ को वे प्रामाणिक नहीं मान सके। किन्तु यह भी सच है कि काल-निर्धारण में आने वाली कठिनाइयों की

और भी ठीक संकेत किया है — संवत् का आरम्भ कहीं चैत्रादि से माना जाता है तो कहीं कार्तिकादि से — अतः ठीक-ठीक तिथि निर्धारण के समय इस तथ्य को भी ध्यान में रखना पड़ता है। दूसरे संवत् का उल्लेख 'गत' के लिये भी होता है, और 'वर्तमान' के लिये भी होता है — यथार्थ तिथि निर्धारण में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होता है। अतः काल-निर्धारण में ये भी यथार्थ कठिनाइयाँ मानी जा सकती हैं।

पाठ-भेदों से उत्पन्न कठिनाई के बाद एक कठिनाई उचित अर्थ विषयक भी दिखाई पड़ती है। मान लीजिये कि एक ही पाठ 'बारह सै बहांत्तराहा मझारि' ही मिलता तो भी कठिनाई थी कि 'बहोत्तराहां' का अर्थ आचार्य शुक्ल की भाँति 1212 किया जाए या 12 सै 72 (1272) किया जाय। आचार्य शुक्ल ने 1212 के साथ तिथि को पंचांग से पुष्ट कर लिया है, क्योंकि कवि ने केवल संवत् ही नहीं दिया वरन् महीना-जेठ, पक्ष बदी (कृष्ण पक्ष), तिथि नवमी और दिन बुधवार भी दिया है। 1212 को प्रामाणिक मानने के लिये यह विस्तृत विवरण पंचांग सिद्ध हो तो संवत् भी सिद्ध माना जा सकता था। पर पाठ-भेदों के कारण यह सिद्ध संवत् भी अप्रामाणिक कोटि में पहुँच गया।

अतः अर्थान्तर की कठिनाई पंचांग के प्रमाण से दूर होते-होते, पाठान्तर के झमेले से निरर्थक हो गई।

पाठ-दोष की कठिनाई हस्तलेखों में बहुत मिलती है, यथा—

''संवत् श्रुति शुभ नागशशि, कृष्णा कार्तिक मास
रामरसा तिथि भूमि सुत बासर कीन्ह प्रकास''[1]

यहाँ टिप्पणी यह दी गई है कि ''शुभ के स्थान पर जुग किये बिना कोई अर्थ नहीं बैठता।'' अतः 'शुभ' पाठ-दोष का परिणाम है। 'पाठ-दोष' को दूर करने का वैज्ञानिक साधन, पाठालोचन ही है, पर जहाँ मात्र ग्रन्थ-विवरण लिये गये हों वहाँ दोष की ओर इंगित कर देना भी महत्त्वपूर्ण माना जायेगा, 'शुभ' के स्थान पर 'जुग' रखने का परामर्श पाठालोचन के अभाव में अच्छा परामर्श माना जा सकता है। इस कवि की प्रकृति भी 'अंकों' को शब्दों में देने की हैं — इसीलिये तिथि तक भी राम = 3 एवं रसा = 1 (= 13 = त्रयोदशी) अंकानां वामतो गतिः से बतायी है।

पाठ-दोष का यह रूप उस स्थिति का द्योतक है जिसमें मूल पाठ से प्रति प्रस्तुत करने में दोष आ जाता है।

'पाठ-दोष' के लिये 'भ्रान्त-पठन' मूल कारण होता है। एक और उदाहरण तेरहवें खोज विवरण[2] से दिया जाता है—

---

1. त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ. 28।
2. वही, पृ. 86।

किन्तु लिपिकार ने प्रतिलिपि में ऐसी भयंकर भूलें की हैं कि ग्रन्थारम्भ का समय 'एकादश संवत् समय और पाठ निराधार' हो गया है, जिसका अर्थ होगा 11 + 60 = 71 जो निरर्थक है। पहला शब्द 'एकादश' नहीं है, यह 'सत्रहसै' होना चाहिये अर्थात् 1700 + 60 = 1760, जो समाप्ति काल के पद्य से सिद्ध हो जाता है—

''गये जो विक्रम वीर विताय। सत्रह सै अरू साठि गिनाय''

ऐसे ही एक लिपिकार ने 'साठि' का 'आठि' करके 52 वर्ष का अन्तर कर दिया है। फिर भी यह तो बहुत ही आश्चर्यजनक है कि दो भिन्न-भिन्न लिपिकारों ने 'सत्रह सै' को 'एकादश' कैसे पढ़ लिया? अवश्य ही यह दोष उस प्रति में रहा होगा, जिससे इन दोनों ने प्रतिलिपि की है।

अथवा, यह विदित होता है कि इस प्रकार 'सत्रह सै' को 'एक दश' लिखने वाले दो व्यक्तियों में से एक ने दूसरे से प्रतिलिपि की तभी एक के भ्रान्त पाठ को दूसरे ने भी दे दिया। एक कारण यह भी हो सकता है कि मूल की लेखन-पद्धति कुछ ऐसी हो कि 'सत्रह सै', 'एकादश' पढ़ा गया। 'साठ का आठ' भी भ्रान्त वाचना पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार एक पाठ में है—

सौलह सै बालीस में संवत अवधारू

चैतमास शुभ पछ पुण्य नवनी भृगुवारू।

इसमें चालीस का ही 'बालीस' हो गया है। एक अन्य पाठ से 'चालीस' की पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि यह 'बालीस' बयालीस 42 नहीं है।[1]

यह 'पाठ-दोष' या भ्रान्त वाचना कभी-कभी इतनी विकृत हो सकती है कि उसका मूल कल्पित कर सकना इतना सरल नहीं हो सकता जितना कि बालीस को चालीस रूप में शुद्ध बना लेना।

ऐसा एक उदाहरण यह है—

री भव वक्र सोनाणइ नंदु जुत
करी सम्य (समय) जानी,
असाढ़ सी सीत सुम पंचमी
सनी को वासर मानी।

इस काल द्योतक पद्य का प्रथम चरण इतना भ्रष्ट है कि इसका मूल रूप निर्धारित करना कठिन ही प्रतीत होता है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो कल्पना से रूप प्रस्तुत किया है वह उनकी विद्वता और पांडित्य से ही सिद्ध हो सका है। उन्होंने सुझाव दिया है कि इसका मूल पाठ यह हो सकता है—

1. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ. 18।

''विधि भव वक्त्र सुनाग इन्दुजुत करी समय जानी'' और इसका अर्थ किया है—

विधि वक्त्र : 4

भव वक्त्र : 5

नाग : 8

इंदु : 1

अतः संवत् हुआ 1854

हमने यह देखा कि पुष्पिकाओं में संवत् का उल्लेख होता था और यह संवत् विक्रम संवत् था। ऊपर के सभी उदाहरण विक्रम संवत् के द्योतक हैं, किन्तु ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जैसे ये हैं—

संमत सत्रह से ऐकानवे होई

एगारह सै सन पैंतालिस सोई

अगहन मास पछ अजीआरा

तीरथ तीरोदसी सुकर सँवारा।

इसमें 'अजीआरा' का रूप तो 'उजियारा' अर्थात् शुक्ल—उज्वल पक्ष है 'तीरथ' गलत छपा है यह 'तिथि' है। 'तीरोदसी' त्रयोदशी का विकृत रूप है। किन्तु जो विशेष रूप से दृष्टव्य है वह यह है कि इसमें संवत् 1791 दिया गया है और सन् 1145 दिया गया है। एक पुष्पिका इस प्रकार है—

''सन बारह सै असी है, संवत देंहु बताय

बोनइस सै बोनतीस में सो लिखि कहे उ बुझाय।''[1]

यहाँ कवि ने सन् बताया 1280 और उसका संवत् भी बताया है—1929। संवत् तो विक्रमी है, सन् है फसली। ऊपर भी सन् से फसली सन् ही अभिप्रेत है।

अब जायसी के उल्लेखों को लीजिये। वे 'आखिरी कलाम' में लिखते हैं—

''मा अवतार मोर नव सदी

तीस बरिख कवि ऊपर बदी।''

× × ×

सन् नव सै सैंतालिस अहै।

कथा आरम्भ बैन कवि कहै

जायसी[2] ने सन् का उल्लेख किया है। यह सन् है हिजरी तो स्पष्ट है कि हिन्दी रचनाओं में हिजरी सन् का भी उल्लेख है और 'फसली' सन् का भी।

---

1. अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ. 124।
2. जायसी लिखित 'पद्मावत' के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं, पाठ-भेद से कोई इसे 'सन् नव सै सताइस अहै' मानते हैं, विद्वानों में इसका अच्छा विवाद रहा है।

भारत के अभिलेखों और ग्रन्थों में दो या तीन संवत् या सन् ही नहीं आये, कितने ही संवतों-सनों का उल्लेख हुआ है। इसलिए उन्हें अपने प्रचलित ईस्वी सन् और विक्रमी नियमित संवतों में उन्हें बिठाने में कठिनाई होती है।

विविध सन्-संवत्

हम यहाँ पहले उन संवतों का विवरण दे रहे हैं जो हमें भारत में शिलालेखों और अभिलेखों में मिले हैं। यह हम देख चुके हैं कि पहले बडली के शिलालेख में 'वीर संवत्' का उपयोग हुआ है। यह शिलालेख महावीर के निर्वाण से 84वें वर्ष में लिखा गया था। इस एक अपवाद को छोड़ कर बाद में शिलालेखों और अन्य लेखों में 'वीर संवत्' का उपयोग नहीं हुआ, हाँ, जैन ग्रन्थों में इसका उपयोग आगे चलकर हुआ है।

फिर अशोक के शिलालेखों में और आगे राज्य-वर्ष का उल्लेख हुआ है।

नियमित संवत्

सबसे पहले जो नियमित संवत् अभिलेखों के उपयोग में आया वह वस्तुतः 'शक संवत्' था।

शक-संवत्

शक-संवत् अपने 500वें वर्ष तक प्रायः बिना 'शक' शब्द के मात्र 'वर्षे' या कभी-कभी मात्र 'संवत्सरे' शब्द से अभिहित किया जाता रहा।

शक 500वें वर्ष से 1262वें वर्ष के बीच इसके साथ 'शक' शब्द लगने लगा, जिसका अभिप्राय यह था कि 'शकनृपति के राज्यारोहण के समय से'।

शाके शालिवाहने

फिर चौहदवीं शताब्दी में शक के साथ शालिवाहन और जोड़ा जाने लगा। 'शाके-शालिवहन-संवत्' वही शंक-संवत् था, पर नाम उसे शालिवाहन का और दे दिया गया।

शंक-संवत् विक्रम संवत् से 135 वर्ष उपरान्त अर्थात् 78 ई. में स्थापित हुआ। इस प्रकार विक्रम सं. से 135 वर्ष का अन्तर शक-संवत् में है और ईस्वी सन् से 78 वर्ष का।

पूर्वकालीन शक-संवत्

यह विदित होता है कि शकों ने अपने प्रथम भारत-विजय के उपलक्ष्य में 71 या 61 ई.पू. में एक संवत् चलाया था। इसे पूर्वकालीन शक-संवत् कह सकते हैं। विम कडफिस का राज्य-काल इसी संवत् के 19।वें वर्ष में समाप्त हुआ था। यह संवत् उत्तर पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्र में उपयोग में आया था। बाद का शक-संवत् पहले दक्षिण में आरम्भ हुआ फिर समस्त भारत में प्रचलित हुआ। जैसा ऊपर बताया जा चुका है यह 78वें ईस्वी संवत् में आरम्भ हुआ था।

कुषाण-संवत्

यही कनिष्क संवत् भी कहलाता है।

इसकी स्थापना सम्राट् कनिष्क ने ही की थी। वह संवत् कुछ इस तरह लिखा जाता था + ''महाराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य संवत्सरे 10 ग्रि 2 दि 9।'' इसका अर्थ था कि महाराजा देव पुत्र कनिष्क के संवत्सर 10 की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पाख के नवमें दिन या नवमी तिथि को।

कनिष्क ने यह संवत् ई. 120 में चलाया गया। इसका प्रचलन प्राय: कनिष्क के वंशजों में ही रहा। 100 वर्ष के लगभग ही यह प्रचलित रहा होगा। इसके बाद उसी क्षेत्र में पूर्वकालीन शक-संवत् का प्रचार हो गया।

कृत, मालव तथा विक्रम संवत्

कृत, मालव तथा विक्रम संवत् नाम से जो संवत् चलता है वह राजस्थान और मध्य प्रदेश में संवत् 282 से उपयोग में आता मिलता है।

ये नाम तो तीन हैं—पहले 'कृत-संवत्' का उपयोग मिलता है, बाद में इसे मालव कहा जाने लगा और उसके भी बाद इसी को 'विक्रम-संवत्' भी कहा गया। आज विद्वान इस तथ्य को कि कृत, मालव तथा विक्रम-संवत् एक संवत् के ही नाम हैं निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। इन नामों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(1) ''कृतयोंर्द्वयोर्वर्ष शतयोर्द्वय शीतयौं : 200 + 80 + 2 चैत्र पूर्णमास्याम्''।[1]

(2) श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। कष्टयधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये। दिने आम्बोज शुक्लस्य पचमयामस सत्कृते।[2] इसमें कृत को मालबगण का संवत् बताया गया है।

(3) मालवाकालच्छरदां पटत्रिंशत्-संयुते प्वतीतेषु। नवसु शतेषु मधाविह।[3]

इसमें केवल मालव-काल का उल्लेख हुआ है।

(4) विक्रम संवत्सर 1103 फाल्गुन शुक्ल पक्ष तृतीया।

इसमें केवल 'विक्रम-संवत्' का उल्लेख है। 1103 के बाद विक्रम नाम का ही विशेष प्रचार रहा और प्राय: समस्त उत्तरी भारत में यह संवत् प्रचलित हो गया (बंगाल को छोड़ कर)।

यंह संवत् 57 ई. पू. में आरम्भ हुआ था इसमें 135 जोड़ देने से शक-संवत् मिल जाता है।

विक्रम-संवत् के सम्बन्ध में ये बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(1) उत्तर में इस संवत् का आरम्भ चैत्रादि है। चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से यह चलता है।

---

1. Pandey, R.B.—Indian Palaeography, p. 199.
2. वही, पृ. 200।
3. वही, पृ. 201।

(2) यह उत्तर में पूर्णिमान्त है—पूर्णिमा को समाप्त माना जाता है।

(3) दक्षिण में यह कार्तिकादि है। कार्तिक के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है और 'अमान्त' हैं, अमावस्या को समाप्त हुआ माना जाता है।

गुप्त संवत् तथा वलभी संवत्

विद्वानों का निष्कर्ष है कि गुप्त-संवत् चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया गया होगा। इसका आरम्भ 319 ई. में हुआ। यह चैत्रादि संवत् है और चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। इसका उल्लेख 'गतवर्ष' के रूप में होता है, जहाँ 'वर्तमान' वर्ष का उल्लेख है, वहाँ एक वर्ष अधिक गिनना होगा।

वलभी (सौराष्ट्र) के राजाओं ने गुप्त-संवत् को ही अपना लिया था पर उन्होंने अपनी राजधानी वलभी के नाम पर इस संवत् का नाम 'गुप्त' से बदल कर 'वलभी' संवत् कर दिया था, क्योंकि वलभी संवत् भी 319 ई. में आरम्भ हुआ, अत: गुप्त और वलभी में कोई अन्तर नहीं।

हर्ष-संवत्

यह संवत् श्री हर्ष ने चलाया था। श्री हर्ष भारत का अन्तिम सम्राट् माना जाता है। अलबेरूनी ने बताया कि एक काश्मीरी पंचांग के आधार पर हर्ष विक्रमादित्य से 664 वर्ष बाद हुआ। इस दृष्टि से हर्ष-संवत् 599 ई. में आरम्भ हुआ। हर्ष-संवत् उत्तरी भारत में ही नहीं नेपाल में भी चला और लगभग 300 वर्ष तक चलता रहा।

ये कुछ संवत् अभिलेखों और शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि के आधार पर प्रामणिक हैं। इन्हें प्रमुख संवत् कहा जा सकता है। इनको ऐतिहासिक हस्तलेखों के काल-निर्धारण में सहायक माना जा सकता है।

पर, भारत में और कितने ही संवत् प्रचलित हैं जिनका ज्ञान होना इसलिये भी आवश्यक है कि पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को न जाने कब किस सन् संवत् से साक्षात्कार हो जाये।

सप्तर्षि संवत्

लौकिक-काल, लौकिक-संवत्, शास्त्र-संवत्, पहाड़ी-संवत् या कच्चा-संवत्। ये सप्तर्षि-संवत् के ही विविध नाम हैं—

सप्तर्षि-संवत् काश्मीर में प्रचलित रहा है। पहले पंजाब में भी था। इसे सप्तर्षि-संवत् सप्तर्षि (सातों तारों के विख्यात मंडल) की चाल के आधार पर कहा गया है। ये सप्तर्षि 27 नक्षत्रों में से प्रत्येक पर 100 वर्ष रुकते हैं। इस प्रकार 2700 वर्षों में ये एक चक्र पूरा करते हैं। यह चक्र काल्पनिक ही बताया गया है। फिर नया चक्र आरम्भ करते हैं। इस संवत् को लिखते समय 100 वर्ष पूरे होने पर शताब्दी का अंक छोड़ देते हैं, फिर 1 से आरम्भ कर देते हैं। इस संवत् का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है और इसके महीने पूर्णिमांत होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि उत्तरी भारत में विक्रम-संवत् के होते हैं।

इसका अन्य संवतों से सम्बन्ध इस प्रकार है—

शक से—शताब्दी के अंक रहित सप्तर्षि-संवत् में 46 जोड़ने से शताब्दी के अंक-रहित शक (गत) संवत् मिलता है। 81 जोड़ने से चैत्रादि विक्रम (गत), 25 जोड़ने से कलियुग (गत), और 24 या 25 जोड़ने से ई.सं. आता है।

कलियुग-संवत्[1]

भारत-युद्ध-संवत् एवं युधिष्ठर-संवत् भी यही है—

यह सामान्यत: ज्योतिष ग्रन्थों में लिखा जाता है, पर कभी-कभी शिलालेखों पर भी मिलता है।

इसका आरम्भ ई.पू. 3102 से माना जाता है।

चैत्रादि गत विक्रम-संवत् में 3044 जोड़ने से,

गत शक-संवत् में 3179 जोड़ने से,

और ईसवी सन् ये 3101 जोड़ने से

गत कलियुग-संवत् आता है।

बुद्ध-निर्वाण-संवत्

बुद्ध-निर्वाण के वर्ष पर बहुत मत-भेद हैं। पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी 487 ई.पू. में अधिक सम्भव मानते हैं। अत: बुद्ध-निर्वाण-संवत् का आरम्भ 487 ई.पू. से माना जा सकता है। बुद्ध-निर्वाण-संवत् का उल्लेख करने वाले शिलालेखादि संख्या में बहुत कम मिले हैं।

बार्हस्पत्य-संवत्सर

ये दो प्रकार के मिलते हैं—एक 12 वर्ष का दूसरा 60 वर्ष का।

बारह वर्ष का

ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी से पूर्व इस संवत् का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति की गति के आधार पर इसका 12 वर्ष का चक्र चलता है। इसके वर्ष महीनों के नाम चैत्र, वैशाखादि पर ही होते हैं पर बहुधा उनके पहले 'महा' शब्द लगा दिया जाता है, जैसे—महाचैत्र, महाफाल्गुन आदि। अस्त होने के उपरान्त जिस राशि पर बृहस्पति का उदय होता है, उस राशि या नक्षत्र पर ही उस वर्ष का माम 'महा' लगा कर बताया जाता है।

साठ (60) वर्ष का

दूसरा संवत्सर 60 वर्ष के चक्र का है। बृहस्पति एक राशि पर एक वर्ष के 361 दिन, 2 घड़ी और 5 पल ठहरता है। इसके 60 वर्षों में से प्रत्येक को एक विशेष नाम दिया जाता है। इन साठ वर्षों के ये नाम हैं—

---

1. कलियुग-संवत् भारत-युद्ध की समाप्ति का द्योतक है और युधिष्ठिर के राज्यारोहण का भी। अत: इसे भारत-युद्ध-संवत् एवं युधिष्ठिर-संवत् कहते हैं। कलियुग नाम से यह न समझना चाहिये कि इसी संवत् से कलि आरम्भ हुआ। कलियुग कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था।

1. पूभव, 2. विभव, 3 शुक्ल, 4. प्रमोद, 5. प्रजापति, 6. अंगिरा, 7. श्रीमुख, 8. भाव, 9. युवा, 10. धाता, 11. ईश्वर, 12. बहुधाय, 13. प्रभायी, 14. विक्रम, 15. वृष, 16. चित्रभानु, 17. सुभानु, 18. तारण, 19. पार्थिव, 20. व्यय, 21. सर्वजित, 22. सर्वधारी, 23. विरोधी, 24. विकृति, 25. खर, 26. नन्दन, 27. विजय, 28. जय, 29. मन्मथ, 30. दुर्मुख, 31. हेमलव, 32. विलंबी, 33. विकारी, 34. शार्वरी, 35. प्लव, 36. शुभकृत, 37. शोभन, 38. क्रोधी, 39. विश्वावसु, 40. पराभव, 41. प्लवन, 42. कीलक, 43. सौम्य, 44. साधारण, 45. विरोधकृत, 46. परिधावी, 47. प्रभादी, 48. आनन्द, 49. राक्षस, 50. अनल, 51. पिंगल, 52. कालयुक्त, 53. सिद्धार्थी, 54. रौद्र, 55. दुर्मति, 56. दुंदुभी, 57. रुधिरोद्गारी, 58. रक्ताक्ष, 59. क्रोधन और 60. क्षय।

इस संवत्सर का उपयोग दक्षिण में ही अधिक हुआ है उत्तरी भारत में बहुत कम।

बार्हस्पत्य-संवत् का नाम निकालने की विधि वाराहमिहिर ने यों बतायी है—

जिस शक संवत् का वार्हस्पत्य वर्ष नाम मालूम करना इष्ट हो उसका गत शक संवत् लेकर उसको 11 से गुणित करो, गुणनफल को चौगुना करो, उसमें 8589 जोड़ दो जो जोड़ आये उसमें 3750 से भाग दो, भजनफल को इष्ट गत शक संवत् में जोड़ दो जो जोड़ मिले उसमें 60 का भाग दो, भाग देने के बाद जो शेष रहे उस संख्या को यह उक्त प्रभवादि सूची में जो नाम क्रमात् आये वही उस इष्ट गत शक संवत् का बार्हस्पत्य-वर्ष का नाम होगा।

दक्षिण बार्हस्पत्य-संवत्सर का नाम यों निकाला जा सकता है कि 38 गत शक संवत् में 12 जोड़ों और योगफल में 60 का भाग दो—जो शेष बचे उस संख्या का वर्ष नाम अभीष्ट वर्ष नाम है या इष्ट गत कलियुग-संवत् में उस नियमानुसार पहले 12 जोड़ो, फिर 60 का भाग दो—जो शेष बचे उसी संख्या का प्रभवादि क्रम से नाम बार्हस्पत्य-वर्ष का अभीष्ट नाम होगा।

ग्रह परिवृत्ति-संवत्सर

यह भी 'चक्र आश्रित' संवत् है। इसमें 90 वर्ष का चक्र रहताहै। 90 वर्ष पूरे होने पर पुनः 1 से आरम्भ होता है। इसमें भी शताब्दियों की संख्या नहीं दी जाती, केवल वर्ष संख्या ही रहती है, इसका आरम्भ ई. पूर्व 24 से हुआ माना जाता है।

इस संवत् को निकालने की विधि—

(1) वर्तमान कलियुग संवत् में 72 जोड़ कर 90 का भाग देने पर जो शेष रहे वह संख्या ही इस संवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा।

(2) वर्तमानद शक संवत् में 11 जोड़कर 90 का भाग दीजिये। जो शेष बचे उसी संख्या वाला इस संवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा।

हिजरी सन्

यह सन् मुसलमानों में चलने वाला सन् है। मुसलमानों के भारत में आने पर यह भारत में भी चलने लगा।

इसका आरम्भ 15 जुलाई 622 ई. तथा संवत् 679 श्रावण शुक्ला 2, विक्रमी की शाम से माना जाता है, क्योंकि इसी दिन पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मक्का छोड़ा था, इस छोड़ने को ही अरबी में 'हिजरह' कहा जाता है। इसकी स्मृति का सन् हुआ हिजरी सन्। इस सन् की प्रत्येक तारीख सायंकाल से आरम्भ होकर दूसरे दिन सायंकाल तक चलती है। प्रत्येक महीने के 'चन्द्र दर्शन' से महीने का आरम्भ माना जाता है, अत: यह चन्द्र वर्ष है।

इसके 12 महिनों के नाम ये हैं— 1. मुर्हरम, 2. सफर, 3. रवी उल् अव्वल, 4. रवी उल आखिर या रवी उस्सानी, 5. जमादि उल् अव्वल, 6. जमादिउल आखिर या जमादि उस्सानी, 7. रजब, 8. शाबान, 9. रमजान, 10. शव्वाल, 11. जिल्काद और 12. जिलहिज्ज। म.म. ओझा जी ने बताया है कि 100 सौर वर्षों में 3 चन्द्र वर्ष 24 दिन और 9 घड़ी बढ़ जाती हैं। ऐसी दशा में ईसवी सन् (या विक्रम संवत्) और हिजरी सन् का परस्पर कोई निश्चित अन्तर नहीं रहता, वह बदलता रहता है। उसका निश्चय गणित से ही होता है।[1]

'शाहूर' सन् 'सूर' सन् या 'अरबी सन्'

इसका आरम्भ 15 मई, 1344 ई. तद्नुसार ज्येष्ठ शुक्ल 2,1401 विक्रमी से जबकि सूर्य भृगशिर नक्षत्र पर आया था, 1 मुहर्रम हिजरी सन् 745 से हुआ था, इसके महीनों के नाम हिजरी सन् के महीनों के नाम पर ही हैं। पर, इसका वर्ष सौर वर्ष होता है, हिजरी की तरह चन्द्र नहीं। जिस दिन सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आता है, 'मृगेरवि'; उसी दिन से इसका नाम नया वर्ष आरम्भ होता है, अत: इसे 'मृग-साल' भी कहा जाता है।

इस सन् में 599-600 मिलाने से ईसवी सन् मिलता है और 656-657 जोड़ने से से विक्रम संवत् मिलता है। इस सन् के वर्ष अंकों की बजाय अंक द्योतक अरबी शब्दों में लिखे जाते हैं। यह सन् मराठी में काम में लाया जाता था। मराठी में अंकों के द्योतक अरबी शब्दों में कुछ विकार अवश्य आ गया है, जो भाषा-वैज्ञानिक-प्रक्रिया में स्वाभाविक है। नीचे अंकों में लिये अरबी शब्द दिये जा रहे हैं और कोष्ठक में मराठी रूप। यह मराठी रूप ओझाजी ने मोलेसेवर्थ के मराठी अंग्रेजी कोश से दिये हैं—

1 — अहद् (अहदे, इहदे)
2 — अन्ना (इसन्ने)
3 — सलालह (सल्लीस)
4 — अखा
5 — खम्मा (खम्मस)
6 — सित्त (सिन s = सित्त)
7 — सवा (सब्बा)
8 — समानिआ (सम्मान)
9 — तसआ (तिस्सा)

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 190।

10 — अशर
11 — अहद् अशर
12 — अस्ना (इसने) अशर
13 — सलासह् (सल्लास) अशर
14 — अरबा अशर
20 — अशरीन्
30 — सलासीन (सल्लासीन)
40 — अरबईन्
50 — खम्सीन्
60 — सित्तीन (सित्तैन)
70 — सबीन् (सब्बैन)
80 — समानीन (सम्मानीन)
90 — तिसईन (तिस्सैन)
100 — माया (मया)
200 — मअतीन (मयातैन)
300 — सलास माया (सल्लास माया)
400 — अरबा माया
1000 — अलफ् (अलफ)
10000 — अशर अलफ्

इन अंक-सूचक शब्दों में सन् लिखने से पहिले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे से सैंकड़ा और चौथे से हजार बतलाये जाते हैं जैसे कि 1313 के लिए 'सलासो अश्रो सलास माया व अफल'[1] लिखा जायेगा।

फसली सन्

यह सन् अकबर ने चलाया। फसली शब्द से ही विदित होता है कि इसका 'फसल' से सम्बन्ध है। 'रबी' और 'खरीफ' फसलों का हासिल निर्धारित महीनों में मिल सके इसके लिये इसे हिजरी सन् 971 में अकबर ने आरम्भ किया। हिजरी 971 वि.सं. 1620 में और ईस्वी 1563 में पड़ा। इस फसली सन् में वर्ष तो हिजरी के रखे गये पर वर्ष सौर (चांद्रसौर) वर्ष के बराबर कर दिया गया। महीने भी सौर (या चन्द्रसौर) मान के माने गये।

यह सन् अब तक भी कुछ न कुछ प्रचलित है, पर अलग-अलग क्षेत्र में इसका आरम्भ अलग-अलग माना जाता है, यथा—

पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में इसका आरम्भ आश्विन, कृष्णा 1 (पूर्णिमान्त) से, अतः इस सन् में 592-93 जोड़ने से ईसवी सन् और 649-50 जोड़ने से विक्रम सं. मिल जाता है।

---

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 191।

दक्षिण में यह संवत् कुछ बाद में प्रचलित हुआ। इससे उत्तरी और दक्षिणी फसलों 'सनों' में सवा दो वर्ष का अन्तर हो गया—दक्षिण के फसली सन् से विक्रम-संवत् जानने के लिये 647-48 जोड़ने होंगे और ईसवी सन् के लिये 590-91 जोड़ने होंगे

संवतों का सम्बन्ध

सन्	प्रचलित	प्रारम्भ	मास और वर्ष सौर	विक्रम सं. निकालना	ईसवी सन् निकालना
1	2	3	4	5	6
विलायती सन्	उड़ीसा तथा बंगाल के कुछ भागों में	सौर आश्विन अर्थात् कन्या संक्राति। जिस दिन संक्रान्ति का प्रवेश उसी दिन पहला दिन	मासक्रम चैत्रादि	649-50 जोड़ने से	592-93 जोड़ने से
अमली सन्	उड़ीसा के व्यापारियों में एवं कचहरियों में	भाद्रपद शुक्ला 12 से			
बंगाली सन् या बंगालाब्द बंगीब्द	बंगाल में	सौर बैशाख, मेष संक्रान्ति से संक्रान्ति प्रवेश के दूसरे दिन से बंगाली सन् से 45 वर्ष पीछे	महीने सौर (अतः पाख, एवं तिथि नहीं)	650-51 जोड़ने से	593-94 जोड़ने से
	चिटगाँव में			595-96 जोड़ने से	638-39 जोड़ने से
इलाही सन्	अकबर ने हिजरी सन् के स्थान पर प्रचलित किया	अकबर के राज्यारोहण की तिथि 2 रबी उस्सानी हिजरी 963 से 25 दिन पीछे ईरानी वर्ष के पहिले	ईरानी—ईरानी महीनों के अनुसार इस सन् के महीनों के नाम 1. फरवरदीन, 2. उर्दिवहिश्त, 3. खुर्दाद, 4. तीर,	1912 जोड़ने से	1555-56 जोड़ने से

1	2	3	4	5	6
		महीने फरवरदीन के पहले दिन से, तद्नुसार 11 मार्च 1556 ई. चैत्र कृष्णा अमावस सं. 1612 से।	5. अमरदाद, 6. शहरेवर, 7. मेहर, 8. आवाँ (आबान्), 9. आजर (आदर), 10. दे, 11. बहमन, 12. अस्फंदिआरमद् ईरानी सन् के अनुसार दिनों के अंक नहीं होते शब्दों में उसके नाम दिये जाते हैं। संख्या क्रम से नाम ये हैं—1. अहुर्मज्द, 2. बहमन, 3. उर्दिबहिश्त, 4. शहरेवर, 5. स्पंदारमद्, 6. खुर्दाद, 7. मुरदाद (अमरदाद), 8. देपाहर, 9. आजर (आदर), 10. आवाँ (आवान्), 11. खुरशेद्, 12. माह (म्होर), 13. तीर, 14. गोश, 15. देपमेहर, 16. मेहर, 17. सरोश, 18. रश्नह, 19. फरवरदीन, 20. बेहराम, 21. राम, 22. गोवाद, 23. देपदीन, 24. दीन, 25. अर्द (आशीश्वंग) : आस्ताद् 26. आस्मान्, 27. जमिआद, 28. मेहरेस्पंद, 29. अनेरा, 30. रोज, 31. शव। इनमें से 30 तो ईरानियों के दिनों (तारीखों) के ही हैं और अन्तिम दो नये रखे गये हैं।[1]		

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 193।

1	2	3	4	5	6
कलचुरी संवत या येरिसंवत् त्रैकूटक	1. किसने चलाया अज्ञात! 2. दक्षिण गुजरात कोंकण, मध्य-प्रदेश के शिला-लेखों में। 3. चालुक्य, गुर्जर, सद्रक, कलचुरी, त्रैकूटक वंश के राजाओं के हैं। ई. सन् 1207 के बाद इसका प्रचलन बन्द।	26 अगस्त 249 ई. तदनुसार आश्विन शुक्ल 1, सं. 306 से आरम्भ।		305-6 जोड़ने से गत चैत्रादि विक्रम सं.	248-49 जोड़ने से
भाटिक (भट्टीक) संवत्	जैसलमेर।	भाटी राजाओं के पूर्व भट्टिक द्वारा।		680-81 जोड़ने से	623-24 जोड़ने से
कोल्लम (कोलम्ब) या परशुराम संवत्	मलाबार से कन्याकुमारी एवं पिन्नेवैल्लि	उत्तरी मालाबार में कन्या संक्रान्ति और आश्विन से प्रारम्भ। दक्षिणी मलाबार में सिंह-संक्रान्ति सौर भाद्रपद से।	वर्ष सौर महिनों के नाम संक्रान्ति नाम से या चैत्रादि नाम से वर्तमान संवत्		824-25 जोड़ने से
नेवार (नैपाल) संवत्	नेपाल में प्रचलित	20 अक्टूबर 879 ई. तदनुसार कार्तिक शु. 1936 वि.सं. (चैत्रादि) से		गत नैपाल सं. में 935-36 जोड़ने से	गत में 878-79 जोड़ने से

संवतों और सनों का यह विवरण संक्षेप में दिया गया है। हस्तलेखों में विविध संवतों और सनों का उपयोग मिलता है। उन संवतों के परिज्ञान से ऐतिहासिक कालक्रम में उन्हें बिठाने में सहायता मिलती है, इससे काल-निर्णय की समस्या का समाधान भी एक सीमा तक होता है। इस परिज्ञान की इतिहासकार को तो आवश्यकता है ही, पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये भी है, और कुछ उससे अधिक ही है, क्योंकि यह परिज्ञान पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, जबकि इतिहासकार के लिये भी सामग्री प्रदान करने वाला यह विज्ञानार्थी ही है।

सन्-संवत् को निरपेक्ष कालक्रम (Absolute Chronology) माना जाता है, फिर प्रत्येक सन् या संवत् अपने आप में एक अलग इकाई की तरह राज्य-काल-गणना की ही तरह काल-क्रम को ठीक बिठाने में अपने आप में सक्षम नहीं है। अशोक के राज्यारोहण के आठवें या बारहवें वर्ष का ऐतिहासिक कालक्रम में क्या महत्त्व या अर्थ है। मान लीजिये अशोक कोई राजा 'क' है, जिसके सम्बन्ध में हमें यह ज्ञात ही नहीं कि वह कब गद्दी पर बैठा। इस 'क' के राज्य वर्ष का ठीक ऐतिहासिक काल-निर्धारण तभी सम्भव है जब हमें किसी प्रकार की अपनी परिचित काल-क्रम की शृंखला, जैसे ई. सन् या वि.सं. में 'क' के राज्यारोहण का वर्ष विदित हो, अत: किसी अन्य साधन से अशोक का ऐतिहासिक कला-निर्धारण करना होगा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अशोक के तेरहवें शिलालेख में समसामयिक कुछ विदेशी राजाओं के नाम लिये हैं जैसे—यूनानी राजा आंतिओकस द्वितीय का उल्लेख है और उत्तरी अफ्रीका के शासक द्वितीय टॉलेमी का भी है। टॉलेमी का शासन-काल ई.पू. 288-47 था। डॉ. वासुदेव उपाध्याय[1] ने बताया है कि इस तिथि 282 में से 12 वर्ष (अभिषेक के 8वें वर्ष में तेरहवाँ लेख खोदा गया तथा अशोक अपने अभिषेक से चार वर्ष पूर्व सिंहासनारूढ़ हुआ था) घटा देने में ई.पू. 270 वर्ष अशोक के शासक होने की तिथि निश्चित हो जाती है।[2] अत: अशोक 'क' के समकालीन 'ख', 'ग' की निर्धारित तिथि के आधार पर 'क' के राज्यारोहण की तिथि निर्धारित की जा सकी।

इसी प्रकार विविध संवतों में भी परस्पर के सम्बन्ध का सूत्र जहाँ उपलब्ध हो जायेगा वहाँ एक को दूसरे में परिणत करके परिचित या ख्यात कालक्रम-शृंखला बैठाकर सार्थक काल-निर्णय किया जा सकता है।

यथा 'लक्ष्मणसेन संवत्' के निर्धारण में ऐसे उल्लेखों से सहायता मिलती है जैसे 'स्मृति तत्वामृत' तथा 'नरपतिजय चयां टीका' नामक हस्तलिखित ग्रन्थों में मिले हैं। पहली में पुष्पिका में ल.सं. 505 शाके 1546 और दूसरी में 'शाके 1536 ल' सं. 494 लिखा है।

---

1. उपाध्याय, वासुदेव (डॉ.)—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 210।
2. सी.एम. डफ ने 'द क्रोनोलाजी ऑव इंडियन हिस्ट्री' में इस सम्बन्ध में यों लिखा हैं—"Among his, Contemporaties were Antiokhos II of Syria (B.C. 260-247), Ptolemy Philadelphos (285-247), Antigonos gonatos of Makedomia (278-242), Magas of kyrene (d. 258), and Alexander of Eperios (between 262 and 258), who have been identified with the kings mentioned in his thirteenth edict. Senart has come to somewhat different conclusions regarding Asoka's initial date Faking the synchronism of the greek kings as the basis of his calculation, he fixes Asoka's accession in B.C. 273 and his coronation in 269.

लक्ष्मणसेन के एक संवत् के समकालीन समकक्ष दूसरे शक--संवत् का उल्लेख है। इससे दोनों का अन्तर विदित हो जाता है और हम जान जाते हैं कि यदि लक्ष्मणसेन संवत् में 1041 जोड़ दिये जायें तो शक संवत् मिल जायेगा। शक संवत् से अन्य संवतों और सन् के वर्ष ज्ञात हो सकेंगे। फलतः किसी अन्य संवत् से सम्बन्ध होता है, तो काल-चक्र में यथास्थान बिठाने में सहायता मिलती है।

कुछ ऐसे सन् या संवत् भी हैं, जिनसे किसी अज्ञात संवत् का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय तब भी काल-क्रम में ठीक स्थान जानना कठिन रहता है और इसके लिये विशेष गणित का सहारा लेना पड़ता है। जैसे हिजरी सन् से संवत् विदित भी हो जाय तब भी गणित की विशेष सहायता लेनी पड़ती है क्योंकि इसके महीने और वर्षों का मान बदलता रहता है क्योंकि यह शुद्ध चान्द्र-वर्ष है। पंचांगों में यदि इस संवत् का भी उल्लेख हो तो उसकी सहायता से भी इसको काल--क्रम में ठीक स्थान या काल जाना जा सकता है।

संवत्-काल जानना

भारत में काल-संकेत विषयक कुछ बातें ऊपर बतायी जा चुकी हैं। अब तक हम देख चुके हैं कि पहले राज्यवर्ष का उल्लेख और उस वर्ष का विवरण अक्षरों में दिया गया, बाद में अक्षरों और अंकों दोनों में, और फिर अंकों में ही। बाद में ऋतुओं के भी उल्लेख हुए—ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त, ये तीन ऋतुएं बतायी गईं, उनके पाख (पक्ष) और दिन भी दिये गये। आगे महीनों का उल्लेख भी हुआ। राज्य-वर्ष से भिन्न एक संवत् का और उल्लेख किया जाने लगा। नियमित संवत् के प्रचार से राज्य-वर्ष के उल्लेख की प्रथा धीरे-धीरे उठ गई, संवत् के साथ महीने, शुक्ल या कृष्ण पक्ष, तिथि और बार या दिन को भी बताया जाने लगा।

इतने विस्तृत विवरण के साथ और भी बातें दी जाने लगी—जैसे शशि, संक्रान्ति, नक्षत्र, योग, करण, लग्न, मुहूर्त आदि।

इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि भारत में दो प्रकार के वर्ष चलते हैं सौर या चान्द्र।

वर्ष का आरम्भ कार्तिकादि, चैत्रादि ही नहीं होता आषाढ़ादि और श्रावणादि भी होता है।

सौर वर्ष राशियों के अनुसार बारह महीनों में विभाजित होता है, क्योंकि एक राशि पर सूर्य एक महीने रहता है, तब दूसरी राशि में संक्रमण करता है, इसलिये वह दिन संक्रान्ति कहलाता है, जिस राशि में प्रवेश करता है उसी की संक्रान्ति मानी जाती है, उसी दिन से सूर्य का नया महीना आरम्भ होता है।

बारह राशियाँ इस प्रकार हैं—

1. मेष (मेष राशि से सौर वर्ष आरम्भ होता है, यह मेष राशि का महीना बंगाल में बैशाख और तमिलभाषी क्षेत्र में चैत्र [या चित्तिरह] कहलाता है)। 2. वृष, 3. मिथुन, 4. कर्क, 5. सिंह, 6. कन्या, 7. तुला, 8. वृश्चिक, 9. धनुष, 10. मकर, 11. कुम्भ तथा

12. मीन। मेष से मीन तक सूर्य की राशि-यात्रा भी आरम्भ से अन्त तक एक वर्ष में होती है। पंजाब तथा तमिलभाषी क्षेत्रों में सौर माह का आरम्भ उसी दिन से माना जाता है जिस दिन संक्रान्ति होती है, पर बंगाल में संक्रान्ति के दूसरे दिन से महीने का आरम्भ होता है। सौर माह राशियों के नाम से होता है। सौर माह में तिथियाँ 1 से चलकर महीने के अन्तिम दिन तक की गिनती में व्यक्त की जाती हैं। सौर माह, 29, 30, 31 या 32 दिन का होता है, अतः इसकी तिथियाँ एक से चलकर 29, 30, 31, 32 तक चली जाती हैं। चान्द्र वर्ष में ऐसा नहीं होता। उसमें महीना पहले दो पाखों में बाँटा जाता है। कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष बदी या सुदी ये दो पाख प्रायः 15 + 15 तिथियों के होते हैं। ये प्रतिपदा से अमावस होकर द्वितीया (दौज), तृतीया (तीज), चतुर्थी (चौथ), पंचमी (पाँचे), षष्ठी (छठ), सप्तमी (सातें), अष्टमी (आठें), नवमी (नौमी), दशमी (दसमी), एकादशी (ग्यारस), द्वादशी (बारस), त्रयोदशी (तेरस), चतुर्दशी (चौदस), पूर्णिमा (15) और अमावस्या (30) तक चलती है। ये सभी तिथियाँ कहलाती हैं और 15 तक की गिनती में होती हैं। उत्तरी भारत में चान्द्रवर्ष का मास पूर्णिमान्त माना जाता है क्योंकि पूर्णिमा को समाप्त होता है और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। नर्मदा के दक्षिण के क्षेत्र में चान्द्रवर्ष का महीना आमन्त होता है और शुक्ल पक्ष (सुदी) की प्रतिपदा से आरम्भ होता है।

चान्द्रवर्ष के महीने उन नक्षत्रों के नाम पर रखे गये हैं जिन पर चन्द्रमा पूर्णकलाओं से युक्त होता है, यानी पूर्णिमा के दिन से नक्षत्र और महिनों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) चित्रा-चैत्र (चैत)

(2) विशाखा-वैशाख (वैसाख)

(3) ज्येष्ठा-ज्येष्ठ (जेठ)

(4) अषाढ़ा-आषाढ़ (असाढ़)

(5) श्रवण-श्रावण (सावन)

(6) भद्रा-भाद्रपद (भादों)

(7) अश्विनी-आश्विन (या आश्वयुज) = (क्वार)

(8) कृतिका-कार्तिक (कातिक)

(9) मृगशिरा-मार्गशीर्य (आग्रहायन-अगहन)

('अग्रहायन' सबसे आगे का 'अयन'—यह नाम सम्भवतः इसलिये पड़ा कि बहुत प्राचीन काल में वर्ष का आरम्भ चैत्र से न होकर 'मार्ग शीर्ष' से होता था—अतः यह सबसे पहला या अगला महिना था।)

(10) पुष्य-पौष (पूस या फूस)

(11) मघा-माघ

(12) फाल्गु-फाल्गुण

काल-संकेतों में कभी-कभी 'योगों' का उल्लेख भी मिलता है। 'योग' सूर्य और चन्द्रमा की गति की ज्योतिष्कीय संगति को कहा जाता है। ऐसे योग ज्योतिष के अनुसार 27 होते हैं। इन्हें भी नाम दिया गया है। अत: नाम से 27 योग ये हैं-- (1) विष्कंभ, (2) प्रीति, (3) आयुष्मत, (4) सौभाग्य, (5) शोमन, (6) अतिगंड, (7) सुकर्मन, (8) घृति, (9) शूल, (10) गण्ड, (11) वृद्धि, (12) ध्रुव, (13) व्याधात, (14) हर्षण, (15) वज्र, (16) सिद्धि या अस्त्रज, (17) व्यतीपात, (18) वरीयस, (19) परिधि, (20) शिव, (21) सिद्ध, (22) साध्य, (23) शुभ, (24) शुक्ल, (25) ब्रह्मन्, (26) ऐन्द्र तथा (27) वैघति।

'योग' की भाँति ही 'करण' का भी उल्लेख होता है। करण तिथि के अर्धांश को कहते हैं, और इनके भी विशिष्ट नाम रखे गये हैं—पहले सात करण होते हैं जिनके नाम हैं—(1) बव, (2) बालव, (3) कौलव, (4) तैतिल, (5) गद, (6) वणिज एवं (7) विष्टि (भांद्र या कल्याण)। ये सात चक्र के रूप में आठ बार प्रयोग में आते हैं और इस प्रकार 56 अर्द्ध तिथियों का काम देते हैं। ये 56 अर्द्ध तिथियाँ सुदी प्रतिपदा से लेकर बदी 14 (चौदस) तक पूरी होती है। अब चार अर्द्ध तिथियाँ शेष रहती हैं, बदी का चौदस से सुदी प्रतिपदा तक की—इन करणों के नाम हैं—(8) शकुनि, (9) चतुष्पद, (10) किन्तुघ्न और (11) नाग। काल संकेतों में कभी-कभी करण का नाम भी आ जाता है, जैसे 1210 विक्रमी के अजमेर के शिलालेख में।

भारतीय कालगणना के आधार सीधे और सपाट न होकर जटिल हैं। इससे काल-निर्णय में अनेक अड़चनें पड़ती हैं—

पहले, तो यह जानना ही कठिन होता है कि वह संवत् कार्तिकादि, चैत्रादि, आषाढ़ादि या श्रावणादि है,

दूसरे—आमान्त है या पूर्णिमान्त है। फिर,

तीसरे—ये वर्ष कभी वर्तमान (या प्रवर्तमान) रूप में कभी गत विगत या अतीत रूप में लिखे जाते हैं। इनकी और पहले 'बीसलदेव रासो' के काल-निर्माण के सम्बन्ध में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का उद्धरण देकर ध्यान आकर्षित कर दिया जा चुका है।

इन सबसे बढ़कर कठिनाई होती है इस तथ्य से कि तिथि लिखते समय लेखक से गणना में भी भूल हो जाती है।

यह त्रुटि उस गणक या ज्योतिषी के द्वारा की जा सकती है जो लेख लिखने वाले को बताता है। उसका गणिक का ज्ञान या ज्योतिष का ज्ञान सदोष हो सकता है। पत्रों या पंचांगों में भी दोष पाये जाते हैं। आज भी कभी-कभी वाराणसी और उज्जैन पंचांगों में तिथि के आरम्भ में ही अन्तर मिलता है, जिससे विवाद खड़े हो जाते हैं और यह विवाद पत्रों (पंचांगों) में भी प्रकट हो उठता है। जब आज भी यह मौलिक त्रुटि हो सकती है, तब पूर्व-काल में तो और भी अधिक सम्भव थी। गाँवों, नगरों की बात छोड़िये कभी-कभी तो राजदरबारों में भी अयोग्य ज्योतिषियों के होने का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। कलचुरि 'रत्नदेव द्वितीय' के सन् 1128 ई. के सर्खो लेख से यह सूचना मिलती है कि दरबार में ज्योतिषियों से ठीक गणित ही नहीं होती थी और वे 'ग्रहण' का समय ठीक

निर्धारित नहीं कर पाते थे। तब पद्मनाभ नाम के ज्योतिषी ने बीज-संस्कार किया जिससे तिथियों का ठीक निर्धारण हो सका। राजा ने पद्मनाभ को पुरस्कृत किया, अतः ज्योतिषियों से भी भूल हो सकती है। ऐसी दशा में काल संकेत सदोष हो जायेंगे।

इससे किसी लेख या अभिलेख का काल-निर्धारण कठिन हो जाता है और यह आवश्यक हो जाता है कि दिये हुए काल-संकेत को परीक्षा के उपरान्त ही सही माना जाय। जैसा ऊपर बताया जा चुका है विविध ज्योतिष केन्द्रों के बने पंचांगों और पत्रों में अलग-अलग प्रकार से गणना होने के कारण तिथियों का मान अलग-अलग हो जाता है। इससे दी हुई तिथि की परीक्षा से भी सन्तोष नहीं हो पाता, वह तिथि एक पंचांग से ठीक और दूसरे से, गलत सिद्ध होती है। इससे परीक्षक को विविध पंचांगों की भिन्नता में संगत तिथि के अनुसन्धान के आधार का निर्णय करने या कराने की योग्यता भी होनी चाहिये। वैसे आधुनिक ज्योतिषी एल.डी. स्वामीकन्नुपिल्ले की 'इण्डियन ऐफिमेरीज' से भी सहायता ली जा सकती है।

शब्द में काल-संख्या

यह भी हम पहले देख चुके हैं कि भारत में शब्दों में अंकों को लिखने की प्रणाली रही है। इस प्रणाली से भी काल-निर्णय में कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। यह कठिनाई तब पैदा होती है जब जो शब्द अंक के लिए दिया गया है उससे दो-दो संख्याएँ प्राप्त होती हैं—जैसे सागर या समुद्र से दो संख्याएँ मिलती हैं, 4 भी और 7 भी। एक तो कठिनाई यही है कि सागर शब्द से 4 का अंक लिया जाय या 7 का। पर कभी कवि दोनों को ग्रहण करता है, जैसे—

'अष्ट-सागर-पयोनिधि-चन्द्र' यह जगदुर्लभ की कृति उद्धव चमत्कार का रचना-काल है। इनमें 'सागर' भी है और इसी का पर्याय 'पयोनिधि' है। क्या दोनों स्थानों के अंक 4-4 समझे जायें, या 7-7 मानें जायें या किसी एक का 4 और दूसरे का 7, इस प्रकार इतने संवत् बन सकते हैं—

1448
1778
1748
1478

'नेत्र सम युग चन्द्र' से होगा। 1 + 2 = युग, = 3, पुनः 3 (नेत्र)। इसमें युग को '4' भी माना जा सकता है और नेत्र को '2' भी।

वस्तुतः ऐसे दो या तीन अंक बतलाने वाले शब्दों में व्यक्त संवत् को ठीक-ठीक निकालने में अलंध्य कठिनाई भी हो सकती है। तभी उक्त सन्दर्भ से डी.सी. सरकार[1] ने यह टिप्पणी की है—

"Indeed it would have been difficult to determine the date of the composition of the work, inspite of the years in both the eras being quoted."

---

1. Sircar D.C.—Indian Epigraphy, p. 228.

उक्त पुस्तक में ये संवत् अंकों में भी साथ-साथ दिये गये हैं, अत: कठिनाई हल हो जाती है। किन्तु यदि अंकों में संवत् न होता तो उसे तिथि और दिन और पक्ष (शुक्ल या कृष्ण) तथा महीने के साथ पंचांगों में या 'इण्डियन एफीमेरीज' से निकाला जा सकता था।

अंक जब शब्दों में दिये जाते हैं, या अन्यथा भी, भारतीय लेखन में, 'अंकाना वामतो गति:' की प्रणाली अपनायी जाती रही है अर्थात् अंक उलटे लिखे जाते हैं, मानो लिखना है '1233' तो '3 3 2 1' लिखा जाएगा और शब्दों में 'नेत्र राम पक्ष चन्द्र'—(नेत्र) 3, (राम) 3, (पक्ष) 2, (चन्द्र) 1, जैसे रूप में लिखा जाएगा किन्तु यह देखा गया है कि इस पद्धति का अनुकरण भी बहुधा नहीं किया गया है। कितनी ही पुष्पिकाओं (Calophones) में सन् संवत् सीधी गति से ही दे दिया गया है। इससे भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

यथा-संवत् 13 सैंतालीसै समै माहा तीज सुद ताम॥
सखहीयो पोहता सरग हांथांपूरै हाम।[1]

या

सतरै सै पचानवें कातुक उत्तम वास।
वद पष आठमवार रवि कीनौ ग्रन्थ प्रगास॥[2]

या

संवत् सत्रह सै वरष ता ऊपरि चौबीस।
सुकल पुष्य कातिक विषै दसमी सुन रजनीस॥[3]

या

संवत सत्रहसै गये वर्ष दशोत्तर और।
भादव सुदि एकादशी गुरुवार सिर भौर॥[4]

या

संवत् सोलह सोलोतरै आषातीज दीवस मनषरै।
जोड़ी जैसलमेर मंझार बाँच्या सूख पामे संसार॥[5]

या

अष्टादस बत्तीस में। बदि दसमी मधुमास।
करी दीन बिरदावली। या अनुरागी दास॥[6]

---

1. मेनारिया, मोतीलाल—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृ. 2।
2. वही, पृ. 10।
3. वही, पृ. 22।
4. वही, पृ. 36।
5. वही, पृ. 37।
6. वही, पृ. 45।

या

संमत पनरे सै पीचौतरै पुनम फागुण मास।

पंच सहेली वरणवी कवि छीहल परगास॥[1]

या

बदि चैतह साठै बरस तिथि चौदिसिगुरुवार।

बंधे कवित्त सुवित्त परि कुंभल मेर मझारि॥[2]

या

समत उगणी और बतीसा।

चौदह भादू दीत को बासा॥

उत्तम पुला रो पक्ष बुद होई।

लिख्यौ प्रतीति कर आंनो सोई।[3]

या

माघ सुदी तिथि पूरना षग पुष्प अरू गुरुवार

गिनि अठारह सै बरस पुनि तीस संवत सार॥[4]

अब हम यहाँ डी.सी. सरकार की 'इण्डियन ऐपीग्राफी' से एक राजवंश के लेखों में दिये गये उनके राज्यारोहण (Regnal) संवत् का ऐतिहासिक कालक्रम में संगत स्थान निर्धारण करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पूरी गवेषणा को संक्षेप में दे रहे हैं, साथ ही प्रक्रिया को समझाने के लिए टिप्पणियाँ भी दी जा रही हैं। यह हम इसलिए कर रहे हैं कि इस एक उदाहरण से सीधी और जटिल तथा परिस्थितिपरक साक्षियों का एक-साथ ज्ञान हो सकेगा।

प्रश्न 'भौमकार-संवत्' से सम्बन्धित है। भौमकार वंश ने 200 वर्षों के लगभग उड़ीसा में राज्य किया। इनके लेखों तथा इनके अधीनस्थ राज्यों के लेखों में इस संवत् का उल्लेख मिलता है।

---

1. वही, पृ. 50।
2. वही, पृ. 53।
3. वही, पृ. 79।
4. वही, पृ. 108।

डी.सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
1. भौमकार राजाओं का संवत् इस वंश के प्रथम राजा के राज्यारोहण काल से ही आरम्भ हुआ होगा। इस वंश के अठारह राजाओं ने लगभग दो शताब्दी उड़ीसा पर राज्य किया। धर्म महादेवी सम्भवतः इस वंश की अन्तिम शासिका थी जिसका राज्य भौमकार संवत् के 200वें वर्ष के लगभग समाप्त हो गया।	1. यह पहली स्थापनाएँ हैं जो इस वंश के शिलालेखों एवं अन्य लेखों से मिले संवतों के आधार पर विद्वान इतिहासकार ने की हैं। इसी राजवंश के मिले संवतों के तारतम्य को मिलाकर इतनी स्थापना तो की ही जा सकती थी। प्रश्न अब यह है कि दो-सौ वर्ष यह संवत् चला। ये 200 वर्ष हमारे आधुनिक ऐतिहासिक कालक्रम के मानक में ई. सन् में कहाँ रखे जा सकते हैं?
2. एकमात्र अभिलेख-विज्ञान (पोलियोग्राफी) ही की सहायता से काल-निर्णय किया जा सकता था जो कीलहार्न ने दण्डी महादेवी की गंजम प्लेटों का काल अभिलेख लिपि-विज्ञान के आधार पर तेरहवीं शताब्दी ई. के लगभग माना है। इन प्लेटों में एक में भौमकार संवत् 180 वर्ष पड़ा है। सरकार कीलहार्न के इस अनुमान की काट करते हैं—इसके लिए वे गंगवंश के अनन्तवर्मन कोडगंवा की पुरी-कटक क्षेत्र की विजय का उल्लेख करते हैं। इस गंग राजा का समय 1078-1147 (47) ई. निश्चित है, अत: उड़ीसा के पुरी कटक क्षेत्र पर गंगवंश का अधिकार 12वीं शती के प्रथम चरण में हो गया था। तब भौमकार इस क्षेत्र में 13वीं शती तक कैसे विद्यमान रह सकते हैं? दूसरे, उक्त गंगराजा ने पुरी-कटक को सोमवंशियों ने छीना था या जीता था।	2. कीलहार्न का अनुमान लिपि की विशेषता के आधार पर था, पर सरकार ने ऐतिहासिक घटनाक्रम देकर उसे असम्भव सिद्ध कर दिया—फलतः ऐतिहासिक घटनाक्रम यदि निश्चित है तो उसके विरुद्ध कोई अनुमान नहीं माना जा सकता। सरकार ने इन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है— अ. गंग राजा की विजय—1078 ब. इस राजा ने सोमवंशियों से जीता—1147 ई. के बीच इससे यह निष्कर्ष भी निकाला कि गंगवंश की विजय से पूर्व तो भौमकार वंश का राज्य होगा ही, वरन् वह सोमवंश के शासन से भी पूर्व होगा।

डी.सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
अतः भौमकारों का शासन इस क्षेत्र पर उन सोमवंशियों से भी पूर्व रहा होगा, जो गंगवंश से पूर्व पुरी-कटक क्षेत्र पर शासन कर रहें थे। अतः कीलहार्न का अनुमान इन ऐतिहासिक घटनाओं से कट जाता है। फलतः भौमकारों का समय 1100 ई. से पूर्व होगा।	
2. बी—इसी प्रसंग में सरकार यह भी कहते हैं कि भौमकारों ने अपने लेखों में सदा अंक प्रतीकों (Numeral Symbols) का उपयोग किया है, (Figure) का नहीं। इस तथ्य से यही सिद्ध होता है कि उनका 1000 ई. के बाद राज्य नहीं चला।	कीलहार्न के अनुमान के आधार को सरकार ने अभिलेख-लिपि-विज्ञान से भी काटा है— अंक प्रतीकों का प्रयोग 1000 ई. तक रहा। बाद में संख्या का प्रयोग होने लगा। अतः सिद्ध है कि लेखों में 'संख्या' का प्रयोग प्रचलित होने से पूर्व, यानी 1000 ई. से पूर्व के भौमकारों के लेख हैं, क्योंकि उनमें अंक-प्रतीक हैं। अतः भौमकार भी 1000 ई. से पूर्व हुए। इस प्रकार सरकार ने भौमकारों के काल की निचली सीमा भी निर्धारित कर दी। अभिलेख-लिपि-विज्ञान अक्षरों के रूपों तथा लेखन-वैशिष्ट्यों के आधार पर काल-निर्धारण में सहायक होता है—जब कोई अन्य साधन न हो तो इसे आधार माना जा सकता है।
3. फिर सरकार ने सिल्वियन लेवी का सुझाव दिया है कि चीनी स्रोतों में जिस महायानी बौद्ध राजा का नाम मिलता है, जो बु-चअ (ओड़-उड़ीसा) का राजा था और जिसने स्वहस्ताक्षरयुक्त एक पाण्डुलिपि चीनी सम्राट को 795 ई. में भिजवाई थी,	3. इसमें सरकार ने उन साक्षियों का उल्लेख किया है, जो विदेश से मिली हैं, और समसामयिक हैं। चीनी में भारतीय भौमकारों के किसी राजा के नाम जो अर्थ दिया है, उससे एक विद्वान् ने एक राजा के, दूसरे ने दूसरे के नाम को तद्वत् स्वीकार किया है।

	डी.सी. सरकार का विवरण		टिप्पणियाँ
	वह भौमकार वंश का राजा शुभाकर प्रथम था। चीनी में इस राजा के नाम का अनुवाद यों दिया है— भाग्यशाली सम्राट्, जो वही करता है जो सुकृत्य है, सिंह, इस चीनी विवरण के आधार पर लेवी ने शुभाकर प्रथम को वह राजा माना है और इसका मूल नाम शुमकरसिंह (या केसरिन) होगा, यह कल्पना की है। आर.सी. मजूमदार ने चीनी विवरण के आधार पर उक्त शुभाकर प्रथम के पिता को वह राजा माना है जिसने 795 ई. में पुस्तक भेजी थी— इसका नाम था 'शिवकर प्रथम उन्मत्त सिंह'। इन आधारों पर भौमकार-वंश के राज्य की दो शताब्दियाँ, 750-950 ई. या 775-975 ई. के बीच स्थिर होती हैं।		चीनी में इस घटना का सन् दिया हुआ है, जिससे ई. सन् हमें विदित हो जाता है और उक्त रूप में काल-निर्णय सम्भव हो जाता है।
4.	भांडारकर ने भी इनका काल-निर्णय किया— इस आधार पर कि भौमकार-संवत् और 606 ई. वाले 'हर्ष संवत्' को एक माना जाय। इस गणना से भौमकार 606-806 ई. में हुए। सरकार की आलोचना है कि अभिलेख लिपि-विज्ञान से भौमकारों का समय बाद का बैठता है। सरकार ने यह भी दिखाया है कि भांडारकर ने 100 और 200 के जो प्रतीक इन लेखों में आये हैं उन्हें पढ़ने में भूल कर दी हैं— लु-100 और लू-200। ये 'लु' को 'लू' पढ़ गये हैं।	4.	सरकार ने भांडारकर की लिपि-पठन की भूल बताकर लिपि-विज्ञान के उस महत्त्व को और सिद्ध किया है, जिससे वह काल-निर्णय में सहायक होता है।
5.	अब सरकार महोदय एक अन्य ज्ञात काल से इस अज्ञात की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं।		

डी.सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
इसके लिए इन्होंने धृतिपुर और वंजुलवक के भंज राजाओं का आधार लिया है, उनमें से रणभंज को सोमवंशी सम्राट महाशिव गुप्त ययाति प्रथम (970–1000 ई.) का समकालीन सिद्ध किया है और उधर पृथ्वी महादेवी उपनाम त्रिभुवन महादेवी द्वितीय को उक्त सोमवंशी सम्राट की पुत्री बताया है। इस भौमकार शती के लेखों का एक संवत् 158 है। यह भौमकर संवत् है।	
पृथ्वी महादेवी के बौड (Baud) प्लेट का संवत् 158 और उसके पिता सोमवंशी महाशिवगुप्त ययाति प्रथम का अपने राज्य के नवम् वर्ष का दान—लेख सरकार ने प्रायः एक ही समय के माने हैं। यह नवम् राज्य-वर्ष सन् 978 ई. में पड़ता है। अतः भौमकार संवत् का आरम्भ इसमें से 158 पृथ्वी महादेवी के लेखक का वर्ष घटा देने से 820 ई. आता है। यही सन् अनुमानतः भौमकार संवत् के आरम्भ का सन् हो सकता है, इसके बाद नहीं।	5. ये समस्त तर्क और युक्तियाँ ज्ञात सन् संवतों के समसामयिक संवतों की स्थापना कर उनसे भौमकारों के संवत् का सम्बन्ध बिठाकर इस अज्ञात संवत् के आरम्भ को ज्ञात करने के लिए दिये गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई ज्ञात सम्बन्धों की सन्धि बिठाकर अज्ञात की समस्या हल करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।
6. अन्त में, सरकार ने शत्रु भंज के लेख में आये विस्तृत तिथि-विवरण को लिया है। इसमें भौमकार वंश सम्वत् 198 के साथ यह विवरण भी दिया है—विषुव-संक्रान्ति, रविवार, पंचमी, मृगशिरा नक्षत्र। अब इस सबकी पंचांग में खोज करने पर उस काल में 23 मार्च, 1029 ई. को ही उक्त तिथि बैठती है। इस गणना से भौमकार-सम्वत् 831 ई. से आरम्भ हुआ।	6. उक्त ऐतिहासिक घटना और राज्यकालों के साम्यों से जो वर्ष मिलता है उसमें और इसमें 11 वर्ष का अन्तर है। यह अन्तिम ज्योतिषीय प्रमाण अधिक अकाट्य लगता है, क्योंकि जो विवरण तिथि का लेख में है उस विवरण की तिथि एक-एक शताब्दी में दो-चार ही हो सकती है, अतः यह निष्कर्ष प्रामाणिक माना जा सकता है।

इस एक उदाहरण से विस्तारपूर्वक हमने उस पद्धति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है, जिससे अज्ञात तक पहुँचने के प्रयत्न किये जाते हैं। ये समस्त प्रयत्न अन्तिम को छोड़कर बाह्य साक्ष्यों और प्रमाणों पर ही निर्भर करते हैं।

अब हमें यह देखना है कि जहाँ किसी भी प्रकार के सन्-सम्वत् का उल्लेख न हो वहाँ काल-निर्णय या निर्धारण की पद्धति क्या अपनायी जाती है।

साक्ष्य : बाह्य अन्तरंग

ऐसे लेखपत्र या ग्रन्थ का काल-निर्णय करने में जिन बातों का आश्रय लेना पड़ता है उनमें से कुछ ये हैं—

(1) बाह्य साक्ष्य :

(क) बाह्य उल्लेख—अन्य कवियों द्वारा उल्लेख

(ख) अनुश्रुतियों—कवि-विषयक लोक-प्रचलित अनुश्रुतियाँ

(ग) ऐतिहासिक घटनाएँ

(घ) सामाजिक परिस्थितियाँ

(ङ) सांस्कृतिक-उपादान

(2) अन्तरंग साक्ष्य :

(क) अन्तरंग साक्ष्य का स्थूल पक्ष

1. लिपि
2. कागज-लिप्यासन
3. स्याही
4. लेखन-पद्धति
5. अलंकरण
6. अन्य

(ख) अन्तरंग साक्ष्य : सूक्ष्म पक्ष

1. विषयवस्तु से
2. ग्रन्थ में आये उल्लेखों से

क. ऐतिहासिक उल्लेख

ख. कवियों-ग्रन्थकारों के उल्लेख

ग. समय-वर्णन

घ. सांस्कृतिक बातें

ङ. सामाजिक परिवेश

3. भाषा वैशिष्ट्य से

क. व्याकरणगत

ख. शब्दगत

ग. मुहावरागत

(3) वैज्ञानिक :

(क) प्राप्ति-स्थान की भूमि का परीक्षण

(ख) वृक्ष परीक्षण

(ग) कोयले से आदि

बाह्य साक्ष्य

जब किसी ग्रन्थ में रचना-काल न दिया गया हो तो इसके निर्णय के लिए बाह्य साक्ष्य महत्त्वपूर्ण रहता है।

इसका एक रूप तो यह होता है कि सन्दर्भ ग्रन्थ में देखा जाये। ऐसी पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें कवि और इनके ग्रन्थों का विवरण दिया होता है। उदाहरणार्थ, 'भक्तमाल और उसकी टीकाओं' में कितने ही भक्त कवियों के उल्लेख हैं। उनकी सामग्री में आये संकेतों से कवि या उसकी कृति के काल-निर्धारण में सहायता मिल सकती है। अन्य साक्षियों और प्रमाणों के अभाव में कम से कम 'भक्तमाल' में आये उल्लेख से काल-निर्धारण की दृष्टि से निचली सीमा तो मिल ही जाती है, क्योंकि जिन कवियों का उल्लेख उसमें हुआ है, वे सभी 'भक्तमाल' के रचना-काल से पूर्व ही हो चुके होंगे। दूसरे शब्दों में उनका समय 'भक्तमाल' के रचना-काल के बाद नहीं जा सकता।

किन्तु इस सम्बन्ध में भी एक बात ध्यान में रखनी होगी कि 'भक्तमाल' जैसी कृतियों में, जैसे सभी कृतियों में सम्भव है प्रक्षिप्तांश या क्षेपक हों, ऐसे अंश हों जो बाद में जोड़े गये हों। प्रक्षेपों की विशेष चर्चा पाठालोचन वाले अध्याय में की गयी है, अतः ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थ के उसी अंश के ऊपर निर्भर किया जा सकता है जो मूल है, क्षेपक नहीं। इन सन्दर्भ ग्रन्थों में ऐसे ग्रन्थ भी हो सकते हैं जो पूरी तरह किसी कवि पर ही लिखे गये हों जैसे— 'तुलसी-चरित' और 'गोसाई-चरित।'

तुलसी चरित महात्मा रघुवरदास रचित है। ये तुलसी के शिष्य थे। यह ग्रन्थ आकार में महाभारत के समान कहा गया है और 'गोसाई चरित' के लेखक बेणी माधवदास हैं। यह वृहद् ग्रन्थ था जो आज उपलब्ध नहीं। बेणीमाधवदास ने इस 'गोसाई चरित' से दैनिक पाठ के लिए एक छोटा संस्करण तैयार किया—यह 'मूल गुसाई चरित' कहलाया, यह उपलब्ध है। बेणीमाधवदास गोस्वामी तुलसीदास के अन्तेवासी थे। इसमें इन्होंने तुलसीदास की क्रमबद्ध विस्तृत जीवन-कथा दी है और जहाँ-तहाँ सम्वत् भी यानी काल-संकेत भी दिये हैं। अतः तुलसी की जीवन घटनाओं और उनकी विविध कृतियों की तिथियाँ हमें इस ग्रन्थ से प्राप्त हो जाती है—इससे बड़ी भारी काल-निर्णय सम्बन्धी समस्या हल होती प्रतीत होती है।

इसमें तुलसी विषयक सम्वत् निम्न रूप में दिये गये हैं—

(1)	जन्म—सं. 1554 (रजिया राजापुर)	
(2)	माता की मृत्यु तुलसी जन्म से चौथे दिन	
(3)	विवाह—सम्वत् 1583 में	
(4)	पत्नी का शरीर त्याग एवं तुलसी को विरक्ति	सं. 1589 में
(5)	सूरदास तुलसी से मिले और अपना 'सागर' दिखाया	सं. 1616 में
(6)	रामगीतावली कृष्णगीतावली का संग्रह	सं. 1628 में
(7)	रामचरितमानस का आरम्भ	सं. 1631 में
(8)	दोहावली संग्रह	सं. 1640 में
(9)	वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि	सं. 1641 में
(10)	सतसई रची	सं. 1642 में
(11)	मित्र टोडर की मृत्यु	सं. 1669 में
(12)	जहांगीर मिलने आया	सं. 1670 में
(13)	मृत्यु	सं. 1680 में श्रावण श्यामा तीज

किन्तु स्वयं ऐसे सभी बहि:साक्ष्यों की प्रामाणिकता भी सबसे पहले परीक्षणीय होती है। 'मूल गुसाई चरित' की प्रामाणिकता की जब ऐसी ही परीक्षा की गई तो विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह 'मूल गुसाई चरित' अप्रामाणिक है। यह क्यों अप्रामाणिक है, इसके लिए डॉ. उदयभानुसिंह[1] ने 14 कारण और तर्क संकलित किये हैं जो इस प्रकार हैं—

'मूल गोसाई चरित' सं. 1687 की कार्तिक शुक्ला नवमी को रचा गया।

'मूल गोसाई चरित' अविश्वसनीय पुस्तक है। इसकी अविश्वसनीयता के मुख्य कारण हैं—

(1) यह पुस्तक ऐसे अलौकिक चमत्कारों से भरी पड़ी है जिन पर विश्वास करना किसी विवेकशील के लिए असम्भव है।

(2) इसमें कहा गया है कि तुलसी के बाल्यकाल में उनके भरण-पोषण की चिन्ता चुनियां, पार्वती, शिव और नरहर्यानिंद ने की। स्पष्ट है कि तुलसी जीविका के विषय में निश्चिंत रहे। इसके विपरीत, कवि के स्वर में स्वर मिलाकर यह भी कह दिया गया है कि उस बालक का द्वार-द्वार डोलना हृदय-विदारक था। ये परस्पर विरोधिनी उक्तियाँ असंगत है।

---

1. सिंह, उदयभानु (डॉ.)—तुलसी काव्य मीमांसा, पृ. 23-25।

(3) इसके अनुसार एक प्रेत ने तुलसी को हनुमान का दर्शन करा कर राम दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु अन्तस्साक्ष्य से सिद्ध है कि तुलसी भूतप्रेत पूजा के विरोधी हैं।[1]

(4) इसमें 'विनय पत्रिका' को 'रामविनयावली' नाम दिया गया है। कोई ऐसी प्रति नहीं मिलती जिसमें यह नाम उपलब्ध हो। हाँ, रामगीतावली नाम अवश्य पाया जाता है।

(5) इसके अनुसार 'गीतावली' (सं. 1616-18) कवि की सर्वप्रथम कृति है। 'कृष्णगीतावली' (सं. 1628), 'कवितावली' (सं. 1628-42), 'रामचरित मानस' (1631-33), 'विनय पत्रिका' (1639), 'रामललानहछू' (1639), 'जानकी मंगल' (1639), 'पार्वती मंगल' (1639) और दोहावली (1640) बारह वर्षों के आयाम में लिखी गयी। सं. 1670 में चार पुस्तकों की रचना हुई—'बरबै रामायण', 'हनुमान बाहुक', 'वैराग्य संदीपनी' तथा 'रामाज्ञा प्रश्न'। इसमें अनेक असंगतियाँ अवेक्षणीय हैं। 'गीतावली'—जैसी प्रौढ़ कृति प्रारम्भिक बतलायी गयी है और 'वैराग्य संदीपनी' एवं 'रामाज्ञा-प्रश्न' के सदृश अप्रौढ़ कृतियाँ अन्तिम। तीस वर्षों (1640-70) तक कवि ने कोई रचना नहीं की। क्या उसकी प्रतिभा मूर्च्छित हो गई थी?

(6) इसमें 'रजियापुर' (राजापुर) को तुलसी का जन्म स्थान कहा गया है। लेकिन ऐतिहासिक स्रोतों से सिद्ध हैं कि सं. 1813 तक उस स्थान का नाम 'विक्रमपुर' रहा है।

(7) इसके अनुसार सं. 1616 में सूरदास ने चित्रकूट पहुँचकर तुलसी को 'सागर' दिखाया और आशीष माँगा। सं. 1616 तक तो तुलसी ने एक भी रचना नहीं की थी। और उनकी कीर्ति 'रामचरित मानस' की रचना (सं. 1631) के बाद फैली। उन्हें 'सागर' दिखाने की क्या तुक थी? यह भी हास्यास्पद लगता है कि वयोवृद्ध, प्रतिष्ठित और अंधे सूरदास ने चित्रकूट जाकर उन्हें 'सागर' दिखाया।

(8) इसमें वर्णित है कि सं. 1616 में मीरांबाई ने तुलसी को पत्र लिखा था। मीरां सं. 1603 तक दिवंगत हो चुकी थीं, 1616 में उन्होंने पत्र कैसे लिखा?

(9) यद्यपि लेखक ने केशवदास-सम्बन्धी घटनाओं के निश्चित समय का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है तथापि सन्दर्भ से अवगत है कि वे 1643 के लगभग तुलसी से मिले और सं. 1650 के लगभग केशव के प्रेत ने तुलसी को घेरा। स्वयं केशवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' का रचनाकाल सं. 1658 है[2], न

---

1. दोहावली, 65; रामचरितमानस, 2/167।
2. सोरह सै अट्ठावना कातक सुदि बुधवार।
   रामचन्द्र की चन्द्रिका तव लीनो अवतार। रामचन्द्रिका, 1/6

कि सं. 1643। और, यह गप्प की हद है कि केशव ने रात भर में 'रामचन्द्रिका' का निर्माण कर डाला — अपने को अप्राकृत कवि सिद्ध करने के लिए। इसके अतिरिक्त सं. 1651 के लगभग केशव का प्रेत तुलसी से कैसे मिला? यह तथ्य निर्विवाद है कि उनका देहान्त सं. 1670 के बाद हुआ। उन्होंने अपनी 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का रचना काल सं. 1669 बतलाया है।[1]

(10) दिल्लीपति अकबर और जहाँगीर वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं का इतिहास में कोई संकेत नहीं मिलता। अत: वे तथ्य-विरुद्ध हैं।

(11) 'चरित' के अनुसार टोडर की सम्पत्ति का बँटवारा उनके उत्तराधिकारी पुत्रों के बीच किया गया। परन्तु बँटवारे का पंचायतनामा उपलब्धहै। इस 'पंचायतनामे' से प्रमाणित है कि यह बँटवारा उनके पुत्र और पौत्रों के बीच हुआ था।[2]

(12) इसमें कहा गया कि तुलसी के शाप के फलस्वरूप हाथी ने गंग को कुचल डाला। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जिस गंग को हाथी से कुचलवाया गया था वह औरंगजेब का समकालीन था। औरंगजेब सं. 1715 में बादशाह हुआ था। इसलिये सं. 1639 मं गंग की कथित दुर्घटना सम्भव नहीं हो सकती।

(13) इसके अनुसार नाभादास 'विप्रसंत' थे। इस विषय में कोई साक्ष्य नहीं है। परम्परा में उनको 'हनुमानवंशी' अथवा डोम माना गया है।

(14) 'चरित' में उल्लिखित तिथियों में से तुलसी के जन्म (सं. 1554, श्रावण शुक्ला 7, कर्क के बृहस्पति-चन्द्रमा, वृश्चिक के शनि), यज्ञोपवती (सं. 1651,[3] माघ-शुक्ला 5, शुक्रवार), विवाह (सं. 1583, ज्येष्ठ शुक्ला 13, गुरुवार), पत्नी निधन (सं. 1589, आषाण कृष्णा 10, बुधवार), मानस-समाप्ति (सं. 1633, मार्गशीर्ष शुक्ला 5, मंगलवार) और स्वर्गवास (सं. 1680, श्रावण कृष्ण 3, शनिवार), की तिथियाँ गणना योग्य हैं। पुरातत्त्व-विभाग से जाँच करवा कर डॉ. रामदत्त भारद्वाज ने बतलाया है[4] कि इनमें से केवल यज्ञोपवीत और विवाह की तिथियाँ ही सत्यापित हैं। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने पत्नी-देहान्त की तिथि को भी शुद्ध माना है। शेष चार तिथियाँ किसी भी गणना-प्रणाली से शुद्ध नहीं उतरतीं।[5] तुलसी के अंतेवासी की यह अनभिज्ञता 'चरित' की प्रामाणिकता को खण्डित करती है।

---

1. सौरह सै उनहत्तरां माधव मास विचारु। जहाँगीर सक साहि की करी चन्द्रिका चारु॥
   जहाँगीर जस चन्द्रिका, 2।
2. पंचायतनामे के शब्द हैं — अनंदराम बिन टोडर विन देवराय व कँधई बिन रामभद्र विन टोडर मजकूर।
3. यह संवत् 1561 होना चाहिए।
4. गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 48।
5. तुलसीदास, पृ. 47।

संख्या 5 में डॉ. सिंह ने तुलसी की विविध कृतियों के काल को अप्रामाणिक बतलाने के लिये उनकी प्रौढ़ता को आधार बनाया है। यह साहित्यिक तर्क महत्त्वपूर्ण है। 'गीतावली' कवि की प्रारम्भिक कृति नहीं हो सकती, वह प्रौढ़ कृति है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'तुलसीदास' में इन ग्रन्थों के रचनाकाल का निर्धारण वैज्ञानिक विधि से किया है। वह दृष्टव्य है।

संख्या 7 में दिया संवत् इसलिये आमन्य बताया गया है कि वह असंगत है—सूर तो 'सागर' पूरा कर चुके थे, और तुलसी 1616 तक एक भी रचना नहीं कर पाये थे—तब सूर जैसे अंधे और वृद्ध व्यक्ति का 1616 से तुलसी जैसे अविख्यात व्यक्ति से आशीष लेने जाने में संगति नहीं बैठती।

संख्या 8 में घटना को असम्भवता के आधार पर अप्रामाणिक बताया गया है। मीरां की मृत्यु 1603 तक हो चुकी थी, 1616 में पत्र लिखना असम्भव बात है।

संख्या 9 में अप्रामाणिकता का आधार 'तथ्य-विरोध' है। तथ्य यह है केशव ने रामचन्द्रिका 1658 में रची। मूल गुसांई चरित में 1643 व्यंजित होती है। फिर, तथ्य है कि केशव की मृत्यु 1670 के बाद हुई, तब 1651 में केशव का प्रेत तुलसी से कैसे मिला, यह तथ्य-विरोधी बात है—अत: अमान्य है।

संख्या 14 में संवत् दिये गये हैं उनमें तिथियाँ तथा अन्य विस्तार भी हैं जिनसे उनकी परीक्षा '**गणना**' द्वारा की जा सकती है। 'पुरातत्त्व विभाग' की गणना से तथा डॉ. माताप्रसाद गुप्त की गणना से कई तिथियाँ अमान्य हैं, क्योंकि वे सत्यापित नहीं होतीं। '**गणना**' का आधार सबसे अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक होता है।

इस प्रकार हमने इस एक उदाहरण से देखा है कि प्रौढ़ता-द्योतक क्रम की अवहेलना असंगति असम्भावना, तथ्य विरोध एवं 'गणना' से असिद्ध होना कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे प्रामाणिकता अमान्य हो जाती है।

ऐसा 'बहि:साक्ष्य' यदि प्रामाणिक हो तो बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि बहि:साक्ष्य को महत्त्व देते समय उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा हो जानी चाहिये। जो **प्रामाणिक** है, वही महत्त्व का हो सकता है। कितने ही ऐसे कवि या व्यक्ति हो सकते हैं जिनका पता ही बहि:साक्ष्य से लगता है। जैसे—उपर्युक्त 'तुलसी चरित' और उसके लेखक का पहला उल्लेख 'शिवसिंह सेंगर' के 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। पर वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। जो उपलब्ध हुआ बनावटी ग्रन्थ है।

इसी प्रकार संस्कृत आचार्य भामह ने दो स्थानों पर एक मेघाविन् का उल्लेख किया है। 'त एत उपमादोषा: सप्त मेघाविनोदिता:' (II-40) तथा 'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकार बिन्दु:। संख्यानमिति मेघाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित',[1] इनसे विदित होता है कि किसी मेघावी या मेघाविन् ने उपमा के सात दोष बताये हैं, तथा वह 'यथासंख्य' अलंकार को 'संख्यान्' नाम देता है, और उसको अलंकार नहीं कहता। इस उल्लेख से 'मेघाविन्' का

---

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. XIII.

नाम सामने आता है जिससे पहले विद्वान् परिचित नहीं थे। तब, भामह के बाद इसकी पुष्टि नेमिसाधु से भी हो जाती है, मेघाविन् या मेघाविरुद्र नाम का आचार्य हुआ है—यह भी अलंकारशास्त्र का आचार्य था। भामह के उल्लेख से 'मेघाविन्' की निचली काल सीमा भी निर्धारित हो जाती है। भामह की कालावधि काणे ने 500 और 600 ई. के बीच दी है। 500 भामह के काल की ऊपरी सीमा और 600 निचली अवधि। 'मेघाविन्' भामह से पूर्व हुए थे।

इस प्रकार बाह्य उल्लेखों से अज्ञात कवि का पता भी चलता है, और उसकी निचली कालावधि ज्ञी ज्ञात हो जाती है।

ऐसे प्रसंग पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये चुनौती का काम करते हैं कि वह प्रयत्न करे और ऐसे कवि की किसी कृति का उद्घाटन करे।

अनुश्रुति या जनश्रुति

लोक में प्रचलित प्रवादों को एकत्र कर परीक्षापूर्वक प्रामाणिक मान कर उनके आधार पर काल विषयक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे—यह जनश्रुति कि मीराँ ने तुलसी को पत्र लिखा था, और तुलसी ने भी उत्तर दिया था। यदि यह सत्यापित हो सकता तो दोनों समकालीन हो जाते और कालक्रम में तुलसी पहले रखे जाते क्योंकि वे इतनी ख्याति पा चुके थे कि मीराँ उनसे परामर्श माँग सकी। मीराँ उनसे उम्र में छोटी सिद्ध होती, पर जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि यह जनश्रुति सत्यापित नहीं होती। मीराँ तुलसी से पहले ही दिवंगत हो चुकी थी। अतः जनश्रुति का मूल्य उस समय तक नगण्य है जब तक कि अन्य ठोस आधारों से वह प्रामाणिक न सिद्ध हो जाय। फिर भी, जनश्रुति का संकलन और अध्ययन अपेक्षित तो है ही। उसमें से कभी-कभी महत्त्वपूर्ण खोई कड़ी मिल सकती है।

इतिहास एवं ऐतिहासिक घटनाएँ

ऐतिहासिक घटनाएँ बाह्य साक्ष्य हैं। इनकी सहायता प्रायः किसी अन्तःसाक्ष्य के सहारे से ली जा सकती हैं। स्वतंत्र रूप से भी इतिहास सहायक हो सकता है। जैसे—वामन के सम्बन्ध में राजतंरगिणी में उल्लेख है कि वह जयापीड़ का मंत्री था और व्यूहलर ने बताया है कि काश्मीरी पंडितों में यह जनश्रुति है कि यह जयापीड़ का मंत्री वामन ही 'काव्यालंकार-सूत्र' का रचयिता और 'रीति' सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। इस ऐतिहासिक आधार पर 'वामन' का काल 800 ई. के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध का कोई सन्दर्भ हमें वामन की कृति में नहीं मिलता। इतिहास का उल्लेख और अनुश्रुति से पुष्टि—ये दो बातें ही इसका आधार हैं। हाँ, अन्य बहिःसाक्ष्यों से पुष्टि अवश्य होती है। अतः किसी भी ऐसे स्वतंत्र ऐतिहासिक उल्लेख की अन्य विधि से भी पुष्टि की जानी चाहिये।

कवि के अन्तःसाक्ष्य के सहारे इतिहास या ऐतिहासिक घटना के आधार पर काल-निर्णय करने की दृष्टि से 'भट्टि' को ले सकते हैं।

भट्ट ने 'भट्टि काव्य' में लिखा है कि 'काव्यमिंद विहितं मया वलाभ्यां श्रीधरसेन-नरेन्द्रपालितायाम्'।

इससे प्रकट होता है कि भट्टि ने राजा श्रीधरसेन के आश्रय में वलभी में 'भट्टि काव्य' की रचना की, किन्तु रचना का काल नहीं दिया। अब इनका काल-निर्धारण करने के लिए वलभी के श्रीधरसेन का काल निश्चित करना होगा, और इसके लिये इतिहास से सहायता लेनी होगी। इतिहास से विदित होता है कि 'श्रीधरसेन प्रथम' का कोई लेख नहीं मिलता। श्रीधरसेन द्वितीय का सबसे पहला लेख वलभी सं. 252 का है जो 571 ई. का हुआ। श्रीधरसेन चतुर्थ का अन्तिम लेख वलभी संवत् 332 का मिला है, जो ई. सन् 651 का हुआ। इसी प्रकार श्रीधरसेन के उत्तराधिकारी द्रोणसिंह का लेख वलभी संवत् 183 अर्थात् 502 ई. का मिला है। अत: भट्टि का समय 500 से 650 ई. के बीच होना चाहिये। मन्दसौर के सूर्य मन्दिर के शिलालेख का सन् 473 ई. है। इसके लेखक वत्सभट्टि को बी.सी. मजूमदार ने 'भट्टि काव्य' से साम्य के आधार पर भट्टि माना है। तब भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के समय में हुए जो 500 ई. से पहले था।

स्पष्ट है कि श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए, अत: समस्या रही कि किस श्रीधरसेन के समय भट्टि हुए, तब 'काव्य साम्य' के आधार पर वत्सभट्टि और 'भट्टि काव्य' रचयिता भट्टि को एक मान कर वत्सभट्टि के 413 ई. के लेख से भट्टि को प्रथम श्रीधरसेन के समय 500 ई. से पहले का मान लिया गया।

'कृति' में काल का संकेत न होने पर अन्त: साक्ष्य के किसी सूत्र को पकड़ कर इतिहास की सहायता से काल-निर्धारण के रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक है नाट्य-शास्त्र के काल-निर्णय की समस्या। अनेक विद्वानों ने अपनी तरह से 'नाट्य-शास्त्र' की रचनाकाल निर्धारित करने के प्रयत्न किये हैं, पर काणे महोदय ने प्रो. सिल्वियन लेवी का एक उदाहरण दिया है कि उन्होंने 'नाट्य-शास्त्र' में सम्बोधन सम्बन्धी शब्दों में 'स्वामी' का आधार लेकर और चष्टन जैसे भारतीय शक शासक के लेख में चष्टन के लिये 'स्वामी' का उपयोग देखकर यह सिद्ध किया कि भारतीय 'नाट्य-कला' का आरम्भ भारतीय शकों के क्षत्रपों के दरबारों से हुआ—अर्थात् विदेशी शक-राज्यों की स्थापना से पूर्व भारतवासी नाटक से अनभिज्ञ थे। नाट्य-शास्त्र में 'स्वामी' शब्द का सम्बोधन भी शक शासकों के दरबारों में प्रचलित शिष्ट प्रयोगों से लिया गया है। इन क्षत्रपों के राज्यकाल में ही प्राकृत भाषाओं का स्थान संस्कृत लेने लगी—या, भाषा विषयक प्रवृत्ति का परिवर्तन विदेशी शासन का प्रभाव था जो नाट्य-शास्त्र से विदित होता है। काणे महोदय की यह टिप्पणी इस विषय पर दृष्टव्य है—

"Inspite of the brilliant manner in which the arguments are advanced, and the vigour and confidence with they are set forth, the theory that the Sanskrit theatre came into existence at the court of the **Kshatrapas** and that the supplanting of the Prakrits by classical Sanskrit was led by the foreign **Kshatrapas** appears, to say the least, to be an imposing structure built upon very slender foundations"[1]

---

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. VIII.

इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास की सहायता लेते समय भी बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। यह भी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि कहीं प्रक्रिया उलटी तो नहीं। चष्टन के लेख में 'स्वामी' का प्रयोग कहाँ से कैसे आ गया? क्या यह शक शब्द है? जब ऐसा नहीं तो स्पष्ट है कि लेखक या सूत्रधार या शिल्पकार, जिसने चष्टन का लेख तैयार किया या उत्कीर्ण किया वह, भारतीय नाट्य-शास्त्र से परिचित था, वहीं से सम्बोधन के लिये संस्तुत शब्दों में से 'स्वामी' शब्द को लेकर उसने चष्टन के लिये उसका प्रयोग किया। यह स्थिति अधिक संगत है।

अत: यह भी देखना होगा कि किसी स्थापना के लिये कोई अन्य विकल्प भी है, यदि कोई अन्य विकल्प भी हो तो उसका समाधान भी कर दिया जाना चाहिये।

इतिहास के कारण कवि द्वारा दिये काल संकेत को लेकर संकट या झमेले भी खड़े हो सकते हैं, इसे भी ध्यान में रखना होगा। इसके लिये 'जायसी' के पद्मावत का उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। इसको डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में उनके ग्रन्थ 'पद्मावत' के मूल और सजीवनी भाष्य की भूमिका से उद्धृत किया जा रहा है—

जायसी कृत दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख पद्मावत में है। उसमें सूरवंशी सम्राट शेरशाह का शाहे वक्त के रूप में वर्णन किया गया है—

सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खण्ड तपइ जस भानू। 131

जायसी के वर्णन से विदित होता है कि शेरशाह उस समय दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुका था और उसका भाग्योदय चरम सीमा पर पहुँच गया था। हुमायूं के ऊपर शेरशाह की विजय चौसा युद्ध में 26 जून, 1539 को और कन्नौज के युद्ध में 17 मई, 1540 को हुई। दिल्ली के सुलतान पद पर उसका अभिषेक 26 जनवरी, 1542 को हुआ। जायसी ने पद्मावत के आरम्भ में तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

सन नौसै सैतालिस अहै। कथा आरम्भ बैन कवि कहै ॥24॥

इसका 947 हिजरी 1540 ई. होता है। उस समय शेरशाह हुमायूं को परास्त करके हिन्दुस्तान का सम्राट् बन चुका था, यद्यपि उसका अभिषेक तब तक नहीं हुआ था। 947 के कई नीचे लिखे पाठान्तर मिलते हैं।

(1)	गोपाल चन्द्र जी की तथा माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ	927 हि. = 1521 ई.
	पद्मावत का अलाउल कृत बंगला अनुवाद[1]	927 हि. = 1551 ई.
(2)	भारत कला भवन काशी की कैथी प्रति[2]	936 हि. = 1530 ई.

1. यह अनुवाद 1645-1652 के बीच सुदूर अराकान राज्य के मंत्री मगन ठाकुर ने अलाउल नामक कवि से कराया था—
सेख मुहम्मद जती। जखने रचिले पुथी।
संख्या सप्तविंश नव शत।
2. सन नौ सै छत्तीस जब रहा।
कथा उरेहि वएन कवि-कवि कहा।
(भारत कला भवन, काशी की कैथी प्रति)

(3) 1109 हि. 1697 ई. में लिखित माता-
प्रसाद की प्रति द्वि. 3 — 945 हि. = 1539 ई.

(4) माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ, तथा रामपुर
की प्रति — 947 हि. = 1540 ई.

(5) बिहार शरीफ की प्रति — 948 हि. = 1542 ई.

927, 936, 945, 947, 948 इन पाँच तिथियों में हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य के आधार पर 927 पाठ सबसे अधिक प्रामाणिक जान पड़ता है। पद्मावत की सन् 1801 की लिखी एक अन्य प्रति में भी ग्रन्थ रचना-काल 927 मिला था (खोज रिपोर्ट, 14वाँ त्रैवार्षिक विवरण, 1929-31, पृ. 62)। 927 पाठ के पक्ष में एक तर्क यह भी है कि यह अपेक्षाकृत क्लिष्ट पाठ है। विपक्ष में यही युक्ति है कि शेरशाह के राज्यकाल से इसका मेल नहीं बैठता। शुक्ल जी ने प्रथम संस्करण में 947 पाठ रखा था, पर द्वितीय संस्करण में 927 को ही मान्य समझा क्योंकि अलाउल के अनुवाद में उन्हें यही सन् प्राप्त हुआ था। अवश्य ही यह एक ऐसी साक्षी है जो उस पाठ के पक्ष में विशेष ध्यान देने के लिये विवश करती है। 927 या 947 की संख्या ऐसी नहीं जिसके पढ़ने या अर्थ समझने में रुकावट होती। अतएव उसके भी जब पाठ-भेद हुए तो उसका कुछ सविशेष कारण ऐसा होना चाहिये जो सामान्यत: दूसरे प्रकार के पाठान्तरों में लागू नहीं होता। मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर 947 पाठ को समीचीन लिखा था, किन्तु अब प्रतियों की बहुल सम्मत्ति एवं क्लिष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि 927 मूल पाठ था और जायसी ने पद्मावत का आरम्भ इसी तिथि से अर्थात् 1521 में कर दिया था। ग्रन्थ की समाप्ति कब हुई, कहना कठिन है, किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था। बाबर के राज्य काल का तो स्पष्ट उल्लेख है ही (आखिरी कलाम 811)। उसके बाद हुमायूं का राज्यारोहण (836 हि.), चौसा में शेरशाह द्वारा उसकी हार (945 हि.), कन्नौज में शेरशाह की उस पर पूर्ण विजय (947 हि.), फिर शेरशाह का दिल्ली के सिंहासन पर राज्याभिषेक (948 हि.), ये घटनाएँ उनके जीवन काल में घटीं। मेरे मित्र श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव दिया है कि पद्मावत के विविध हस्तलेखों की तिथियाँ इन घटनाओं से मेल खाती हैं। हि. 927 में आरम्भ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ समय-समय पर बनती रहीं। भिन्न तिथियों वाले सब संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किये गये। 927 वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। 936 वाली प्रति की मूल प्रति हुमायूं के राज्यारोहण की स्मृति रूप में चालू की गई। हि. 945 वाली प्रति जिसका माता प्रसाद जी गुप्त ने पाठान्तर में उल्लेख किया है, शेरशाह की चौसा युद्ध में हुमायूं पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चालू की गई। 947 वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायूं पर कन्नौज विजय की स्मृति का संकेत देती है। पाँचवीं या अन्तिम प्रति 948 हि. की है, जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठ कर राज्य करने लगा था। मूल ग्रन्थ जैसे का तैसा रहा, केवल शाहे वक्त वाला अंश उस समय जोड़ा गया। पद्मावत जैसे महाकाव्य

की रचना के लिए चार वर्षों का समय लगा होगा। सम्भावना है कि उसके बाद कवि कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो। पद्मावत के कारण उसके महान् व्यक्तित्व की कीर्ति फैल गई होगी। शेरशाह के अभ्युदय काल में कवि का बादशाह से साक्षात् मिलन भी बहुत सम्भव है। इस सम्बन्ध में पद्मावत का यह दोहा ध्यान आकृष्ट करता है—

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।

पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज॥ 1318-9

दोहे के शब्दों में जो आत्मीयता है और प्रत्यक्ष घटना जैसा चित्र है, वह इंगित करता है कि जैसे वृद्ध कवि ने स्वयं सुलतान के सामने हाथ उठा कर आशीर्वाद दिया हो। इस घटना के बाद ही शाहे वक्त की प्रशंसा वाला अंश शुरू में जोड़ा गया होगा। रामपुर की प्रति में इस अंश का स्थान भी बदला हुआ है। उसमें माताप्रसाद जी के दोहों की संख्या का पूर्वापर क्रम यह है—दो 12, 20 (गुरू महदी····), 18 (सेयद असरफ········), 19 (उन्ह घर रतन··········) 13, 14, 15, 16, 17, 21 अर्थात् शेरशाह वाले पाँच दोहों को गुरु-परम्परा के वर्णन के बाद रखा गया है। इससे अनुमान होता है कि बाद में बढ़ाए हुए इस अंश का ठीक स्थान कहाँ हो, इस बारे में प्रतियों की कम से कम एक परम्परा में विकल्प अवश्य था।[1]

इस उद्धरण से काल-निर्णय में झमेले के लिये तीन कारण सामने आते हैं, पहला पाठ-भेद-5 पाठ-भेद मिले। पाठालोचन से भी इस सम्बध में अन्तिम अकाट्य निर्णय नहीं किया जा सका। यों 927 हिजरी का पक्ष डॉ. अग्रवाल को भी भारी लगता है। कारण यही है कि यह कई प्रतियों में है।

दूसरा—काल-संकेत में केवल सन् का उल्लेख है, विस्तृत तिथि-विवरण—तिथि, दिन, महीना, पक्ष नहीं दिया गया, अतः गणना और पंचांग से शुद्ध 'काल' की परीक्षा नहीं हो सकती।

तीसरा कारण है, ऐतिहासिक उल्लेख—

"सेरसाहि दिल्ली सुलतानू

चारिउ खण्ड तपइ जस भानू॥"

यह शेरशाह का दिल्ली का सुलतान होना ऐतिहासिक काल-क्रम में 927, 936, 945 हिजरी से मेल नहीं खाता। 947 कुछ ठीक बैठता है। पर "तपे जस भानू" तो 948 हि. में ही सम्भव था। इस ऐतिहासिक घटना ने 927 से असंगत होकर यथार्थ झमेला खड़ा कर दिया है।

इसके समाधान में ही यह अनुमान प्रस्तुत करना पड़ा कि जायसी ने पद्मावत की रचना आरम्भ तो 927 हिजरी में की, केवल 'शाहेवक्त' विषयक पंक्तियाँ सन् 948 हि. में लिखीं।

---

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)—पद्मावत, पृ. 45-47।

सन् के विविध पाठ-भेदों की विविध ऐतिहासिक घटनाओं का स्मारक मानने की कल्पना भी इतिहास की पृष्ठभूमि से संगति बिठाने की दृष्टि से रोचक है। प्रामाणिक कितनी है, यह कहना कठिन है।

सामाजिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक उल्लेख

यह पक्ष भी उभयाश्रित है। अंतरंग से उपलब्ध सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री की संगति बाह्य साक्ष्य से बिठाकर काल-निर्णय में सहायता ली जाती है। बाह्य साक्ष्य काल-निर्धारण में प्रमुख रहता है अतः इसे बाह्य साक्ष्य में रखा जा सकता है।

यह भी तथ्य है कि सामाजिक और सांस्कृतिक आधार को काल-क्रम निर्धारण में उपयोगी बनाने के लिए उनका स्वयं का काल-क्रम किसी अन्य आधार से, वह अधिकांशतः ऐतिहासिक हो सकता है, सुनिश्चित करना होगा।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि सामाजिक और सांस्कृतिक सामग्री को बिल्कुल अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनों का इतना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि दोनों को एक मान कर चलना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सांस्कृतिक एवं सामाजिक साक्ष्य से काल-निर्धारण का उदाहरण डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'बसन्त विलास और उसकी भाषा' शीर्षक पुस्तक से मिलता है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त से पूर्व 'बसन्त विलास' के काल-निर्णय का प्रयत्न प्रो. डब्ल्यू. नारमन ब्राउन और उनसे पूर्व श्री कान्तिलाल बी. व्यास कर चुके थे। इन दोनों ने भाषा को आधार मान कर ऊपरली और निचली काल सीमाएँ निर्धारित की थीं—वे थीं 1400-1424 के बीच।

इसका खण्डन और अपने मत का संकेत उक्त पुस्तक की भूमिका में रचना-काल शीर्षक में संक्षेप में यों दिया है—

''कृति के रचना-काल का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। उसकी प्राचीनतम प्राप्त प्रति सं. 1508 की है[1], इसलिये यह उसकी रचना-तिथि की एक सीमा है। सं. 1508 की प्रति का पाठ अवश्य ही कुछ-न-कुछ प्रक्षेप-पूर्ण हो सकता है, क्योंकि वही सबसे बड़ा है, और पाठान्तरों की दृष्टि से अनेक स्थलों पर उससे भिन्न प्रतियों के पाठ अधिक प्राचीन ज्ञात होते हैं, इसलिये, रचना का समय सामान्यतः उससे काफी पहले का होना चाहिये। यह स्पष्ट है जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रायः विद्वानों ने रचना की उक्त प्राचीनतम प्राप्त प्रति की तिथि से उसे एक शताब्दी पूर्व माना है। किन्तु मेरी समझ में यहाँ उन्होंने अटकल से ही काम लिया है। पूरी रचना आमोद-प्रमोद और क्रीड़ापूर्ण नागरिक जीवन का ऐसा चित्र उपस्थित करती है जो मुख्य हिन्दी प्रदेश में 1250 वि. की जयचन्द पर मुहम्मद गौरी की विजय के अनंतर और गुजरात में 1356 वि. के अलाउद्दीन के सेनापति उलुगखां की

---

1. (अ) बाह्य साक्ष्य की दृष्टि से काल संकेत युक्त प्रतिलिपि ही महत्त्वपूर्ण होती है, यह इससे सिद्ध होता है।

(आ) यथा—श्री मंजुलाल मजमुदार—गुजराती साहित्य ना स्वरूपो पद्य विभाग पृ. 225।

विजय के अनंतर इस्लामी शासन के स्थापित होने पर समाप्त हो गया था। इसलिये रचना अधिक से अधिक विक्रमीय 14वीं शती के मध्य, ईस्वी 13वीं शती— की होनी चाहिये।''[1]

फिर डॉ. गुप्त ने विस्तारपूर्वक 'बसन्त विलास' के उद्धरणों से उस जन-जीवन का विवरण दिया है और तब निष्कर्षत: लिखा है कि—

''इस व्याख्या से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि तेरहवीं शती ईस्वी की मुसलमानों की उत्तर-भारत-विजय से पूर्व का ही नागरिक जीवन रचना में चित्रित है। मुसलमानों के शासन के अन्तर्गत इस प्रकार की स्वच्छन्दता से नगर के युवक-युवतियों की नगर के क्रीड़ा-वनों में मिलने की कोई कल्पना नहीं कर सकता है जैसी वह इस काव्य में वर्णित हुई है। कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमें वर्णन भी नहीं करता है, वह अपने ही समय के बसन्त के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसलिये मेरा अनुमान है कि 'बसन्त-विलास' का रचना-काल सं. 1356 के पूर्व का तो होना ही चाहिये और यदि वह सं. 1250 से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। सम्भव है उसकी भाषा का प्राप्त रूप इस परिणाम को स्वीकार करने में बाधक हो। किन्तु भाषा प्रतिलिपि-परम्परा में घिसकर धीरे-धीरे अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है। इसलिये भाषा का स्वरूप प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में बाधक नहीं होना चाहिये।''[2]

इस उद्धरण से उस प्रणाली का उद्घाटन होता है जिससे सांस्कृतिक-सामाजिक सामग्री को काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है।

इसमें सांस्कृतिक सामाजिक जीवन का, बसन्त के अवसर का आमोद-प्रमोद वर्णित है। डॉ. गुप्त ने इस आधार को लेकर एक ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है। वह घटना है उत्तरी भारत और गुजरात पर इस्लामी विजय और शासन— इनका काल विदित है 1250 तथा 1356। कल्पना यह है कि इस समय के बाद ऐसा जीवन जिया नहीं जा सकता था; न कवि उसका ऐसा सजीव वर्णन ही कर सकता था। वैसा वर्णन उस काल में रहने वाला कवि ही कर सकता है। 'बसन्त विलास' से उसकी वर्तमानकालिकता प्रकट है। स्पष्ट है कि एक प्रकरण का मेल इतिहास काल-क्रम वाली एक घटना से स्थिर किया गया, तब काल-विषयक निष्कर्ष पर पहुँचा गया।

इस काल-निर्धारण में भाषा का साक्ष्य बाधक प्रतीत होता था क्योंकि गुप्त से पूर्व दो विद्वानों ने भाषा के साक्ष्य पर ही 1400-1425 के बीच काल-निर्धारित किया था, अत: इस तर्क को इस सिद्धान्त से काट दिया कि 'प्रतिलिपि परम्परा' में भाषा अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है।

स्पष्ट है कि सांस्कृतिक बाह्य साक्ष्य + इतिहास – सिद्ध कालक्रमयुक्त घटना से यहाँ निष्कर्ष निकाला गया है।

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)— बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ. 4-5।
2. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)— बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ. 8।

जिस प्रकार समाज और संस्कृति को उक्त रूप में काल-निर्धारण के लिये साक्ष्य बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म,. राजनीति, शिक्षा, आर्थिक तत्त्व, ज्योतिष आदि भी अपनी-अपनी तरह से काल सापेक्ष होते हैं, अतः काल-निर्धारण में मात्र किसी एक आधार से काम नहीं चल पाता, जितनी भी बातों में काल-सूचक बीज होने की सम्भावना हो सकती है, उनकी परीक्षा की जाती है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल-निर्णय करने में साहित्यिक तर्क (Literary Argument),[1] मस्करी परिव्राजक—एक विशेष शब्द[2], बुद्ध धर्म[3], श्राविष्ठा प्रथम नक्षत्र[4], नन्द से सम्बन्ध[5], राजनीतिक सामग्री (Data), यवनानी लिपि का उल्लेख, पशु विषयक[6] कथान्त स्थान नाम, क्षुद्रक-मालय[7] पाणिनि और कौटिल्य[8], सिक्कों का साक्ष्य, व्यक्ति-नाम (गोत्रनाम एवं नक्षत्र-नाम के आधार पर), पाणिनि और जातक, पाणिनि तथा मध्यम पंथ आदि की परीक्षा की। स्पष्ट है कि काल-निर्धारण में एक नहीं अनेक प्रकार के साक्ष्यों की परीक्षा करनी होती है। पहले के तर्कों और प्रमाणों की समीचीनता सिद्ध या असिद्ध करनी होती है। बाह्य साक्ष्य में से बहुत से अंतरंग साक्ष्य से गुँथे हुए हैं।

अंतरंग साक्ष्य

अंतरंग साक्ष्य को दो पक्षों में बाँट सकते हैं, एक है स्थूल पक्ष, दूसरा है सूक्ष्म। स्थूल पक्ष का सम्बन्ध उन भौतिक वस्तुओं से होता है जिनसे ग्रन्थ निर्मित हुआ है। इसे वस्तुगत पक्ष कह सकते हैं, जैसे—ग्रन्थ का कागज, ताड़पत्र आदि। उसका आकार-प्रकार भी कुछ अर्थ रखते ही हैं। स्याही भी इसमें सहायक हो सकती है। इसी स्थूल पक्ष का एक और पहलू है—लेखन। लेखन व्यक्तिगत पहलू माना जा सकता है। व्यक्ति अर्थात् लेखक या लिपिकार का लिखने का अपना ढंग होता है। इसमें लिपि का पहला स्थान है—इसमें देखना होता है कि कौनसी लिपि में लेखक ने लिखा है? यही नहीं, वरन् यह भी देखना होता है कि जिस लिपि में उसने लिखा है, उसके किस रूप में और अक्षर के किस प्रकार में लिखा है। लिपि का भी इतिहास होता है, और उसकी वर्णमाला के अक्षरों का भी होता है। प्रत्येक लेखक कालगत स्थिति में अपनी पद्धति से लिखता है। इसे भी क्या काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है, यह देखना होता है। लेखन में अलंकरणों

---

1. वस्तुतः यह तर्क गोल्डस्टुकर के इस तर्क को काटने के लिये दिया है कि पाणिनि आरण्यक, उपनिपद, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद और पड्-दर्शन से परिचित नहीं थे, अतः यास्क के बाद पाणिनि हुए थे।
2. यह सिद्ध करने के लिये कि इस व्यक्ति से पाणिनि परिचित थे, अतः इसके बाद ही हुए।
3. गोल्डस्टुकर के इस तर्क का खंडन करने के लिये कि पाणिनि बुद्ध से पूर्व हुए।
4. ज्योतिष पर आधारित साक्ष्य।
5. ऐतिहासिक आधार।
6. एक विशेष जाति सम्बन्धी।
7. गणों का संघ एवं सैन्य संगठन तथा युद्ध-विद्या सम्बन्धी।
8. कुछ विशिष्ट शब्दों से दोनों परिचित थे, इस आधार पर काल निर्धारण में सहायता।

का भी स्थान होता है। लिपि को भी विविध प्रकार से अलंकृत किया जाता है तथा लेख में जहाँ-तहाँ मंगल उपकरणों से तथा अन्य प्रकार से सजाया जाता है। क्या इनसे भी काल-निर्णय में कोई सहायता मिल सकती है, यह भी देखना होगा। पृष्ठांकन प्रणाली का अन्तर भी इसी वर्ग में आयेगा। सचित्र ग्रन्थ हो तो चित्र-योजना पर भी काल-निर्धारण की दृष्टि से विचार करना होगा। इनके बाद हमें यह अनुसंधान भी करना होगा कि क्या कोई और ऐसा तत्त्व हो सकता है जो व्यक्तिगत पक्ष में आता हो और उक्त वस्तुओं में न आ पाया हो। अब हम पहले वस्तुगत पक्ष में कागज को लेते हैं।

कागज — लिप्यासन

यहाँ कागज का व्यापक अर्थ लिया गया है, इसीलिए इसे 'लिप्यासन' नाम दिया गया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि लिप्यासन में पत्थर, ईंट, धातु, चमड़ा, पत्र, छाल, कागज आदि सभी आते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि लिप्यासनों के प्रकारों से लेखन के विभिन्न गुणों से सम्बन्ध है। ईंटों पर लेखन ईसा के 3000 वर्ष पूर्व तक हुआ, यह माना जा सकता है। इसी प्रकार 3000 ई.पू. से पेपीरस के खरड़ों (Rolls) का युग चलता है। ई.पू. 1000 से 800 के बीच कोडेक्स या चर्म-पुस्तकों का युग आरम्भ हुआ माना जा सकता है। तब कागज का आरम्भ चीन से होकर यूरोप पहुँचा। सन् 105 ई. से कागज का प्रचार ऐसा हुआ कि अन्य लिप्यासनों का उपयोग समाप्त हो गया। भारत में कागज सिकन्दर के समय में भी बनता था किन्तु ईंटों के बाद पत्थर और उसके बाद ताड़-पत्र एवं भूर्ज-पत्रों का उपयोग विशेष होता रहा। भूर्ज-पत्र से भी अधिक ताड़-पत्र का उपयोग भारत में हुआ है।

कागज का प्रचार सबसे अधिक हुआ है।

ये लिप्यासन काल-निर्धारण में केवल इसीलिये सहायक माने जा सकते हैं कि इन पर भी काल का प्रभाव पड़ता है। काल का प्रभाव अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियों में अलग-अलग पड़ता है। नेपाल में ताड़-पत्रीय संस्कृत ग्रन्थों के अनुसन्धान के विवरण में यह उल्लेख है कि ताड़पत्र-ग्रन्थों के लिये नेपाल का वातावरण, जलवायु अनुकूल है। वहाँ कालगत प्रभाव जलवायु से कुछ परिसीमित हो जाता है। फिर भी, प्रभाव पड़ता तो है ही। इसी काल-प्रभाव को अभी तक केवल अनुमान से ही बताया जाता रहा है। यह अनुमान पाण्डुलिपि-विज्ञानवेत्ता या पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित व्यक्ति के अनुभव पर निर्भर करता है। अनुभवी व्यक्ति ग्रन्थ के कागज का रूप देख कर यह बात बता सकता है कि अनुमानत: यह पुस्तक कितनी पुरानी हो सकती है। यह अनुभवारित अनुमान अन्य प्रयोग से पुष्ट भी होना चाहिये। यदि प्रमाण से पुष्ट नहीं होता तो यह तभी तक दुर्बल आधार के रूप में बना रहेगा जब तक कि या तो इसे खंडित नहीं कर दिया जाता या पुष्ट नहीं कर दिया जाता है।

हाँ, एक स्थिति ऐसी हो सकती है जिससे अनुभवाश्रित अनुमान अधिक महत्त्व का हो सकता है। दो हस्तलेखों की तुलना में एक पुरानी प्रति अपनी जीर्णता-शीर्णता आदि

के कारण निश्चय ही कुछ वर्ष दूसरे से पहले की मानी जा सकती है। अनुसन्धान विवरणों और हस्तलेखों के काल-निर्णायक तर्कों में प्रति की प्राचीनता भी एक आधार होती है।

वास्तविक बात यह है कि काल-क्रम की दृष्टि से कागजों के सम्बन्ध में दो बातों पर अनुसन्धानपूर्वक निर्णय लिया जाना चाहिये। एक तो कागजों के कई प्रकार मिलते हैं। हाथ के बने कागज भी स्थान भेदों से कितने ही प्रकार के हैं, और इसी प्रकार मिल के बने कागजों के भी कितने ही भेद हैं। इनमें परस्पर काल-क्रम निर्धारित किया जाना चाहिये।

हमारे यहाँ 20वीं शताब्दी से पूर्व हाथ का बना कागज ही काम में आता था। प्रायः सभी पाण्डुलिपियाँ उन्हीं कागजों पर लिखी मिलती हैं।

अब यह आवश्यक है कि कोई वैज्ञानिक विधि रासायनिक या राश्मिक आधार पर ऐसी आविष्कृत की जाय कि ग्रन्थ के कागज की परीक्षा करके उनके काल का वैज्ञानिक अनुमान लगाया जा सके।

जब तक ऐसा नहीं होता तब तक अनुभवाश्रित अनुमान से ही सहायता ली जा सकती है, ली जानी चाहिये।

स्याही

स्याही को काल-निर्णय में कागज की तरह ही सहायक माना जा सकता है। काल का प्रभाव स्याही पर भी पड़ता ही है, पर उसको जानने के लिए और उस प्रभाव से समय को आंकने के लिए कोई निभ्रान्त साधन नहीं है।

इन दोनों के सम्बन्ध में एक विद्वान[1] का कथन है कि "जब किसी संग्रह के ग्रन्थों को देखते हैं तो उसकी विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशाओं में मिलती हैं। कोई-कोई ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताजी अवस्था में मिलंता है। उसका कागज भी अच्छी हालत में होता है, और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है, परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियों के लिखे होने पर भी उनके पत्र तड़कने से और अक्षर रगड़ से विकृत पाये जाते हैं।"

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि कागज और स्याही को काल-निर्णय का साधन बनाते समय बहुत सावधानी अपेक्षित है, और उन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखना होगा जिनसे कागज और स्याही पर कालगत प्रभाव या तो पड़ा ही नहीं, या बहुत कम पड़ा, या कम पड़ा, या सामान्य पड़ा, या अधिक पड़ा।

पाण्डुलिपि-विदों ने काल-निर्णय में जहाँ इन दोनों का उपयोग किया है वहाँ तुलना के आधार पर ही किया है।

लिपि

लिपि काल-निर्धारण में सहायक हो सकती है, क्योंकि उसका विकास होता आया है, उस विकास में अक्षरों के लिपि-रूपों में परिवर्तन हुए हैं, जिन्हें काल-सीमाओं में बाँधा

---

1. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ।

गया है। अक्षर का एक लिपि-रूप एक विशेष-काल सीमा में चला, फिर उसमें विकास या परिवर्तन हुआ और नया रूप एक विशेष काल-सीमा में प्रचलित रहा। आगे भी इसी प्रकार होता गया और विविध अक्षर-रूप विविध काल-सीमाओं में प्रचलित मिले। इस कारण एक विशेष अक्षर-रूप वाली लिपि को उस विशेष काल-अवधि का माना जा सकता है, जिसमें लिपि-वैज्ञानिकों ने उसे प्रचलित सिद्ध किया है।

शिलालेखों एवं अभिलेखों में लिपि के विकास की इन कालावधियों को सुविधा के लिये नाम भी दे दिये गये हैं।

अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि की कालावधि ई.पू. 500 से 300 ई. तक मानी गई। इस बीच में इसके अक्षर-रूपों में कुछ परिवर्तन हुए मिलते हैं। इन परिवर्तनों से एक नया रूप चौथी शती ई. में उभर उठता है।

इसे **गुप्तलिपि** का नाम दिया गया, क्योंकि गुप्त सम्राटों के काल में इसका अशोक कालीन ब्राह्मी से पृथक् रूप उभर आया। गुप्तलिपि का यह रूप छठी शती ई. तक चला। अन्य परिवर्तनों के साथ इसमें एक वैशिष्ट्य यह मिलता है कि सभी अक्षरों में कोण तथा सिरे या रेखा का समावेश हुआ। इसी को 'सिद्ध मातृका' का नाम दिया गया है।

इस लिपि में छठी से नवमी शताब्दी के बीच फिर ऐसा वैशिष्ट्य उभरा जो इसे गुप्तलिपि से पृथक् कर देता है। ये वैशिष्ट्य हैं— (1) गुप्तलिपि के अक्षरों की खड़ी रेखाएँ नीचे की ओर बायीं दिशा में मुड़ी मिलती हैं तथा (2) मात्राएँ टेढ़ी और लम्बी हो गई हैं, इसलिए इन्हें 'कुटिलाक्षर' या 'कुटिल लिपि' कहा गया। कहीं-कहीं 'विकटाक्षरा' भी नाम है।

'सिद्ध मातृका' से 'नागरी लिपि' का विकास हुआ। इसका आभास तो सातवीं शती से ही मिलता है, पर नवमीं शताब्दी से अभिलेख और ग्रन्थ इस लिपि में लिखे जाने लगे। 11वीं शती में इसका व्यापक प्रयोग होने लगा।

यह स्थूल काल-विधान दिया गया है, यह बताने के लिए कि विशेष युग में लिपि का विशेष रूप मिलता है, अत: किसी विशेष लिपि-रूप से उसके काल का भी अनुमान लगाया जा सकता है, और लगाया भी गया है।

ग्रन्थों में उपयोग में आने पर भी लिपि-विकास रुकता नहीं, मन्द हो सकता है। यही कारण है कि ग्रन्थों की लिपियों में भी काल-भेद से रूपान्तर मिलता है, अतः उसके आधार को काल-निर्णय का आधार किसी सीमा तक बनाया जा सकता है—

इसके लिए 'राउलवेलि' के सम्बन्ध में यह उद्धरण उदाहरणार्थ दिया जा सकता है। 'राउलवेलि' एक कृति या ग्रन्थ ही है, जो शिलालेख के रूप में धार से प्राप्त हुआ है। यह प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई में सुरक्षित है।

इस शिलांकित कृति में रचना-काल नहीं दिया गया। इसकी अन्तरंग सामग्री से किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना का भी संधान नहीं मिलता। इस कारण इतिहास से भी काल-निर्धारण में सहायता नहीं मिलती। अत: इस कृति के सम्पादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने लिखा—

"'रचना का नाम 'राउल बेल' = राजकुल-विलास है, इसलिये शिलालेख के व्यक्ति राजकुल के प्रतीत होते हैं। किन्तु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से इन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। लेख के अन्त में दोनों छोरों पर दो आकृतियाँ हैं, जिनमें से एक भग्न है, जो शेष है वह कमल-वन की है, और जो भग्न है निश्चय ही वह भी उसी की रही होगी। इस प्रकार की आकृतियाँ लेखों के अन्त में उनकी समाप्ति सूचित करने के लिए दी जाती हैं। **ऐसी परिस्थितियों में लेख का समय निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर सम्भव है।** इसकी लिपि सम्पूर्ण रूप से भोज देव के 'कर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है (दे. इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ. 241)। दोनों में किसी भी मात्रा में अन्तर नहीं है, और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुनवर्मनदेव के समय के 'पारिजात मंजरी' के धार के शिलालेख की लिपि किंचित् बदली हुई है (दे. इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ. 96) इसलिये इस लेख का समय 'कर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही अर्थात् 11वीं शती ईस्वी होना चाहिये।''[1]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि लिपि भी काल-निर्धारण में सहायक हो सकती है। लिपि का विशेष रूप काल से सम्बद्ध है, और ज्ञात कालीन रचना की लिपि से तुलना पर साम्य देखकर काल-निर्णय किया जा सकता है। 'कर्मशतक' भोजदेव की कृति है, उसका काल भोजदेव के काल के आधार पर ज्ञात माना जा सकता है। जिस काल में 'कूर्मशतक' की रचना हुई, उसके कुछ समय बाद की शिलांकित 'पारिजात-मंजरी' की लिपि भिन्न है, अतः 'राउलबेल' की लिपि उससे पूर्व की और 'कूर्मशतक' के समकालीन ठहरती है तो रचनाकाल 11वीं शती माना जा सकता है।

इसमें (1) लिपि साम्य, और (2) लिपि-भेद के दो साक्ष्य लिये गये हैं। वास्तव में, लिपि के अक्षरों और मात्राओं के रूप ही नहीं अलंकरणों के रूप का भी काल-निर्धारण में साक्ष्य मानना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से तो 'भारतीय लिपि और भारतीय अभिलेख' विषयक रचनाओं में लिपियों के कालगत भेदों और उनके अक्षरों और मात्राओं के रूपों में अन्तर का उल्लेख सोदाहरण और सचित्र हुआ है। किन्तु ग्रन्थों की लिपियों का इतना गहन और विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ। लिपि के आधार पर ग्रन्थों के काल-निर्धारण की दृष्टि से शताब्दी क्रम से ग्रन्थों में मिलने वाले लिपि-अन्तरों और वैशिष्ट्यों का अध्ययन होना चाहिये। इसका कुछ प्रयत्न 'लिपि-समस्या' वाले अध्याय में किया भी गया है।[2] पर, वह अपर्याप्त ही है।

इस सम्बन्ध में पहला महत्त्वपूर्ण कार्य क.मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान-विद्यापीठ के अनुसन्धानाधिकारी विद्वद्वर पं. उदयशंकर शास्त्री का है। इन्होंने परिश्रमपूर्वक कालक्रम से मिलने वाले अक्षर, मात्रा और अंकों के रूप शिलालेख आदि के साथ ग्रन्थों के आधार

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—राउल वेल और उसकी भाषा, पृ. 19।
2. दृष्टव्य—अध्याय-5।

पर भी दिये हैं। इस अध्ययन को पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को और आगे बढ़ाना चाहिये। इनका यह फलक हमने 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय में दिया है। उसमें कुछ और रूप भी हमने जोड़े हैं।

लिपि रचना-काल निर्धारण में तभी यथार्थ सहायता कर सकती है जब काल-क्रम से प्राप्त प्रायः सभी या अधिकांश हस्तलेखों से अक्षर, मात्रा और अंक के रूप तुलनापूर्वक कालक्रमानुसार दिये जायें और कालक्रमानुसार उनके वैशिष्ट्य भी प्रस्तुत किये जायें।

लेखन-पद्धति, अलंकरण आदि

वैसे तो लेखन-पद्धति, अलंकरण आदि का भी सम्बन्ध कालावधि से होता ही है, क्योंकि लिखने की पद्धति, उसे अलंकृत करने के चिह्न और उपादान, इनसे सम्बन्धित संकेताक्षरों और चिह्नों का प्रयोग, मांगलिक तत्त्वों का अंकन, सभी का काल-सापेक्ष प्रयोग होता है। इनसे प्रयोग को काल-क्रम में बाँधकर अध्ययन किया जा सकता है, और तब काल-निर्धारण में इनकी सहायता ली जा सकती है। यथा—

संकेताक्षरों की कालावधि :

पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व	1. स, समु, सव, सम्व या संवत्	—	संवत्सर के लिए
	2. प	—	पक्ष के लिए
	3. दि या दिव	—	दिवस के लिए
	4 गि, गृ., ग्र.	—	ग्रीष्म के लिए
	5 व या वा	—	वर्ष (प्रा. वासी) के लिए
	6. हे या हेम आदि	—	हेमन्त के लिए
पाँचवीं शती से और आगे	1. दू.	—	दूतक के लिए
	2. रू.	—	रूपक के लिए
	3. द्वि.	—	द्वितीया के लिए
	4. नि.	—	'निरीक्षित' के लिए, निबद्ध के लिए
	5. महाक्षनि (संयुक्त शब्द)	—	महाक्षपटलिक-निरीक्षित के लिए
	6. श्रीनि	—	श्रीहस्त श्रीचरण निरीक्षित के लिए
	7. श्री नि महासाम	—	श्री हस्तनिरीक्षित एवं महासंधिविग्रहिक निरीक्षित के लिए।

वस्तुत: काल-निर्णय में सहायक होने की दृष्टि से अभी संकेताक्षरों को काल-क्रम और कालावधि में बाँधकर प्रस्तुत करने के प्रयत्न नहीं हुए।

लेखन-पद्धति में ही सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्द भी स्थान रखेंगे। हम देख चुके हैं कि शब्दों के लेख में 'स्वामी' सम्बोधन को देख कर और नाट्यशास्त्र में राजा के लिये उसे प्रयुक्त बताया देखकर कुछ विद्वान् नाट्य कला का आरम्भ भी विदेशी शक-शासकों से मानने लगे थे।

सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्दों को काल-क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है—

272-232 ई.पू.	1. राजन् (अशोक जैसे सम्राट् के लिए देवी (राज्ञी-रानी)
द्वितीय शती ई.पू.	2. महाराजा (भारतीय यूनानी शासकों के लिए)
प्रथम अर्द्धांश	3. महाराज्ञी (महादेवी) तृतर (संस्कृत त्रातृ: रक्षक राजा के लिए)
द्वितीय शती ई.पू.	4. अप्रकरण (सं. अप्रत्यग्र, जप्रतिद्वन्द्वी रहित)
	5. राजन् (यह शब्द भी प्रयोग में था)
प्रथम शती ई.पू.	6. महरजस रजरजस (या रजदिरजस) महतस (सं. महाराजस्थ राजराजस्य महत: या राजाधिराज्य महत:)
चौथी शती ईसवी (गुप्त काल)	7. महाराजाधिराज या भट्टारक महाराज राजाधिराज। महाराजाधिराज परमभट्टारक
	8. महाराज (7. के आधीन राजा)
6ठी शती ईसवी	9. राजाधिराज परमेश्वर
9वीं, 10वीं शती ई.	10. पंच महाशब्द—'प्राप्त पंचमहा शब्द' या 'समाधिगत पंच महाशब्द:'

पंचमहाशब्द	— 1. महाप्रतिहार
या	— 2. महासंविधविग्रहिक
अशेष महाशब्द	— 3. महाअश्वशालाधिकृत
	— 4. महाभाण्डागारिक
	— 5. महासाधनिक
	अथवा
	— 1. महाराज
	— 2. महासामन्त

— 3. महाकार्ताकृतिक

— 4. महादण्डनायक

— 5. महाप्रतिहार

अथवा

पंचमहाशब्दपंच महावाद्य आदि

ऐसी उपाधियों और नामों की एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है और प्रत्येक की कालावधि ऐतिहासिक काल-क्रमणिका में स्थिर की जा सकती है, तब ये काल-निर्धारण में अधिक सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार से अन्य वैशिष्ट्य भी लेखन-पद्धति में काल-भेद से मिलते हैं, जिन्हें काल-तालिका में यथा-स्थान निबद्ध करना चाहिये और पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को स्वयं ऐसी कालक्रम तालिकाएँ बना लेनी चाहिये।

इसी प्रकार अलंकरण-विधान भी काल-क्रमानुसार मिलते हैं, अतः इनकी भी सूची प्रस्तुत की जा सकती है और काल-क्रम निर्धारित किया जा सकता है।

अन्तरंग पक्ष : सूक्ष्म साक्ष्य

ऊपर स्थूल-साक्ष्य पर कुछ विस्तार से चर्चा की गई है। अब सूक्ष्म साक्ष्य पर भी संक्षेप में दिशा-निर्देश उचित प्रतीत होता है। सूक्ष्म साक्ष्य में वह सब कुछ समाहित किया जाता है जो स्थूल पक्ष में नहीं आ पाता। इसमें पहला साक्ष्य भाषा का है।

भाषा

भाषा का विकास और रूप-परिवर्तन भी काल-विकास के साथ होता है, अतः भाषा का गम्भीर अध्येता उसकी रूप-रचना और शब्द-सम्पत्ति तथा व्याकरणगत स्थिति के आधार पर विकास के विविध चरणों को कालावधियों में बाँटकर, काल-निर्धारण में सहायक के रूप में उसका उपयोग कर सकता है। इसका एक उदाहरण 'बसन्त-विलास' के काल-निर्धारण का दिया जा सकता है। यह हम देख चुके हैं कि 'बसन्त विलास' में काल विषयक पुष्पिका नहीं है। तब डॉ. माताप्रसाद गुप्त से पूर्व जिन विद्वानों ने 'बसन्त विलास' का सम्पादन किया था उन्होंने भाषा के साक्ष्य को ही महत्त्व दिया था। उनके तर्क को डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने संक्षेप में यों दिया है—

"श्री व्यास (श्री कान्तिलाल बी. व्यास) ने 1942 में प्रकाशित अपने पूर्वोक्त संस्करण में कृति की रचना-तिथि पर बड़े विस्तार से विचार किया है (भूमिका पृ. 29-37)। उन्होंने बताया है कि सं. 1517 के लगभग लिखते हुए रत्नमन्दिर गणि ने अपनी 'उपदेशतरंगिणी' में 'बसन्त-विलास' का एक दोहा उद्धृत किया है, और रचना की सबसे प्राचीन प्रति, जो कि चित्रित भी हैं, सं. 1508 की है, इससे स्पष्ट है कि रचना विक्रमीय 16वीं शती को प्रारम्भ में ही पर्याप्त ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी।" (यहाँ तक बाह्य साक्ष्यों का उपयोग किया गया है) "साथ ही उन्होंने लिखा है कि भाषा की

दृष्टि से विचार करने पर कृति की तिथि की दूसरी सीमा सं. 1350 वि. मानी जा सकती है। भाषा-सम्बन्धी इस साक्ष्य पर विचार करने के लिए उन्होंने 1330 में लिपिबद्ध 'आराधना', सं. 1369 में लिपिबद्ध 'गौतम रास', सं. 1450 में लिखित 'मुग्धावबोध औक्तिक', सं. 1466 में लिखित 'श्रावक अतिचार', सं. 1478 में लिखित 'पृथ्वी चन्द्र चरित्र' तथा सं. 1500 में लिखित 'नमस्कार बालावबोध' से उद्धरण देते हुए उनकी भाषाओं से 'बसन्त-विलास' की भाषा की तुलना की है और लिखा है कि 'बसन्त-विलास' की भाषा 'श्रावक अतिचार' (सं. 1466) तथा 'मुग्धावबोधऔक्तिक, (सं. 1450) से पूर्व की और 'सम्यक्त्व कथानक' (सं. 1411) तथा 'गौतम रास' (सं. 1412) के निकट की ज्ञात होती है। इस भाषा सम्बन्धी साक्ष्य से तथा इस तथ्य से कि रत्नमन्दिर गणि के समय (सं. 1517) तक कृति ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी, यह परिणाम निकाला जा सकता है कि 'बसन्त-विलास' की रचना सं. 1400 के आस-पास हुई थी। इसलिए मेरी राय में विक्रमीय 15वीं शती का प्रथम चतुर्थांश ही (सं. 1400-1425) 'बसन्त-विलास' का सम्भव रचनाकाल होना चाहिये (भूमिका पृ. 37)।"[1]

डॉ. गुप्त के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि 'बसन्त-विलास' के काल-निर्धारण में भाषा-साक्ष्य के लिए 1330 से लेकर 1500 संवत् तक के काल-युक्त प्रामाणिक ग्रन्थों को लेकर उनसे तुलनापूर्वक बसन्त-विलास के काल का निर्धारण किया गया है। इसमें मुख्य साक्ष्य भाषा का ही है।

भाषा का साक्ष्य सहायक के रूप में अन्य साक्ष्यों और प्रमाणों के साथ आ सकता है।

वस्तुविषयक साक्ष्य

वस्तु-विषयक साक्ष्य में वस्तु सम्बन्धी बातें आती हैं; उदाहरणार्थ, भारत के नाट्य-शास्त्र के काल निर्धारण में एक तर्क यह दिया जाता है कि नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों का उल्लेख है—काणे महोदय ने लिखा है—

"(h) All ancient writers on alankara, Bhatti (between 500-600 A.C.), Bhamaha, दण्डी, उद्भट, define more than thirty figures of speech, भरत defines only four, which are the simplest viz. उपमा, दीपक, रूपक and यमक, भरत gives a long disquistion on metres and on the prakrits and would not have scrupled to define more figures of speech if he had known them. Therefore he preceded these writers by some centuries atleast. The foregoing discussion has made it clear that the नाट्यशास्त्र can not be assigned to a later date than about 300 A.C."[2]

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—बसन्त-विलास और उसकी भाषा, (भूमिका), पृ. 41
2. Kane, P.V., Sahitya darpan—(Introduction), p. XI.

(1) अलंकारों की संख्या।

(2) अलंकारों की सरल प्रकृति।

(3) ज्ञात प्राचीनतम अलंकार-शास्त्रियों द्वारा बताये गये संख्या में 35 अलंकार।

(4) यदि भरत को चार से अधिक अलंकार विदित होते या उस काल में प्रचलित होते तो वह उनका वर्णन अवश्य करते, जैसे छन्द-शास्त्र और प्राकृत भाषाओं का किया है—निष्कर्ष—उन के समय चार अलंकार ही शास्त्र में स्वीकृत थे।

(5) चार की संख्या 35-36 अलंकारों तक पहुँचने में 200-300 वर्ष तो अपेक्षित ही हैं। यह काणे महोदय का अपना अनुमान है—जिसके पीछे हैं नये अलंकारों की उद्‌भावना में लगने वाला सम्भावित समय।

स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु के अंश' को आधार मान कर काल-निर्णय में सहायता ली गई है।

इसी प्रकार 'वस्तु' का उपयोग काल-निर्धारण के लिए किया जा सकता है। पाणिनि के काल-निर्धारण में डॉ. अग्रवाल ने वस्तुगत सन्दर्भों से ही काल-निर्धारण किया है, उपनिषद्, श्लोक श्लोककार मस्कंक्त नट सूत्र, शिशक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजनीय, अन्तरयन देश, दिष्ट मति, निर्वाण, कुमारी श्रमणा चीवरयते, औत्तराधर्य, श्रविष्ठा, यवनानी लिपि तथा अन्य भी पाणिनि के सूत्रों में आने वाले शब्दों से काल-निर्धारण में सहायता ली गई है। ये सभी वर्ण्य वस्तु के अंश हैं। ये सभी ग्रन्थ गत साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, ज्योतिष आदि के उल्लेख हैं, अतः उनकी सहायता से इन शब्दों से काल-सन्दर्भ ढूँढा जा सका है।

तात्पर्य यह है कि काल-निर्धारण एक समस्या है, जिसे अंत:साक्ष्य के आधार पर अनेक विधियों से सुलझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को इस दिशा में सहायक सिद्ध हो सकने के लिए विविध विषयगत काल-क्रमानुसार तालिकाएँ प्रस्तुत करनी चाहिये।

वैज्ञानिक प्रविधि

काल-निर्धारण विषयक हमारा क्षेत्र 'पाण्डुलिपि' का ही है, किन्तु जब पाण्डुलिपि भूमि-गर्भ में दबी मिले और सन्-संवत् या तिथि आदि के जानने का कोई साधन न हो तो कुछ अन्य वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जा सकता है, किया जाता है जैसे—मोहनजोदड़ों से मिलने वाली सामग्री। इसके काल-निर्धारण के लिए एक प्रणाली तो पहले से प्रचलित थी, पृथ्वी पर जमे पर्तों के आधार पर—

"As the result of exacavations carried out at the statue of Ramses II, at Memphis in 1850, Horner ascertained that I feet 4 inches of mud accumulated since that monument had been erected, i.e. at the rate of 3½ inches in the century."

इसी प्रकार भूमि के मिट्टी के पर्तों के अनुसार जिस गहराई पर वस्तु मिली है, उसका आनुमानिक काल निर्धारित किया जा सकता है, प्रायः किया भी जाता रहा है। यदि उस भूमि पर वृक्ष उगे हैं तो वृक्षों के तने काट कर देखने पर उसमें एक के ऊपर एक कितने ही पर्त दिखाई पड़ते हैं, उनके आधार पर उस वृक्ष का भी समय निर्धारित किया जा सकता है। भूमि और वृक्ष दोनों के परतों से उस वस्तु का काल प्राप्त हो सकता है। ये दोनों ही प्रणालियाँ वैज्ञानिक हैं। ज्योतिष की गणना की पद्धति भी वैज्ञानिक ही है। पर अभी हाल ही में संयुक्त राज्य के प्रो. एम.सी. लिब्बी ने रेडियोऐक्टिव कार्बन से काल-निर्धारण की वैज्ञानिक विधि का उद्घाटन किया। टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेण्टल रिसर्च नामक बम्बई स्थित संस्थान ने 1951 से 'रेडियो-कार्बन काल-निर्धारण विभाग' स्थापित कर रखा है, इसकी प्रयोगशाला में 'कार्बन' रेडियोधर्मिता के आधार पर काल-निर्धारण की विशद पद्धति विकसित कर ली है। इससे वस्तुओं के काल-निर्धारण का कार्य सम्पन्न किया जाता है। इसके परिणामों में 100 वर्षों का ही हेर-फेर रहता है, अन्यथा बहुत ही ठीक काल ज्ञात हो जाता है।

इस अध्याय में हमने काल-निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं, कठिनाइयों और उनके समाधान के प्रयत्नों का संक्षेप में उल्लेख किया है—यह उल्लेख भी संकेतरूप में ही है, केवल दिशा-निर्देशन के लिए। वस्तुतः व्यक्तियों की प्रतिमा अपनी समस्याओं और कठिनाइयों के समाधान के लिए अपना रास्ता स्वयं निकालती है।

कवि निर्धारण समस्या

कवि-निर्धारण की समस्या तो बहुत ही जटिल है। कितनी ही उलझनें उसमें आती हैं, कितने ही सूत्र गुंथे रहते हैं, वे सूत्र भी अनिश्चित प्रकृति वाले होते हैं। इनसे कभी-कभी जटिल समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। कभी-कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि कृति का कवि कौन है।

इस समस्या के कई कारण हो सकते हैं—

(1) कवि ने नाम ही न दिया हो जैसे ध्वन्यालोक में।

(2) कवि ने नाम ऐसा दिया हो कि वह सन्देहास्पद लगे।

(3) कवि ने कुछ इस प्रकार अपने नाम दिये हों कि प्रतीत हो कि वे अलग-अलग कवि हैं—एक कवि नहीं—सूरदास, सूर, सूरज आदि या ममारिक और मुवारक या नारायणदास और नाभा।

(4) कवि का नाम ऐसा हो कि उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को सिद्ध न किया जा सके, यथा, चन्दवरदायी।

(5) ग्रन्थ सम्मिलित कृतित्व हो, कहीं एक कवि का तो कहीं दूसरे का नाम दिया गया हो। जैसे—'प्रवीण सागर' का

(6) ग्रन्थ अप्रामाणिक हो और कवि का जो नाम दिया गया हो, वह झूठा हो यथा—'मूल गुसाईंचरित', बाबा बेणीमाधवदास कृत।

(7) कवि में पूरक कृतित्व हो इससे यथार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्ति होती हो, जैसे—चतुर्भुज का मधुमालती और पूरक कृतित्व उसमें गोयम का।

(8) विद्वानों में किसी ग्रन्थ के कृतिकार कवि के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद हो।

(9) ग्रन्थ के कई पक्ष हों, यथा—मूल ग्रन्थ, उसकी वृत्ति और उसकी टीका। हो सकता है मूल ग्रथ और वृत्ति का लेखक एक ही हो या अलग-अलग हों—जिससे भ्रम उत्पन्न होता हो। उदाहरणार्थ ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्ति।

(10) लिपिकार को ही कवि समझ लेने का भ्रम, आदि। ऐसे ही और भी कुछ कारण दे सकते हैं।

एक उदाहरण लें—संस्कृत में 'ध्वन्यालोक' के लेखक के सम्बन्ध में समस्या खड़ी हुई। 'ध्वन्यालोक' का अलंकार-शास्त्र या साहित्य शास्त्र के इतिहास में वही महत्त्व है जो पाणिनि की अष्टाध्यायी का भाषा-शास्त्र में और वेदान्तसूत्र का वेदान्त में। ध्वन्यांलोक से ही साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सम्प्रदाय प्रभावित हुआ। ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—पहले में हैं 'कारिकाएँ', दूसरे में हैं वृत्ति, यह गद्य में कारिकाओं की व्याख्या करती है, तीसरा है उदाहरण।—इन उदाहरणों में से अधिकांश पूर्वकालीन कवियों के हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये तीनों अंश एक लेखक के लिखे हुए हैं या दो के। दो इसलिए कि वृत्ति और उदाहरण वाले अंश तो निःसंदेह एक ही लेखक के हैं, अतः मुख्य प्रश्न यह है कि क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं? यह प्रश्न इसलिए जटिल हो जाता है कि 'ध्वन्यालोक' के 150 वर्ष बाद अभिनवगुप्त पादाचार्य ने इस पर लोचन नामक टीका लिखी और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें उन्होंने आनन्दवर्धन को वृत्तिकार माना है, कारिकाकार नहीं।

इस 'ध्वन्यालोक' की पुष्पिका में इसका नाम 'सहृदयलोक' भी दिया गया है और काव्यालोक भी। 'सहृदयलोक' के आधार पर एक विद्वान्[1] ने यह सुझाव दिया कि 'सहृदय' कवि या लेखक का नाम है, इसी ने कारिकाएँ लिखीं। 'सहृदय' को कवि मानने में प्रो. सोवानी ने लोचन के इन शब्दों का सहारा लिया है—'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्' यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सहृदय का अर्थ सहृदय अर्थात् साहित्य का आलोचक या वह जो हृदय के गुणों से युक्त हैं, हो सकता है। 'कवि सहृदय' का अर्थ 'सहृदय' नाम का कवि नहीं वरन् एवं सहृदय व्यक्ति है। 'सहृदय' के द्वयर्थक होने से किसी निर्णय पर निश्चयपूर्वक नहीं पहुँचा जा सकता।

किन्तु 'सहृदय' नामक व्यक्ति ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादक था इसका ज्ञान हमें 'अभिधावृत्ति-भातृका' नामक ग्रन्थ से, मुकुल और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज के उल्लेखों से विदित होता है। तो क्या 'कारिका' का लेखक 'सहृदय' था।

राजशेखर के उल्लेखों से यह लगता है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी—अर्थात् कारिका और वृत्ति के लेखक एक ही व्यक्ति हैं।

---

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan—(Introduction), p. LX.

उधर प्रतिहारेन्दुराज यह मानते हुए कि कारिकाकार 'सहृदय' का बताया है। उधर 'वक्रोक्ति जीवितकार' ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना है। समस्या जटिल हो गई—क्या सहृदय कोई व्यक्ति है? लगता है, यह व्यक्ति का नाम है। तब क्या यही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी। या वृत्तिकार आनन्दवर्धन हैं, और क्या वे ही कारिकाकार भी हैं? क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं या दो अलग-अलग व्यक्ति हैं?

इस विवरण से यह विदित होता है कि समस्या खड़ी होने का कारण है—

(1) कवि ने ध्वन्यालोक में कहीं अपना नाम नहीं दिया।

(2) एक शब्द 'सहृदय' द्वयर्थक है—व्यक्ति या कवि का नाम भी हो सकता है और सामान्य अर्थ भी इससे मिलता है।

(3) किसी ने यह माना कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक है और वह सृदय है; नहीं, वह आनन्दवर्धन है, एक अन्य मत है।

(4) किसी ने माना कारिकाकर भिन्न है और वृत्तिकार भिन्न है।

इन सबका उल्लेख करते हुए और खण्डन-मण्डन. करते हुए काणे महोदय ने निष्कर्षत: लिखा है कि—

"At present I feel inclined to hold (though with hesitation) that the लोचन is right and that प्रतीहारेन्दुराज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र and other had not the correct tradition before them. It seems that सहृदय was either the name or title of the कारिकाकार and that आनन्दवर्धन was his pupil and was very closely associated with him. This would serve to explain the confusion of authorship that arose within a short time. Faint indications of this relationship may be traced in the ध्वन्यालोक, The word ''सहृदय मन: प्रीतये'' in the first कारिका is explained in the वृत्ति as 'रामायणमहाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठिामिति प्रकाश्यते'। It will be noticed that the world प्रीति is purposely rendered by the double meaning world आनन्द (pleasure and the author आनन्द). The whole sentece may have two meanings 'may pleasure find room in the heart of the men of taste etc. and 'may आनन्द (the author) secure regard in the heart of the (respected) सहृदय who defined (the nature of ध्वनि) to be found in the रामायण &e'. Similary the words सहृदयोदयलाभ हेतो: in the last verse of the वृत्ति may be explained as 'for the sake of the benefit viz. the appearance of man of correct literary taste' or 'for the sake of securing the rise (of the fame) of सहृदय (the author).[1]

काणे महोदय के उक्त अवतरण से स्पष्ट है कि विविध साक्ष्यों, प्रमाणों से उन्हें यही समीचीन प्रतीत हुआ कि 'संहृदय' और 'आनन्दवर्धन' को अलग-अलग मानें, सहृदय और आनन्द में गुरु-शिष्य जैसा निकट-सम्बन्ध परिकल्पित करें, और 'सहृदय' एवं 'प्रीति'

---

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan—(Introduction), p. LXIV.

जैसे शब्दों को श्लेष मानकर एक अर्थ को 'सहृदय' नाम के व्यक्ति तथा दूसरे को 'प्रीति' नाम के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानें। कवि ने 'सहृदय' को ध्वनिकार का नाम नहीं माना, 'उपाधि' माना है, क्योंकि 'ध्वनि' में 'सहृदय' शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है, इसलिए उन्हें यह उपाधि दी गई। उपाधि दी गई या 'सहृदय' उपधि है इसका कोई अन्य बाह्य या अन्तरंग प्रमाण नहीं मिलता।

जो भी हो, इस उदाहरण से कवि-निर्धारण विषयक समस्या और समाधान की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान हमें होता है।

कभी दो कवियों के नाम-साम्य के कारण यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अमुक कृति किस कवि की है।

'काल-निर्धारण' के सम्बन्ध में 'बीसलदेव रासो' का उल्लेख हो चुका है। कुछ विद्वानों ने यह स्थापना की कि बीसलदेव रासो का रचयिता 'नरपति' वही 'नरपति' है जो गुजरात का एक कवि है जिसने सं. 1548 ई. तथा 1503 ई. में दो अन्य ग्रन्थों की रचना की। इन विद्वानों ने दोनों को एक मानने के लिए दो आधार लिये—

(1) भाषा का आधार, और

(2) कुछ पंक्तियों का साम्य।

इस स्थापना को अन्य विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। उनके आधार ये रहे—

(1) **नाम**—गुजराती नरपति ने कहीं भी 'नाह्ल' शब्द अपने नाम के साथ नहीं जोड़ा, जैसाकि बीसलदेव रासो के कवि ने किया है।

(2) **भाषा**—भाषा 'बीसलदेव' रास की 16वीं शती की नहीं, 14वीं शती की है।

(3) **साम्य**—(क) कुछ पंक्तियों में ऐसा साम्य है जो उस युग के कितने ही कवियों में मिल सकता है।

(ख) जो सात पंक्तियाँ तुलनार्थ दी गई हैं, उनमें से चार वस्तुत: प्रक्षिप्त अंश की हैं, शेष तीन का साम्य बहुत साधारण है, जिसे यथार्थ में आधार नहीं बनाया जा सकता।

(4) **विषय-भेद**—गुजराती नरपति की दोनों रचनाएँ जैन धर्म सम्बन्धी हैं। ये जैन थे, अत: वस्तु की प्रकृति और कवि के विश्वास-क्षेत्र में स्पष्ट अन्तर होने से दोनों एक नहीं हो सकते।

यह विवाद यह स्पष्ट करता है कि एक नाम के कई कवि हो सकते हैं और उससे कौनसी रचना किस कवि की है, यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है। नाम साम्य के कारण कई भ्रान्तियाँ खड़ी हो सकती हैं, यथा—एक 'भूषण' विषयक समस्या को उदाहरणार्थ ले सकते हैं—'भूषण' कवि का नाम नहीं उपाधि हैं। अत: खोजकर्ताओं ने 'भूषण' का असली नाम क्या था, इस पर अटकलें भी लगायीं। जब एक विद्वान् को 'मुरलीधर कवि भूषण' की कृतियाँ मिलीं तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने घोषित किया कि 'भूषण' का मूल नाम 'मुरलीधर' था। इस प्रकार यह भ्रम प्रस्तुत हुआ कि 'भूषण' और 'मुरलीधर

कवि भूषण' दोनों एक हैं। तब अन्तरंग और बाह्य साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला गया कि दोनों कवि भिन्न हैं। क्यों भिन्न हैं, उसके कारण तुलनापूर्वक निम्नलिखित बताये गये हैं—

महाकवि भूषण	मुरलीधर कवि भूषण
1. इनके पिता का नाम रत्नाकर है।	1. इनके पिता का नाम रामेश्वर है।
2. इनका स्थान त्रिविक्रमपुर (तिकवांपुर) है तथा गुरु का नाम धरनीधर था।	2. इन्होंने स्थान का नाम नहीं दिया।
3. इनके आश्रयदाता हृदयराम सुत रुद्र ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि दी। ''कुल सुलंक चित्रकूट पति साहस शील समुद्र। कवि भूषण पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र।'' (शिवराज भूषण)।	3. इनके आश्रयदाता देवीसिंह देव ने इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि दी।
4. इनके एक आश्रयदाता शिवाजी थी।	4. इनके एक आश्रयदाता हृदयशाह गढ़ाधिपति थे।
5. इन्होंने केवल अलंकार ग्रन्थ लिखा जिसका वर्ण्य इतना अलंकार नहीं जितना शिवराज या यशवर्णन था।	5. इन्होंने रस, अलंकार और पिंगल तीनों पर रचना की। पिंगल को इन्होंने कृष्ण-चरित बना दिया है।
6. इनका रचना-काल 1730 के लगभग है।	6. इनका रचना-काल 1700-1723 है।
7. इनकी भनिता है 'भूषण भनत' और अधिकांश इन्होंने इसी रूप में या केवल भूषण नाम से छाप दी है।	7. इन्होंने 'कविभूषण' छाप बहुधा दी हैं। कभी-कभी केवल 'भूषण' छाप भी है, 'भनत', शब्द का प्रयोग सम्भवतः नहीं किया।
8. इन्होंने अपने ग्रन्थों को 'भूषण' नाम दिया।	8. इन्होंने अपने समस्त ग्रन्थों को 'प्रकाश' नाम दिया।
9. इनकी प्राप्त सभी रचना वीररस की हैं।	9. इनकी रचना में श्रृंगार और कृष्णचरित का प्राधान्य है।
10. रचना के अध्याय के अन्त की कथा या ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका बहुत सामान्य हैं, अतः 'कविभूषण' की पद्धति से बिल्कुल भिन्न है।	10. इनकी पुष्पिकाओं में आश्रयदाता का विशद वर्णन तथा अपने पूरे नाम मुरलीधर कवि-भूषण के साथ पिता के नाम का भी उल्लेख है।
11. ये शिवाजी के भक्त थे, शिवाजी को अवतार मानने वाले।	11. ये कृष्ण-भक्त थे।[1]

1. सत्येन्द्र (डॉ.)—ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ. 366।

कोई-कोई कृति किसी कवि विशेष के नाम से रची गई होती हैं पर उस कवि का ऐतिहासिक अस्तित्व कहीं न मिलने पर यह कह दिया जाता है कि यह नाम ही बनावटी हैं। पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक, 16वीं-17वीं शती का और प्रक्षिप्त मानने के लिए जब विद्वान् चल पड़े तो, यह भी किसी ने कह दिया कि इतिहास से किसी ऐसे चन्द का पता नहीं चलता जो पृथ्वीराज जैसे सम्राट् का लंगोटिया यार रहा हो और पृथ्वीराज पर ऐसा प्रभाव रखता हो, जैसा रासौ से विदित होता है और जो सिद्ध कवि हैं। अत: यह नाम मात्र किसी चतुर की कल्पना का ही फल है, किन्तु एक जैन ग्रन्थ में चन्दबरदायी के कुछ छन्द मिल गये तो मुनि जिनविजय जी ने यह मिथ्या धारणा खण्डित कर दी। तो अब चन्दबरदायी का अस्तित्व वो बाह्य साक्ष्य से सिद्ध हो गया। रासो फिर भी खटाई में पड़ा हुआ है।

इसी प्रकार की समस्या तब खड़ी होती है जब एक कवि के कई नाम मिलते हैं—जैसे—महाकवि सूरदास के पदों में 'सूरदास', 'सूरश्याम', 'सूरज', 'सूरस्वामी' आदि कई छापें मिलती हैं। क्या ये छापें एक ही कवि की हैं, या अलग-अलग छाप वाले पद अलग-अलग कवियों के हैं। यद्यपि आज विद्वान् प्राय: यही मानते हैं कि ये सभी छापें 'सूरदास' की हैं, फिर भी, यह समस्या तो है ही और इन्हें एक कवि की ही छापें मानने के लिए प्रमाण और तर्क तो देने ही पड़ते हैं।

'नलदमन' नामक एक काव्य को भी सूरदास का लिखा बहुत समय तक माना गया, किन्तु बाद में जब यह ग्रन्थ प्राप्त हो गया तब विदित हुआ कि इसके लेखक सूरदास सूफी थे, और महाकवि सूरदास से कुछ शताब्दी बाद में हुए। अब यह ग्रन्थ क.मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से प्रकाशित भी हो गया है।

अत: हमने देखा कि कितने ही प्रकार से 'कवि' कौन है या कौनसा है की समस्या भी पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये महत्त्वपूर्ण है।

एक और प्रकार से यह समस्या सामने आती है—कवि राज्याश्रय में या किसी अन्य व्यक्ति के आश्रय में है। ग्रन्थ रचना कवि स्वयं करता है, पर उस कृति पर नाम-छाप अपने आश्रयदाता की देता है। इसके कारण यह निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि वस्तुत: उसका रचनाकार कौन है?

उदाहरण के लिये 'श्रृंगारमंजरी' ग्रन्थ है, कुछ लोग इसे 'चिन्तामणि' कवि की रचना मानते हैं, कुछ उनके आश्रयदाता 'बड़े साहिब' अकबर साहि की। इस सम्बन्ध में ब्रज साहित्य के इतिहास से ये पंक्तियाँ उद्धृत करना समचीन प्रतीत होता है।[1]

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह श्रृंगारमंजरी बड़े साहिब अकबर साहि की लिखी हुई है, क्योंकि पुस्तक के बीच-बीच में बड़े साहिब का उल्लेख है, परन्तु ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने बड़े साहिब अकबर साहि के लिये लिखा। इसके अन्त का उदाहरण है—

1. सत्येन्द्र (डॉ.)—ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ. 249।

''इति श्रीमान् महाराजधिराज मुकुटतटघटित मनि प्रभाराजिनी राजित चरणराजीव-साहिराज गुरुराज तनुज बड़े साहिब के अकबर साहि विरचिता श्रृंगार मंजरी समाप्ता।''

निश्चय है कि लेखक स्वयं अपने लिए इस प्रकार से विशेषण नहीं लिख सकता था। ये विशेषण बड़े साहिब के लिए 'चिन्तामणि' ने ही प्रयुक्त किये होंगे। 'श्रृंगार मंजरी' के प्रारम्भिक छंदों में 'चिन्तामणि' का नाम भी आया है, यथा—

सोहत है सन्तन विधुबन सौं मंडित कहे कवि चिन्तामनि सब सिद्धिन को घरु।

पूरन कै लाख अभिलाष सब लोगनि के जाके पंचसाख सदा लानत कनक झरु॥

सुन्दर सरूप सदा सुमन मनोहर है जाके दरसन जग नैननि को तापहरु॥

पीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर ते प्रकटित भये हैं बड़े साहिब कल्पतरु।

इन्हीं बड़े साहिब को 'श्रृंगार मंजरी' के रचयिता के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए चिन्तामणि ने लिखा है—

''गुरुपद कमल भगति मोद मगन ह्वै सुवरन जुगल जवाहिर खचत है''

''निज मत ऐसी''

''भाँति थापित करत जाते औरनि के मत लघु लागत लचत है''।

''सकल प्रवीन ग्रन्थ लपनि विचारि कहे चिन्तामणि रस के समूहन सचत है''।

''साहिराज नन्द बड़े साहिब रसिकराज 'श्रृंगार मंजरी' ग्रन्थ रूचिर रचत है''।

इससे प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ बड़े साहिब के लिये उनके नाम पर चिन्तामणि ने ही लिखा। अपने आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ प्रारम्भ और समाप्त करने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी। डॉ. नगेन्द्र की मान्यता है कि ''यह ग्रन्थ बड़े साहिब ने मूलतः आंध्र की भाषा में रचा, फिर संस्कृत में अनूदित हुआ। उसकी छाया पर चिन्तामणि ने रचा।'' यह भी सम्भव है।

ऐसे ही यह प्रश्न उठा कि 'ममारिख' और 'मुबारक' छाप वाले कवि दो हैं या एक ही है। एक ही पद्य में एक संग्रह में 'मुमारिख' का प्रयोग हुआ है और दूसरे संग्रह में एक छाप है 'मुबारक' तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों नाम एक ही के हैं। 'मुबारक' ही उच्चारण-भेद से ''मुमारख', या 'ममारिख' हो गया है, किन्तु उक्त प्रमाण अपने आप में प्रबल नहीं है। कुछ और भी प्रमाण ढूँढ़ने होंगे कि तर्क अकाट्य हो जाय। पूरक कृतित्त्व में भी कवि विषयक भ्रान्ति हो सकती है।

चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती' में दो पूरक कृतित्त्व हुये हैं— (1) माधव नाम के कवि द्वारा, (2) गोयम (गौतम) कवि द्वारा।

पूरक कृतित्त्व में किसी पूर्व के या प्राचीन ग्रन्थ में किसी कवि को कोई कमी दिखाई पड़ती है तो वह उसकी पूर्ति करने के लिए अपनी ओर से कुछ प्रसंग बढ़ा देता है, और इसका उल्लेख भी वह कहीं या पुष्पिका में कर देता है। गोयम कवि ने उस प्रसंग का उल्लेख कर दिया है, जो उसने जोड़े हैं, अतः कृतित्त्व को 'चतुर्भुजदास' के कृतित्त्व से

अलग किया जा सकता है, और यह निर्देश किया जा सकता है कि किस अंश का कवि कौन है।

पर 'प्रक्षेपों' के सम्बन्ध में यह बताना सम्भव नहीं। प्रक्षेप वे अंश होते हैं जो कोई अन्य कृतिकार किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ में किसी प्रयोजन से बढ़ा देता है और अपना नाम नहीं देता। आज पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्रक्षेपों को अलग तो किया जा सकता है, पर यह बताना असम्भव ही लगता है वह अंश किस कवि ने जोड़े हैं।

कभी-कभी एक और प्रकार से कवि-निर्धारण सम्बन्धी समस्या उठ खड़ी होती है। वह स्थिति यह है कि रचनाकार का नाम तो मिलता नहीं पर लिपिकार ने अपना नाम आदि पुष्पिका में विस्तार से दिया है। कभी-कभी लिपिकार को ही कृतिकार समझने का भ्रम हो जाता है, अतः लिपिकार कौन है और कृतिकार कौन है, इस सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए ग्रन्थ की सभी पुष्पिकाओं को बहुत ध्यानपूर्वक देखना होगा तथा अन्य प्रमाणों की भी सहायता लेनी होगी।

कभी मूल पाठ में आये कवि नाम का अर्थ संदिग्ध रहता हैं। यद्यपि एक परम्परा उसका ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेती है, जो शब्द से सिद्ध नहीं होता, यथा—'सन्देश रासक' के कवि का नाम 'अद्दहमाण' दिया हुआ है, 'सन्देशरासक' की दो संस्कृत टीकाओं में अद्दहमान का 'अब्दुलरहमान' मूल रूप स्वीकार किया है। उनके पास कवि को 'अब्दुल-रहमान' मानने का क्या आधार था, यह विदित नहीं। शब्द स्वयं इस नाम को संकेतित करने में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ असमर्थ है। अब्दुल का 'अद्द' और रहमान का 'हमाण' कैसे हुआ होगा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी को यह टिप्पणी देनी पड़ी है—'किन्तु यहाँ भी कवि ने शब्द गठन में कुछ स्वतंत्रता का परिचय दिया है। अब्दुल रहमान में रहमान मुख्य पद है। इसमें से आरम्भ के अक्षर को छोड़ना उचित नहीं था।' डॉ. द्विवेदी ने यह टिप्पणी यही मान कर की है कि संस्कृत टीकाकारों ने जो नाम सुझाया है 'अब्दुल रहमान' वह ठीक है। कवि अपने नाम के साथ भी श्लेष के मोह से खिलवाड़ कर सकता है और उसको कोई विकृत रूप दे सकता है, यह कुछ अधिक जचने वाली बात नहीं लगती। हो सकता है 'अद्दहमाण' 'अब्दुलरहमान' न होकर कुछ और नाम हो। समस्या तो यह है ही। कुछ ने इसे समस्या ही माना है, पर क्योंकि कोई और उपयुक्त समाधान सप्रमाण नहीं है, अतः लकीर पीटी जा रही है?

तो पाठ का रूप ही ऐसा हो सकता है कि या तो कवि का नाम ठीक प्रकार से निकाला ही न जा सके, या जो निकाला जाय वह पूर्णतः संतोषप्रद न हो तो आगे अनुसंधान की अपेक्षा रहती है।

इसी प्रकार किसी काव्य की कवि ने स्पष्ट रूप से कोई पुष्पिका न दी हो, जिसमें कवि-परिचय हो या कवि का नाम ही हो, तो भी कवि का नाम उसकी छाप से जाना जा सकता है, पर ऐसी भी कृतियाँ हो सकती हैं, जिनमें कुछ शब्द इस रूप में प्रयुक्त हुए हों कि वे नाम-छाप से लगें; उदाहरणार्थ 'बसन्त विलास' में कवि ने आरम्भ किया है कि मैं पहले सरस्वती की अर्चना करता हूँ फिर 'बसन्त विलास' की रचना करता हूँ, पर कहीं

अपना नाम या अपनी नाम-छाप नहीं दी। किन्तु दो शब्द कुछ इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हें नाम-छाप भी मान लिया जा सकता है। एक है 'त्रिभुवन', दूसरा 'गुणवन्त'। डॉ. गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में संख्या 3 के छन्द में—

बसन्त तणा गुण महमह्या सवि सहकार।

त्रिभुवनि जय जयकार पिकारव करइं अपार।[1]

छंद—17

बनि बिलसई श्रीअ नन्दनु चन्दन चन्द चु मीत।

रति अनइ प्रीतिसिउं सोहए मोहए त्रिभुवन चीतु॥[2]

इन दोनों छंदों में 'त्रिभुवन' कवि की नाम-छाप जैसा लगता है, क्योंकि इसकी यहाँ अन्य सार्थकता विशेष नहीं। 'त्रिभुवन' शब्द यहाँ भी न हो तो भी अर्थ पूरा मिलता है। पहले में 'कोकिल जयजयकार' कर रहा है से अर्थ पूरा हो जाता है। त्रिभुवन या तीनों लोकों में जय-जयकार कर रहा है, से कोई विशेष अभिप्राय प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे छंद में 'चित्त को मोहता' है से अर्थ पूर्ण है। 'त्रिभुवन' का 'चित्त मोहता' है में 'त्रिभुवन' कवि छाप से सार्थकता रखता प्रतीत होता है, 'तीनों लोकों का चित्त मोहित करता है' या मोहित होता है में कोई वैशिष्ट्य नहीं लगता।

इसी प्रकार अन्तिम 84वें छन्द में 'गुणवन्त' शब्द आया है—

इणि परि साह ति रीझवी सीझवी आणई ठांइ

धन-धन ते गुणवन्त बसन्त विलासु जे गाइं॥[3]

इसमें अन्तिम पंक्ति का यह अर्थ अधिक सार्थक लगता है कि गुणवन्त नामक कवि कहता है कि वे धन्य हैं जो बसन्त विलास गायेंगे। इसका यह अर्थ करना कि 'वे गुणवन्त जो बसन्त विलास गायेंगे धन्य होंगे' उतना ही समीचीन नहीं लगता क्योंकि 'गुणवन्त' शब्द के इस अर्थ में कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रतीत होता है। यदि यह बसन्त-विलास का अन्तिम छन्द माना जाये, जैसा डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने माना है, तो काव्यान्त में गुणवन्त कवि की छाप हो, यह सम्भावना और बढ़ जाती है। यह प्रस्तावित उक्ति ही है क्योंकि—

(1) किसी अन्य विद्वान् ने इन्हें नाम-छाप के लिये स्वीकार नहीं किया। इसके रचनाकार कवि का नाम सोचने का प्रयास नहीं किया।

(2) 'नाम' के अतिरिक्त जो इस शब्द का अर्थ होता है वह अर्थ उतना सार्थक भले ही न हो, पर अर्थ देता है ही।

---

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—बसन्त विलास और उसकी भाषा, पृ. 19।
2. वही पृ. 21।
3. वही पृ. 29।

(3) ऊपर जो तर्क दिये गये हैं उनकी पुष्टि में कुछ और ठोस तर्क तथा प्रमाण होने चाहिये। 'त्रिभुवन' या 'गुणवन्त' नाम के कवियों की विशेष खोज करनी होगी।

इस प्रकार केवल काल-निर्णय के सम्बन्ध में ही समस्याएँ नहीं खड़ी होती। 'कवि निर्धारण' के सम्बन्ध में भी उठती हैं। इस समस्या के भी कितने ही पक्ष होते हैं। उनमें से कुछ पर हमने उदाहरण सहित कुछ प्रकाश डाला है। सभी उदाहरण इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं और विद्वानों से ही लिये गये हैं।

पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को अपनी प्रतिभा से इस दिशा में उपयोगी कार्य करना होगा, और उसको काल-निर्धारण और कवि-निर्णय की समस्या के लिए और अधिक ठोस वैज्ञानिक आधार निर्मित करने होंगे। इस अध्याय में जितना इस समस्या पर उदाहरणार्थ कुछ ग्रन्थों के मंथन का सहारा लिया गया है, ठोस सिद्धान्तों तक पहुँचने के लिए उसे और भी अधिक ग्रन्थों का मंथन करना होगा।

8
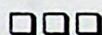
शब्द और अर्थ की समस्या

पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से अब तक जो चर्चाएँ हुई हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर, ये सभी प्रयत्न पाण्डुलिपि की मूल-समस्या अथवा उसके मूल-रूप तक पहुँचने के लिए सोपानों की भाँति थे। पाण्डुलिपि का लेखन, लिप्यासन, लिपि, काल या कवि मात्र से सम्बन्ध नहीं, उसका मूल तो ग्रन्थ के शब्दार्थों में है, अतः 'शब्द और अर्थ' पाण्डुलिपि में यथार्थतः सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं।

शब्द और अर्थ में शब्द भी एक सोपान ही हैं। यह सोपान ही हमें कृतिकार के अर्थ तक पहुँचाता है। शब्द के कई प्रकार के भेद किये गये हैं।

शब्द भेद

एक भेद हैं—रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़। यह भेद शब्द के द्वारा अर्थ-प्रदान की प्रक्रिया को प्रकट करता है। ये प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की हो सकती हैं—

रूढ़-शब्द का एक मूल रूप मानना होगा, यह मूल शब्द कुछ अर्थ रखता है, और उस शब्द के मूल रूप के साथ यह अर्थ 'रूढ़' हो गया है। सामान्यतः इस शब्द-रूप से मिलने वाले रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठता कि 'घोड़ा' जो अर्थ देता है, क्यों देता है? 'घोड़ा' शब्द-रूप का जो अर्थ हमें मिलता है, वह रूढ़ है क्योंकि इन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध न जाने कब से इसी प्रकार का रहा है, अतः शब्द के साथ उसका अर्थ परम्परा या रूढ़ि से सर्वमान्य हो गया है। इसी प्रकार 'विद्या' भी रूढ़ शब्द है और 'बल' भी वैसा ही किन्तु 'विद्याबल', 'विद्यार्थी', 'विद्यालय' आदि शब्दों के अर्थ में प्रक्रिया कुछ भिन्न है। यहाँ रूढ़ शब्द तो है ही पर एक से अधिक ऐसे शब्द परस्पर मिल गये हैं, इनका योग हो गया है, अतः ये यौगिक हो गये हैं। इनमें से प्रत्येक शब्द अपने रूढ़ अर्थ के साथ परस्पर मिला है, और ये परस्पर मिलकर यानी 'यौगिक' होकर अर्थाभिव्यक्ति को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। 'विद्या-बल' से उस शक्ति का अर्थ हमें मिलता है जो विद्या में अन्तर्निहित है, और विद्या में से विद्या के द्वारा प्रकट हो रहा है।

तीसरी प्रक्रिया में दो या अधिक शब्द परस्पर इस प्रकार का योग करते हैं कि उनके द्वारा जो अर्थ मिलता है, वह निर्मायक शब्दों के रूढ़ार्थों से भिन्न होता हुआ भी, रूप में यौगिक उस शब्द को, एक अलग रूढ़ार्थ प्रदान करता है, यथा जलज शब्द जल + ज (= उत्पन्न) दो शब्दों का 'यौगिक' है, यौगिक अर्थ में जल से उत्पन्न सभी वस्तुएँ, मछली,

सीप, मूंगा, मोती, इससे सांकेतिक होंगी, किन्तु इसका अर्थ 'कमल' नाम का पुष्प विशेष होता है। उसका यह अर्थ इस शब्द के रूप के साथ रूढ़ हो गया है। जल + ज का अर्थ जल से उत्पन्न मोती, सीप, घोंघे, सेवार आदि सभी ग्राह्य हों तो शब्द यौगिक रहेगा पर केवल पुष्प विशेष से इसका अर्थ रूढ़ि ने बाँध दिया है, अतः इसे 'योगरूढ़' कहा जाता है।

शब्द के ये भेद अर्थ-प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकते हैं, पर ये भेद पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए सीधे-सीधे उपयोगी नहीं हैं, और पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से सीधे-सीधे ये भेद कोई समस्या नहीं उठाते। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के लिए प्रत्येक भेद समस्याओं से युक्त है। 'शब्द' का रूप और उसके साथ अर्थ की रूढ़ता स्वयं एक समस्या है।

फिर व्याकरण की दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के भेद भी हमें यहाँ इष्ट नहीं, क्योंकि इनका क्षेत्र भाषा और उसका शास्त्र है।

शब्दों के भेद विविध शास्त्रों के अनुसार और आवश्यकता के अनुसार किये जाते हैं। यहाँ संक्षेप में इन विविध भेदों की संकेत रूप में एक तालिका दे देना उपयोगी होगा। ये इस प्रकार हैं—

शास्त्र एवं विषय	शब्द-भेद
1. व्याकरण, रचना एवं गठन	1. रूढ़, 2. यौगिक, (अंतःकेन्द्रित) एवं 3. योगरूढ़ (वहिःकेन्द्रित)
2. व्याकरण : भाषा-विज्ञान बनावट	1. समासशब्द, 2. पुनरुक्त शब्द, 3. अनुकरण मूलक, 4. अनर्गल शब्द, 5. अनुवाद युग्म शब्द, 6. प्रतिध्वन्यात्मक शब्द।
3. व्याकरण + भाषा-विज्ञान : शब्द विकास	1. तत्सम, 2. अर्द्ध-तत्सम, 3. तद्भव, 4. देशज, 5. विदेशी।
4. व्याकरण : कोटिगत	(क) 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग, 4. निपात।
कोटिगत (शब्दभेद)	(ख) 1. संज्ञा, 2. सर्वनाम, 3. विशेषण, 4. क्रिया, 5. क्रिया विशेषण, 6. समुच्चय बोधक, 7. सम्बन्ध सूचक, 8. विस्मयादिबोधक।
5. प्रयोग सीमा के आधार पर (विशेषतः पारिभाषिक)	1. काव्य शास्त्रीय, 2. संगीतशास्त्रीय, 3. सौन्दर्यशास्त्रीय, 4. ज्योतिषशास्त्रीय आदि विषय सम्बन्धी।
6. अर्थ-विज्ञान	1. समानार्थी (पर्यायवाची), 2. एकार्थवाची, 3. नानार्थवाची (अनेकार्थी), 4. समानरूपी, भिन्नार्थवाची (श्लेषार्थी) आदि।
7. काव्य-शास्त्र	वाचक, लक्षक और व्यंजक

हमारा क्षेत्र है पाण्डुलिपि में आये या लिखे गये शब्द, जो लिखे गये वाक्य के अंश हैं, और जिनसे मिलकर ही विविध वाक्य बनते हैं, जिनकी एक वृहद् शृंखला ही ग्रन्थ बना देती है। ग्रन्थ रचना में प्रयुक्त शब्दावली निश्चय ही सार्थक होती है। अर्थ-ग्रहण शब्द-रूप पर निर्भर करता है, जैसे—शब्द हो, 'मानुस' हों तो इनका अर्थ होगा कि 'यदि मैं मनुष्य होऊँ' और यदि शब्द-रूप हों, मानु सहौं तो अर्थ होगा कि 'यदि मैं मान (रूठने) को सहन

1 2 3 4 5

करु' तो इससे स्पष्ट है कि अक्षरावली दोनों में बिल्कुल एक-सी है—'मा नु स हों तों'। केवल शब्द रूप खड़े करने से भिन्नता आई है। पहले पाठ में 1, 2, 3 अक्षरों को एक शब्द माना गया है और '3' भी स्वतंत्र शब्द है और 4 भी, दूसरे पाठ में शब्द-रूप बनाने में 1 + 2 को एक शब्द, 3 + 4 को दूसरा, 5 को स्वतंत्र शब्द पूर्ववत।

फलतः पहले पाठ में जो शब्द-रूप बनाए गए, उनमें से एक अर्थ मिला। उन्हीं अक्षरों से दूसरे पाठ में अन्य शब्द-रूप खड़े किये गये जिससे उस अक्षरावली का अर्थ बदल गया।

इस उदाहरण से अत्यन्त स्पष्ट है कि अर्थ का आधार 'शब्द-रूप' है। 'शब्द-रूप' में मूल आधार 'अक्षरयोग' है, ये अक्षर-योग हमें लिपिकार या लेखक द्वारा लिखे गये पृष्ठों से मिलते हैं।

पाण्डुलिपि में शब्द-भेद हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

(1) मिलित शब्द

इसमें शब्द अपना रूप अलग नहीं रखते। एक-दूसरे से मिलते हुए पूरी पंक्ति को एक ही शब्द बना देते हैं, ऐसा प्रायः पाण्डुलिपि-लेखन की प्राचीन प्रणाली के फलस्वरूप होता है, यथा ''मानुसहोंतोवहींरसखा नवसौंमिलिगोकुलगोपगुवारनि''

इसमें से शब्द-रूप खड़े करना, पाठक का काम रहता है और वह अपनी तरह से शब्द खड़े कर सकता है—यथा-मानु' सहों' तोव' हींर' सखान'...........आदि शब्द होंगे या 'मानुस' हों' तो' वहीं रसखान.........आदि शब्द होंगे। मिलित शब्दों से पाठक उन्हें अपने ढंग से 'भंग' करके मुक्त शब्दों का रूप दे सकता है और अपनी तरह से अर्थ निकाल सकता है।

(2) विकृत शब्द

(अ) मात्रा विकृत

(ब) अक्षर विकृत

(स) विभक्त अक्षर विकृति युक्त

(द) युक्ताक्षर विकृति युक्त

(त) घसीटाक्षर विकृति युक्त

(थ) अलंकरण निर्भर विकृति युक्त

(3) नव रूपाक्षरयुक्त शब्द

(4) लुप्ताक्षरी शब्द

(5) आगमाक्षरी

(6) विपर्याक्षरी शब्द

(7) संकेताक्षरी शब्द (Abbreviated Words)

(8) विशिष्टार्थी शब्द (Technical Expression)[1]

(9) संख्यावाचक शब्द

(10) वर्तनीच्युत शब्द

(11) भ्रमात् स्थानापन्न शब्द

(12) अपरिचित शब्द

पाण्डुलिपि को दृष्टि में रखकर हमने जो शब्द-भेद निर्धारित किये हैं वे ऊपर दिए गए हैं। किसी ग्रन्थ के अर्थ तक पहुँचने के लिए हमने शब्द को इकाई माना है। इनमें से बहुत-से शब्द विकृति के परिणाम हो सकते हैं। पाठालोचक इनका विचार अपनी तरह से करता है। उस पर पाठालोचन वाले अध्याय में लिखा जा चुका है। पर डॉ. चन्द्रभान रावत[2] ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसे इन शब्द भेदों के अन्तरंग को समझने के लिए, यहाँ दे देना समीचीन प्रतीत होता है।

''मुद्रण-पूर्व-युग में पुस्तकें हस्तलिखित होती थीं। मूल प्रति की कालान्तर में प्रतिलिपियाँ होती थीं। प्रतिलिपिकार आदर्श या मूल-पाठ की यथावत् प्रतिलिपि नहीं कर सकता। अनेक कारणों से प्रतिलिपि में कुछ पाठ सम्बन्धी विकृतियाँ आ जाना स्वाभाविक है। इन अशुद्धियों के स्तरों को चीरते हुए मूल आदर्श-पाठ तक पहुँचना ही पाठानुसन्धान का लक्ष्य होता है।'' विकृतियों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—उन समस्त पाठों को विकृत-पाठ की संज्ञा दी जायेगी जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे होने की किसी प्रकार की सम्भावना नहीं की जा सकती और जो लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से पूर्णतया विपरीत पड़ते हैं।[3] इन अशुद्धियों के कारण ही पाठानुसन्धान की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया के ये सोपान हो सकते हैं—

(1) मूल लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से परिचय,

(2) इस ज्ञान के प्रकाश में अशुद्धियों का परीक्षण,

(3) इन सम्भावित अशुद्धियों का परीक्षण,

---

1. Sircar, D.C. Indian Epigraphy, P. 327.
2. अनुसन्धान—पृ. 269-71।
3. वर्मा, विमलेश कान्ति-पाठ विकृतियाँ और पाठ सम्बन्धी निर्धारण में उनका महत्त्व—परिषद पत्रिका (वर्ष 3, अंक 4) पृ. 48।

(4) पाठ-निर्माण,

(5) पाठ-सुधार तथा

(6) आदर्श-पाठ की स्थापना

पाठ-विकृतियों के मूल कारणों का वर्गीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है[1]—

1. बाह्य विकृतियाँ :
- (स्रोतगत : मूल पाठ विकृत हो।
- (सामग्रीगत : पन्ने फटे हों, अक्षर अस्पष्ट हों।
- (क्रमगत : पन्नों का क्रमनियोजन दोषपूर्ण हो या छन्दक्रम दूषित हो।
- (एक से अधिक स्रोत हों।

2. अंतरंग विकृतियाँ :
- (प्रतिलिपिकार की असावधानी।
- (प्रतिलिपिकार का भ्रम : प्रक्षेप, वर्णभ्रम, अङ्कभ्रम।
- (प्रतिलिपिकार का अपना आदर्श और सही करने की इच्छा।

कुछ अशुद्धियाँ दृष्टि-प्रमाद के कारण ही हो कसती हैं और कुछ मनोवैज्ञानिक। दृष्टि-प्रमाद में पाठ्यह्रास, पाठ्यवृद्धि और पाठ-परिवर्तन आते हैं। मनोवैज्ञानिक में आदर्श के अनुसार मूल पाठ की अशुद्धियों को समझकर उनको सुधारने की प्रवृत्ति आती है। हाल ने इन पर एक और प्रकार से विचार किया है।[2] इन्होंने पाठ विकृतियों के तीन भेद किये हैं— भ्रम तथा निवारण के उपाय, पाठ-ह्रास और पाठ-वृद्धि।

भ्रम 13 प्रकार के माने गये हैं— समान-अक्षर सम्बन्धी भ्रम, सादृश्य के कारण शब्दों का गलत लिखा जाना, संकोचों की अशुद्ध व्याख्या, गलत एकीकरण, अथवा गलत पृथक्करण, शब्द-रूपों का समीकरण और समीपवर्ती रचना को आश्रय देना, अक्षर या वाक्य-व्यत्यय, संस्कृत का प्राकृत में या प्राकृत का संस्कृत में गलत ढंग से प्रतिलिपित होना, उच्चारण-परिवर्तन के कारण अशुद्धि, अंक-भ्रम, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम, अपरिचित शब्दों के स्थान पर परिचित शब्दों का प्रयोग, प्राचीन शब्दों के स्थान पर नवीन शब्दों का प्रयोग तथा प्रक्षेप अथवा अज्ञात भाव से की गई भूलों का सुधार।

पाठ-ह्रास में शब्दों का लोप आता है। यह लोप साधारण भी हो सकता है और आदि-अन्त के साम्य के कारण भी हो सकता है। पाठवृद्धि में (1) परवर्ती अथवा पार्श्ववर्ती सन्दर्भ के कारण पुनरावृत्ति, (2) पंक्तियों के बीच अथवा हाशिये पर लिखे पाठ का समावेश, (3) मिश्रित पाठान्तर अथवा (4) सदृश लेख के प्रभाव के कारण वृद्धि।

---

1. Encyclopaedia Britanica-Postgate Essay.
2. Hall, F.W.—Companion to Classical Text श्री मिथिलेश कान्ति वर्मा, परिषद् पत्रिका (वर्ष 3, अङ्क 4), पृ. 50 पर उद्धृत।

अनुसन्धान के इस क्षेत्र में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का स्थान आधिकारिक है। उन्होंने विकृतियों के आठ प्रकार माने हैं—(1) सचेष्ठय पाठ विकृति, (2) लिपि-जनित, (3) भाषा-जनित, (4) छन्द-जनित, 5 प्रतिलिपि-जनित, 6 लेखन-सामग्री-जनित, (7) प्रक्षेप-जनित और (8) पाठान्तर-जनित।[1] लिपिकार के द्वारा सचेष्ठ पाठ-विकृति में अपने ज्ञान और तर्क से संशोधन करने की प्रवृत्ति ही है। अन्य सभी कथित प्रकार स्वयं स्पष्ट है। भाषा जनित भ्रमों में शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग, तद्भव शब्दों को संस्कार-शोध के उद्देश्य से तत्सम रूप देना और आवश्यकतानुसार भाषा को परिनिष्ठित बनाने का उद्योग करना आते हैं।

ऊपर हमने जो शब्द भेद दिये हैं, उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डुलिपि के सम्पर्क में आने पर अन्य बातों के साथ लिपि की समस्या हल हो जाने पर पाण्डुलिपि विज्ञानार्थी को पाण्डुलिपि की भाषा से परिचित होना होता है, और उसके लिए पहली 'इकाई' शब्द है, पाण्डुलिपि में शब्द हमें किन रूपों में मिल सकते हैं, उन्हीं को इन भेदों में प्रस्तुत किया गया है। ये शब्द-भेद पाण्डुलिपि को समझने के लिए आवश्यक हैं, अतः आवश्यक है कि इन भेदों को कुछ विस्तार से समझ लिया जाय।

मिलित शब्दों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से आरम्भ में ही दिया गया है। मिलित शब्दों में पहली समस्या शब्द के यथार्थ रूप को निर्दिष्ट करना है अर्थात् ऊपर दिये गये उदाहरण में यह निर्दिष्ट करना होगा कि 'मानु सहों' या 'मानुस हों' में से कवि को अभिप्रेत शब्दावली कौनसी हो सकती है। इसके लिए पूरे चरण को ही नहीं, पूरे पद को शब्दों में स्थाप़ित करना होगा, और तब पूरे सन्दर्भ में शब्द-रूप का निर्धारण करना होगा।

इस प्रक्रिया में भंग-पद और अभंग पद-श्लेष को भी दृष्टि में रखना होगा।

मिलित शब्दावली में से ठीक शब्द रूपों को न पकड़ने के कारण अर्थ में कठिनाई पड़ेगी ह़ी। यहाँ इसके कुछ उदाहरण और देना समीचीन होगा। 'नवीन' कवि कृत 'प्रबोध सुधासर' के छन्द 901 के एक चरण में 'शब्द-रूप' यों ग्रहण किये गये हैं—'तू तौ पूजै आँख तले वह तौंनखल ले' 'शब्द-रूप देने वाले को पूरे सन्दर्भ का ध्यान न रहा।' मिलित शब्दावली से ये शब्द-रूप यों ग्रहण किये जाने चाहिये थे 'तू तौ पूजै आखत ले' आदि। आँख तले से अर्थ नहीं मिलता। आखत = अक्षत = चावल से अर्थ ठीक बनता है।

साथ ही, क़िसी शब्द का रूप भौतिक कारणों से क्षत-विक्षत हुआ है तो उसकी पूर्ति करनी होती है। शिला पर होने से कोई चिप्पट उखड़ जाने से अथवा किसी स्थल के घिस जाने से, कागज फट जाने से, दीमक द्वारा खा लिये जाने से अथवा अन्य किसी कारण से शब्द-रूप क्षत-विक्षत हो सकता है। इस स्थिति में पूरे पाठ की परिकल्पना कर

---

1. अनुसन्धान की प्रक्रिया।

शब्द के क्षतांश की पूर्ति करनी होगी। ऐसे प्रस्तावित या अनुमानित शब्दांश को कोष्ठकों ( ) में रख दिया जाता है—उदाहरण के लिए 'राउलवेल' की पंक्तियाँ दी जा सकती है—

पहली पंक्ति

(1) नमः सिध (2)

....

रोडे राउल बेल बखाणा

जइ (3) इ आयणु ज (4)

....

जा जेम्ब जाणइ सो तेम्ब वखाणइ।

हासे तो से राजइ राणइ

(5) (6) (7)

....

दूसरी पंक्ति

भा (8) उ भाव इ

इतने से अंश में अर्थात् पहली पंक्ति और दूसरी पंक्ति के आरम्भ में 8 स्थल ऐसे हैं जो क्षत हैं। अब पाठ-निर्माण की दृष्टि से (1) पर (ऊं) की कल्पना की जा सकती है। (2) के स्थान पर (भ्यः ॥) रखा जा सकता है। संख्या 3 के क्षत स्थान की पूर्ति में कल्पना सहायक नहीं हो पाती हैं, अतः इसे बिन्दु..........लगाकर ही छोड़ दिया जायेगा। 4 के खाली स्थान पर ज के साथ (णी) ठीक बैठता है। 5 का अंश पूरे उपवाक्य का होगा, इसी प्रकार संख्या 6 का भी इनकी पूर्ति के लिए। शब्दों तक भी कल्पना से नहीं पहुँचा जा सकता, अतः इन्हें बिन्दुओं से रिक्त ही दिखाना होगा। 6 संख्या पर छन्द समाप्ति की हो (1) सकती है। 7वें पर (ल) ठीक रहेगा, किन्तु ऐसे पाठोद्धार में जो शब्द अक्षत उपलब्ध हैं, अर्थ तक पहुँचने के लिए उनमें भी किसी संशोधन का सुझाव देना आवश्यक हो सकता हैं जिससे कि वाक्य का रूप व्याकरणिक की दृष्टि से ठीक अर्थ देने में सक्षम हो जाय। ऐसे सुझावों को छोटे कोष्ठकों ( ) में रखा जा सकता है।

दूसरे प्रकार के शब्दों को विकृत शब्द कह सकते हैं। विकारों के कारणों को दृष्टि में रखकर 'विकृत शब्दों' के 6 भेद किये गये हैं—

पहला विकार मात्रा-विषयक हो सकता है, जो विकार मात्रा की दृष्टि से आज हमें सामान्य लेखन में मिलता है, वह इन पाण्डुलिपियों में भी मिल जाता है। हम देखते हैं

कि बहुत से व्यक्ति 'रात्रि' को 'रात्री' लिख देते हैं। किसी-किसी क्षेत्र विशेष में तो यह एक प्रवृत्ति ही हो गई है कि लघु मात्रा के लिए दीर्घ और दीर्घ के लिए लघु लिखी जाती है। भ्रमात् किसी अन्य मात्रा के लिए अन्य मात्रा लिख दी जा सकती है। इसका एक उदाहरण डॉ. माहेश्वरी ने यह दिया है—

139 धींरै > धौरे। ई > ओ

(अ) यहाँ लिपिक ने 'ी' की मात्रा को कुछ इस रूप में लिखा कि वह 'ओ' पढ़ी गयी।[1] इसी प्रकार 'ओ' की मात्रा को ऐसे लिखा जा सकता है कि वह 'ई' पढ़ी जाय। 1846 में मनरूप द्वारा लिखित मोहन विजय-कृत 'चन्द्र-चरित्र' के प्रथम पृष्ठ की 13वीं पंक्ति में दायीं ओर से सातवें अक्षर से पूर्व का शब्द 'अनुप' में मात्रा विकृति है, यह यथार्थ में 'अनूप' है। इसी के पृ. 3 पर ऊपर से सातवीं पंक्ति में 16वें अक्षर से पूर्व शब्द लिखा है, 'अगुढ़' जो मात्रा-विकृति का ही उदाहरण है। इसकी पुष्टि दूसरे चरण की तुक के शब्द 'दिंगमूढ़' से हो जाती है। 'दिंगमूढ़' में लिपिक ने दीर्घ 'ऊ' की मात्रा ठीक लगाई है। 'मात्रा-विकृति' के रूप कई कारणों से बनते हैं— (1) मात्रा लगाना ही भूल गये। यथा डॉ. माता प्रसाद गुप्त को 'सन्देश रासक' के 24वें छन्द में द्वितीय चरण में 'णिहई' शब्द मिला है, डॉ. गुप्त मानते हैं कि यहाँ 'आ' मात्रा भूल से छूट गई है। शब्द होगा 'णहाई'। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने बताया है कि 'उ' बाद में 'उ' तथा 'ओ' दोनों ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था। यथा—सन्देश रासक छंद 72 ओसहे > उसहे। (2) यह विकृति दो मात्राओं में अभेद स्थापित हो जाने से हुई। ऐसे ही 'दिव' का 'दय'। (3) यह अनवधानता से हुआ है। (4) 'स्मृति-भ्रम' से भी विकृति होती है, जैसे—'फरसिउ' लिख गया 'फरुसउ' के लिए। 5वां कारण वह अनवधानता है जिसमें मात्रा कहीं की कहीं लग जाती है। यह 'मात्रा-व्यत्यय' इस शब्द में देखा जा सकता है—'बिसुंठल्यं' लिखा मिलता है 'विसंठुलयं' के लिए।[2]

(आ) अक्षर-विकृत शब्द उन्हें कहेंगे जिनमें 'अक्षर' ऐसे लिखे गये हों कि उन्हें कुछ का कुछ पढ़ लिया जाय। डॉ. माहेश्वरी ने ऐसे अक्षरों की एक सूची प्रस्तुत की है, जिसे अक्षरविकृति को समझने के लिए उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है। उन्हें वर्गों के अनुसार दिया जा रहा है—

---

1. 'सन्देश रासक' में 100वें छन्द में दूसरे चरण में 'पाडिल्लो' शब्द मिला है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत है कि यह 'पडिल्ली' होगा, यहाँ 'ई' का मात्रा-लेखन या पाठ प्रसाद से 'ओ' की मात्रा हो गयी। (भारतीय साहित्य—जनवरी, 1960, पृ. 103)। इससे भी डॉ. माहेश्वरी के उदाहरण की पुष्टि होती है। ऐसी मात्रा विकृति का कारण 'स्मृति-भ्रम' भी हो सकता है।
2. भारतीय साहित्य (जनवरी 1960), पृ. 101, 104, 108।

नागरी लिपि जन्य भूलें

क वर्ग

क = फ । क, फ, क, क
प = प । प = प
ग = म । ग, ग, ग
ग = भ । " "
घ = ध
घ = ब
कु = उ । कु
ख = स्व

च वर्ग

झ = ल । झारी > लारी
झ > झ > झ > ल > ल
झ = ऊ । झल > ऊल
झ > ऊ ।
छ = ब । छ = ब
= घ (छ)
च = व
(च = च, व)
ज = त । ज ज = ज
त त त = त
च = ब ।
ख, ख, ख
झ = मु, मु । (बंगला लिपि के कारण)

ट वर्ग

ड = म, भ । डेरा > मेरा
म, ड, ड = म
उ = क । उड > उक । ड = द
ड ड, ड = ड
त = ढ ।
ण्य = ण । ण, ण्य = ण्य
ट = ठ । ट, ट, ट
ड = उ । ड, ड, उ
द = द
ट = द

त वर्ग

थ = छ
ब, ब = थ । थाप > छाप, छड़ी > थड़ी
घ, ब = छ
थ = ब । ब > ब । थोबड़ो > बोबड़ा
त = ट । त, त ट = त, ट
ध = घ
न = त । न, न, न = न, त
द = व । द, द, द, द
न = ब (नचाई > लचाई)
न = र (कैथी में)
न = म । म, न

य > थ । थ > य
माय > माथ
ऋ = ऊ । ऊ = ऋ
ऋगी = ऊगी
ब्र > ब । (ब = छ)
ड = क । ऊ = ड (ऊ ड)
डावड़ा > कावड़ा
ष > ख । (ख = ष)
लाष > लाख
रा > ए । ए > रा । (रा = ए)
क्र > त्रु । (क्र = क्र ; ा' 'उ'
ख > च
हेख्यो > हेच्यो
द्व = य । (द्य = द्व)
चद्धो > चयो
सांद्धा > साया
ग्र > स । (ग्र = ग्र)
पग्र > पस

यह 'उ' की मात्रा भी हो सकती है। बंगाली लिपि का प्रभाव है।

भ्रामक अक्षर रूप

व	ब	ब	ऊ	ऊ	ब
ठ	छ	ब	ड	ऋ	ष

ए	क्र	द्य	ग्र = ग्र
ए	क्र	द्व	पंक्ति 443 में

(इ) **विभक्त अक्षर विकृत शब्द**—यथा—'ऊर्ध्व' को विभक्त करके 'ऊरध' लिखना इसी कोटि में आयेगा। 'ऊरध' 'तद्भव' माना जायेगा और पाण्डुलिपि की दृष्टि से यहाँ विभक्त-अक्षर है। 'ऊर्ध्व' का 'ऊर्ध' फिर 'ऊरध'। इसमें 'र' को 'ध' से विभक्त करके लिखा गया है। 'आत्म' को 'चन्द-चरित्र' में 'आतम' लिखा गया है। 'परिसह थी आतम गुण पुष्टी युगतिनि प्राप्ति विचारै है'

(पन्ना 82 चन्दचरित्र का हस्तलेख)

ऐसे ही अध्यात्म को 'अध्यातम' लिखा गया है।

'लुबधो' मिलेगा, लुब्धो के लिए। 'चन्दचरित्र' (पन्ना 79 पूर्व)

(ई) युक्ताक्षर-विकृति-युक्त शब्द — शब्द परस्पर विभक्त न होकर युक्त हों और तब उनमें से किसी में भी कोई विकार आ जाता है तो वे ऐसे ही वर्ग में आयेंगे, यथा— 'कीर्तिलता' द्वितीय पत्लव छं. 7 में 'महाजन्हि' का एक पाठ 'महजन्हि' मिलता है। यह विकृति हमारे इसी वर्ग के शब्दों में आयेगी।

इसी सम्बन्ध में आवट्टवट्ट 'विवट्टवट्ट' पर 'कीर्तिलता' के संजीवनी भाष्य में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल[1] ने जो टिप्पणी दी है वह इस प्रकार है

आवट्ट वट्ट विवट्ट— श्री बाबूरामजी के संस्करण में 'अति बहुत भाँति विवट्ट वट्टहि' पाठ है और पाठ टिप्पणी में वट्ट पाठान्तर दिया है। वस्तुतः यहाँ पाठ-संशोधन की समस्या इस प्रकार है। मूल संस्कृत शब्द आवर्त-विवर्त के प्राकृत में आवत्त-विवत्त और आवट्ट विवट्ट ये दो रूप होते हैं। (पासद 152, 998, 999)। संयोग से विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में तीनों शब्द-रूपों का प्रयोग किया है—

(1) आवर्त विवर्त रोलहों, नहर नहिं नर समुद्रओ (2। 112)

(2) आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन माना (4। 114)

इस प्रकार यह लगभग निश्चित ज्ञात होता है कि यहाँ अति बहुत वट्ट का मूल पाठ आवट्ट पट्ट ही था। विवट्ट वट्ट तो स्पष्ट ही है।

'आवट्ट वट्ट विवट्ट वट्ट' में युक्ताक्षरों की विकृति की लीला स्पष्ट है। कीर्तिलता में ही एक स्थान है पर यह चरण हैं—

'पाइग्ग पअ भरे भउं पल्लानिञ उं तुरंग' यहाँ 'पाइग्गा' शब्द 'पायग्गाट्ट का युक्ताक्षर विकृत शब्द हैं 'गा' का 'ग्गा' कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' 16 में 'ऊलंबे सिर हथ्थड़ा' इस दोहे के 'ऊलंबी' शब्द का एक पाठ 'उक्कंबी'[2] भी हैं, इसमें 'ल' को क 'युक्ताक्षर' मानकर लिखा गया है, अतः यह भी इस वर्ग का शब्द रूप है।

'चन्दचरित्र' की पाण्डुलिपि में 83वें पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पंक्ति में 'सज्जन उद्धरज्यो जी' को इस रूप में लिखा गया है।

उद्धरज्यजी

इसमें युक्ताक्षर 'ज्य' को जिस रूप में लिखा गया है उस रूप को विकृति माना जा सकता है।

कवि हरचरणदास की 'कवि-प्रिया भरण' टीका है केशव की कवि प्रिया पर है उसकी एक पाण्डुलिपि 1902 की प्रतिलिपि है। उसमें 149वें पृष्ठ पर कवि ने अपना जन्म संवत् दिया है। प्रतिलिपिकार ने उसे यों लिखा हैं—

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ.)—कीर्तिलता, पृ. 60-61।
2. मनोहर, शम्भूसिंह—ढोला मारू रा दूहा, पृ. 156।

7 सत्रहसो सटि मही वकि को जन्म विचारि।

'युक्त अक्षर विकृत-रूप' शब्द रेखांकित है। यह है छ्यासठ = 66।

इस पृष्ठ से आगे के पन्ने में कृष्ण से अपना सम्बन्ध बताने के लिए लिखा है कि—

''पूरोहित श्रीनन्द के मुनि सांडिल्ल महान।

हैं तिनके हम गोत मैं मोहन मो जजमान॥16॥''

यहाँ 'सांडिल्ल' में 'युक्ताक्षर विकृति' स्पष्ट है, शांडिल्य 'सांडिल्ल' हो गये हैं। यहाँ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसकी व्याख्या की जा सकती है, यह और बात है। अग्रसमीकरण से ल्य का 'य' 'ल' में समीकृत हो गया है, पर युक्ताक्षर की दृष्टि से विकृति भी विद्यमान है, इसीलिए इसे हम इस वर्ग में रखते हैं।

(उ) घसीटाक्षर विकृति युक्त शब्द—कभी-कभी कोई पाण्डुलिपि 'घसीट' में लिखी जाती है। त्वरा में लिखने से लेख घसीट में लिख जाता है। घसीट में अक्षर विकृत होते ही हैं। चिट्ठी-पत्रियों में, सरकारी दस्तावेजों में, दफ्तरी टीपों में, ऐसे ही अन्य क्षेत्रों में घसीट में लिखना नियम ही समझना चाहिये। अधिकारी व्यक्ति त्वरा में लिखता है और उसे अभ्यास ही ऐसा हो गया होता है कि उसका लेखन घसीट में ही हो जाता है। इसी कारण कितने ही विभागों में घसीट पढ़ने का भी अभ्यास कराया जाता है और इस विषय में परीक्षाएँ भी ली जाती हैं। स्पष्ट है कि घसीटाक्षरों को अभ्यास के द्वारा ही पढ़ा जा सकता है। अभ्यास में यह आवश्यक होता है कि घसीट-लेखक की लेखन-प्रवृत्ति को भली प्रकार समझ लिया जाय। उससे घसीट पढ़ने में सुविधा होती है।

(ऊ) घसीट की भाँति ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य की दृष्टि से अलंकरण-निर्भर-विकृति-युक्त शब्द भी कभी-कभी किन्हीं पाण्डुलिपि में मिल जाते हैं। अलंकरण युक्त अक्षर को भी पहले समझने पढ़ने में कठिनाई होती है।

'अलंकरण' का अर्थ है किसी भी 'अक्षर' को उसके स्वाभाविक रूप में सन्तुलित प्रकार से न लिखकर कुछ कलामय या अनोखा रूप देकर लिखना, उदाहरणार्थ—'प'। यह 'प' का सन्तुलित रूप है—अब इसको लिपिकार कितने ही रूपों में लिख सकता है, अलंकरण की प्रवृत्ति से अक्षररूपों के साथ शब्द-रूप भी बदलते हैं। हम अलंकर की प्रवृत्ति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक अक्षर के आधार पर देख सकते हैं। इसके लिए 'अ' अक्षर को ले सकते हैं। देवनागरी में 'अलंकरण' की प्रवृत्ति ई.पू. की पहली शताब्दी से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। इसे शताब्दी-क्रम से नीचे के फलक से समझा जा सकता है।

अशोक कालीन	ई.पू. पहिली पभोसा लेखा	मथुरा	ई. पहिली मथुरा	दूसरी श. नासिक

दूसरी से चौथी तीसरी 477-78 ई. 571-72
कूड़ा जगायपेट पाली

छठी शताब्दी 7वीं 661 ई.
ऊष्णीय विजय धारणी पुस्तक की होर्युजी (जापान) शताब्दी कुडेश्वर
मठ की प्रति के अन्त में दी गई वर्णमाला से मामलपुर

689 ई. 8वीं शती 837 ई. 861 861
झालरापाटन मावलीपुर जोधपुर पटिआला घटिआला

11वीं शती 1122 ई. 1185 ई.
उज्जैन तर्षडिधी असम

12वीं
हस्त्राकाल (पूरी वर्णमाला से)

इसी प्रकार अन्य अक्षरों में भी अक्षरालंकरण मिलते हैं। ग्रन्थों में भी इनका विविध रूप में प्रयोग मिलता है, अत: अलंकरण के प्रभाव को समझकर ही 'शब्द-रूप' का निर्णय करना होगा। हस्तलेखों में से पाण्डुलिपियों में मिलने वाले अलंकरणों का कम संकलन हुआ है, किन्तु भारतीय शिलालेखों के अलंकरणों पर चर्चा अवश्य हुई है। डॉ. अहमद हसन दानी ने 'इंडियन पेलियोग्राफी' में इस पर व्यवस्थित ढंग से प्रकाश

डाला है। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तक से एक चित्रफलक अलंकरण के स्वरूप को भारतीय लिपि में दिखाने के लिए यहाँ देने का हम अपने लोभ का संवरण नहीं कर सकते—(चित्र पृ. 362 पर)।

(ए) नवरूपाक्षर युक्त-शब्द—कभी-कभी पाण्डुलिपि में हमें ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनमें कोई-कोई अक्षर अनोखे रूप में लिखा मिलता है। यह अनोखा रूप एक तो उसयुग में उस अक्षर का प्रचलित रूप ही था, दूसरे लिपिकार की लेखनी से विकृत होने के कारण और अनोखा हो गया। इन दोनों प्रकारों पर 'लिपि समस्या' वाले अध्याय में चर्चा हो चुकी है।

अलंकृत वर्णमाला

BILSAD INS. | MEHRAULI INS. | YAŚODHARMAN INS. | MAHANĀMAN INS. | BANSKHERA PL. | MADHUBAN PL.

BHĀ RĀ PĀ RĀ KĀ BHĀ HĀ HĀ

DHI DHI VI RI VI RI DHI

HĪ KĪ DHĪ DHĪ HI ŚĪ

PU MU BHU YU KU ŚU GU YU

PŪ TTRŪ BHŪ MŪ BHŪ SŪ PŪ SŪ

ME VE ŚRE YE RE DE SE

YAI ÑCHAI DAI CHCHAI DAI VAI

LO TO YO TO PTO SO CHCHO

KAU RAU LAU NAU NAU SAU SAU

HṚI SRI NṚI KṚI GṚI

(ऐ) लुप्ताक्षरी शब्द—पाण्डुलिपि में ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं, जिनमें कोई अक्षर ही छूट गया है। ऐसे शब्दों का उद्धार 'प्रसंग' को देखकर प्रयुक्त शब्द को जानकर लुप्ताक्षर की पूर्ति से होता है। कीर्तिलता में एक चरण है, 'बादशाह जे वीराहिमसाही'।

इसमें इवराहिम शाह का 'विराहिम साह' हो गया है। संदेश रासक में 'संझासिय' में 'सज्झसिय' का 'ज' लुप्त है। लंक है 'लक्क'।

(ओ) आगमाक्षरी — पाण्डुलिपियों में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमें एक या दो अक्षरों का आगम होता है।

(औ) विपर्य स्ताक्षरी शब्द — मात्रा का विपर्यय तो देख चुके हैं, वर्ण-विपर्यय भी होता है। कभी-कभी भाषा-वैज्ञानिक नियमों से और कभी-कभी लेखक प्रमाद से भी अक्षर-विपर्यय हो जाता है।

(अं) संकेताक्षरी शब्द — संकेताक्षरी शब्दों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पूरे शब्दों को जब उसके एक छोटे अंश के द्वारा ही अभिहित कराया जाता है तो यह निरर्थक-सा छोटा अक्षर-संकेत पूरे शब्द के रूप में ही ग्राह्य होता है। 'सं' का प्रयोग 'सम्बत्सर' के लिए हुआ मिलता है। ऐसे ही प्रयुक्त संकेतों की सूची एक पूर्व के अध्ययन में दी जा चुकी है। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी अपने लिए ऐसी सूचियाँ स्वयं प्रस्तुत कर सकता है। नाम-संकेत की दृष्टि से 'अद्दहमाणा' हम देख चुके हैं कि इसमें 'अब्दुल' का संकेत 'अद्द' और 'रहमाण' का संकेत 'हमान' है। ऐसे शब्द जिनमें संख्या से उस संख्या की वस्तुओं का ज्ञान होता है, संकेताक्षरी ही माने जायेंगे। कीर्तिलता में आया 'दान पंचम' भी ऐसा ही शब्द है।

(अः) विशिष्टार्थी शब्द — पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए विशिष्टार्थी शब्दों का भेद महत्त्वपूर्ण है। यह रूप-गत नहीं है। कुछ शब्दों के कुछ विशिष्ट अर्थ होते हैं, और जब तक उन विशिष्ट अर्थों तक पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी नहीं पहुँचेगा। उस स्थल का ठीक अर्थ नहीं हो सकेगा। ऐसे शब्दों के विशिष्ट क्षेत्रों का पता न होने के कारण सामान्य अर्थ किए जाते हैं, जिससे अर्थाभास मिलता है; यथार्थ अर्थ नहीं। ऐसे शब्दों से सामान्य अर्थ तक पहुँचने में भी शब्दों और वाक्यों के साथ खींचातानी करनी पड़ती है। यथा—

"कहीं कोटि गंदा, कहीं वादि वंदा
कहीं दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा॥"[1]

अब इसका एक अर्थ हुआ—'करोड़ों गुण्डे', कहीं 'बांदी बंदे' आदि। दूसरा अर्थ हुआ 'बहुत से गंदे लोग और बांदि बंदे' आदि। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि 'गंदा' और 'वादि' विशिष्टार्थी शब्द हैं—गन्दा फा. गोयन्द—अर्थात्-गुप्तचर, वादी भी विशिष्टार्थक है—वादी = फरियादी

इसी प्रकार कीर्तिलता 2/190 का चरण है

मषदूम नरावइ दोम जञो हाथ ददस दस णारओ।[2]

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, (डॉ.)—कीर्तिलता, पृ. 93
2. वही, पृ. 108

इसमें प्राय: सभी शब्द विशिष्टार्थ देने वाले—उन अर्थों से अपरिचित व्यक्ति इस पंक्ति का अर्थ खींचतान कर ऐसे करेंगे—

"मखदूम डोम की तरह दसों दिशाओं से भोजन ले आता है" (?) या

"मखदूम (मालिक) दशो तरफ डोम की तरह हाथ फैलाता है।"

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "इस एक पंक्ति में सात शब्द पारिभाषिक प्राकृत और फारसी के हैं।" ये शब्द विशिष्ट या पारिभाषिक शब्द हैं यह न जानने से ठीक-ठीक अर्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता। इनके विशिष्ट अर्थ ये बताये गये हैं—

(1) मखदूम	:	भूत प्रेत साधक मुलसमानी धर्म-गुरु
(2) नरावइ	:	ओसविया—अर्थात् जो नरक के जीवों या प्रोतात्माओं का अधिपति हो।
(3) दोष	:	यातना देना।
(4) हाथ	:	शीघ्र, जल्दी।
(5) ददस	:	हदस, (अरबी)—प्रोतात्माओं को अंगूठी के नग में दिखाने की प्रक्रिया।
(6) दस	:	दिखाता है।
(7) णाओ	:	नरक के जीव, प्रेतात्माएँ।

कीर्तिलता[1] में एक पंक्ति है—

"सराफे सराहे भरे बे वि बाजू॥"

"तोलन्ति हेरा लसूला पेआजू"। अर्थ करने वालों ने इसमें विशिष्टार्थक शब्दों को न पहचान सकने के कारण सराफे में लहसुन व प्याज और हल्दी तुलवा दी है। ठीक है, लसूला का अर्थ लहसुन स्पष्ट है। प्याज का अर्थ भी स्पष्ट है। एक ने 'हेरा' को हलदी पर ध्यान नहीं रखा गया। वर्णन सराफे का है। सराफे में जौहरी बैठते हैं। वहाँ हलदी, लहसुन, प्याज जैसे खाने में काम आने वाले पदार्थ कहाँ? तो 'प्रसंग' पर ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ पर भी ध्यान नहीं गया। लसूला का अर्थ लहसुनिया नाम का रत्न, 'पेआजू' का अर्थ 'फीरोजा' नाम का रत्न, और हेरा 'हीरा' हो सकता है, इस पर ध्यान नहीं गया, जो जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'कीर्तिलता'[2] में ही एक अन्य चरण है—

"चतुस्सम पल्वल करो परमार्थ पुच्छहि सिआन"।

इसमें 'चतुस्सम' शब्द है। किसी विद्वान के द्वारा इसमें आये 'चतुस्सम' का सामान्य अर्थ 'चौकोन' या 'चौकोर' कर लिया गया। वस्तुत: यह विशिष्टार्थक शब्द है। इसे लेकर

---

1. वही, पृ. 95।
2. वही, पृ. 145।

हस्तलेखों के पाठों में भी गड़बड़झाला हुई है। वह गड़बड़झाला क्या है और इसका यथार्थ रूप और अर्थ क्या है, यह डॉ. किशोरीलाल के शब्दों में पढ़िये—

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार जायसी-कृत पद्मावत में प्राप्त 'चतुरसम' पाठ को न समझने के कारण इसका पाठ 'चित्रसम' किया गया। फारसी में चित्रसम और 'चतुरसम' एक-सा पढ़ा जा सकता है, अत: 'चतुरसम' पाठ सम्वादक को क्लिष्ट लगा और 'चित्रसम' सरल। जायसी के मान्य विद्वान् आचार्य प. रामचन्द्र शुक्ल ने 'चित्रसम' पाठ ही माना। यही नहीं कहीं-कहीं उन्होंने 'चित्रसब' पाठ भी किया है—

करिस्नान चित्र सब सारहुँ— जायसी ग्रन्थावली पृ. 121॥ शुद्ध पाठ 'चतुरसम' ही है। इसे डॉ. अग्रवाल ने पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रमाणित भी किया है, यथा— जायसी से दो शताब्दी पूर्व के 'वर्ण रत्नाकर' में भी चतु:सम का प्रयोग मिला है— 'चतु:सम हथ लिये मण्डु'— (वर्णरत्नाकर पृ. 13) वर्णरत्नाकर से भी दो शती पूर्व हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' से भी उन्होंने इसे प्रमाणित किया है

कर्पूरागुरुकक्कोल कस्तूरी चन्दनद्रवैः। 3। 302

स्पाद यक्षकर्दमो मिश्रै वर्तिगात्रानुलेपकी।

चंदनागरु कस्तूरी कुंकुमैंस्तु चतु:समन्।

चन्दानि चत्वारि समान्यत्र चतुः समम्

अभिधान चिन्तामणि 3 ।303

सबसे पुष्ट प्रमाण रामचरित मानस में मिला है—

बीथीं सींची चतुरसम चौकें चारु पुराई

बालकांड 296 ।10, काशिराज संस्करण

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने भी 'चित्रसम' पाठ ही अपनी जायसी ग्रन्थावली-काशिराज संस्करण में माना था लेकिन मानस के ऐसे प्रयोग को देख लेने पर उन्होंने अपने पूर्व पाठ को त्याग दिया। चतुरसम 'संस्कृत' के 'चतु सम' शब्द का विकृत रूप है, जिसका अर्थ— चंदन, अगरु, कस्तूरी और केसर का समान अंश लेकर निर्मित सुगंध है।''[1]

शिलालेखों और अभिलेखों में आने वाले पारिभाष्कि और विशिष्टार्थक शब्दों पर विस्तार से विचार किया गया है, डी.सी. सरकार कृत 'इण्डियन एपीग्राफी' में आठवें अध्याय में जिसका शीर्षक है 'टेक्नीकल ऐक्सप्रेशन'।

(क) संख्या-वाचक शब्द— शिलालेखों, अभिलेखों और पाण्डुलिपियों में ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका अपना अभिचार्थ नहीं लिया जाता। उनसे जो संख्या-बोध होता है, वही ग्रहण किया जाता है मानो वह शब्द नहीं संख्या ही हो। इस पर ऊपर के अध्याय में विचार किया ज. चुका है। यहाँ तो इस ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए इसे शब्द-

---

1. किशोरीलाल-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56, अंक 2-3), पृ. 179-180.

भेद माना है कि पाण्डुलिपि में आये शब्दों का एक वर्ग संख्या का काम भी देता है, अतः ऐसे शब्द-रूपों को संख्या-रूप में ही मान्यता दी जानी चाहिये।

(ख) वर्तनी च्युत शब्द—ये ऐसे शब्द होंगे जिनमें वर्तनी की भूल हो गई हो, जैसे—'चंदचरित्र' में पहले पन्ने में दूसरी पंक्ति में 'सिंधु शलिल प्रवाह' आया है। यहाँ 'शलिल' वर्तनी च्युत है। 'मात्रा विकृति' कहीं-कहीं छंद की तुक या अन्य कारणों से जान-बूझकर कवि को करनी पड़ती है, उसे विकृति या वर्तनी-च्युति नहीं माना जायेगा, किन्तु ऊपर के उदाहरण में 'स' के स्थान पर 'श' वर्तनी च्युति ही है। इसी प्रकार उसी पन्ने पर 11वीं पंक्ति में है—'जब वार सार'।

इसमें भी 'जंबूतरूसार' में 'तरु' को 'तरू' लिखने में वर्तनी च्युति है।

(ग) स्थानापन्न शब्द (भ्रमात् अथवा अन्यथा)—किसी चरण में एक शब्द ऐसा आया है कि अध्येता को समझ में नहीं आ रहा, अतः वह यह मान लेता है कि यह कोई शब्द नहीं है तब, उसके स्थान पर कोई अन्य सार्थक शब्द रखकर अपना अर्थ निकाल लेता है। इस प्रकार रखे गये शब्द ही स्थानापन्न कहे जायेंगे। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को ऐसे शब्दों को पहचानने का अभ्यास अवश्य होना चाहिये।

इसका एक उदाहरण डॉ. अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'कीर्तिलता' से ही और लेते हैं। 'कीर्तिलता' 2।190 के चरण पर पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से विचार किया जा चुका है। उसी में 'णारओ' पर डॉ. अग्रवाल ने जो टिप्पणी दी है उससे 'स्थानापन्नता' पर प्रकाश पड़ता है। उनकी टिप्पणी इस प्रकार है—[1]

"णारओ—नरक के जीव, प्रेतात्मा। सं. नारक > प्रा. णारय-नरक का जीव (पासद्द. 478)। यहाँ श्री बाबूराम सक्सेना जी की प्रति में 'ख' प्रति का पाठ 'नारओं' पाद-टिप्पणी में दिया हुआ है, वही वस्तुतः मूल-पाठ था। जब इस पंक्ति का शुद्ध अर्थ ओझल हो गया तब अर्थ को सरल बनाने के लिए द्वारओ यह अप-पाठ प्रचलित हुआ। स्पष्ट है कि मूल 'नारओ' के स्थान पर 'द्वारओ' शब्द किसी लिपिकार ने स्थानापन्न कर दिया। 'णरओ' से वह परिचित नहीं था, अतः उसे अपनी सूझ-बूझ से 'द्वारओ' शब्द ठीक लगा।"

फलतः पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को हस्तलेखों में स्थानापन्नता की बात भी ध्यान में रखनी होगी।

(घ) अपरिचित शब्द—हस्तलेख या पाण्डुलिपियाँ सहस्रों वर्ष पूर्व तक की मिलती हैं। वह युग हमारे युग से अनेक रूपों से भिन्न होता है। लिपि भिन्न होती है, शब्द-कोष भी भिन्न होता है, शब्दों के अर्थ भी भिन्न होते हैं। लिपि की समस्या हल हो जाने पर शब्दों की समस्या सामने आती है। ऊपर जो शब्द-रूप बताये गये हैं, उनके साथ ही ऐसे शब्द भी हो सकते हैं, जिनसे हम अपरिचित हों। एक लिपिकार ने अपरिचित शब्द के साथ जो व्यवहार किया उसे हम अभी ऊपर देख चुके हैं। उसने अपरिचित शब्द को हटा ही दिया। उसका तर्क रहा होगा कि "वह स्वयं जब 'णारओं' शब्द को नहीं जानता

---

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)—कीर्तिलता, पृ. 110।

तो ऐसा कोई शब्द हो ही नहीं सकता।'' उसने अपनी सूझबूझ से उससे मिलता-जुलता परिचित शब्द वहाँ रख दिया पर उसका उस तरह सोचना समीचीन नहीं था, अतः अपरिचित शब्द को अपरिचित मान कर उसके अनुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिये और उस युग की शब्दावली को देखना चाहिए, जिस युग का वह ग्रन्थ है, जिसमें वह अपरिचित शब्द मिला है।

अपरिचित शब्दरूप में ऐसे शब्द भी आयेंगे जिनके सामान्य अर्थ से हम भले ही परिचित हों पर उसका विशिष्ट अर्थ भी होता है। वे किसी ऐसे क्षेत्र के शब्द हो सकते हैं, जिनसे हमारा परिचय नहीं, और विशेषतः उस युग के विशिष्ट क्षेत्र की शब्दावली से जिस युग में वह पाण्डुलिपि प्रस्तुत की गयी थी। प्राचीन काव्यों में ऐसे विशिष्ट शब्द पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं।

प्रथमतः परिचित लगने वाले किन्तु मूलतः विशिष्टार्थक ऐसे शब्द-रूपों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। यहाँ 'अपरिचित रूप' की दृष्टि से 'कीर्तिलता' से एक और उदाहरण दे रहे हैं—

कीर्तिलता के 2 ।33 वें दोहे का पाठ डॉ. अग्रवाल[1] ने यों दिया है—

"हट्टहि हट्ट भमन्तओ दूअओ राजकुमार ॥214
दिट्ठि कुतूहल कज्ज रस तो इट्ठ दरबार ॥215 ॥"

इस दोहे में 'कज्ज रस' दो शब्द हैं। इन शब्दों के रूपों से प्रथमतः हम अपरिचित नहीं प्रतीत होते, किन्तु युगीन शब्दावली की दृष्टि से ये विशिष्टार्थक हैं, अतः इन्हें अपरिचित माना जा सकता है। प्रसंग दरबार का है अतः उस सन्दर्भ में इसका अर्थ ग्रहण करना होगा। डॉ. अग्रवाल की 'कज्ज' और 'रस' पर टिप्पणी पठनीय है—ये लिखते हैं—

215. कज्ज = आवेदन, न्यायालय या राजा के सामने फरियाद। सं. कार्य > प्रा. कज्ज का यह एक पारिभाषिक अर्थ भी था। कार्य = अदालती फरियाद। (स्वैरालापे स्त्री वयस्यापचारे कार्यारम्भे लोकवादाश्रये च। कः शेषः कष्टशब्दाक्षराणां पुष्पापीडे कण्टकानां यथैव ॥ पद्मप्राभृतकम् श्लोक 18 ॥ कार्यारम्भ का अर्थ यहाँ लिखित फरियाद या अदालती अर्जी दावा है। 'पादताडितकम्' में अर्जी देने वाले वादी या फरियादी लोगों को कार्यक कहा गया है, "अधिकरणगतोऽपि क्रोशतां कार्यकारणाम्"। कालिदास ने भी कार्य शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त किया है। वहिर्निष्क्रम्य ज्ञायतां कः कः कार्यार्थीति (मालविकाग्निमित्र, आप्टे, मोनियर विलियम्स सं. कोश)। रस-सं. रस ✓ > प्रा. रस = चिल्लाकर कहना।

कज्ज रस = अपनी फरियाद कहने के लिए।

स्पष्ट है कि कज्ज या कार्य और रस दोनों अतिपरिचित शब्द हैं पर प्रसंग विशेष से अर्थ पर पहुँचने के लिए मूलतः अपरिचित हैं। ऐसे शब्दों को विशिष्टार्थक कोटि में रखा जा सकता है, पर क्योंकि ये रूपतः विशिष्टार्थक नहीं सामान्य ही लगते हैं, अतः इन्हें 'अपरिचित' कोटि में रखा जा सकता है।

---

1. वही, पृ. 120-121।

अब एक अन्य उदाहरण **अपरिचित शब्द** की लीला का 'काव्य-निर्णय' के दोहे में देखिये।

'चन्दमुखिन के कुचन पर जिनको सदा बिहार।'

'अहह करें ताही करन **चरबन फेरवदार**॥' '**चरबन फेरवदार**' पर टिप्पणी करते हुए डॉ. किशोरीलाल[1] ने जो लिखा है उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे अपरिचित शब्दों की लीला स्पष्ट हो सकेगी। डॉ. किशोरीलाल ने सम्मेलन पत्रिका में लिखा है—

इस (चरबन फेरवदार) का पाठ विभिन्न प्रतियों में किस प्रकार मिलता है उसे देखें—

(1) भारत जीवन प्रेस काशीवाली प्रति का पाठ—'चखन फेरवदार'

(2) वेलवेडियर प्रेस प्रयाग वाली प्रति का पाठ—'चिरियन फेरवदार'

(3) बेंकटेश्वर प्रेस बम्बई की प्रति का पाठ—'चखदन फेरवदार'

(4) कल्याण दास ज्ञानावापी वाराणसी का पाठ—'चंखन फेरवदार'

वास्तव में फेरवदार[2] का अर्थ शृगालिनी है, उसे न समझने के कारण फैखदार आदि पाठ स्वीकार किया गया और चर्वण के अर्थ अनभिज्ञ रहने के कारण 'चखन' आदि मन-गढ़न्त पाठों की कल्पना करनी पड़ी। इस प्रकार के पाठ-गढ़न्त के नमूने अन्यत्र भी मिलते हैं। ब्रजभाषा के पुराने टीकाकार सरदार कवि ने 'रसिक-प्रिया' की टीका में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया है कि किस तरह लौच (रिश्वत) शब्द से परिचित न रहने के कारण लोगों ने किसी-किसी प्रति में लोंच कर दिया है। 'लोच' शब्द वाली पंक्तियाँ हैं—

''जालगि लोंच लुगाइन दै दिन नानन चावत साँझ पहाऊँ''

'रसिक प्रिया', केशवदास 5/12 प्र.सं. पृ. 75 नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।

पाषाण-मुद्रणालय, मथुरा से प्रकाशित ग्वालकवि कृत 'कवि-हृदय-विनोद' में एक शब्द 'बांधकीपौरि' मिला है। इस शब्द से परिचित न रहने के कारण 'ग्वाल रत्नावली' के सम्पादक ने 'बांधनी' और 'पौरि' दो भिन्न शब्दों की कल्पना करली और 'पौरि' की टिप्पणी शब्द के शुद्ध अर्थ को देखा जा सकता था। वहाँ इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—'बांधनीपीर'-पशुओं के बांधने का स्थान (संक्षिप्त शब्द-सागर, पृ. 803)। बांधनीपौरि वाली पंक्तिया हैं—'फिर बांधनी-पौरि सुहावनि है (कविहृदयविनोद, पृ. 89)। इसी प्रकार 'कविहृदयविनोद' के अन्य छन्द के पाठ की दुर्गति ही नहीं की गई वरन् उसका बड़ा विचित्र रूप देखने को मिला है—

''खासो है तमासो चलि देख सुखमा सों वीर,
कुंज में भवासी है मयूर मंजु लाल की।
चारु चांदनी की वर मिल बिछावन पै,
चंदवा तन्यौ है, रविनाती रंगलाल की।''

---

1. किशोरीलांल, (डॉ.)—सम्मेलन पत्रिका (भाग 56, संख्या 2-3), पृ. 181-182।
2. यह शब्द 'फेरू-दार' होगा। फेख—शृगाल, अतः फेख—शृगाल और दार—दारा, स्त्री—शृगालिनी।

अंतिम अंश होना तो चाहिये—'री बनाती रंगलाल की।' किन्तु सम्पादक जी ने उसे 'रविनाती' (सूर्य का नाती) समझा।[1]

इस उद्धरण से और इसमें दिये उदाहरणों से अपरिचित शब्दों की पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से लीला सिद्ध हो जाती है।

कुपठित

इन रूपों के अतिरिक्त शब्द की दृष्टि से 'कुपठित' शब्द की ओर भी ध्यान जाना चाहिये। 'कुपठित' शब्द उन शब्दों को कहते हैं, जो लिपिकार ने तो ठीक लिखे हैं किन्तु पाठक द्वारा ठीक नहीं पढ़े जा सके। एक शब्द था त्रसरेणु। 'त्रसरेणु' ही लिखा गया था किन्तु 'त्र' के चिमटे की दोनों रेखाएँ परस्पर मिल-सी रही थीं, अतः 'व' पढ़ी गई। 'व' पढ़ने से अर्थ ठीक नहीं बैठ रहा था, तब सम्पादक ने आतिशी शीशे (Magnifying Glass) की सहायता ली तो समझ में आया कि वह 'ब' नहीं त्र है, और 'कुपठित' शब्द सुपठित हो गया, तथा अर्थ ठीक बैठ गया, अतः ऐसे कुपठित शब्दों के जाल से भी बचने के उपाय पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को करने होंगे।

यहाँ तक हमने शब्दरूपों की चर्चा की। लिपि के उपरान्त शब्द ही इकाई के रूप में उभरते हैं—और ये शब्द ही मिलकर चरण या वाक्य का निर्माण करते हैं। ये चरण या वाक्य ही किसी भाषा की यथार्थ इकाई होते हैं शब्द तो इस इकाई को तोड़कर विश्लेषित कर अर्थ तक पाठक द्वारा पहुँचने की सोपानें हैं। यथार्थ अर्थ शब्द में नहीं सार्थक शब्दावली की सार्थक वाक्य-योजना में रहता है। वस्तुतः किसी भी पाण्डुलिपि का निर्माण या रचना किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए होती है। यह विश्लेषित शब्द यदि अपने ठीक रूप में ग्रहण नहीं किया गया तो अर्थ भी ठीक नहीं मिल सकता। भर्तृहरि ने 'वाक्य-पदीय' में बताया है—

> "आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपंच दृश्यते
> अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपश्च प्रकाशते।"

अर्थात् ज्ञान जैसे अपने को और अपने ज्ञेय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द भी अपने स्वरूप को तथा अपने अर्थ को प्रकाशित करता है।[2]

शब्द के साथ अर्थ जुड़ा है। अर्थ से ही शब्द सार्थक बनता है। यह सार्थकता शब्द में यथार्थतः पदरूप से आती है। वह वाक्य में जो स्थान रखता है, उसके कारण ही उसे वह अर्थ मिलता है जो कवि या कृतिकार को अभिप्रेत होता है।

अर्थ समस्या

पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए अर्थ की समस्या भी महत्त्व रखती है। अर्थ ही तो ग्रन्थ की आत्मा होती है। 'शब्द-रूप' की समस्या तो हम देख चुके हैं कि मिलित शब्दावली

---

1. किशोरीलाल-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56, संख्या 2-3), पृ. 181-82।
2. डॉ. किशोरीलाल के निबन्ध 'प्राचीन हिन्दी काव्य पाठ एवं अर्थ विवेचन' से उद्धृत। सम्मेलन पत्रिका (भाग 56 सं, 2-3), पृ. 187।

में से ठीक शब्द-रूप पर पहुँचने के लिए भी अर्थ समझना आवश्यक है और ठीक अर्थ पाने के लिए ठीक शब्द-रूप। यहाँ एक और उदाहरण 'कीर्तिलता' से लेते हैं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह भूमिका देते हुए कि ''इन पूर्व टीकाओं में कीर्तिलता के अर्थों की जो स्थिति थी उसकी तुलना वर्तमान संजीवनी टीका के अर्थों से करने पर यह समझा जा सकेगा कि कीर्तिलता के अर्थों की समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण थी और उसे किस प्रकार उलझा हुआ छोड़ दिया गया था।'' अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए उन्होंने बहुत-से स्थलों की चर्चा की है। इसी सन्दर्भ में पहली चर्चा है इस पंक्ति की—

(1) भेअ करन्ता मम उवइ दुज्जन वैरिण होइ। 1/22

डॉ. अग्रवाल ने इस पर लिखा है कि—

बाबूरामजी ने 'मेअक हन्ता मुज्झुजइ' पाठ रखा है जो 'क' (प्रति) का है। अक्षरों को गलत जोड़ देने से यहाँ उन्होंने अर्थ किया है—यदि दुर्जन मुझे काट डाले अथवा मार डाले तो भी वैरी नहीं। उन्होंने टिप्पणी में 'भेअ कहन्ता' देते हुए अर्थ दिया है—'यदि दुर्जन मेरा भेद कह दे।' शिवप्रसाद सिंह ने इसे ही अपनाया है। वास्तव में 'अ' प्रति से इसके मूल पाठ का उद्धार होता है। मूल का अर्थ है—मर्म का भेद करता हुआ दुर्जन पास आवे तो भी शत्रु नहीं होगा। 'उबई' < प्राकृत-अवहट्ठ धातु, जिसका अर्थ पास आना है।[1]

इस विवेचन से एक ओर तो यह स्पष्ट होता है कि 'मिलित शब्दावली' में से शब्द-रूप बनाते समय अक्षरों को गलत जोड़ देने से गलत शब्द बन जाता है। भेअकहन्ता। करन्ता, में से 'भेअक' बनाने में 'कहन्ता' या करन्ता के 'क' को भेअ से जोड़कर 'भेअक' बना दिया है, यह गलत शब्द बन गया। इससे अर्थ गलत हो गया, उलझ गया और समस्या बना रह गया।

दूसरी यह बात विदित होती है कि एक अपरिचित शब्द 'उवह' पूर्व टीकाकारों ने ग्रहण नहीं किया। यह प्राकृत-अवहट्ठ का रूपान्तर था।

अतः अर्थ-समस्या के दो कारण ये प्रकट हुए—

(1) मिलित शब्दावली में से ठीक शब्द-रूप का न बनना, और

(2) किसी अपरिचित शब्द को परिचित शब्दों की कोटि में लाने की असमर्थता।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'सन्देश-रासक' के समस्यार्थक स्थलों पर प्रकाश डालते हुए 'आरद्द' शब्द के सम्बन्ध में बताया है कि 'आरद्द' शब्द का यह अर्थ (अर्थात् जुलाहा) अज्ञातपूर्व अवश्य है। देशीनाममाला कोश में उन्हें यह शब्द नहीं मिला, हाँ, 'आरद्ध' मिला और 'आरद्ध' अग्र समीकरण से 'आरद्द' हो सकता है। 'आरद्ध' के अर्थ कोश में दिये हैं—प्रबद्ध, सतृष्ण और गृह में आया हुआ। तन्तुवाय या 'जुलाहा' अर्थ नहीं है। उधर टीकाकारों ने इसका अर्थ 'जुलाहा' किया है—आगे कवि ने अपने को कोरिय या कोरिया लिखा भी है, अतः जुलाहा तो वह था। इसलिए डॉ. द्विवेदी ने यह निर्देश भी दिया है कि ''किसी

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ.)—कीर्तिलता, पृ. 19-20।

शब्द के अन्य ग्रन्थों में न मिलने मात्र से उसके अर्थ के विषय में शंका उठाना उचित नहीं है। सम्भव है किसी अधिक जानकार को वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाय।''[1]

इस कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि 'आरद्द' शब्द पक्की तरह से अपरिचित शब्द है, रूप में भी और अर्थ में भी, वरन् उसके अर्थ का स्रोत केवल टीकाएँ हैं। इन टीकाओं ने यह अर्थ आरद्द का किस आधार पर किया, किस प्रमाण से इसे सिद्ध किया, यह भी हमें विदित नहीं।

अत: कहीं-कहीं अर्थ-समस्या उक्त प्रकार से एक नया रूप ले लेती है। शब्द अपरिचित अर्थ परिचित किन्तु अप्रामाणिक आधार पर जिसका स्रोत तक ज्ञात नहीं। अर्थ परिचित है क्योंकि ग्रन्थ की टीका में मिल जाता है। टीका का स्रोत क्या है यह अविदित है।

इसी पद्य में एक और प्रकार से अर्थसमस्या पर विचार किया गया है। यह है 'मी र से ण (नं) स्स' पर व्याकरण की दृष्टि से विचार। पद्य में 'मी र से ण स्स' शब्द है, टीकाकारों ने 'मी र से नाख्य' रूप में इसकी व्याख्या की है। अर्थ की यह समस्या डॉ. द्विवेदी ने यों प्रस्तुत की है।

'आरद्दो मीरसेणस्य' का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्य:' नहीं हो सकता। 'मीरसेणस्स' षष्ठयन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीर सेनाख्य:' प्रथमांत पद के रूप में नहीं होनी चाहिये।

स्पष्ट है कि टीकाकारों ने व्याकरण रूप पर (मीरसेन का प्रयोग षष्ठ्यन्त में है इस पर) ध्यान नहीं दिया, अर्थ की समस्या जटिल हो गयी। अर्थ की दृष्टि से व्याकरण के प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

इसे भी स्पष्ट करते हुए डॉ. द्विवेदी लिखते हैं कि 'कम से कम आरद्द' की 'गृह आगत' करने में 'मीरसेणस्स' की संगति बैठ जाती है। 'आरद्द' शब्द का अर्थ 'तन्तुवाय' न भी होता हो तो यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। ''मीरसेन के घर आया हुआ, (विशेषण विच्छिति वश जुलाह भी) उसी का पुत्र कुल-कमल प्रसिद्ध अद्दहमाण हुआ।'' यह अर्थ ठीक जमता है।[2]

व्याकरण पर ध्यान न देने से भी अर्थ-समस्या जंटिल हो जाती है, यह इस उदाहरण से सिद्ध है।

सन्देश रासक के ही एक शब्द के सम्बन्ध में डॉ. द्विवेदी ने यह स्थापना की है कि शब्द के जिस रूपान्तर को अर्थ के लिए ग्रहण किया गया है व न केवल व्याकरण-सम्मत ही होना चाहिये, भाषा-शास्त्र द्वारा अनुमोदित भी होना चाहिये, तभी ठीक अर्थ प्राप्त हो सकता है। यह स्थापना उन्होंने 'अद्धड्डीणउ' शब्द पर विचार करते हुए की है। इस शब्द का अर्थ टिप्पणककार ने बताया है 'अर्द्धोद्विग्न' (=आधा उद्विग्न) और अवचूरिकाकार

---

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद—संदेश रासक, पृ. 11।
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद—संदेश-रासक, पृ. 12।

ने 'अध्वोद्विग्न' (= रास्ता चलने से उद्विग्न या थका हुआ-सा)। यह अर्थ इसलिए किया गया कि दोनों ने उड्डीण को उद्विग्न का रूपान्तर मान लिया। द्विवेजी जी ने बताया है कि सं. रा. में उद्विग्न का रूपान्तर 'उव्विन्न' हुआ है, और कई स्थलों पर आया है फिर यहाँ उद्विग्न का रूप उव्विन्न ही होना चाहिये था 'उड्डीण' नहीं। 'उड्डीण' भाषा शास्त्र से उद्विग्न का रूपान्तर नहीं ठहर सकता, अत: इसका अर्थ उद्विग्न भी नहीं किया जा सकता। 'उड्डीण' का अर्थ 'उड़ता हुआ' और पूरे शब्द का अर्थ होगा आधा उड़ता हुआसा।[1]

अर्थ की समस्या का एक कारण होता है—किसी शब्द-रूप में बाह्य-साम्य से अर्थ कर बैठना। सं. रा. में एक शब्द है 'कोसिल्लि' इसका बाह्यसाम्य 'कुशल' से मिलता है, अत: टिप्पणक और अवचूरिका में (श. 22) इसका अर्थ 'कुशलेन अर्थात् कुशलतापूर्वक' कर दिया गया। पर 'देशीनाममाला' में इस शब्द का अर्थ दिया गया है प्राभृतम्। स्पष्ट है कि टिप्पणक और अवचूरिका में लेखकों ने इस शब्द के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया। प्राभृतम् अर्थ ठीक है, यह डॉ. द्विवेदी का अभिमत है।[2]

शब्द-रूप को अर्थ की दृष्टि से समीचीन मानने में छन्द की अनुकूलता भी देखनी होती है। डॉ. द्विवेदी ने सं. रा. में 'उत्हवइण केणइ विरहज्झल पुणावि अग्रंपरिहिसयहिं' में बताया है कि छन्द की दृष्टि से इसमें दो मात्राएँ अधिक होती हैं। उनका सुझाव है कि 'सी' तथा 'ज' प्रति के पाठ में 'विरहहव' शब्द है, 'विरहज्झल' के स्थान पर यही ठीक है। 'हव' का अर्थ अग्नि है। इसी अर्थ में स.रा. में अत्यत्र भी आया है। इसी प्रकार छन्द-दोष भी दूर हो जाता है, इसीलिए डॉ. द्विवेदी इसे कविसम्मत भी मानते हैं।

इस प्रकार हमने पाण्डुलिपि की दृष्टि से अर्थ की समस्या को विविध पहलुओं से देखा है। इसमें हमने पाण्डुलिपियों के अर्थ-विशेषज्ञों के साक्ष्यों का सीधे उपयोग किया है।

किन्तु इसी के साथ सामान्यत: अर्थ-ग्रहण के उपायों का शास्त्र में (काव्य-शास्त्र) में जिस रूप में उल्लेख हुआ है, उसका भी वितरण अत्यन्त संक्षेप में दे देना उचित होगा।

काव्य शास्त्र द्वारा प्रतिपादित तीन शब्द शक्तियों से सभी परिचित हैं, वे हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना।

एक शब्द के कोष में कई अर्थ होते हैं। स्पष्ट है कि कितने ही शब्द अनेकार्थी होते हैं, किन्तु एक रचना में एक समय में एक ही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, ऐसी 14 बातें काव्य-शास्त्रियों ने बतायी हैं जिनके कारण अनेकार्थी शब्दों का एक ही अर्थ माना जाता है, ये 14 बातें हैं— (1) संयोग, (2) वियोग (3) साहचर्य, (4) विरोध, (5) अर्थ, (6) प्रकरण, (7) लिंग, (8) अन्य सान्निधि, (9) सामर्थ्य, (10) औचित्य, (11) देश, (12) काल, (13) व्यक्ति एवं (14) स्वर।

---

1. वही, पृ. 21।
2. वही, पृ. 53।

किसी भी शब्द का एक अर्थ पाने के लिए इन बातों की सहायता ली जाती हैं। इनका विस्तृत ज्ञान किसी भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ (जैसे—काव्य प्रकाश) से किया जा सकता है। वस्तुत: इतना तो किसी भी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक ज्ञान ही माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो चेतावनी दी है, यह ध्यान में रखने योग्य है। वे कहते हैं, ''प्राचीन कवियों के प्रयुक्त शब्दों का अर्थ करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। एक ही शब्द विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है।'' इस वाक्य में आचार्य महोदय ने देशभेद से शब्दार्थ-भेद की ओर संकेत किया है, अत: अर्थ-ग्रहण के लिए ग्रन्थ और लेखक के देश का भी ध्यान रखना होता है। यही बात काल के सम्बन्ध में भी है। कालभेद से भी शब्दार्थ-भेद हो जाता है।

विशिष्ट ज्ञान, जो पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी में अपेक्षित है, उसकी ओर कुछ संकेत ऊपर किये गये हैं। विविध विद्वानों के अर्थानुसंधान के प्रयत्न भी उनके उद्धरणों और उदाहरणों सहित बताये गये हैं। इनसे अर्थ तक पहुँचने की व्यावहारिक प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है। उससे मार्ग का निर्देश मात्र होता है।

9

रख-रखाव

पाण्डुलिपियों के रख-रखाव की समस्या

पाण्डुलिपियों के रख-रखाव की समस्या भी अन्य समस्याओं की भाँति ही बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम यह देख चुके हैं कि पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कागज, कपड़ा, लकड़ी, रेशम, चमड़े, पत्थर, मिट्टी, चाँदी, सोने, ताँबे, पीतल, काँसे, लोहे, संगमरमर, हाथीदाँत, सीप, शंख आदि पर लिखी गई हैं, अतः रख-रखाव की दृष्टि से प्रत्येक की अलग-अलग देख-रेख आवश्यक होती है।

म.म. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने बताया है कि "दक्षिण की अधिक ऊष्ण हवा में ताड़पत्र की पुस्तकें उतने अधिक समय तक नहीं रह सकतीं जितनी कि नेपाल आदि शीत देशों में रह सकती हैं।"[1]

यही कारण है कि उत्तर में नेपाल में ताड़पत्र पुस्तकों की खोज की गई तो ताड़-पत्र की पुस्तकें अच्छी दशा में मिली। इसी कारण से 11वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कम मिलते हैं। 11वीं शती से पूर्व के ताड़पत्र के ग्रन्थ इस प्रकार मिले हैं—

दूसरी ईस्वी शताब्दी	एक नाटक की पाण्डुलिपि का अंश तो त्रुटित है।	
चौथी ईस्वी शताब्दी	ताड़पत्र के कुछ टुकड़े।	काशगर के मैकर्टिन द्वारा भेजे हुए।
छठी ईस्वी शताब्दी	1. प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र। 2. उष्णीय-विजय-धारणी (बौद्ध ग्रन्थ।	जापान के होरियूजी मठ में।
सातवीं ईस्वी शताब्दी	स्कन्द-पुराण।	नेपाल ताड़पत्र संग्रह।
नवीं (859 ई.) शताब्दी	परमेश्वर-तंत्र।	केम्ब्रिज संग्रह में।

---

1. भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ. 143।

दसवीं (906 ई.) शताब्दी	लंकावतार।	नेपाल के ताड़पत्र संग्रह में।

और बस।

यही स्थिति भोजपत्र पर लिखी पुस्तकों की है। ये भूर्जपत्र या भोजपत्र पर लिखी पुस्तकें अधिकांश काश्मीर से मिली हैं—

दूसरी-तीसरी शताब्दी ई.	धम्मपद भाषा—प्राकृत, लिपि—खरोष्ठी।	खोतान मध्य एशिया से प्राप्त।
चौथी शताब्दी ई.	संयुक्तागम सूत्र (संस्कृत)	खोतान से प्राप्त।
छठी शताब्दी ई.	मि. वेबर को प्राप्त ग्रन्थ	
आठवीं शताब्दी ई.	अंकगणित	बरुशाली से प्राप्त।

इन पर महामहोपाध्याय ओझाजी की टिप्पणी है कि "ये पुस्तकें स्तूपों के भीतर रहने या पत्थरों के बीच गढ़े रहने से ही उतने दीर्घकाल तक बच पायी हैं, परन्तु खुले वातावरण में रहने वाले भूर्जपत्र के ग्रन्थ ई.स. की 15वीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते, जिसका कारण यही है कि भूर्जपत्र, ताड़पत्र या कागज अधिक टिकाऊ नहीं होता।"[1]

इन उल्लेखों से विदित होता है कि—

(1) ताड़पत्र-भूर्जपत्र आदि यदि कहीं स्तूप आदि में या पत्थरों के बीच बहुत भीतर दाब कर रखे जाएं तो कुछ अधिक काल तक सुरक्षित रह सकते हैं।

(2) ऐसे खुले ग्रन्थ 4-5 शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते अर्थात् 4-5 शताब्दी तो चल सकते हैं, अधिक नहीं।

इसी प्रकार की कागज के ग्रन्थों की भी स्थिति है।

पांचवीं शताब्दी ई.	4 ग्रन्थ (मि. वेबर को मिले) भारतीय गुप्त-लिपि में लिखे	कुगिअर (म.ए.) में यारकंद से 60 मील दक्षिण, जमीन में गढ़े मिले।
पाँचवीं शताब्दी	संस्कृत ग्रन्थ	काशगर (म.ए.) में

कागज के सम्बन्ध में भी ओझाजी[2] ने यही टिप्पणी दी है कि "भारतवर्ष के जलवायु में कागज बहुत अधिक काल तक नहीं रह सकता।"

ऊपर उदाहरणार्थ जो तथ्य दिये गये हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि ताड़पत्र, भूर्जपत्र, या कागज या ऐसे ही अन्य लिप्यासन यदि बहुत नीचे या बहुत भीतर दाब कर रखे जायें तो दीर्घजीवी हो सकते हैं। पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऐसे दबे हुए ग्रन्थ भी ई. सन् की पहली-दूसरी शताब्दी से पूर्व के प्राप्त नहीं होते।

---

1. भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ. 144।
2. वहीं, पृ. 145।

इसका एक कारण तो भारत पर विदेश आक्रमणों का चक्र हो सकता है। ऐसे कितने ही आक्रमणकारी भारत में आये जिन्होंने मन्दिरों, मठों, विहारों, पुस्तकालयों, नगरों, बाजारों को नष्ट और ध्वस्त कर दिया, जला दिया।

अपने यहाँ भी कुछ राजा ऐसे हुए जिन्होंने ऐसे ही कृत्य किये। अजयपाल के सम्बन्ध में टॉड ने लिखा है कि—

इसके शासन में सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मन्दिरों को, वे आस्तिकों के हों अथवा नास्तिकों के, जैनों के हों अथवा ब्राह्मणों के, नष्ट करवा दिया।[1] इसी में आगे यह भी बताया गया है कि ''समधर्मानुयायियों के मतभेदों और वैमनस्यों के कारण भी लाखों की क्षति पहुँची है। उदाहरणार्थ—तपागच्छ और खरतरगच्छ नामक मुख्य (जैन धर्म के) भेदों के आपसी कलह के कारण ही पुराने लेखों का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानों द्वारा कम।''[2] टॉड को यह तथ्य स्वयं विद्वान् जैनों के मुख से सुनने को मिला।

अत: ग्रन्थों और लेखों के नाश में साम्प्रदायिक विद्वेष का भी बहुत हाथ रहा है, सम्भवत: बाहरी आक्रमणों से भी अधिक। यद्यपि अलाउद्दीन के आक्रमण का उल्लेख करते हुए टॉड ने लिखा है कि ''सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला (अभिप्राय अलाउद्दीन से है) ने दीवारों को तोड़कर ही दम नहीं ले लिया था वरन् मन्दिरों का बहुत-सा माल नींवों में गड़वा दिया, महल खड़े किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खड़े थे।''[3]

अत: इन स्थितियों के कारण ग्रन्थों के रख-रखाव के साथ ग्रन्थागारों या पोथी-भंडारों को भी ऐसे रूप में बनाने की समस्या थी कि किसी आक्रमणकारी को आक्रमण करने का लालच ही न हो पाये। इसीलिये ये भण्डार तहखानों में रखे गये। टॉड ने बताया है कि ''यह भण्डार नये नगर के उस भाग में तहखानों में स्थित हैं जिसको सही रूप में अणहिलवाड़ा का नाम प्राप्त हुआ है। इस स्थिति के कारण ही यह अल्ला (उद्दीन) की गिद्ध-दृष्टि से बचकर रह गया अन्यथा उसने तो इस प्राचीन आवास में सभी कुछ नष्ट कर दिया था।''[4]

टॉड महोदय का यही विचार है कि भू-गर्भ स्थित होने के कारण यह भण्डार बच गया, क्योंकि ऊपर ऐसा कोई चिह्न भी नहीं था जिससे आक्रमणकर्ता यह समझ कर आकर्षित होता कि यहाँ भी कोई नष्ट करने योग्य सामग्री है।

'जैन ग्रन्थ भंडार्स इन राजस्थान' में डॉ. कासलीवाल जी ने भी बताया है कि—''अत्यधिक असुरक्षा के कारण ग्रन्थ भण्डारों को सामान्य पहुँच से बाहर के स्थानों पर स्थापित किया गया। जैसलमेर में प्रसिद्ध जैन-भण्डार इसीलिए बनाया गया कि उधर रेगिस्तान

---

1. टॉड, जेम्स—पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ. 202।
2. वही, पृ. 298।
3. वही, पृ. 237।
4. वही, पृ. 246।

में आक्रमण की कम सम्भावना थी। साथ ही मन्दिर में भूगर्भस्थ कक्ष बनाये जाते थे और आक्रमण के समय ग्रन्थों को इन तहखानों में पहुँचा दिया जाता था। सांगानेर, आमेर, नागौर, मौजमाबाद, अजमेर, जैसलमेर, फतेहपुर, दूनी, मालपुरा तथा कितने ही अन्य (जैन) मन्दिरों में आज भी भूगर्भित कक्ष हैं, जिनमें ग्रन्थ ही नहीं मूर्तियाँ भी रखी जाती हैं। आमेर में एक वृहद् भण्डार था, जो भू-गर्भ कक्ष में ही था और अभी केवल तीस वर्ष पहले ही ऊपर लाया गया। जैसलमेर के प्रसिद्ध भण्डार का सम्पूर्ण अंश तहखाने में ही सुरक्षित था। ऐसे तहखानों में ही ताड़पत्र की पुस्तकें तथा कागज की बहुमूल्य पुस्तकें रखी जाती थीं। लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि इससे भी बड़ा भण्डार जैसलमेर में अब भी भूगर्भस्थ-कक्ष में है।''[1]

सामान्य पहुँच से दूर स्थानों पर ग्रन्थ-भण्डारों के रखने के कई उदाहरण मिलते हैं। डॉ. रघुवीर ने मध्य एशिया में तुन्ह्वाँङ स्थान की यात्रा की थी। यह स्थान बहुत दूर रेगिस्तान से घिरा हुआ है। यहाँ पहाड़ी में खोदी हुई 476 से ऊपर गुफाएँ हैं जिनमें अजन्ता जैसी चित्रकारी है, और मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर एक बन्द कमरे में, जिसमें द्वार तक नहीं था, हजारों पाण्डुलिपियाँ बन्द थीं, आकस्मिक रूप से उनका पता चला। एक बार नदी में बाढ़ आ गई, पानी ऊपर चढ़ आया और उसने उस कक्ष की दीवार में सेंध कर दी जिसमें किताबे बन्द थीं। पुजारी ने ईंटों को खिसका कर पुस्तकों का ढेर देखा। कुछ पुस्तकें उसने निकालीं। उनसे विश्व के पुराणशास्त्रियों में हलचल मच गई। सर औरील स्टाइन दौड़े गये और 7000 खरड़े (Rolls) या कुंडली ग्रन्थ वहाँ के पुजारी से खरीद कर उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम को भेज दिये। 'ट्रेजर्स ऑव द ब्रिटिश म्यूजियम' में इसका विवरण जो दिया गया है—

"Perhaps his (Stein's) most exciting discovery, however, was in a walled-up chamber adjoining the caves of the thousand Buddhas at Tunhuang on the edge of the Gobi Desert. Here he found a vast library of Chinese Manuscript rolls and block prints, many of them were Buddhist texts translated from the Sanskrit. The climate which had driven away the traders by depriving them of essential water supplies had favoured the documents they had left behind. The paper rolls seemed hardly damaged by age. Stein's negotiations with the priest incharge of the santuary proved fruitful. He purchased more than 7,000 paper rolls[2] and sent them back to the British Museum. Among them are 380 pieces bearing dates between A.D. 406 and 995. The most celebrated single item is a well-preserved copy of the Diamond Sutra, printed from wooden blocks, with a date corresponding to 11 may, A.D. 868. This scroll has been acclaimed as 'the world's oldest printed book', and it is indeed the earliest printed text complete with date known to exist."[3]

सभी ग्रन्थ अच्छी दशा में मिले। कहाँ सातवीं-आठवीं ईस्वी शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कहाँ बीसवीं शताब्दी ई., इतने दीर्घकाल तक अच्छी दशा में अच्छी तरह

---

1. Kasliwal, K.C. (Dr.)—Jain Grantha Bhandars in Rajasthan, p. 23-24.
2. आचार्य रघुवीर की डायरी के आधार पर उक्त लेख में डॉ. लोकेशचन्द ने बताया है कि यह 17 की गुफा थी। इसमें 30,000 वलयिताएँ (Paper rolls) थीं। उन्होंने यह भी बताया है कि स्टाइन के बाद पेरिस के अध्यापक पेलियो आये, यहाँ 6 महीने रहे और बहुत-सी वलयिताएँ ले गये। शेष 8000 पेइचिङ् में रखी गईं।
—धर्मयुग, 23 दिसम्बर, 1973
3. Francis, Frank (Ed.)—Treasures of the British Museum, p. 251.
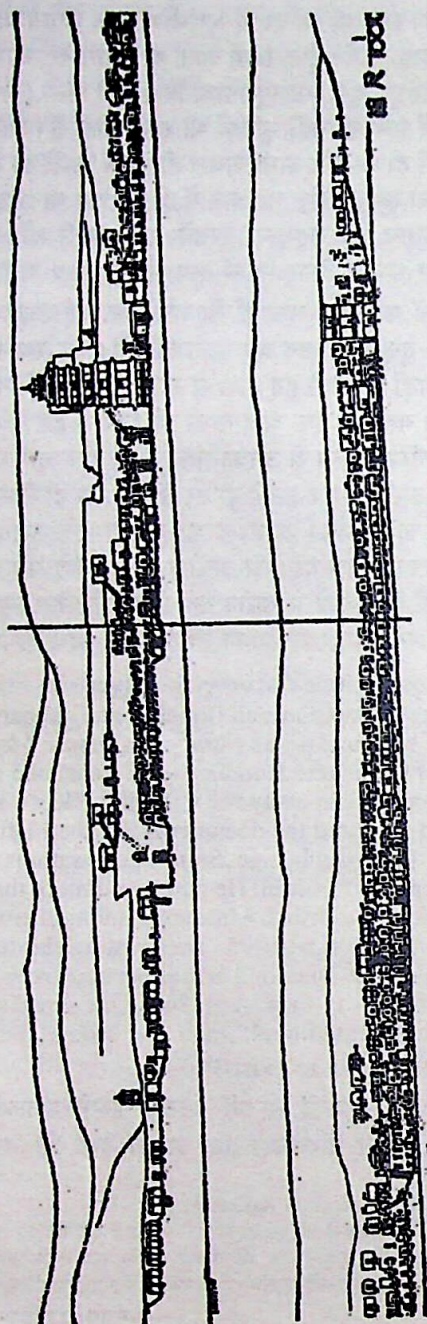
तुन्ह्वाङ की 476 गुफाओं का डॉ. लोकेशचन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया रेखाचित्र—विशाल रेगिस्तानी क्षेत्र में यह फैली हुई हैं। हान् वंश के समय जहाँ चीनी सैनिकों की मशालें देश की रक्षा करती थीं। इन्हीं मशालों के कारण इसका नाम तुन् (धधकती) ह्वाङ् (केतु) पढ़ा। रेगिस्तान, पहाड़, नदी के कारण यह सुरक्षित स्थान माना गया।

सुरक्षित (Well Preserved) ग्रन्थों के रहने का कारण एक तो दूर-दराज का रेगिस्तानी पहाड़ी स्थान दूसरे, रखने की व्यवस्था—जिस कक्ष में उन्हें रखा गया था वह अच्छी तरह बन्द कर दिया गया था, यहाँ तक कि बौद्ध पुजारी को भी उनका पता ही नहीं था कि वहाँ कोई ग्रन्थ-भण्डार भी है। उसका आकस्मिक रूप से ही पता लगा।[1]

इसी प्रकार हम बचपन में यह अनुश्रुति सुनते आये थे कि सिद्ध लोग हिमालय की गुफाओं में चले गये हैं। वहाँ वे आज भी तपस्या कर रहे हैं। डॉ. बंशीलाल शर्मा ने 'किन्नौरी लोक-साहित्य' पर अनुसन्धान करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

''निङ्पा-लामा भी कन्दराओं में प्राचीन ग्रन्थों व लामाओं की खोज करने लगे और उनके शिष्यों ने इन स्थानों में साधना आरम्भ की। उन लोगों का कथन था कि इन गुप्त स्थानों पर पद्मसम्भव द्वारा रचित ग्रन्थ हैं तथा इस धर्म में विश्वास करने वाले कुछ महात्मा भी कन्दराओं में छिपे बैठे हैं।''[2]

इन्होंने मौखिक रूप से मुझे बताया था कि वे एक बौद्ध लामा के साथ एक कन्दरा में होकर एक विशाल बिहार में पहुँचे, जहाँ सब कुछ सोने से युक्त जगमगा रहा था। इन्हें वहाँ एक ग्रन्थ देखना और समझना था, अत: हिमालय की कन्दराओं और गुफाओं में ग्रन्थ-भण्डारों की बात केवल कपोल-कल्पना ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि सुरक्षा और स्वस्थता की दृष्टि से हिमालय की गुफाओं में भी ग्रन्थ रखे गये। विहारों में तो पुस्तकों का संग्रह रहता ही था, उसकी पूजा भी की जाती थी। श्री राम-कृष्ण कौशल ने 'कमनीय किन्नौर'[3] में बताया है कि ''15 आषाढ़ की कानम् में 'कुंजरजनों' उत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर सब शिक्षित अथवा अशिक्षित जन श्रद्धाभाव से कानम् विहार के वृहद् पुस्तकालय के दर्शनों के लिए जाते हैं। कानम् का यह पुस्तकालय ज्ञान-मन्दिर के रूप में प्रतिष्ठित है।''

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थों की रक्षा की दृष्टि से ही पुस्तकालयों के स्थान चुने जाते थे और उन स्थानों में सुरक्षित कक्ष भी उनके लिए बनाये जाते थे। साथ ही उनका ऊपर का रूप भी ऐसा बनाया जाने लगा कि आक्रमणकारी का ध्यान उस पर न जाय।

'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' के लेखक मुनि श्री पुन्यविजय जी[4] ने 'पुस्तकु अने ज्ञान भण्डारोनु रक्षण' शीर्षक में बताया है कि पुस्तकों और ज्ञान-भण्डारों के रक्षण की आवश्यकता चार कारणों से खड़ी होती है—

---

1. आचार्य रघुवीर के सुपुत्र डॉ. लोकेशचन्द ने अपने लेख 'मध्य-एशिया की धधकती गुफाओं में आचार्य रघुवीर' शीर्षक लेख (धर्मयुग : 23 दिसम्बर, 1973) में बताया है कि ''यह शिलालेख मोगाओकू गुफा में है ओ तुनह्वा की सबसे पहली गुफा है। थाङ्कालीन शिलालेख के अनुसार सन् 366 में भारतीय भिक्षु लोछुन ने इसका मंगलारम्भ किया था।'' (पृ. 28)। तो स्पष्ट है कि 4थी शताब्दी इस्वी में इन गुफाओं का आरम्भ हो गया था।
2. शर्मा, बंशीलाल (डॉ.)—किन्नौरी लोक-साहित्य (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), पृ. 501।
3. कौशल, रामकृष्ण—कमनीय किन्नौर, पृ. 22।
4. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 109।

(1) राजकीय उथल-पुथल

(2) वाचक की लापरवाही

(3) चूहे, कंसारी आदि जीव-जन्तु के आक्रमण, और

(4) बाहर का प्राकृतिक वातावरण।

राजकीय उथल-पुथल की दृष्टि से रक्षा के लिए उन्होंने लिखा, "आ तेमज आना जेवा बीजा उथल-पाथलना जमानामां ज्ञान भण्डारोनी रक्षा माटे बहारथी सादां दिखातां मकानों मां तेने राखवान्तं आंवता।" यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी यह मानते हैं कि कितने ही बड़े मन्दिरों में जो भूगर्भस्थ गुप्त स्थान हैं वे बड़ी मूर्तियों को सुरक्षित रखने के लिए हैं क्योंकि उनको अनायास ही स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता था। इससे भी यह बात सिद्ध है कि मन्दिरों में गुप्त स्थान थे और हैं और, उनमें ग्रन्थ-भण्डारों को भी सुरक्षित किया गया। कुछ ग्रन्थ-भण्डारों के तहखानों में होने के प्रमाण कर्नल टॉड की साक्षी से ही मिल जाते हैं, तो ये दोनों उपाय राजकीय उथल-पुथल से रक्षा करने के लिए काम में लाये जाते थे।

वाचकों और पाठकों की लापरवाही से बचने के लिए जो बातें की जाती थीं उनमें से एक तो यह कि वाचकों के ऐसे संस्कार बनाये जाते थे कि जिससे वे पुस्तकों के साथ प्रमाद न कर सकें। दूसरे, इसी सांस्कृतिक शिक्षण की व्याप्ति भारत के घर-घर में देखी जा सकती है, यथा— जहाँ लिखने-पढ़ने की कोई वस्तु, पुस्तक हो, दवात हो, लेखनी हो, कागज का टुकड़ा ही क्यों न हो, नीचे जमीन पर कहीं गिर जाय, अशुद्ध स्थल पर गिर जाय, अशुद्ध हाथों से छू जाए तो उसे पश्चाताप के भाव से सिर पर लगा कर तब यथास्थान रखने की सांस्कृतिक परम्परा आज भी मिलती है। इससे ग्रन्थों और तद्विषयक सामग्री की रक्षा की भावना सिद्ध होती है।

पुस्तकों को पढ़ने के लिए या तो चौकी का उपयोग होता था या सम्पुटिका (टिखटी) का उपयोग किया जाता था। इससे पुस्तक का जमीन से स्पर्श नहीं होता था। यह भी नियम था कि स्वच्छ होकर, हाथ-पैर धोकर पुस्तक पढ़ी जानी चाहिये। वैसे यह नियम यद्यपि हमारे समय से धीरे-धीरे केवल धार्मिक पुस्तकों के लिए लागू होने लगा था। फिर भी, इसकी प्रकृति से भी पता चलता है कि पुस्तकों की सुरक्षा की दृष्टि से उनके प्रति अत्यधिक आदर-भाव पैदा किया जाता था, वे पुस्तकें किसी भी विषय की क्यों न हों। इसी को मुनिजी ने इन शब्दों में बताया है "पुस्तकन् अपमान थाइ नहीं, ते बगड़े नहीं, तेने चानु बने के उड़े नहीं, पुस्तक ने शर्दी गर्मी वगेरेनी असर न लागे ये मोटे पुस्तक ने पाठांनि वाचनमां चालू होय तेमने एक पाटी ऊपर मूंहकी, तेने हाथनो पासेवो ना लागे ये माटे पानू अने अंगुठानी वचमा काम्बी के छेवटे कागज ना टुकड़ो जे बुंकाई राखी ने वांचता। चौमासानी ऋतुमां शर्दी भरमा वातावरणो समयानां पुस्तक ने भेज न लागे अने ते चोंटीय जाय ये मोटे खास वाचननों उपयोगी पानाते बहारराखी वाकीनां पुस्तक ने कवली कपडुं वगैरे लपेटी ने राखता।"[1] इन विवरणों से स्पष्ट है कि वाचन-पठन के लिए टिखटी पर पुस्तक रखी जाती

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 113।

थी। सब प्रकार के स्वच्छ होकर पढ़ने बैठते थे। पन्ने न खराब हों इसलिए काम्बी या पटरी जैसी वस्तु पंक्तियों के सहारे रखकर पढ़ते थे, इस प्रकार से उँगलियाँ नहीं लग पाती थीं। गर्मी-सर्दी से बचने के लिए ग्रन्थों को कपड़े के थैले, बस्ते में बन्द करके रखते थे या उन्हें संदूक या पेटी में। उनके ऊपर ग्रन्थ-विषयक आवश्यक सूचना भी रहती थी।

चूहे तथा कंसारी एवं अन्य जीव-जन्तुओं से रक्षा के लिए मुनिजी ने प्राचीन-जैन-परम्परा में घोड़ा बद्ध या सं. उग्रगंधा पुस्तकों की संग्रह-पेटियों में डाली जाती थी। कपूर का उपयोग भी इसीलिए किया जाता था। इसी के लिए यह विधान था कि पुस्तकें दोनों ओर से दावड़ों से दाब कर पुट्ठों को पार्श्वों में रख कर खूब कस कर बाँध दें। फिर इन्हें बस्तों में बाँध कर पेटी में रख दें।

बाहरी प्राकृतिक वातावरण से रक्षा

इस सम्बन्ध में मुनिजी ने बताया है कि धूप में ग्रन्थ नहीं रखे जाने चाहिये। यदि ग्रन्थों में चौमासे या बरसात की नमी बैठ गई हो तो धूप से बचा कर ऐसे गर्म स्थान में रख कर सुखाना चाहिये, जहाँ छाया हो।

पुस्तकों में नमी के प्रभाव से पन्ने कभी-कभी चिपक जाते हैं। ऐसा स्याही के बनाने में गोंद मात्रा से अधिक पड़ जाने से होता है। नमी से बचने के लिए एक उपाय तो यही बताया गया है कि पुस्तक को बहुत कस कर बाँधना चाहिये, इससे कीड़े-मकोड़े से ही रक्षा नहीं होती, वातावरण के प्रभाव से भी बच जाते हैं।

दूसरा उपाय यह बताया गया है कि चिपकने वाली स्याही वाले पन्नों पर गुलाल छिड़क देना चाहिये, इससे पन्ने चिपकेंगे नहीं।

चिपके हुए पन्नों को एक-दूसरे से अलग करने के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक नमी वाली हवा उसे दी जाय और तब धीरे-धीरे सम्भाल कर पन्नों को एक-दूसरे से अलग किया जाय या चौमासे में भारी बरसात की नमी का लाभ उठा कर पन्ने सम्भाल कर धीरे-धीरे अलग किये जायें, और बाद में उन पर गुलाल छिड़क दिया जाय, अर्थात् भुरक दिया जाय।

ताड़-पत्र की पुस्तकों के चिपके पन्नों को अलग-अलग करने के लिंए भीगे कपड़े को पुस्तक के चारों ओर लपेट कर अपेक्षित नमी पहुँचायी जाय, और पन्ने जैसे-जैसे नम होते जायें, उन्हें अलग-अलग किया जाय।

इस प्रकार जैन-शास्त्रीय परम्परा में ग्रन्थ-सुरक्षा के उपाय बताये गये हैं।

और, इसी दृष्टि से हम 1822 ई. में लिखे अह्विवाड़े के ग्रन्थ-भण्डार (पोथी-भण्डार) के टॉड के वर्णन से कुछ उद्धरण पुनः देते हैं—

(क) ''अब हम दूसरे उल्लेखनीय विषय पर आते हैं वह है, पोथी-भण्डार अथवा पुस्तकालय जिसकी स्थिति जिस समय मैंने उनका निरीक्षण किया उस समय तक बिल्कुल अज्ञात थी।''

(ख) ''तहखानों में स्थित है।''

(ग) ''मेरे गुरु जी.......वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले वे भण्डार की पूजा करने के लिए जा पहुँचे। यद्यपि उनकी सम्मानपूर्ण उपस्थिति ही कुलुफ (मोहर) तोड़ने के लिए पर्याप्त थी परन्तु नगर-सेठ के आज्ञा-पत्र बिना कुछ नहीं हो सकता था। पंचायत बुलाई गई और उनके समक्ष मेरे यति ने अपनी पत्रावली अथवा हेमाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में होने का वंश-वृक्ष उपस्थित किया, जिसको देखते ही उन लोगों पर जादू का-सा असर हुआ और उन्होंने गुरुजी को तहखाने में उतर कर युगों पुराने भण्डार की पूजा करने के लिए आमन्त्रित किया।''

(घ) तहखाने के तंग, अत्यन्त घुटनपूर्ण वातावरण के कारण उनको इस (ग्रन्थ) अन्वेषण से विरत होना पड़ा।

(ङ) ''सूची की एक बड़ी पोथी है और इसको देख कर इन कमरों में भरे हुए ग्रन्थों की संख्या का जो अनुमान मुझे उन्होंने बताया उसे प्रकट करने में मुझे अपनी एवं मेरे गुरु की सत्य-शीलता को सन्देह में डालने का भय लगता है।''

(च) वे ग्रन्थ (I) सावधानी से सन्दूकों में रखे हुए थे जो

(II) मुग्द अथवा कग्गार की लकड़ी (Caggar Wood) के बुरादे से भरे हुए थे। यह मुग्द का बुरादा कीटाणुओं से रक्षा करने का अचूक उपाय है।

(छ) सूची में और सन्दूकों की सामग्री में बहुत अन्तर था।

(ज) ''इस संग्रह की रखवाली बड़े सन्देहपूर्ण ढंग से की जाती है और जिनका इसमें प्रवेश है वे ही इसके बारे में कुछ जानते हैं।''

इन विवरणों से विदित होता है कि भारत में प्राचीन-काल से ग्रन्थों की रक्षा के प्रति बहुत सचेतन दृष्टि थी, इसके लिए स्थान के चुनाव, उसको आक्रमणकारी की दृष्टि से बचाने के उपाय, उनके रख-रखाव में अत्यन्त सावधानी तथा अत्यन्त पूज्यभाव से उनके उपयोग की सांस्कृतिक आचारिकता पैदा करने के प्रयत्न निरन्तर रहे हैं।

रख-रखाव की जिस व्यवस्था का कुछ संकेत ऊपर किया गया है, उसी की पुष्टि ब्यूह्लर[1] के इस कथन से भी होती है—

(93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets, were placed on the Bhurja and palm-leaves, which had been drawn on strings. and this is still the custom even with the paper MSS.[553] In Southern Indian the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed. The latter are wound round the covers and knotted. This procedure was usual already in early times[554] and was observed in the case of the old palm-leaf MSS from

1. Buhler, G.—Indian Palaeography, p. 147-48.
553. Berunl, India I, 171, (Sachau).
554. Cf. Harasacarita, 95, where the sutravestanam of a MS is mentioned.

Western and Northern India. But in Nepal the covers of particularly valuable MSS (Pustaka) which have been prepared this manner are usually wrapped-up in dyed or even embroidered cloth. Only in the Jaina libraries the plam-leaf MSS sometimes are kept in small sacks of white cotton cloth, which again are fitted into small boxes of white metal. The collections of MSS, which, frequently are cataglogued, and occasionally, in monasteries and in ryoal courts, are placed under librarians, generally are preserved in boxes of wood or cardboard. Only in Kashmir, where in accordance with Muhammadan usage the MSs are bound in leather, they are put on shelves, like our books.

डॉ. ब्यूहर के उक्त कथन से उन सभी बातों की पुष्टि हो जाती है, जो हमने अन्य स्रोतों से दी हैं। कर्नल टॉड ने कृमि, कीटों से रक्षा के लिए जिस बुरादे का उल्लेख किया है, उसकी चर्चा ब्यूहर महोदय ने नहीं की। अच्छे बड़े भण्डारों में सूची-पत्र (कैटेलॉग) भी रहते थे, यह सूचना भी हमें टॉड महोदय से मिली थी। यह अवश्य प्रतीत हुआ कि लम्बे उपयोग के कारण जो ग्रन्थ इधर-उधर हो गये उनसे सूचीपत्र का ताल-मेल नहीं बिठाया जाता रहा; इसीलिए सूचीपत्र और सन्दूकों के ग्रन्थों में अन्तर पाया गया। सिले थैली-नुमा बस्तों में ग्रन्थों की रखने की प्रथा भी केवल जैन ग्रन्थागारों में ही नहीं, अन्य ग्रन्थागारों में भी मिलती है। ग्रन्थागारों में ग्रन्थों के वेष्टनों के ऊपर ग्रन्थनाम, ग्रन्थ-कर्तानाम, लिपिकर्तानाम, रचनाकाल, लिपिकाल, ग्रन्थप्रदाता का नाम, श्लोक संख्या आदि सूचनाएँ दाबों पर, पाटों या पुट्ठों पर लिखी जाती थीं। इससे बस्ते या पेटी के ग्रन्थों का विवरण मिल जाता था।

बर्नेल महोदय ने जाने कैसे यह आरोप लगा दिया था कि ब्राह्मण पाण्डुलिपियों को बुरी तरह रखते हैं। इसका ब्यूहर ने ठीक ही प्रतिवाद किया है कि यह समस्त भारत के सम्बन्ध में सही नहीं है, समस्त दक्षिण भारत के लिए भी ठीक नहीं। ब्यूहर ने बताया है कि गुजरात, राजपूताना, मराठा प्रदेश तथा उत्तरी एवं मध्य भारत में कुछ अव्यवस्थित संग्रहों के साथ, ब्राह्मणों तथा जैनों के अधिकार में विद्यमान अत्यन्त ही सावधानी से सुरक्षित पुस्तकालयों को देखा है।

इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि भारत में ग्रन्थों की सुरक्षा पर सामान्यतः अच्छा ध्यान दिया जाता था।

प्राचीन काल में पाश्चात्य देशों में पेपीरस के खरीतों (Scrolls) को सुरक्षित रखने के लिए पार्चमेण्ट के खोखे बनाये जाते थे और उनमें खरीतों को रखा जाता था।[1] बहुत महत्त्व के कागज-पत्रों को रखने के लिए भारत में भी लोहे या टीन के ढक्कन वाले खोखों का उपयोग कुछ समय पूर्व तक होता रहा है।

कागज में विकृतियाँ कुछ अन्य कारणों से भी होती हैं, उनमें से एक स्याही भी है। श्री गोपाल नारायण बहुरा ने इस सम्बन्ध में जो टिप्पणी प्रस्तुत की है उसमें उन बातों का उल्लेख किया है जिनसे पाण्डुलिपियाँ रुग्ण हो जाती हैं। इन बातों में ही स्याही के

---

1. The Encyclopaedia Americana (Vol. IV), p. 224.

विकार से भी पुस्तकें रुग्ण हो जाती हैं यह भी बताया है।[1] साथ ही इन विकारों से सुरक्षित रखने के उपायों का भी उल्लेख किया है।[2]

यहाँ तक हमने प्राचीनकाल प्रयत्नों का उल्लेख किया है किन्तु आधुनिक युग तो वैज्ञानिक युग है। इस युग के वैज्ञानिक प्रयत्नों से पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के बहुत उपयोगी साधन उपलब्ध हुए हैं। अभिलेखागारों (अर्काइब्स), पाण्डुलिपि संग्रहालयों (मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी) आदि में अब इन नये वैज्ञानिक ज्ञान और उपादानों और साधनों के कारण हस्तलेखागारों की उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ़ गया है।

क्षेत्र को बढ़ाने वाले साधनों में दो प्रमुख हैं—एक है, माइक्रोफिल्म द्वारा दूसरा है, फोटोस्टेट। माइक्रोफिल्म के एक फीते पर कई हजार पृष्ठ उतारे जा सकते हैं, इस हर एक फीते पर कितने ही ग्रन्थ अंकित हो जाते हैं। ऐसा एक फीता छोटे-से डिब्बे में बन्द कर रखा जा सकता है। इस प्रकार ग्रन्थ अपने लेखन-वैशिष्ट्य के साथ पृष्ठ या पन्ने के यथार्थ चित्र के साथ माइक्रोफिल्म पर उतार कर सुरक्षित हो जाता है। इसे वे शत्रु नहीं स्पर्श कर पाते जिनके कारण मूल ग्रन्थ की वस्तु को हानि पहुँचती है। हाँ, माइक्रोफिल्म की सुरक्षा की वैज्ञानिक विधियाँ भी हैं, जिनसे कभी किसी प्रकार की क्षति की आशंका होते ही उसे सुरक्षित किया जा सकता है।

किन्तु माइक्रोफिल्मांकित ग्रन्थ को आसानी से किसी भी व्यक्ति को माइक्रोफिल्म की प्रति करके दिया जा सकता है। इस पर व्यय भी अधिक नहीं होता। हाँ, माइक्रो-फिल्मांकित ग्रन्थ को पढ़ने के लिए 'रीडर' (पठन-यंत्र) की आवश्यकता होती है। बड़े संग्रहालयों में ये बहुत बड़े आकार के यंत्र भी मिलते हैं। साथ ही 'मेजी-यंत्र'[3] भी होता है। ऐसे पठन-यंत्र भी हैं, जिनके साथ ही फिल्म-कैमरा भी लगा रहता है। क.मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा में माइक्रोफिल्म कैमरा के साथ रीडर भी है। इस रीडर से पुस्तक का यथार्थ आकार ही दर्शित होता है।

इसी प्रकार फोटो-स्टेट (Photo State) यंत्र से ग्रन्थ की फोटो-प्रतियाँ निकाली जा सकती हैं। ये ग्रन्थ-प्रतियाँ यथार्थ ग्रन्थ की भाँति ही उपयोगी मानी जा सकती हैं। ऐसी प्रतियाँ कोई भी पाठक प्राप्त कर सकता है, अतः सुरक्षा भी बढ़ती है, साथ ही उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ़ जाता है।

आज पुस्तकालयों एवं अभिलेखागारों आदि के रख-रखाव ने स्वयं एक विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया है। इस पर अंग्रेजी में कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं। भारतीय राष्ट्रीय

---

1. देखें द्वितीय अध्याय, पृ. 52-61।
2. "The ink used in making records is also important in determing the longevity of the record, certain kinds of ink tend to fade, the writing disappearing completely after a length of time. Other inks due to their acid qualities eat into the paper and destroy it. An ink in an alkaline medium containing a permanent pigment is what is required."

   —Basu, Purendu—Archives and Records : What are They?
3. मेज पर रख कर उपयोग में लाया जाने वाला यंत्र।

अभिलेखागार (National Archives of India) में अभिलेखागार में रख-रखाव (Archives-keeping) में एक डिप्लोमा-पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। पाण्डुलिपि-विज्ञानार्थी को यह प्रशिक्षण भी प्राप्त करना चाहिए।

हम यहाँ संक्षेप में कुछ संकेतात्मक और काम-चलाऊ बातों का उल्लेख किये देते हैं जिससे इसके स्वरूप का कुछ आभास मिल सके और पाण्डुलिपि-विज्ञान का एक पक्ष अछूता न रह जाय।

हम यह संकेत ऊपर कर चुके हैं कि जलवायु और वातावरण का प्रभाव सभी पर पड़ता है, तो वह लेखों और तत्सम्बन्धी सामग्री पर भी पड़ता है। किसका, कैसा, क्या प्रभाव पड़ता है, वह नीचे की तालिका में बताया गया है—

जलवायु	वस्तु	प्रभाव
1. गर्म और शुष्क जलवायु	कागज चमड़ा तथा पुट्ठा	तड़कने (Brittle) लगता है सूख जाता है
2. अधिक नमी (Humidity)	कागज	सिकुड़ जाता है एवं सील जाता है।
3. तापमान में अत्यधिक वैविध्य [जाड़ों में 10° से. (50° फा.) तथा गर्मी में 45° (113° फा.) तक]	कागज चमड़े एवं पुट्ठे	लोच पर प्रभाव है।
4. तापमान 32° से. (90° फा.) एवं नमी 70 प्रतिशत		कीड़े-मकोड़ो, पुस्तक-कीट, सिल्वर-फिश, कोक्रोच, दीमक और फफूँद या चैपा उत्पन्न हो जाता है।
5. वातावरण में अम्ल-गैसों का होना—विशेषतः सल्फर हाइड्रोजन से विकृत वातावरण।	कागज आदि	बुरा प्रभाव। जल्दी नष्ट हो जाते हैं।
6. धूल कण	कागज, चमड़ा, पुट्ठा आदि	इनसे अम्ल-गैसों की घनता आती है और फफूँदाणु पनपते हैं।
7. सीधी धूप	कागज आदि	कागज आदि पर पड़ने वाली सीधी धूप को पुस्तकों का शत्रु बताया गया है। इससे कागज आदि विवर्ण हो जाते हैं, नष्ट होने लगते हैं तथा स्याही का रंग भी उड़ने लगता है।

उपाय :

भण्डारण-भवन को 22° और 25° से. (72°-78° फा.) के बीच तापमान और नमी (Humidity) 45° और 55° प्रतिशत के बीच रखा जाय।

साधन :

वातानुकूलन-यंत्र द्वारा वातानुकूलित भवन में उक्त स्थिति रह सकती है।

बहुत व्यय-साध्य होने से यदि यह सम्भव न हो तो अत्यधिक नमी को नियंत्रित करने के लिए जल-निष्कासक रासायनिकों का उपयोग कर सकते हैं। ये हैं—ऐल हाइड्रस कैलसियम क्लोराइड और सिलिका गैल (Silica Gel)।

20-25 घन मीटर क्षमता के कक्ष के लिए 2-3 किलोग्राम सिलिका गैल पर्याप्त है। इसे कई तश्तरियों में भर कर कमरे में कई स्थानों पर रख देना चाहिए। 3-4 घण्टे के बाद यह सिलिका गेल और नमी नहीं सोख सकेगा क्योंकि वह स्वयं उस नमी से परिपूरित हो चुका होगा, अतः सिलिका गेल की दूसरी मात्रा उन त्तश्तरियों में रखनी होगी। पहले काम में आये सिलिका गेल को खुले पात्रों में रख कर गरम कर लेना चाहिये, इस प्रकार वह पुनः काम में आने योग्य हो जाता है।

उक्त साधनों से वातावरण की नमी तो कम की जा सकती है, पर यह नमी कभी-कभी कमरों में सीलन (Dampness) होने से भी बढ़ती है। इस कारण यह आवश्यक है कि भण्डारण के कमरों को पहले ही देख लिया जाय कि उनमें सीलन तो नहीं है। भवन बनाने के स्थान या बनाने की सामग्री या विधि में कोई कमी रह गई है, इससे सीलन है, अतः मकान बनाते समय ही यह ध्यान रखना होगा कि भण्डार-भवन सीलन-मुक्त विधि से बनाया जाय। यही इसका एकमात्र उपाय है। नमी और सील को कम करने में खुली स्वच्छ वायु का उपयोग भी लाभप्रद होता है, अतः भण्डारण में खिड़कियाँ आदि इस प्रकार बनायी जानी चाहिये कि भण्डार की वस्तुओं को खुली हवा का स्पर्श लग सके। कभी-कभी बिजली के पंखों से भी हवा की जा सकती है।

किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि भण्डार-कक्ष में वस्तुओं पर, कागज-पत्रों पर सीधी धूप न पड़े। इससे होने वाली हानि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यदि ऐसी खिड़कियाँ हों जिनमें से धूप सीधे ग्रन्थों पर पड़ती है, तो इन खिड़कियों में शीशे लगावा कर पर्दे डाल देना चाहिये, और इस प्रकार धूप के स्पर्श से रक्षा करनी चाहिये।

पाण्डुलिपियाँ रखने की अलमारियों का भी सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। एक तो अलमारियाँ खुली होनी चाहिये जिससे उन्हें खुली हवा लगती रहे और सील न भरे। दूसरे, ये अलमारियाँ लोहे की या किसी धातु की हों, और इन्हें दीवार से सटा कर न रखा जाय, और परस्पर अलमारियों में भी कुछ फासला रहना चाहिए इससे सील नहीं चढ़ेगी। ये अलमारियाँ ही आदर्श मानी जाती हैं। दीवारों में बनायी हुई सीमेन्ट की अलमारियाँ भी ठीक नहीं बतायी गई हैं। धातु की अलमारियों में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि इन

पर मौसम और कीटों (दीमक आदि) का प्रभाव नहीं पड़ता, जो लकड़ी पर पड़ता है, फिर इन्हें अपनी आवश्यकता, सुरक्षा और उपयोग के अनुसार व्यवस्थित भी किया जा सकता है।

पाण्डुलिपियों के शत्रु :

भुकड़ी (Mould) और फफूँद नामक दो शत्रु हैं जो पाण्डुलिपियों में ही पनपते हैं। फफूँद तो पुस्तकों में पनपने वाला वनस्पतीय-फंग्स (Fungus) होता है जबकि मोल्ड में शेष सभी अन्य सूक्ष्म अवयवाणु आते हैं जो पाण्डुलिपियों में हो जाते हैं। यह पाया गया है कि ये 45^{o} से. (40^{o} फा.) पर धीरे-धीरे बढ़ते हैं, पर 27-35 से. (80-95^{o} फा.) पर इनकी बहुत बढ़वार होती है। 38^{o} से. (100 फा.) से अधिक तापमान में इनमें से बहुत-से नष्ट हो जाते हैं, अतः इन्हें रोकने के लिए भण्डारण भवन का तापमान 22-24^{o} से. (72-75^{o} फा.) तक रखा जाना चाहिये। साथ ही नमी ह्यूमिडिटी 45-55 प्रतिशत के बीच रहनी चाहिये।

यदि भण्डारण-कक्ष को उक्त मात्रा में तापमान और नमी का अनुकूलन सम्भव न हो तो एक दूसरा उपाय थाईमल रसायन से वाष्प-चिकित्सा (Fumigation) है।

थाईमल चिकित्सा की विधि :

एक वायु विरहित (एयरराइट) बाक्स या बिना खाने की अलमारी लें। इसमें नीचे के तल से 15 से.मी. की ऊँचाई पर तार के जालों का एक बस्ता लगायें, उस पर ग्रन्थों को बीच से खोल इस प्रकार रखें कि उसकी पीठ ऊपर रहे और वह रूप में रहे। थाईमल वाष्प-चिकित्सा के लिए जो ग्रन्थ इस यंत्र में रखे जायें उनमें उक्त अवयवाणुओं ने जहाँ घर बनाये हों पहले उन्हें साफ कर दिया जाय। इस सफाई द्वारा फफूँदादि एक पात्र में इकट्ठी कर जला दी जाय। उसे भण्डार में न बिखरने दिया जाये। इसके बाद ग्रन्थ को यंत्र में रखें। इसके नीचे तल पर 40-60 वाट का विद्युत लैंप रखें और उस पर एक तश्तरी में थाइमल रख दें जिससे लैंप की गर्मी से गर्म होकर वह थाइमल पाण्डुलिपियों को वाष्पिक कर सकें। एक क्यूबिक मीटर के लिये 100-150 ग्राम थाइमल ठीक रहता है। 6-10 दिन तक पाण्डुलिपियों को वाष्पित करना होगा और प्रतिदिन दो से चार घण्टे विद्युत लैम्प जला कर वाष्पित करना अपेक्षित है।

इससे ये सूक्ष्म अवयवाणु मर जायेंगे, पर जो क्षत और धब्बे इनके कारण उन पर पड़ चुके हैं, वे दूर नहीं होंगे।

जहाँ नमी को 75 प्रतिशत से नीचे करने के कोई साधन उपलब्ध नहीं हो वहाँ मिथिलेटेड स्पिरिट में 10 प्रतिशत थाइमल का घोल बनाकर, ग्रन्थागार में कार्य के समय के बाद संध्या को कमरे में उसको फुहार कर दिया जाय और खिड़कियाँ तथा दरवाजे रातभर के लिये बन्द कर दिये जायें। इन अणुओं के कमरे में ठहरे हुए सूक्ष्म तंतु, जो पुस्तकों पर बैठ कर फफूँद आदि पैदा करते हैं, नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार ग्रन्थागार की फफूँद आदि से रक्षा हो सकेगी।

कीड़े-मकोड़े :

कई प्रकार के कीड़े-मकोड़े भी पाण्डुलिपियों और ग्रन्थों को हानि पहुँचाते हैं। ये दो प्रकार के मिलते हैं—एक प्रकार के कीट तो ग्रन्थ के ऊपरी भाग को, जिल्द आदि को, जिल्दबन्दी के ताने-बाने को, चमड़े को पुट्ठे आदि को, हानि पहुँचाते हैं। इनमें एक तो सबके सुपरिचित हैं कोक्रोच, दूसरे हैं, रजत कीट (सिल्वर फिश)। यह कीट बहुत छोटा, पतला चाँदी जैसा चमकना होता है।

इनके सम्बन्ध में पहला प्रयत्न तो यह किया जाना चाहिये कि इनकी संख्या-वृद्धि न हो। इसके लिए एक बात तो ध्यान में रखनी होगी कि भण्डार-गृह में खाने-पीने की चीजें नहीं आनी चाहिये। इनसे ये आकर्षित होते हैं, फिर फलते-फूलते हैं। दूसरे, दीवारों में कहीं दरारें और सँधें हों तो उन्हें सीमेन्ट से भरवा दिया जाय, इससे कीड़ों के छिपने और फलने-फूलने के स्थान नहीं रहेंगे, और उनकी वृद्धि रुकेगी। साथ ही नेफ्थलीन की गोलियाँ अलमारियों के हर छः फीट पर रख दी जायें, इससे ये कीट भागते हैं। किन्तु इन कीटों से पूरी तरह मुक्ति पाने के लिए तो जहरीली दवाओं का छिड़काव करना होगा, ये हैं—डी.डी.टी. पाट्रोव्यम, सोडियम फ्लोराइड आदि, इन्हें पुस्तकों पर नहीं छिड़कना चाहिये। अंधेर कोनों, दरारों, छिद्रों और दीवारों आदि पर छिड़कना ठीक रहता है। इन जहरीले छिड़कावों का जहर ग्रन्थों पर छिड़का गया तो ग्रन्थ भी दाग-धब्बों से युक्त हो जायेंगे।

ये कीट तो ऊपरी सतह को ही हानि पहुँचाते हैं, पर दो ऐसे कीट हैं जो ग्रन्थ के भीतर भाग को भी नष्ट करते हैं। इनमें से एक हैं, पुस्तक कीट (Book-worm), तथा दूसरा सोसिड (Psocid) है।

ये दोनों कीट ग्रन्थ के भीतर घुसपैठ कर भीतर के भाग को नष्ट कर देते हैं। बुकवोर्म या पुस्तक-कीट के लारवे तो ग्रन्थ के पन्नों में ऊपर से लेकर दूसरे छोर तक छेद कर देता है, और गुफाएँ खोद देता है। लारवा जब उड़ने लगता है तो दूसरे स्थानों पर पुस्तक-कीटों को जन्म देता है। इस प्रकार यह रोग बढ़ता है। सोसिड को पुस्तकों का जूं भी कहा जाता है। ये भीतर ही भीतर हानि पहुँचाते हैं, अतः इनकी हानि का पता पुस्तक खोलने पर ही विदित होता है।

इनको दूर करने का इलाज वाष्प चिकित्सा है, पर गह वाष्प-चिकित्सा घातक गैसों से की जाती हैं—ये गैसें हैं, एथीलीन ऑक्साइड (Ethylene Oxide) एवं कार्बन डाई ऑक्साइड मिला कर वातशून्य (Vaccum) वाष्पन करना चाहिये। इसके लिए विशेष यंत्र लगाना पड़ता है। यह यंत्र व्यय-साध्य है, अतः बड़े ग्रन्थागारों की सामर्थ्य में तो हो सकता है, पर छोटे ग्रन्थागारों के लिए यह असाध्य ही है, अतः एक दूसरी विधि भी है—पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन (Para-dichloro benzene) या तरल किल्लोप्टेरा (Liquid Kelloptero) जो कार्बन टेट्राक्लोराइड और ऐथेलीन डाइक्लोराइड का सम्मिश्रण होता है, लिया जा सकता है। इसमें वाष्प-चिकित्सा के लिए एक स्टील की ऐसी अलमारी लेनी होगी, जिसमें हवा न घुस सके। इसमें खानों के लौह तत्त्वों में छेद कर दिये जाने चाहिये। इन तख्तों पर सम्पूर्ण लेखों को बिछा दिया जाता है और नत्थियों तथा ग्रन्थों को इस रूप में बीच खोल कर रख दिया जाता है।

यदि पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन से वाष्पित करना है तो शीशे के एक जार (Jar) में एक घन मीटर के लिए 1.5 किलोग्राम उक्त रासायनिक घोल भर कर उक्त तख्तों के सबसे नीचे के तल में रख देना चाहिये और अलमारी बन्द कर देनी चाहिये। इसकी गैस हलकी होती है, अतः ऊपर की ओर उठती है। यह रसायन स्वयंमेव सामान्य तापमान में ही वाष्पित हो उठती है। सात-आठ दिन तक रुग्ण ग्रन्थों को वाष्पित होने देना चाहिये।

यदि किल्लोप्टेरा से वाष्पित करना है तो यह रसायन प्रति एक घन-मीटर के लिए 225 ग्राम के हिसाब से लेकर इसका पात्र सबसे ऊपर के तंत्र में या खाने में रखना चाहिये। इसकी गैस या वाष्प भारी होती है, अतः यह नीचे की ओर गिरती है। सात-आठ दिन इससे भी रुग्ण सामग्री को वाष्पित करना चाहिये। इससे ये कीट, इनके लारवे आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

पर संधियों में या जिल्द बंधने के स्थान पर बनी नालियों में इनके जो अण्डे होंगे वे नष्ट नहीं हो पायेंगे, और ये अण्डे 20-21 दिनों में लारवे के रूप में परिणत होते हैं, अतः पूरी तरह छुटकारा पाने के लिए उक्त विधि से 21-22 दिन बाद फिर वाष्पित करने की आवश्यकता होगी।

दीमक :

सभी जानते हैं कि दीमक का आक्रमण अत्यन्त हानिकर होता है। ऊपर जिन शत्रुओं का उल्लेख किया गया है वे दीमक की तुलना में कहीं नहीं ठहरते। दीमक का घर भूगर्भ में होता है। वहाँ से चल कर ये मकानों में, लकड़ी, कागज आदि पर आक्रमण करती हैं। ये अपना मार्ग दीवारों पर बनाती हैं जो मिट्टी से ढकी छोटी पतली सुरंगों के रूप में यह मार्ग दिखायी पड़ता है। पुस्तकों को भीतर से, बाहर से सब ओर से, खाती है, पहले भीतर ही भीतर खाती है।

इनको जीवित मारने का कोई लाभ नहीं होता क्योंकि दीमकों की रानी औसतन 30 हजार अण्डे प्रतिदिन देती है। कुछ को मार भी डाला गया तो इनके आक्रमण में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। इससे रक्षा का एक उपाय तो यह है कि नीचे की दीवार के किनारे-किनारे खाई खोदी जाय और उसे कोलतार तथा क्रियोसोट (Creosote) तेल से भर दिया जाय। इन रासायनिक पदार्थों के कारण दीमक मकान में प्रवेश नहीं कर सकेगी।

यदि दीमक मकान में दिखायी पड़ जाय तो पहला काम तो यह किया जाना चाहिये कि वे समस्त स्थान, जहाँ से इनका प्रवेश हो सकता है, जैसे—दरारें, दीवारों के जोड़ या सभी फर्श में तड़के हुए स्थान और छिद्र तथा दीवारों में उभरे हुए स्थान, इन सभी को तुरन्त सीमेण्ट और कंकरीट से भर कर पक्का कर दिया जाय। यदि ऐसा लगे कि फर्श कहीं-कहीं से पोला हो गया है या फूल आया है या अन्दर जमीन खोखली है, तो ऊपर का फर्श हटा कर इन सभी पोले स्थानों और खोखलों को सफेद संखिया (White Arsenic), डी.डी.टी. चूर्ण, पानी में सोडियम आर्सेनिक 1 प्रतिशत का घोल या 5 प्रतिशत डी.डी.टी. का घोल 1 : 60 (4-5 लीटर प्रति मीटर) के हिसाब से उनमें भर दें। जब ये स्थान सूख जायें तब इन्हें कंकरीट सीमेण्ट से भर कर फर्श पक्का कर दिया जाय। ऐसी दीवारें भी

कहीं से पोली या खोखली दिखाई पड़ें तो इनकी चिकित्सा भी इसी विधि से कर दी जानी चाहिये। यदि लकड़ी की बनी चीजें, किवाड़ें आदि दीवारों से जुड़ी हुई हों तो ऐसे समस्त जोड़ों पर क्रियोसोट तेल चुपड़ देना होगा, यदि दीमक का प्रकोप अधिक है तो प्रति छठे महीने जोड़ों पर यह तेल लगाना होगा।

दीमक वाले मकान में दीवारों में बनी अलमारियों का उपयोग निषिद्ध है। यदि लकड़ी की अलमारियाँ या रैक है तो इन्हें दीवारों से कम से कम 15 से.मी. दूर रखें और इनकी टाँगें कोलतार, क्रियोसोट तेल या डीलड्राइन ऐमलसन से हर छठे महीने पोत देना चाहिये। जमीन में दीमक हो तो आवश्यक है कि इन अलमारियों की टांगों को धातु के पात्रों में रखें और इन पात्रों में कोलतार या क्रियोसोट तेल भर दें। इससे भी पहले लकड़ी की जितनी भी चीजें हैं सभी को 20 प्रतिशत जिंक क्लोराइड को पानी में घोल बनाकर उससे पोत दें।

सबसे अच्छा तो यह है कि लकड़ी की वस्तुओं का उपयोग किया ही न जाय और स्टील के रैकों और अलमारियों का उपयोग किया जांय।

इस प्रकार इस भयानक शत्रु से रक्षा हो सकती है।

इन सभी बातों के साथ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भण्डारण के स्थान पर धूल से, मकड़ी के जालों से और ऐसी ही अन्य गन्दगियों से स्वच्छ रखना बहुत आवश्यक है।

भण्डारण के स्थान पर खाने-पीने की चीजें नहीं आनी चाहिये, उसमें रासायनिक पदार्थ भी नहीं रखे जाने चाहिये। सिगरेट आदि पीना पूर्णतः वर्जित होना चाहिये।

आग बुझाने का यंत्र भी पास ही होना चाहिये।

रख-रखाव में केवल शत्रुओं से रक्षा ही नहीं करनी होती है, परन्तु पाण्डुलिपियों को ठीक रूप में और स्वस्थ दशा में रखना भी इसी का एक अंग है। जब पाण्डुलिपियाँ कहीं से प्राप्त होती हैं तो अनेक की दशा विकृत होती है।

इसमें नीचे लिखी बातें या विकृतियाँ सम्मिलित हैं—

(1) सिकुड़ने, सिलवट, गुड़ी-मुड़ी हुए पत्र।

(2) किनारे गुड़ी-मुड़ी हुए कागज (पत्र)।

(3) कटे-फटे स्थल या किनारे।

(4) तड़कने वाले या कुरकुरे कागज।

(5) पानी से भीगे हुए कागज।

(6) चिपके कागज।

(7) धुंधले या धुले लेख।

(8) जले कागज।

(9) कागजों पर मुहरों की विकृतियाँ।

इन विकृतियों को दूर करने के अनेक उपाय हैं, पर सबसे पहले एक कक्ष चिकित्सा के लिए अलग कर देना चाहिये। इसमें निम्नलिखित सामग्री इस कार्य के लिए अपेक्षित हैं—

(1) मेज जिस पर ऊपर शीश जुड़ा हो।

(2) छोटा हाथ प्रेस दाब देने के लिए।

(3) पेपर ट्रीमर (Paper Trimmer)।

(4) कैंची (लम्बी)।

(5) चाकू।

(6) Poring Knives।

(7) प्याले (पीतल के या इनामिल किये हुए)।

(8) तश्तरियाँ (पीतल की या इनामिल की हुई)।

(9) ब्रुश (ऊँट के बाल के 205-1.25 से.मी. चौड़ी)।

(10) Paper Cutting Slinces (सींग के बने हो तो अच्छा है)।

(11) फुटा।

(12) सुइयाँ (बड़ी और छोटी)।

(13) बोदकिन (छेद करने के लिए)।

(14) तख्त इनामिल किए हुए।

(15) शीशे की प्लेटें।

(16) देगची लेई बनाने के लिए।

(17) बिजली की इस्तरी।

मरम्मत या चिकित्सा की विधि

(क) अपेक्षित सामग्री

डॉ. के.डी. भार्गव ने ये सामग्रियाँ बतायी हैं—

(1) हाथ का बना कागज—यह कागज केवल चिथड़ों का बना होना चाहिये। ये चिथड़े सूती वस्त्रों के या क्षोम (Linen) का या दोनों से मिलकर, इसका बना हो, यह सफेद या क्रीम के रंग का हो। इसकी तौल 9-10 कि.ग्रा. (आकार 51 × 71 सें. मी. फ. 500 कागज) होनी चाहिये। इसका पी.एच. 5.5 से कम न हो। अन्य वैशिष्ट्यों के लिए मूल पुस्तक देखें।[1]

(2) ऊलि (टिशु) पत्र—पाण्डुलिपियों की चिकित्सा के लिये निम्न विशेषताओं वाला पत्र होना चाहिये—

---

1. Bhargava, K.D.—Repair and Preservation of Records.

(अ) इसमें एलफा सैल्यूलोज 88 प्रतिशत से कम न हो।

(ब) तौल और आकार 25-35 कि.ग्रा. (63.5 × 127 से.मी. 500 पत्रों)।

(स) राख 0.5 प्रतिशत से अधिक नहीं।

(द) पी.एच. 5.5 से कम नहीं।

(3) शिफन (Chiffon) नालिवसन—जिसमें जालरंध्र की संख्या 33 × 32 प्रति वर्ग से.मी. (83 × 82 प्रति इंच) हो। इसकी मोटाई 0.085 मि.मी. (औसतन) हो। पी.एच. 6.0-6.5।

(4) तैल कागज या मोमी कागज—यह ऐसा हो कि पानी न छने और डैक्सट्राइन या लेई (Starch Paste) की चिपकन को न पकड़े। साथ ही, इसके तैल और मोम के अंश कागज पर धब्बे न डाले।

इनकी तौल निम्न प्रकार की हो तो अच्छा है,

तैल कागज—22.7 कि.ग्रा. (61 × 46 से.मी. 500 पत्र)

मोमी कागज

(5) मलमल—यह चित्रों और चार्टों पर चढ़ाई जाती है। यह मध्यम आकार की फुलस्कैप के दुगने आकार से भी बड़ी हो। बढ़िया किस्म की औसत से 0.1 मि.मी. मोटाई की। इसके सूत में कोई गांठ नहीं होनी चाहिये।

(6) लंकलाट—(Long Cloth)

(7) सैल्यूलोज एसीटेट फायल—यह पर्ण पाण्डुलिपि का परतोपचार (लेमीनेशन) करने के काम आता है, यह पर्ण 107 से.मी. (42 इंच) चौड़े बेलनों के रूप में मिलता है। परतोपचार के लिए यह पर्ण .0223 मि.मी. मोटाई का अच्छी लोच वाला, अर्द्ध-आर्द्रता कवचित (Semi-moisture proof), इसमें नाइट्रेट अंश न हो।

चिकित्सा :

(1) चौरस करना

पाण्डुलिपि-पत्र के किनारे तुड़े-मुड़े हों तो उन्हें चौरस कर देना चाहिये। इसके लिए पहले भीगे ब्लॉटिंग कागज को पन्नों के किनारों पर कुछ देर रख कर उन्हें नम किया जाय फिर रखे ब्लॉटिंग कागज उस पर रखकर आइरन को कुछ गरम करके उसको स्तरित कर दिया जाय और हाथ के कागज की कतरन चिपका कर किनारे ठीक कर दिये जायें। यदि लिखावट दोनों ओर हो तो टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय। यदि पत्र बीच में जहाँ-तहाँ कटा-फटा हो तो उन स्थानों पर पत्र की पीठ पर हाथ के कागज की चिप्पियाँ चिपका दें। यदि दोनों ओर लिखावट हो तो टिश्यू-कागज चिपका दें।

चिपकाने में गोंद और पेस्ट का उपयोग नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये भीगने पर फूलते हैं और गरमी में सूखते हैं और सिकुड़ते हैं। इसके लिए मैदा की लेई जिसमें थोड़ा नीला थोथा हो तो अच्छा रहता है, किन्तु दो-तीन दिन बाद फिर नई लेई बनानी चाहिये।

टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय तो यह लेई नहीं, डेक्सट्राइन (Dextrine) या स्टार्च की पतली लेई काम में लानी चाहिये।

(2) अन्य चिकित्साएँ

पूरा पृष्ठ पर्णन, टिश्यू चिकित्सा, शिफन् चिकित्सा तथा परतोपचार। तड़कने वाले (Brittle) कागजों का सैल्यूलाइज एसीटेट पर्ण से परतोपचार करना आधुनिक पद्धति है। इसके लिए समीचीन परतोपचारक प्रेस (दाब-यंत्र) की आवश्यकता होती है, उसके अन्य उपकरण भी होते हैं। सब मिलाकर बहुत व्यय पड़ता है, एक लाख रुपया तो आसानी से लग सकता है, किन्तु इसके लिए विकल्प भी है, जहाँ इतना कीमती यंत्रादि नहीं लिए जा सकते वहाँ विकल्प वाली पद्धति से परतोपचार (Lamination) किया जा सकता है।

(क) पूर्ण पृष्ठ वर्णन

पाण्डुलिपि का कागज तिरकना हो गया हो, उसका पूर्ण पृष्ठ वर्णन द्वारा चिकित्सा कर दी जाती है। पाण्डुलिपि एक ओर लिखी हो तो पीठ पर पूरे पृष्ठ पर वर्णन किया जाता है। हाँ, ऐसी पाण्डुलिपि के पन्ने की पीठ को पहले साफ कर लेना होगा। यदि पीठ पर पहले की चिप्पियाँ चिपकी हों तो उन्हें छुटा देना चाहिये। इसकी प्रयोग-विधि का वर्णन इस प्रकार है।

पाण्डुलिपि के पन्ने को मोमी कागजों या तैली कागजों के बीच में रख कर पानी में आधे से एक घंटे तक डुबा कर रखें, फिर निकाल लें। अब चिप्पियाँ आसानी से छुटाई जा सकती हैं। यदि पाण्डुलिपि की स्याही पानी में डालने से फैलती हो तो इसे पानी में न डुबाएँ, अन्य विधि का उपयोग करें—चिप्पियों के आकार की ब्लॉटिंग पेपर की चिप्पियाँ काट कर पानी में भिगो कर चिप्पियों के ऊपर रख दें। जब गोंद कुछ ढीला होने लगे तो छुटा लें।

जब पाण्डुलिपि की पीठ साफ हो जाय तो पाण्डुलिपि के पन्ने के आकार से कुछ बड़ा हाथ का बना कागज (पूरा कागज चिथड़ों से बना) लिया जाय। यह कागज पानी में डुबा कर शीशे से युक्त मेज पर फैला दिया जाय, यदि मेज लकड़ी की हो और ऊपर शीशा न हो तो मोमी या तैली कागज उस पर फैला कर, इस कागज पर वह भीगा कागज फैलाया जाय और एक मुलायम कोमल कपड़े को फेर कर उसकी सिलवटें निकालकर उसकी कुँडलित रूप में घड़ी कर लें, इस प्रकार वह बेलन के आकार का हो जायेगा। तब पाण्डुलिपि के पन्ने को तैली कागज पर औंधा बिछा कर उस पर लेई (Starch Paste) ब्रुश से कर दीजिए। कुंडलित हाथ बने कागज को एक छोर पर ठीक बिठा कर इस कागज को ऊपर फैला दें। साथ ही एक कपड़े से या रूई के से उसे पाण्डुलिपि पर दाब-दाब कर भली प्रकार जमा दें। तब पाण्डुलिपि को तैल-कागज पर से उठा लें और दाब में रख कर सूखने दें। इस समय पाण्डुलिपि की पीठ नीचे होगी। सूख जाने पर 2.3 मि.मी. पाण्डुलिपि मूल-पत्र के चारों ओर इस कागज की गोट छोड़कर शेष को कैंची से कतर दीजिये। 2-3 मि.मी. चारों ओर इसलिये कागज छोड़ा जाता है कि पाण्डुलिपि के किनारे गुड़-मुड़ न हों।

शिफन-चिकित्सा

शिफन या उच्च कोटि की पारदर्शी सिल्क का गॉज इन पाण्डुलिपियों पर लगाया जाता है जो बहुत जर्जर, स्याही से खाई हुई या कीड़ों न खाली हो।

पाण्डुलिपि के पत्र को साफ कर लें। उस पर लगी चिप्पियों को हटा दें, और उसे मोमी या तैल कागज पर भली प्रकार बिछा दें। उस फिशन का टुकड़ा, जो पाण्डुलिपि से चारों ओर से कुछ बड़ा हो, फैला दें। अब ब्रुश से लेई (स्टार्च पेस्ट) लगा दें—लेई लगाना बीचोंबीच केन्द्र से शुरू करें और चारों ओर फैलाते हुए पूरे शिफन पर लगा दें। इस पाण्डुलिपि को मोमी या तैल कागज सहित दूसरे मोमी या तैल कागज पर सावधानी से उलट दें जिससे सिलवटें न पड़ें। पहले वाला तैली कागज, जो अब ऊपर आ गया है, उसे धीरे-धीरे पाण्डुलिपि से अलग कर लें, अब पाण्डुलिपि के इस ओर भी पहले की तरह शिफन का टुकड़ा बिछा कर बीच से लेई लगाना शुरू करें और पूरे शिफन पर लेई बिछा दें। अब उसे सूखने दें। आधा सूख जाने पर दूसरा तैली या मोमी कागज ऊपर से रख कर दाब-यंत्र में या दो तख्ती के बीच रखकर ऊपर से दाब के लिए बोझ रख दें। पूरी तरह सूख जाने पर पाण्डुलिपि को सम्भाल कर निकाल लें और किनारों से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दें।

यदि पाण्डुलिपि की स्याही पानी से घुलती हो या फैलती हो तो इस प्रक्रिया में कुछ अन्तर करना पड़ेगा। तैली या मोमी पर पाण्डुलिपि से कुछ बड़ा शिफन का टुकड़ा बिछा दें और लेई (स्टार्च पेस्ट) बीच से आरम्भ कर चारों ओर बिछा दें। उस पर पाण्डुलिपि जमा दें। उसके ऊपर मोमी या तैली कागज फैला कर दाब दें। तब शिफन का दूसरा टुकड़ा लेकर तैली या मोमी कागज पर रख कर उपर्युक्त प्रकार से लेई लगा दें और उस पर पाण्डुलिपि उस पीठ की ओर से बिछा दें जिस पर शिफन नहीं लगा। उस पर मोमी या तैली कागज रख कर दाब में यथापूर्व सुखा लें। सूख जाने पर किनारों से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दें।

टिश्यू-चिकित्सा

जिन पाण्डुलिपियों की स्याही फीकी नहीं पड़ी और जो अधिक जीर्ण नहीं हुए उनकी चिकित्सा टिश्यू-कागज से की जाती है। इसमें सरेस रहित इमिटेशन जापनी टिश्यू-कागज ही, जिसमें तैली या मोमी अंश न हों, काम में आता है। तैली या मोमी कागज पर पाण्डुलिपि साफ करके फैला दें। उस पर पतला लेप डैक्सट्राइन (Dextrine) का कर दें। पाण्डुलिपि से कुछ बड़ा उक्त प्रकार का टिश्यू कागज लेकर अब पाण्डुलिपि पर फैला दें और भीगे कपड़े या रूई के फाहे से इस कागज को पाण्डुलिपि पर दाब दें। इसी प्रकार पाण्डुलिपि की दूसरी ओर भी टिश्यू कागज लगा दें।

यदि डैक्सट्राइन पेस्ट न मिल सके तो स्टार्च या मैदा की पतली लेई से काम चलाया जा सकता है। आजकल सरेस या लेई का उपयोग किया जाने लगा है।

परतोपचार (लेमीनेशन)

परतोपचार के लिए एक यंत्र अपेक्षित होता है। ऐसा यंत्र भारतीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइब्स) में लगा है। यह बहुत व्यय-साध्य है। जो बहुत समर्थ ग्रन्थागार हैं वे नेशनल आर्काइब्स से विस्तृत जानकारी प्राप्त कर अपने भण्डार में यह दाब-यंत्र (प्रेस) लगवा सकते हैं। इस यंत्र से सैल्यूलोज ऐसीटेट फाइल के परत पाण्डुलिपि-पत्र के दोनों ओर जड़ दिये जाते हैं। पाण्डुलिपि के पत्रों को और पुष्ट करने के लिए टिश्यू कागज भी फॉइल के साथ-साथ जड़ दिया जाता है। यह यंत्र तो स्टीम से काम करता है। डब्ल्यू.जे. बरो (W.J. Barrow) ने एक विद्युत-चालित-यंत्र भी इसी कार्य के लिए निर्मित किया है। ये दोनों यंत्र ही व्यय-साध्य हैं।

हाथ से परतोपचार

किन्तु 1952 में भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार की प्रयोगशाला के श्री ओ.पी. गोयल ने एक नवीन प्रणाली का आविष्कार किया था जिसे हाथ से परतोपचार की प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली अब किसी भी ग्रन्थागार में काम में लायी जा सकती है। इसमें न दाब की आवश्यकता है न गर्मी पहुँचाने की आवश्यकता है।

एक पॉलिश किये हुए शीशे के तख्ते पर उपचार-योग्य पाण्डुलिपि का पत्र फैला दिया जाता है। उसे साफ करके ही बिछाना होता है। इसके ऊपर सैल्यूलोज ऐसीटोन फॉइल, जो मूल पाण्डुलिपि के पन्ने से चारों ओर से कुछ बड़ा हो, फैला देते हैं। इसी के आकार का एक टिश्यू कागज इस फॉइल पर भली प्रकार बिछा दें—अब रूई का एक फाहा लेकर उसे ऐसीटोन में डुबो कर पोले-पोले टिश्यू कागज पर मलें। इस प्रकार ऐसीटोन का हलका लेप टिश्यू पर हो जाता है, जिसमें से ऐसीटोन छनकर सैल्यूलोज फॉइल तक पहुँचता है और उसे अर्द्ध-प्लास्टिक बना देता है। इस प्रकार टिश्यू कागज को पाण्डुलिपि पर भली प्रकार चिपका लेता है। सूख जाने पर दूसरी ओर भी इसी प्रकार उपचार करना चाहिए।

इस विधि के कई लाभ स्वीकार किये गये हैं। एक तो व्यय अधिक नहीं, दूसरे, विधि सरल है, तीसरे, इसमें स्याही नहीं फैलती, कागजों पर लगी मुहरें भी जैसी की तैसी बनी रहती हैं।

पानी से भीगी पाण्डुलिपियों का उपचार

यदि पाण्डुलिपियाँ पानी में भीग गई हैं तो उन्हें तुरन्त बाहर निकाल लें और उनका उपचार करें, अन्यथा फफूंद आदि का भय रहता है।

तुरन्त बाहर निकाल कर पहले जितना पानी उनमें से निचोड़ा जा सके, निचोड़ लें। फिर उन्हें खोल-खोल कर कमरे के अन्दर रखें और बिजली के पंखे से हवा दें। साथ ही प्रत्येक पन्ने को एक-दूसरे से अलग कर दें, यदि कुछ पन्ने चिपके दिखायी दें, तो उनको हलके से मौथरें (बिना धार के) चाकू से हलके से एक-दूसरे से अलग कर दें। अब प्रत्येक दो पन्नों के बीच में मोमी कागज या ब्लॉटिंग (सोख्ता) का पन्ना लगा दें। अब उन्हें भली प्रकार दाब कर बचा पानी भी निकाल दें। इन्हें फिर बिजली के पंख के नीचे कमरे के

अन्दर सूखने के लिए फैला दें। ये या तो मेजों पर फैलाये जाय या फिर अरगनियों की डोरियों पर लटकाये जाय। यदि कहीं बिजली का पंखा न हो तो भण्डार-कक्ष के सभी दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दें, ताकि स्वच्छ वायु इन पाण्डुलिपियों को सुखा दें। इन्हें जब-तब लोटते-पलटते रहने की आवश्यकता है, जिससे इनमें सभी और हवा लग सके। ऐसी पाण्डुलिपियों को बिजली के हीटरों या धूप में नहीं सुखाना चाहिये।

इनके सूख जाने पर या तो इन पर बिजली का आइरन (इस्तरी) किया जाय या फिर अच्छी दाब में दाबा जाय।

जो कागज ढेर के ढेर एक साथ सूखे हैं, उनके कागज परस्पर चिपके मिलेंगे, अत: बहुत सावधानी से उपचार करना होगा। पहले इन्हीं भीगे ब्लॉटिंगों (सोख्तों) के बीच में रख कर या अन्य विधि से कुछ नम किया जाय, तब मौथरे चाकू से एक-दूसरे से हलके हाथ से अलग कर दिया जाय।

पं. उदयशंकर शास्त्री जी ने इसके लिए विधि बताते हुए लिखा है "इसकी उत्तम विधि यह है कि एक मटके में पानी भर कर रख दिया जाय, जब वह मटका पानी से बिल्कुल सीम जाय तब उसका पानी निकाल कर फैंक दें और ग्रन्थ को उसी में लकड़ी के एक गुटके के ऊपर रख दें और उस मटके का मुँह बन्द कर दें। कम से कम चार दिन के बाद ग्रन्थ को निकाल लेना चाहिये। इस पद्धति से ग्रन्थ के चिपके हुए पन्ने अपने-आप खुल जाते हैं।"[1]

रख-रखाव सम्बन्धी इन समस्याओं का स्थूल विवरण यहाँ दिया गया है जिससे मात्र दिशा-निर्देश होता है। फिर भी, इन समस्याओं के लिए तथा इनके अतिरिक्त और भी समस्याएँ सामने आ सकती हैं। उनके लिए इन विषयों के विशेषज्ञों से सहायता लेनी चाहिये। नेशनल आर्काइब्ज से हर प्रकार की सहायता मिल सकती है। आर्काइब्ज ने रख-रखाव का एक डिप्लोमा पाठ्यक्रम भी चलाया है।

कागज को अम्ल (Acid) रहित करना

कागज के जीर्ण होने के कारणों की भी खोज करने के प्रयत्न हुए हैं। बाह्य कारणों का उल्लेख हो चुका है। उनका पता तो लगा ही लिया है, पर कागज के अन्दर कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य हैं, जो उसके ह्रास के या उसकी जीर्णता के कारण बनते हैं, इस सम्बन्ध में बहुत अनुसन्धान, विशेषत: 18वीं और 19वीं शताब्दी के कागज पर किये गये हैं। निष्कर्ष यह निकाला कि कागज में अम्ल की अधिकता ही आंतरिक रूप से उसकी जीर्णता का कारण है, भले ही उसे आदर्श भण्डारों में रखा जाय, जहाँ तापमान 22-25^{o} से. और अपेक्षित नमी या आर्द्रता 45-55 प्रतिशत हो, कागज आन्तरिक अम्लता के कारण जीर्ण होगा। यह अम्लत्व कुछ तो उसमें बनाये जाने की प्रक्रिया में ही मिलता है, कुछ स्याही से तथा कुछ उन वस्तुओं से और वातावरण से जिनमें कागज रहता है।

---

1. शास्त्री उदयशंकर—भारतीय साहित्य (जुलाई, 1959)—पृ. 121।

अम्ल-निवारण

अत: यह आवश्यक हो गया कि कागज को निरोग करने के लिए उसे अम्ल-रहित किया जाय। डब्ल्यू.जे. बैरो (W.J. Barrow) ने इसके लिए बहुत कारगर चिकित्सा निकाली है। इस चिकित्सा में कैलसियम हाइड्रॉक्साइड और कैलसियम बाईकारबोनेट के घोल से कागज को स्नान कराते हैं। इससे कागज की अम्लता दूर हो जाती है तथा आगे भी अम्ल के प्रभाव से कागज की रक्षा हो जाती है, अत: अन्य बाह्य चिकित्साओं से पहले यह अम्ल-निवारण-चिकित्सा करनी चाहिये। राष्ट्रीय-अभिलेखागार (National Archives) में अम्ल-निवारण की जो पद्धति अपनायी जाती है, वह कुछ इस प्रकार हैं—

पहले दो घोल तैयार किये जाये—

(1) **कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का घोंल (घोल-1)**—5-8 लीटर की क्षमता का शीशे का जार (Jar) लेकर उसमें आधा किलो अच्छी किस्म का खूब पिसा हुआ कैलसियम आक्साइड लें और 2-3 लीटर पानी लें और थोड़ा-थोड़ा चूर्ण जार में डालते जाये और तद्नुसार पानी भी डालें और उसे हलके-हलके चलाते जायें। यों हिलाते-हिलाते समस्त चूर्ण और पानी मिल कर दूधिया क्रीम-सी बन जायेगी। यह क्रिया बहुत हलके-हलके करनी है। यह घोल बन जाये, 10-15 मिनट बाद इस घोल को 25-30 लीटर की क्षमता के इनामिल्ड (Enamelled) या पोर्सीलेन के जार में भर देना चाहिये। अब फिर हलके-हलके चलाते हुए इसमें पानी डालना चाहिये, इस प्रकार घोल का आयतन 25 लीटर हो जाना चाहिये, अब इसे निथरने के लिए कुछ देर छोड़ देना चाहिये। इससे चूना नीचे बैठ जायेगा। अब पानी को हलके से निथार कर अलग कर दिया जायेगा और अब फिर धीरे-धीरे चलाते-चलाते उसमें पानी मिलाइए, यहाँ तक कि आयतन में फिर 25 लीटर पानी हो जाय। इस घोल को बराबर और खूब चलाते जाना चाहिये। 25 लीटर पानी हो जाने पर पुन: चूने को तल में बैठने दें। इस प्रकार अपेक्षा से अधिक चूना तल में बैठ जायेगा। अब दूधिया रंग का पानी उसके ऊपर रहेगा। इसे निथार कर अलग कर लें। यही अपेक्षित घोल है, जो हमारे काम में आयेगा। बैठे हुए चूने में 25 लीटर पानी फिर मिलाइए और खूब अच्छी तरह चलाइए। फिर चूने को तल में बैठने दीजिए और ऊपर का दूधिया पानी निथार कर काम के लिये रख लीजिये। इस प्रकार वही मात्रा कैलसियम की 15-20 बार कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का काम घोल दे सकेगी।

अब दूसरा घोल तैयार करें।

(2) **कैलसियम बाईकार्बोनेट घोल (घोल-2)**—25-30 लीटर की क्षमता का इनामिल्ड या पोर्सीलेन के जार में 1/2 किलो बहुत महीन चूर्ण कैलसियम कार्बोनेट का घोल बनाये और उसे खूब चलाते-चलाते उसमें से कार्बन डाइऑक्साइड गैस 15-20 मिनट तक प्रवाहित करें। इससे कैलसियम बाइकार्बोनेट का अपेक्षित घोल मिल जाता है।

इसे बनाने की एक वैकल्पिक विधि भी है। पहले स्वच्छ (2) घोल को लेकर उसमें दुगना पानी मिलाइये, अब इस घोल को हिलाते-हिलाते चलाते-चलाते इसमें से कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित कीजिये, पहले इसका रंग सफेद हो जायेगा, तब भी चलाते-चलाते और गैस प्रवाहित करें, अब यह स्वच्छ जल जैसा घोल हो जायेगा। 30 लीटर के घोल को 30-48 मिनट तक गैसोपचार देना होता है। अपेक्षित घोल कैलशियम बाईकार्बोनेट का पाने के लिए।

जब ये दोनों घोल तैयार हो जाये तो निम्न विधि से पाण्डुलिपियों का निर्मलीकरण किया जाना चाहिये—

विधि

तीन इनामिल्ड तश्तरियाँ इतनी बड़ी कि उनमें अपने भण्डार से बड़ी पाण्डुलिपि समा सके, लें। एक तश्तरी में कैलशियम हाईड्रॉक्साइड का घोल (0.15 प्रतिशत का) दूसरी में ताजा स्वच्छ जल, तीसरी में कैलसियम बाइकार्बोनेट का घोल (0.15 प्रतिशत का) भर कर रखें। अब मोमी कागज (मोमी कागज की बजाय स्टेनलैस स्टील के तारों की बुनी पेटिका में रख कर भी डुबाया जा सकता है) पाण्डुलिपि के आकार से बड़ा लेकर उस पर पाण्डुलिपियों के इतने कागज रखें कि वे तश्तरियों के घोल में डूब सकें—उन्हें मोमी कागज नीचे रख कर कैलशियम हाइड्रॉक्साइड के घोल में डुंबा दें। 20 मिनट डूबे रहने दें, फिर निकाल कर पहले पाण्डुलिपियों में से घोल निचोड़ दें, तब दो मिनट के लिए इस पाण्डुलिपि को स्वच्छ जल में डुबो लें। अन्त में कैलशियम बाईकार्बोनेट के घोल में 20 मिनट तक रखें। उसमें से निकाल कर घोल निचोड़ देने के बाद फिर स्वच्छ जल में 2 मिनट के लगभग रखें। घोलों में और पानी में डुबोने पर तश्तरियों के घोलों और पानी को हलके-हलके तश्तरियों को एक ओर से कुछ उठा कर फिर दूसरी ओर से कुछ उठा कर हिलाते रहना चाहिये।

यह उपचार हो जाने के बाद पानी निचोड़ दें और कागजों के ऊपर दोनों और सोख्ते रख कर दाब से पानी सुखा दें, फिर उन्हें रैकों पर सूखने के लिए रख दें—यह ध्यान रखना होगा कि जब तक ये पूरी तरह न सूख जाय तब तक इनको उलटा-पलटा न जाय।

अमोनिया गैस से उपचार

उक्त उपचार उन्हीं पाण्डुलिपियों का हो सकता है, जिनकी स्याही पक्की है, और जो पानी में न तो फैलती हैं, न घुलती हैं, अतः उपचार से पहले स्याही की परीक्षा करनी होगी। यदि स्याही पर पानी का प्रभाव पड़ता है, तो उसके कागज के निर्मलीकरण करने के लिए एक अन्य विकल्प से काम लेना होगा। यह विकल्प है अमोनिया गैस से उपचार। इसके लिए खानों वाली ऐसी अलमारी की आवश्यकता होती है जिसके खानों के तख्ते चलनी की भाँति छेदों से युक्त होते हैं। इन पर पाण्डुलिपियाँ खोल कर फैला दी जाती हैं। अब 1 : 10 अनुपात में पानी में अमोनिया का घोल बना कर एक तश्तरी में सबसे नीचे के खाने के तल में रख दें। इस प्रकार अमोनिया गैस कागजों का निर्मलीकरण कर देगी।

चार-पाँच घण्टों के लिए अलमारी बिल्कुल बंद करके रखनी होगी। इसके बाद, इन पाण्डुलिपियों को 10-12 घण्टे स्वच्छ वायु में रखना होता है।

ताड़पत्र एवं भोजपत्र का उपचार

कीड़े-मकोड़ों से रक्षा के लिए तो पंड्री और घोड़ा बेच कपड़े में बाँध कर बस्तों में या अलमारियों में रखने से कीड़े-मकोड़े नहीं आते। आजकल नेफ्थलीन की गोलियाँ या कपूर से भी यह काम लिया जा सकता है।

तिरकने वाले (Brittle) ताड़ एवं भोजपत्रों का उपचार पहले कागज के लिए बताए शिफन-उपचार की विधि से किया जाना चाहिये। शिफन ताड़पत्र के आकार से चारों ओर से कुछ बड़ी होनी चाहिये, ताकि पत्रों के किनारे क्षतिग्रस्त न हो सकें। कुछ विशेष सुरक्षा के लिए शिफन-उपचारित पाण्डुलिपियों को पाण्डुलिपि के योग्य पुट्ठे के खोलों या बक्सों में रख देना चाहिये।

ताड़पत्रों एवं भोजपत्रों पर धूल जम जाती है, जो उन्हें क्षति पहुँचाती है। इनमें से जिनकी स्याही पानी से प्रभावित न होती हो उनकी सफाई पानी में ग्लिसरीन (1:1) का घोल बना कर उससे रूई के फाहे से करनी चाहिये। जिनकी स्याही पानी से प्रभावित होती हो, उनकी सफाई कार्बन टेट्राक्लोराइड या ऐसीटोन से की जानी चाहिये।

ताड़पत्र या भोजपत्र, जो काजल की स्याही से लिखे गये हैं, यदि उनकी स्याही फीकी पड़ जाये या उड़ जाये तो उनका उपचार नहीं हो सकता है, किन्तु यदि ताड़पत्र पर शलाका से कौर कर लिखा गया है तो उनकी स्याही उड़ जाने पर उपचार सम्भव है। तब ग्रेफाइट का चूर्ण रूई के पैड से उस ताड़पत्र पर मला जाता है और बाद में रूई के फाहे से उसे पोंछ दिया जाता है, जिससे ताड़पत्र में अक्षर स्याही से जगमगाते लगते हैं और ताड़पत्र स्वच्छ भी हो जाता है।

यदि ताड़पत्र या भोजपत्र चिपक जायें तो इन्हें तरल, गर्म पैराफीन में डुबोया जाता है और तब बहुत अधिक सावधानी से एक-एक पत्र अलग किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित है। बिना अभ्यास के पत्रों को अलग करने से ग्रन्थ की हानि हो सकती है, अतः दक्ष और अभ्यस्त हाथों से ही यह काम करना चाहिये।

ऊपर ग्रन्थों के रख-रखाव और सुरक्षा और मरम्मत के लिए जो उपचार दिये गये हैं, उनमें डैक्स्ट्राइन तथा स्टार्च की लेई का उपयोग बताया गया है। इनके बनाने की विधि निम्न प्रकार हैं

डैक्स्ट्राइन की लेई

डैक्स्ट्राइन	2.5 किलो
पानी	5.0 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरोल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

विधि

एक पीतल की देगची में पानी उबालने रखें। 90^0 से. का तापमान हो जाने पर डैक्स्ट्राइन का चूर्ण पानी में मिलाइये, धीरे-धीरे पानी को खूब चलाते जाइये ताकि डैक्स्ट्राइन समान रूप से मिले और गुठले न पड़ने पायें। 2.5 किलो डैक्स्ट्राइन इस विधि से मिलाने में 30-40 मिनट तक लग सकते हैं। अब इस घोल को बराबर चलाते जाइये और इसमें बेरियम कार्बोनेट और मिला दीजिये। तब लौंग का तेल और सफ्फरोल भी डाल दीजिये, और सबको एकमेल कर दीजिये। सबके भली-भाँति मिल जाने पर 6-8 मिनट तक पकाइये, तब आग से उतार लीजिये। डैक्स्ट्राइन की लेई तैयार है।

मैदे (स्टार्च) की लेई

मैदा	250 ग्राम
पानी	5.00 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरोल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

बनाने की विधि ऊपर जैसी है, केवल डैक्स्ट्राइन का स्थान मैदा ले लेती है।

चमड़े की जिल्दों की सुरक्षा

कुछ पाण्डुलिपियाँ चमड़े की जिल्दों में मिलती हैं। चमड़ा मजबूत वस्तु है और पाण्डुलिपि की अच्छी रक्षा करता है। फिर भी वातावरण के प्रभाव से कभी-कभी यह भी प्रभावित होता है जिससे चमड़ा भी तड़कने लगता है, अतः चमड़े की सुरक्षा भी आवश्यक है।

इसके लिए पहले तो चमड़े को निरम्ल करना होगा। एक मुलायम कपड़े की गदेली से पहले जिल्द के चमड़े से धूल के कण बिल्कुल हटा दें। फिर 1-2 प्रतिशत सोडियम बैनजोएट (Sodium Benzoate) के घोल से भीगे फाहे से जिल्द पर वह घोल पोत दें और जिल्द को सूख जाने दें।

इसके बाद नीचे दी गई वस्तुओं से बने मिक्शचर से उसे उपचारित करें—

(1) लेनोलिन एन्हीड्रस	300 ग्राम
(2) शहद के छत्ते का मोम	15 ग्राम
(3) सीडर वुड तेल	30 मि.ग्रा.
(3) बेनजीन (Benzene)	359 मि.ग्रा.

पहले बेनजीन को कुछ गरम करके उसमें मोम मिला दिया जाता है। तब सीडर-वुड तेल मिलाते हैं और बाद में लेनोलिन इस मिक्शचर को खूब हिला कर काम में लेना चाहिये। इसे एक ब्रुश से चमड़े पर भली प्रकार चुपड़ देना चाहिये। उसके सूख जाने पर

भण्डार में यथास्थान रख दिया जाना चाहिये। इससे चमड़े की आव पहले जैसी हो जाती है, और वह भली प्रकार पुष्ट भी हो जाता है।

यह मिक्शचर अत्यन्त ज्वलनशील है, अतः आग से दूर रखना चाहिये। यह सावधानी बहुत आवश्यक है।

वस्तुतः रख-रखाव का पूरा क्षेत्र 'प्रबन्ध-प्रशासन' के अन्तर्गत आता है। प्रबन्ध-प्रशासन एक अलग ही अंग है, जिस पर अलग से ही विचार किया जा सकता है। इसके लिए कितने ही प्रकार के प्रशिक्षण भी दिये जाने लगे हैं, यह सीधे हमारे क्षेत्र में नहीं आताहै, पर रख-रखाव का पाण्डुलिपि पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इसलिए कुछ चर्चा इस विषय की यहाँ भारतीय अभिलेखागार नेशनल (आर्काइब्ज) से प्रकाशित दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के आधार पर कर दी गई है।

इस विषय के अच्छे ज्ञान के लिए इन्हीं पुस्तकों में कुछ चुनी हुई उपयोगी सामग्री का विवरण भी दिया गया है, उस विवरण में से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

Back, E.A. — Book-worms.
पुस्तक-कीटों के सम्बन्ध में यह लेख 'द इंडियन आरकाइब्स' नामक पत्रिका के खण्ड संख्या 2, 1947 में निकला। यह पत्रिका 'नेशनल आर्काइब्ज ऑव इंडिया', नई दिल्ली का प्रकाशन है।

Barrow, W.J. — Manuscripts and Documents, Their Deterioration and Restoration.
यह पाण्डुलिपियों और अभिलेखों के ह्रास और चिकित्सा पर, 'यूनिवर्सिटी ऑव वर्जीनिया, प्रेस', शारलौटस विले, वरजीनिया का प्रकाशन है।

Barrow, W.J. — Procedure and Equipment in the Barrow Method of Restoring Manuscripts and Documents.
बरो प्रणाली से पाण्डुलिपियों और अभिलेखों की चिकित्सा की प्रविधि और उसके लिए अपेक्षित यंत्र-साधनादि पर यह कृति 'यूनिवर्सिटी ऑव वरजीनिया प्रेस' से प्रकाशित है।

Basu, Purnendu — Common Enemies of Records.
अभिलेखों के सामान्य शत्रुओं पर यह लेख 'द इंडियन आरकाइब्ज' के खंड-5, अंक 1, 1951 में प्रकाशित।

Chakravorti, S. — Vaccum Fumigation : A New technique for Preservation of Records.

	वाष्पीकरण से अभिलेखों की सुरक्षा पर यह कृति 'साइन्स एंड कल्चर' : अंक II (1943-44) में प्रकाशित।
	A Review of Lamination Process.
	परतोपचार चिकित्सा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइब्स' में खंड 1, अंक 4, 1947 में प्रकाशित।
Goel, O.P.	Repair of Documents with Cellulose Acetate on small scale.
	यह सेल्यूलोज एसीटेट चिकित्सा पर लेख 'इ इंडियन आरकाइब्ज' खंड 7, अंक 2, 1953 में प्रकाशित।
Gupta, R.C.	How to Fight White Ants.
	दीमक से रक्षा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइब्ज' खंड 8, अंक 2, 1954 में प्रकाशित।
Kathpadia, Y.P.	Hand Lamination with Cellulose Acetate.
	हाथ से सैल्यूलोज ऐसीटेट से परतीकरण चिकित्सा पर कृति 'अमेरिकन आर्किविस्ट', जुलाई, 1959 में प्रकाशित।
Majumdar, P.C.	Birch-bark and Clay-coated Manuscripts.
	भोजपत्र तथा मृद्लोपित पाण्डुलिपियों पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइब्ज' के खंड-11, अंक-1-2, 1956 में प्रकाशित।
Ranbir Kishore	The Preservation of Rare Books and Manuscripts.
	दुर्लभ ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों की सुरक्षा पर यह कृति 'द सनडे स्टेट्समेन' मार्च 1, 1955 में प्रकाशित।
Ranbir Kishore	Preservation and Repair of Palm-leaf Manuscripts.
	ताड़पत्र की पाण्डुलिपियों की सुरक्षा और चिकित्सा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइब्ज' खण्ड-14 (जनवरी 1961-दिसम्बर 1962) में प्रकाशित।
Talwar, V.V.	Records Materials : Their Deterioration and Preservation.
	अभिलेख सामग्री के रुग्ण होने और सुरक्षा पर यह कृति 'जनरल ऑव द मध्य-प्रदेश इतिहास परिषद', भोपाल, अंक-11 (1962) में प्रकाशित।

उक्त साहित्य से प्रस्तुत विषय पर कुछ और अधिक जानकारी मिल सकती है।

यहाँ हमने ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन और उसके साथ नवीन वैज्ञानिक रक्षा-प्रणालियों पर प्रकाश डाला है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाण्डुलिपि-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए रख-रखाव के विषय में इतना ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है।

उपसंहार

अब इस ग्रन्थ का समापन करते हुए इतना ही कहना और शेष है कि 'पाण्डुलिपि-विज्ञान' की वस्तुत: यह प्रथम पुस्तक है। इसमें विविध क्षेत्रों से आवश्यक सामग्री लेकर एक सूत्र में गूंथ कर एक नये विज्ञान की आधार-शिला प्रस्तुत की गई है, भरोसा यह है कि इससे प्रेरणा लेकर यह विज्ञान और अधिक पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होगा।

परिशिष्ट—एक

(प्रथम अध्याय के पृष्ठ 18 के लिए यह परिशिष्ट है)

कुछ और प्रसिद्ध पुस्तकालय

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
1.	2300 ई.पू. से पूर्व	ऐब्ले [आधुनिक तैल्लमारडिख (Tellmardich) के निकट]	सीरिया में मिट्टी की ईंटों पर लेख मिले हैं। इनकी लिपि क्यूनीफार्म रूप की है। इन ईंटों के लेखों को पढ़ने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। ऐब्ले में प्राचीन संस्कृति का केन्द्र था। वहीं यह पुस्तकालय था।
2.	324 ई.पू. से	तक्षशिला (सिकन्दर ने इसे बहुत समृद्ध और विशाल नगर पाया)	'मिट्टी के सनम' में श्री कृष्ण चन्दर ने लिखा है—''पंजा साहब से लौटकर टेकनला आए, जहाँ पुराने जमाने की सबसे पुरानी और ऐतिहासिक तक्षशिला यूनीवर्सिटी के खण्डहर खोदे जा रहे थे। तक्षशिला के एस्कीथियेटर, तक्षशिला के होस्टल, तक्षशिला के नहाने के तालाब यूनिवर्सिटी के दूसरे प्रबन्ध देख कर अक्ल दंग रह जाती है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व इस पुरानी यूनिवर्सिटी में शिक्षा-दीक्षा की कितनी उत्तम और उच्च व्यवस्था थी।'' (धर्मयुग, 27 फरवरी, 1966, पृष्ठ 31)। यहीं पाणिनि जैसे वैयाकरण ने, जीनक जैसे वैद्य ने, और चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री ने यहीं शिक्षा पायी थी। ऐसे विश्वविद्यालय में ऐसा ही महान् पुस्तकालय रहा होगा। इसमें क्या

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			संदेह किया जा सकता है? इसके गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में लिखा सोने का एक पत्तर जनरल कनिंघम को मिला था। इसमें एक आचार्य के पास 500 छात्र अध्ययन करते थे। इसमें विश्व ख्याति के कई आचार्य थे। "Takshila contained the celebrated University of Northern India (Rajovad-Jataka) up to the first century A.D. like Balabhi of Western, Nalanda of Eastern, Kanchipura of Southern and Dhanakataka of Central India."
3.	246 ई.पू. से पूर्व	पाटलिपुत्र/पटना	246 ई.पू. में तृतीय बौद्ध परिषद् हुई थी। इसमें बौद्ध-सिद्धान्त ग्रन्थों पर चर्चा हुई थी। पाटलिपुत्र अजातशत्रु के दो मन्त्रियों ने बसाया था। मौर्यकाल में यह विशिष्ट विद्या का केन्द्र था।
4.	140 ई.पू.	काश्मीर	पंतजलि काश्मीर में रहे थे।
5.		काश्मीर सरस्वती मंदिर, काश्मीर	यहाँ से आठ व्याकरण ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य के लिए मंगाये गये थे।
6.	80 ई.पू.	लंका	बौद्ध ग्रन्थ लिपिबद्ध किये गये थे।
7.		लंका—हंगुरनकेत, विहार (कडि जिले में)	इसके चैत्य में हजारों रुपये के बहुमूल्य ग्रन्थ गढ़वा दिये गये थे। चाँदी के पत्रों पर 'विनय पिटक' के दो प्रकरण, अभिधम्म के सात प्रकरण तथा 'दीर्घनिकाय' गढ़वाये गये थे।
8.		पेइचिङ्	चीन का यह पुस्तकालय भी प्राचीन होना चाहिए। तुनह्वाङ की शेष 8000 वलिताएँ इसी पुस्तकालय में भेज दी गयी थीं। (डॉ. लोकेशचन्द जी ने बताया है कि उनके पिताजी

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			डॉ. रघुवीर इन 8000 वलिताओं की माइक्रोफिल्म करा लाये थे। ये उनके संग्रह में हैं)।
9.	126 ई.	उज्जैन	उज्जैन बहुत पुराना नगर है। भारतीय संस्कृति का यहाँ स्रोत था। सम्राट् अशोक यहाँ रहे थे। विक्रमादित्य की राजधानी थी। यह नव-रत्नों की नगरी है। यहाँ ग्रन्थागार थे। भगवान कृष्ण के गुरु सांदीपनि का आश्रम अंकपाद उज्जैन से कुछ ही दूर है। महाभारत युग में यहाँ प्रसिद्ध विद्यापीठ था, भर्तृहरि की गुफा भी उज्जैन में है। भर्तृहरि विद्वान और योगी थे। उनके पास भी अच्छा ग्रन्थागार था।
10.	160 ई.	आडिवीसां (उड़ीसा)	नागार्जुन ने विहार स्थापित कराये। इनमें पुस्तकालय होंगे ही।
11.	160 ई.	धान्यकूट	नागार्जुन ने यहाँ के मन्दिरों की परिख (Railing) बनवायी। नागार्जुन ने बौद्ध विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था, पुस्तकालय होगा ही।
12.	222 ई.	मध्य भारत	यहाँ से धर्मपाल इस वर्ष चीन गया। चीन में इसने 'पाति मोख्ख' का अनुवाद 250 ई. में किया था।
13.	241 ई.	बू का राज्य	Sang-hurui श्रमण ने विहार वनवाया। 251 ई. में अनुवाद कार्य आरम्भ किया।
14.	252 ई.	लोपांग (चीन)	अनुवाद पीठ। 313 से 317 तक 'तुनह्वाङ' के श्रमण धर्मरक्ष ने अनुवाद कार्य किया।
15.	366 ई.	तुनह्वाङ (मध्य एशिया) [गोवी रेगिस्तान के किनारे]	इसमें 30,000 वलिताएँ थीं। 1957 वि. में अनायास ही इनका पता चला था। सहस्र बुद्ध गुफा के चैत्थ की

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			कुछ पाण्डुलिपियाँ भारत में मध्य एशियाई संग्रहालय में हैं। (266 ई. में 'चुफान्हु' अर्थात् 'धर्मरक्ष' श्रमण तुनह्वाङ लोपांग गया था। 366 से 100 वर्ष पूर्व ही 'तुनह्वाङ' में अच्छा पुस्तकालय स्थापित हो चुका होगा।)
16.	381 ई.	कुभा	यहाँ के श्रमण संघभूति ने चीनी भाषा में अनुवाद किया।
17.	383 ई.	चंग-अन (चीन)	गौतम संघ देव का अनुवाद पीठ था।
18.	383 ई.	लिअंग-पाउ (चीन)	कुमार जीव श्रमण ने यहाँ बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद सन् 402 से 412 के बीच किया।
19.	500 ई. से पूर्व	थानेश्वर विश्वविद्यालय	इसका उल्लेख ह्वेनसांग ने भी किया है। हर्ष के गुरु 'गुणप्रभ' का इस विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रहा होगा।
20.	568 ई. से पूर्व	दुड्डा बौद्ध विहार (वलभी)	वलभी सौराष्ट्र की राजधानी था। यहाँ 84 जैन मन्दिर थे। यह बौद्ध विद्या-केन्द्र हो गया था। विश्वविद्यालय और पुस्तकालय यहाँ थे। Balabhi......It became the capital of Saurashtra of Gujrat. It contained 84 Jain temples (SRAS XIII, 159) and afterwards became the seat of Buddhist learning in Western India in the seventh century A.D., as Nalanda in Eastern India (Ancient Geographical Dictionary).
21.	630 ई. से पूर्व	नालंदा	ह्वेनत्सांग के भारत आगमन के समय यह प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। उस समय इसमें धर्मपाल के शिष्य और उत्तराधिकारी शीलभद्र, भावाविवेक, जयसेन, चन्द्रगोमिन, गुणमति, वसुमित्र, ज्ञानचन्द्र एवं रत्नसिंह आदि प्रसिद्ध विद्वान् यहाँ प्राध्यापक थे।

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			इनका उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। ज्ञानचंद्र एवं रत्नसिंह इत्सिंग के भी प्राध्यापक थे, ऐसा इत्सिंग ने लिखा है। ह्वेनसांग के समय में 10000 भिक्षु इसमें रहते थे।
22.	8वीं शती ई.	विक्रम शिला (बिहार)	इसे धर्मपाल ने स्थापित किया था, ऐसा विश्वास है। इनके समय में इसके प्रमुख थे— श्रविद्ध ज्ञान पाद। इसके छह द्वार, जिन पर एक-एक विद्वान् पण्डित नियुक्त था। इस विश्वविद्यालय में वही व्यक्ति प्रवेश पा सकता था, जो शास्त्रार्थ में इन द्वार-पण्डितों को हरा देता था। 12वीं शती में इसे बख्त्यार खिलजी ने नष्ट कर दिया था।
23.	10वीं शती से पूर्व	सरस्वती महल तंजौर	इसे महाराजा सरफोजी ने सन् 1778-1832 के बीच विशेष समृद्ध किया था।
24.	1010 ई.	धार, भोज भाण्डागार	राजा भोज की नगरी थी। यहाँ भोज द्वारा स्थापित विद्यालय एवं पुस्तकालय थे। सिद्धराज जयसिंह इसे अन्हिलवाड़ा ले गये थे।
25.	11वीं शती से पूर्व	जैन भण्डार, जैसलमेर	श्री भण्डारकर ने बताया है कि यहाँ एक नहीं दस पुस्तक संग्रह हैं। (प्रकाशन संदेश, पृष्ठ 7, अगस्त-अक्टूबर, 65)।
26.	1140 ई.	भोज भण्डारगार	सिद्धराज जयसिंह की मालव विजय पर अन्हिलवाड़ा गया।
		उदयपुर	11 पुस्तकालय
		बीकानेर	19 पुस्तकालय
		हनुमानगढ़	1 पुस्तकालय
		नागौर	2 पुस्तकालय
		अलवर	6 पुस्तकालय
		किशनगढ़	1 पुस्तकालय

(उदयपुर से किशनगढ़ तक:) श्री भण्डारकर ने ये पुस्तकालय देखे थे।

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
27.	1242–1262 ई.	चालुक्य-भाण्डागार, अन्हिलवाड़ा	चालुक्य बीसलदेव या विश्वमल्ल का।
28.	आदिम युग (1520 ई. से कुछ पूर्व इसका उद्घाटन स्पेनवासी लोगों ने किया था)	तक्षकोको (प्राचीन मैक्सिको)	स्पेन के हरनंडी कार्टेज ने दिसम्बर, 1520 में तक्षकोको नगर पर विजय प्राप्त की। इस आक्रमण में यहाँ का एक विशाल पुस्तकालय जला दिया गया। इसमें अनगिनत अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ थे।
29.		युकातान (प्राचीन मैक्सिको)	युकातान प्रांत में मय जाति की हजारों हस्तलिखित पुस्तकों के भण्डार थे। डीगो द लंदा नाम के स्पेनी पादरी ने उन सबकी होली जलवा दी। यह सब 16वीं शताब्दी में हुआ। (कादम्बिनी, मार्च, 1975)
30.	1540 ई. के लगभग	मुल्ला अब्दुल कादिर (अकबरी दरबार) के पिता, मलूकशाह का पुस्तकालय, बदायूँ	हेमू ने नष्ट किया।
31.	1556 ई. के लगभग	आगरा	अकबर का शाही पोथीखाना। 30,000 ग्रन्थ थे।
32.		पद्मसम्भव द्वारा स्थापित तिब्बत का साम्येविहार पुस्तकालय	संस्कृत-तिब्बती भाषा के ग्रन्थों का भण्डार था।
33.	1592 ई. के लगभग	आमेर-जयपुर पोथीखाना	राजा भारमल्ल के समय से आरम्भ। 16000 दुर्लभ ग्रन्थ। 8000 महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सूची पत्र 1977 में श्री गोपाल नारायण बोहरा द्वारा सम्पादित, प्रकाशित। आमेर-जयपुर राजघराने ने अपने 400 वर्षों के राज्य-काल में इस संग्रह को समृद्ध बनाया।
34.	19वीं शती से पूर्व	अस्त्राखान (रूस)	पाण्डुलिपि भण्डार है। अग्रदास कृत ध्यान मंजरी की प्रतिलिपि अस्त्राखान

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			में 1808-9 ई. में की गयी। यहाँ हिन्दी और पंजाबी की भी पुस्तकें मिली है। यहाँ बुखारा में प्रतिलिपि की गयी अनेक हिन्दी पुस्तकें मिली हैं। गुरु विलास तो सचित्र है। (धर्मयुग, 21 अक्टूबर, 1973)
35.	1871 ई. से पूर्व	बुखारा	यहाँ पुस्तकालय होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से अनेक ग्रन्थ प्रतिलिपि होने के बाद अस्त्राखान गए। (धर्मयुग, 8 मार्च, 1970, पृ. 23)
36.		खुत्तन	वही।
37.		काशगर	वही।
38.		दंदा उइलिक	यहाँ ग्रन्थ भण्डार होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से ही एक असली ब्राह्मी ग्रन्थ नकली ग्रन्थ तैयार करने वाले इस नाम अखुन के पास मिला था। यहाँ के खंडहरों में दबे अन्य ग्रन्थ भी मिले थे।
39.		प्राच्य विद्या मन्दिर, बड़ौदा	यहाँ अनेक पाण्डुलिपियों से वाल्मीकि रामायण का पाठ संशोधन हो रहा है।
40.		लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद	इसमें अच्छे हस्तलेख उपलब्ध हैं। एक 676 पृष्ठों की सचित्र तुलसी कृत रामचरितमानस है जिसमें एक पंक्ति नागरी में और एक पंक्ति फारसी लिपि में है, (सम्भव है यह कृति 18वीं शती की होगी।)
41.	11 मार्च, 1891 को स्थापित	राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली	1. स्थापना के समय इसका नाम था—'इंपीरियल रेकार्ड डिपार्टमेन्ट'। 2. नई दिल्ली के भवन में आने पर इसे 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' का नाम दिया गया।

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			इसमें महत्त्वपूर्ण अभिलेख तो सुरक्षित हैं ही, 1 लाख के लगभग ग्रन्थ भी हैं। माइक्रोफिल्म के रूप में भी लाखों पृष्ठों की सामग्री संगृहीत है।
42.	1891	पटना : खुदाबख्श आरियंटल पुस्तकालय	इसमें 12000 पाण्डुलिपियाँ हैं और 50,000 मुद्रित पुस्तकें। यह पहले खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था। खुदाबख्श को अपने पिता मुहम्मदबख्श (1815–1876) में उत्तराधिकार में मिला था। खुदाबख्श ने उसमें बहुत वृद्धि की और 1891 में उसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप दे दिया। इसमें कुरान का एक पन्ना 1300 वर्ष पुराना सुरक्षित है। हाफिज का दीवान अत्यन्त मूल्यवान माना जाता है। इस पर हुमायूँ, जहाँगीर और शाहजहाँ के हस्ताक्षरों में कुछ टीपें हैं। 400 वर्ष पुरानी अरबी की पुस्तकों में कुछ वे पुस्तकें भी हैं जो सुन्दर हस्तलिपि में स्पेन की पुरानी राजधानी कोसेडोला में लिखी गयी थी। हिन्दी की भी कुछ ऐसी पुस्तकें जो ज्ञात नहीं थी, इस पुस्तकालय में मिली हैं। अब तक इसके तीस सूची पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हें वैपटिस्ट मिशन प्रेम, कलकत्ता ने छापा है। इनमें केवल पुस्तकालय की आधी पुस्तकों का ही विवरण है। इन सूची–पत्रों को आदर्श माना जाता है।
43.	1904 ई. के आसपास (ब्यूहलर के अनुसार)	भारतीय भाण्डारगार, या सरस्वती भाण्डारगार या शास्त्र भाण्डार	

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
44.		उज्जैन : सिंधिया पुस्तकालय	इसमें 10000 के लगभग पुस्तकें हैं। इनमें ढाई हजार के लगभग दुर्लभ ग्रन्थ हैं। इसमें एक ग्रन्थ गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ है। यह चालीस पृष्ठों का है। इस पुस्तकालय ने यह ग्रन्थ काश्मीर के गिलगिट क्षेत्र से बीस वर्ष पूर्व प्राप्त किया था। पाँच सौ वर्ष पूर्व के भोज पत्र पर लिखे ग्रन्थ भी इसमें हैं। इसी प्रकार ताड़ पत्र पर सुन्दर हस्तलिपि में लिखे 25 ग्रन्थ भी हैं। मुगलकालीन अदालत और काश्मीर के शासक के बीच हुए पत्राचार के मौलिक दस्तावेज यहाँ सुरक्षित हैं, ये फ़ारसी में हैं।
45.	1912	भरतपुरा : श्रीगोपालनारायण सिंह ने इसे निजी पुस्तकालय के रूप में विकसित किया	इसमें लगभग चार हजार पाण्डुलिपियाँ हैं। इसमें सबसे पुरानी लिखी पुस्तकें ताड़पत्र वाली हैं। उसके बाद क्रम में भोजपत्र की पुस्तकें आती हैं, तब पुराने कागज की पुस्तकें। इस ग्रन्थागार की ये पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं : 'शाहनामा', यह फिरदौसी की कृति है। यह 500 पृष्ठों का ग्रन्थ है। इसमें 52 चित्र हैं। पृष्ठों के बीच में जो चित्र हैं वे सोने और नीलम के रंगों से बनाये गए हैं। यह कृति काबुल-कंधार के सूबेदार अली मर्दानखाँ ने अकबर को भेंट की दी थीं। सिकन्दरनामा 17वीं शती से पूर्व की कृति है। लेखक हैं—निजामी। इसमें भी चित्र हैं। सोने और नीलम के रंगों का प्रयोग इनमें भी है।

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			'मुताउल हिन्द' अकबर के हकीम सलामत अली की कृति है। यह विश्व कोष है। इसमें दर्शन, गणित और भौतिक विज्ञान, रसायन और संगीत पर भी अच्छी सामग्री है।
46.		नैपाल : दरबार पुस्तकालय	यह ताड़पत्र की पाण्डुलिपियों के लिए प्रसिद्ध है। 448 पाण्डुलिपियाँ महामहोपाध्याय ह.प्र., शास्त्री जी ने बतायी थी, सन् 1898-99 ई. में।
47.		नैपाल : यूनीवर्सिटी पुस्तकालय	इसमें 5000 पाण्डुलिपियाँ शास्त्री जी ने बतायी हैं।
48.		पूना : भंडारकर रिसर्च	
49.	1320 ई.	इंस्टीट्यूट, विजयनगर	तुंगभद्रा के तट पर। यादव वंश के राज्य-काल में विद्या का केन्द्र। प्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य यहीं के राजा के मन्त्री थे।
50.	14वीं शती ई.	मिथिला = तिरहुल	यह हिन्दू विद्या का केन्द्र था। यहाँ के ब्राह्मण राजाओं के समय में महाकवि मैथिल कोकिल विद्यापति हुए थे। राजा का नाम था शिवसिंह।
51.	14वीं-15वीं शती	नदिया/नवद्वीप	यह चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव स्थल है। यह भी हिन्दू-विद्या केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।
52.	7वीं शती ई. से पूर्व	दुर्वासा आश्रम विक्रमशिला संघाराम	यहाँ गुफाएँ हैं जो पहाड़ों में खुदी हुई हैं। चंपा की यात्रा में ह्वेनसांग यहाँ आया था। बौद्ध तीर्थ है।
53.	443 ई.पू. 377 ई.पू. से पूर्व	वैशाली	यह वृज्जियों/लिच्छवियों की राजधानी थी। यहाँ बौद्ध धर्म का द्वितीय संघ सम्मेलन हुआ था। इससे यहाँ धार्मिक ग्रन्थागार था, यह अनुमान किया जा सकता है।

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
54.	प्रावैदिक/वैदिक	काशी	यहाँ भी 'तक्षशिला' जैसा विद्या केन्द्र था। 500 विद्यार्थियों को पढ़ाने की क्षमता वाले आचार्य यहाँ थे। तक्षशिला की भाँति ही यह वैदिक शिक्षा और विद्या के लिए प्रसिद्ध था।
55.	वैदिक काल	नैमिषारण्य	भृगु वंशी शौवक ऋषि का ऋषिकुल नैमिषा राज्य में था। इसमें दस सहस्र अन्तेवासी रहते थे।
56.	रामायणकाल	प्रयागः भारद्वाज आश्रम	इस काल का यह विशालतम आश्रम था। यह भारद्वाज ऋषि का आश्रम था।
57.	रामायणकाल	अयोध्या	अयोध्या नगर के पास ब्रह्मचारियों के आश्रम और छात्रावासों का रामायण में उल्लेख है।
58.	7वीं-8वीं शती से पूर्व	ओदन्तपुरी (बिहार शरीफ)	पाल वंश को स्थापित करने वाले गोपाल ने यहाँ एक बौद्ध विहार बनवाया था।
59.	1801 ई. में स्थापित	इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन	इसमें 250000 मुद्रित पुस्तकें : 175000 पूर्वी भाषाओं में शेष यूरोपीय भाषाओं में। पूर्वी में 20000 हिन्दी की, 20,000 संस्कृत-प्राकृत की, 24000 बंगला की, 10,000 गुजराती की, 9000 मराठी की, 5000 पंजाबी की, 15000 तमिल की, 6000 तेलुगु की, 5500 अरबी की, 5500 फारसी की हैं। ''भारतीय विषयों पर यूरोपीय भाषाओं में लिखे 2000 हस्तलेख हैं। पूर्वी भाषाओं के हस्तलेख 20,000 हैं। यहाँ 8300 संस्कृत के, 3200 अरबी के, 4800 फारसी के, 1900 तिब्बती के, 160 हिन्दी के, 30 बंगला के, 140 गुजराती के, 250 मराठी के, 50 उड़िया के,

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
			60 पश्तों के, 270 उर्दू के, 250 बर्मी के, 110 इंडोनेशिया के, 111 मो-सो के, 21 स्यामी के, 70 सिंघली के, 23 तुर्की के हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। और भी बहुत से अभिलेख हैं। (21 दिसम्बर, 1969 के धर्मयुग में प्रकाशित श्री जितेन्द्र कुमार मित्तल, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय के लेख, इंगलैण्ड में भारतीय अनुसंधान की विरासत के आधार पर।)''

भारतीय संग्रहालय जिनमें पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं

क्रमांक	नाम	स्थापित	विवरण
1.	मद्रास संग्रहालय	1851 ई.	400 ताम्र पत्र ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।
2.	नागपुर संग्रहालय	1863 ई.	नागपुर में भौंसले राजवंश की पाण्डुलिपियाँ हैं।
3.	लखनऊ संग्रहालय	1863 ई.	सचित्र पोथियाँ, कुण्डली प्रकार की पोथी आदि हैं।
4.	सूरत विचेंस्टर संग्रहालय	1890 ई.	जैनधर्म के कल्पसूत्रों की पाण्डुलिपियाँ, ताम्रलेख ताड़पत्रीय पोथियाँ, चित्रित जन्मपत्रियाँ आदि हैं।
5.	अजमेर संग्रहालय	1908 ई.	इसमें शिला लेखांकित नाटक सुरक्षित हैं।
6.	भारत कला भवन, वाराणसी	1920 ई.	रामचरितमानस की सचित्र प्रति।
7.	मध्य एशियाई संग्रहालय	1929 ई.	आरचेस्टीन द्वारा लायी गयी तुनहाङ की 'सहस्र बुद्ध गुफा' से प्राप्त अगणित पाण्डुलिपियाँ, रेशमी पेड़ सुरक्षित।
8.	आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता	1937 ई.	कागज पर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ नेपाल से प्राप्त, 1105 ई. की यहाँ हैं।

क्रमांक	नाम	स्थापित	विवरण
9.	गंगा स्वर्ण जयन्ती संग्रहालय, बीकानेर	1937 ई.	सचित्र तथा अन्य दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ।
10.	अलवर संग्रहालय	1940 ई.	इसके पाण्डुलिपि विभाग में 7000 पोथियाँ सुरक्षित हैं जो संस्कृत, फारसी, हिन्दी आदि की हैं। हाथी दाँत पर लिखित पुस्तक 'हफ्त वद काशी' भी इसमें है। यह अस्थि या दाँत के लिप्यासन वाली पाण्डुलिपियों का उदाहरण है।
11.	कोटा संग्रहालय		अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं, कुंडली प्रकार की भी हैं, और एक इंच परिमाण की मुष्टा भी है।
12.	प्रयाग संग्रहालय		विभिन्न युगों और शैलियों की मूल्यवान सचित्र पाण्डुलिपियाँ हैं।
13.	राष्ट्रीय संग्रहालय		सचित्र पोथियाँ।
14.	शिमला संग्रहालय		मुल्ला दाऊद का 'लोरचन्दा' की पाण्डुलिपि का कुछ अंश यहाँ उपलब्ध है।
15.	सालार जंग संग्रहालय, हैदराबाद		अट्ठारहवें कक्ष में दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ हैं।
16.	कुतुबखाना-ए-सैयदियी, टौंक		

इस परिशिष्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकालयों या ग्रन्थागारों का उल्लेख दिया गया है। इनमें से बहुतों का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। वे ग्रन्थागार, वे विश्वविद्यालय, वे विहार और संघाराम आज अतीत के गर्भ में खो चुके हैं। इनसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि संसार में किस समय ग्रन्थागारों का कितना महत्त्व था। इस सूची में कितने ही स्थानों पर, ग्रन्थागार होने की सम्भावना अनुमान के आधार पर मानी गई है। जहाँ विशाल विश्वविद्यालय होंगे, जहाँ संघाराम एवं विहार होंगे, जहाँ अनुवाद करने कराने के केन्द्र होंगे, जहाँ परिषदें हुई होंगी, वहाँ पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रन्थागार होंगे ही।

उक्त सूची में इन ग्रन्थागारों के विद्यमान होने का वर्ष भी दिया गया है। ये भी अधिकांशतः अनुमानाश्रित ही हैं। पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से इन ग्रन्थागारों के संकेत से, उनमें स्थान और स्थूल विशेषताओं से कुछ आवश्यक सामान्य ज्ञान मिल जाता है।

❑❑❑

परिशिष्ट—दो

काल-निर्धारण : तिथि विषयक समस्या

काल-निर्धारण में 'तिथि' विषयक एक समस्या तब सामने आती है जब तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी के नाम से किया जाता है। उदाहरणार्थ—'वीरसतसई' का यह दोहा है—

''बीकम बरसां बतियो, गणचौचन्द गुणीस।
बिसहर तिथ गुरु जेठ बदि, समय पलट्टी सीस।''

डॉ. शम्भूसिंह मनोहर ने बताया है कि—

''विषहर तिथि का यहाँ सीधा-सादा एवं स्पष्ट अर्थ है—'पंचमी' (विषधर की तिथि)।'' आगे बताते हैं कि ''वंश भास्कर'' में सूर्यमल्ल ने तिथि निर्देश में प्रायः एक विशिष्ट पद्धति का अनुसरण किया है। वह यह कि उन्होंने कहीं-कहीं तिथियों का ज्योतिषशास्त्र में निर्देशित उनके स्वामियों के आधार पर नामोल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—त्रयोदशी को कवि ने वंशभास्कर में 'मनसिज तिथ' कह कर ज्ञापित किया है, क्योंकि त्रयोदशी का स्वामी कामदेव है, यथा—

सक खट बसु सत्रह 1786 समय,
उज्ज मास अवदात।
कूरम मालव कुंच किय,
मनसिज तिथ अवदात॥

इसी भाँति चतुर्दशी को उन्होंने 'शिव की तिथि' कह कर सूचित किया है, चतुर्दशी के स्वामी शिव होने के कारण—

''संवत मान अंक वसु सत्रह 1789।
अरु सित बाहुल भालचन्द अह॥''

इस विवेचन से स्पष्ट है कि तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी या देवता के नाम से भी किया गया। ''ज्योतिष तत्त्व सुधार्णक'' नामक ज्योतिष ग्रन्थ में तिथियों के स्वामियों/देवताओं के नाम इस श्लोक द्वारा बताये गए हैं—

अथ तिश्यधिदेवनामाह—

अग्निः प्रजापति गौरी गणेशोऽहि गुरु रविः।
शिवो दुर्गान्तको विश्वोहरिः कामो हरः शशी।
पितर; प्रति पदादीना तिथीनामधियाः क्रमात्॥ इति॥

—वीरसतसई का एक दोहा : एक प्रत्यालोचना, ले.डॉ. शम्भूसिंह मनोहर, 'विश्वम्भंरा', वर्ष 7, अंक 4, 1972।

परिशिष्ट—तीन

ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.) : कीर्तिलता, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (1962)
2. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.) : पद्मावत, संजीवनी भाष्य—वही।
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.) : हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना 1964।
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ.) तथा सत्येन्द्र (डॉ.) : पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा, 1952।
5. आर्य मंजु श्री कला : त्रिवेन्द्रम सीरीज।
6. उपाध्याय, वासुदेव (डॉ.) : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना 61।
7. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : भारतीय प्राचीन लिपि माला, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली (59)।
8. कौशल, रामकृष्ण : कमनीय किन्नौर।
9. गरुड़ पुराण
10. गुप्त, किशोरीलाल (डॉ.) : सरोज सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (1967)।
11. गुप्त, जगदीश (डॉ.) : प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1967)।
12. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.) : तुलसीदास, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, 1953।
13. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.) : पृथ्वीराज रासो, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।
14. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.) : बसंत विलास और उसकी भाषा, क.मु. हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा।
15. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.) : राउर बेल और उनकी भाषा, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि., इलाहाबाद, 1962।
16. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.), नाहटा अगरचन्द : बीसलदेव रास।

17. गैरोला, वाचस्पति : अक्षर अमर रहें।

18. जैन समवायांग सूत्र

19. टॉड, कर्नल जेम्स : पश्चिमी भारत की यात्रा, मंगल प्रकाशन, जयपुर।

20. तिवारी, भोलानाथ (डॉ.) : भाषा विज्ञान, किताब महल, इलाहाबाद, (1977)।

21. तुलसीदास : दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर (1960)।

22. तुलसीदास : रामचरितमानस, साहित्य कुटीर, प्रयाग (1949)।

23. दलाल, चिमनलाल द. : लेख पद्धति, बड़ौदा केन्द्रीय पुस्तकालय, (1925)।

24. दशकुमार चरित

25. दश वैकालिक सूत्र हरिभद्री टीका

26. दैवी पुराण

27. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (डॉ.) : संदेश रासक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार (प्राइवेट) लि., बम्बई, 1965।

28. द्विवेदी, हरिहरनाथ : महाभारत (पांडवचरित) विद्या मन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर, 1973।

29. नाथ, राम (डॉ.) : मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (1973)।

30. पत्र कौमुदी

31. पद्म पुराण

32. पन्नवणा सूत्र

33. प्रवीण सागर : हस्तलिखित — पं. कृपाशंकर तिवारी का व्यक्तिगत संग्रह, जयपुर।

34. भारद्वाज, रामदत्त, डॉ. : गोस्वामी तुलसीदास, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली (1962)।

35. मजूमदार, मंजुलाल : गुजराती साहित्य ना स्वरूप।

36. मत्स्यपुराण

37. मनोहर, शम्भूसिंह (डॉ.) : ढोला मारु रा दूहा, स्टूडेण्ट बुक कम्पनी, जयपुर, 1966।

38. माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ.) : जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, बी.आर. पब्लिकेशन्स, कलकत्ता, 1970।

39. मिश्र, गिरिजाशंकर प्रसाद (अनुवादक) : भारतीय अभिलेख संग्रह, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

40. मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु विनोद, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ (1972)।

41. मुनि जिनविजयजी : विज्ञप्ति त्रिवेणी।

42. मुनि पुण्यविजयजी : भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला।

43. राज, जोन : राज तरंगिणी।

44. लेफमन्न, एस. : ललित विस्तर, हाले (1902)।

45. वर्णक समुच्चय

46. वृहद् कल्प-सूत्र

47. शर्मा, नलिन विलोचन : साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1960)।

48. शर्मा, बंशीलाल (डॉ.) : किन्नौरी लोक साहित्य, ललित प्रकाशन, लैहडी सटेल, विलासपुर (1976)।

49. शर्मा, हनुमानप्रसाद : जयपुर का इतिहास।

50. शार्ङ्गधर पद्धति

51. शुक्ल, जयदेव (सं.) : वासवदत्ता कथा।

52. सत्येन्द्र (डॉ.) : अनुसन्धान, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी।

53. सत्येन्द्र (डॉ.) : ब्रज साहित्य का इतिहास, भारती भण्डार, इलाहाबाद (1967)।

54. सिंह, उदयभानु (डॉ.) : तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (67)।

55. सिन्हा, सावित्री (डॉ.) : अनुसन्धान प्रक्रिया, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

56. सेंगर, शिवसिंह : शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, लखनऊ, 1966।

57. Agrawal, V.S. (Dr.) : India as known to Panini, University of Lucknow, Lucknow (1953).

58. Agarwalla, N.D. : On Common Script, Bharat Art Press, Calcutta (68).

59. Basu, Purendu : Archives & Records : What are they?

60. Bhargava, K.D. Kumar : Repair and Preservation of Records.

61. Bhattacharyya, Harendra : The Language of Scripts of Ancient India.
Warner, R.M.

62. Bordin, R.B. and : The Modern Manuscript Library. The Scerecrow Press Inc., New York-66.

63. Brown, W. Norman (Dr.) : The Mahimnstava.

64. Buhler, G. : Indian Palaeography, Firme K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta-62.

65. Buhler, G. : Inseription Report.

66. Burgess, James : The Chronology of Indian History, Cosmo Publication, Delhi-72.

67. Clodd, E. : The Story of the Alphabet.

68. Dani, Ahmad Hassan : Indian Palaeography, Clarendu Press Oxford-63.

69. Diringer, David : The Alphabet.

70. Diringer, David : Writing, Thomas & Hudson, London-62.

71. Duff. C. Mabel : The Chronology of Indian History, Cosmo Publications, Delhi-72.

72. Edgerton, Franklin : The Panchtantra Reconstructed. American Oriental Society, U.S.A. 1929.

73. Francis, Frank : Treasures of the British Museum.

74. Hall, F.W. : Companion to Classical Text.

75. Hunter, G.R. : The Script of Hadappa & Mohanjodero and its connection with other Scripts.

76. Kane, P.V. : Sahityadarpan.

77. Kashliwal, K.C. (Dr.) : Jain Granth Bhandars in Rajasthan.

78. Kielhorn, F. : Examination of questions connected with the Vikram Era.

79. Manuscripts from Indian Collection.

80. Martin, H.J. : The Origin of Writing.

81. Masper : The Dawn of Civilization.

82. Masson, W.A. : The History of the Art of Writing.
83. Moorhouse, A.C. : Writing the Alphabet.
84. Pandey, Rajbali (Dr.) : Indian Palaeography, Motilal Banarsidas, Varanasi-57.
85. Pargeter, F.E. : Ancient Indo-Historical Traditions.
86. Princep : Indian Antiquities.
87. Reed, Herbert : The Meaning of Art.
88. Sircar, D.C. : Indian Epigraphy, Motilal Banarsidas Delhi-65.
89. Sircar, D.C. : Selected Inscriptions.
90. Sircar, J. : Topography of the Mughal Empire.
91. Tessetorie, L.P. : Vachanika, Biblotheca Indica, Calcutta, 1919.
92. Tod, Col. James : Annals & Antiquities of Rajasthan, K.M.N. Publishers, New Delhi, (1971).
93. Ulmann, B.L. : The Origin and Development of Alphabet.
94. Waddell, L.A. : Indo-Sumerian Seals Deciphered. Indological Book House, Delhi-72.
95. Wolley, C.L. : The Summerian.

कोश तथा विश्व-कोश

1. बसु, नागेन्द्रनाथ : हिन्द विश्व-कोष।
2. अमर कोष।
3. वाचस्पत्यम्।
4. English Persian Dictionary.
5. Epigraphic Indica.
6. The Oxford English Dictionary.
7. A Dictionary of Sanskrit and English.
8. Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology.
9. Chamber's Encyclopaedia.
10. Encyclopaedia Americana.
11. Encyclopaedia Britanica.
12. Encyclopaedia of Religon and Ethics.
13. Newnes Popular Encyclopaedia.
14. The American People Encyclopaedia.

15. The Columbia Encyclopaedia.
16. The New Universal Encyclopaedia.
17. The World Book Encyclopaedia.

खोज रिपोर्ट

1. गाँधी, लालचन्द भगवानदास : जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रंथानां सूची।
2. भानावत, नरेन्द्र (डॉ.) : आचार्य श्री विनयचंद ज्ञान भण्डार ग्रन्थसूची।
3. मेनारिया, मोतीलाल (डॉ.) : राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, (साहित्य संस्थान, उदयपुर)।
4. सूरि, विजय कुमुद : श्री खम्भात, शान्तिनाथ, प्राचीन ताड़पत्रीय जैन ज्ञान भण्डार नूं सूची पत्र।
5. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रैवार्षिक विवरण (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)।
6. Sastri, H.P. : A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper MSS Belonging to the Durbar Library, Nepal.

पत्रिकाएँ

1. धर्मयुग,
2. परम्परा,
3. परिषद् पत्रिका,
4. भारतीय साहित्य,
5. राजस्थान भारती,
6. विश्व भारती,
7. वीणा,
8. शोध पत्रिका,
9. स्वाहा,
10. सम्मेलन पत्रिका,
11. सप्त सिन्धु,
12. Journal of the Asiatic Society of Bengal.
13. Journal of the United Provinces Historical Society.
14. Orientalia Loveniensta Periodica.
15. Hindustan Times Weekly.

□□□
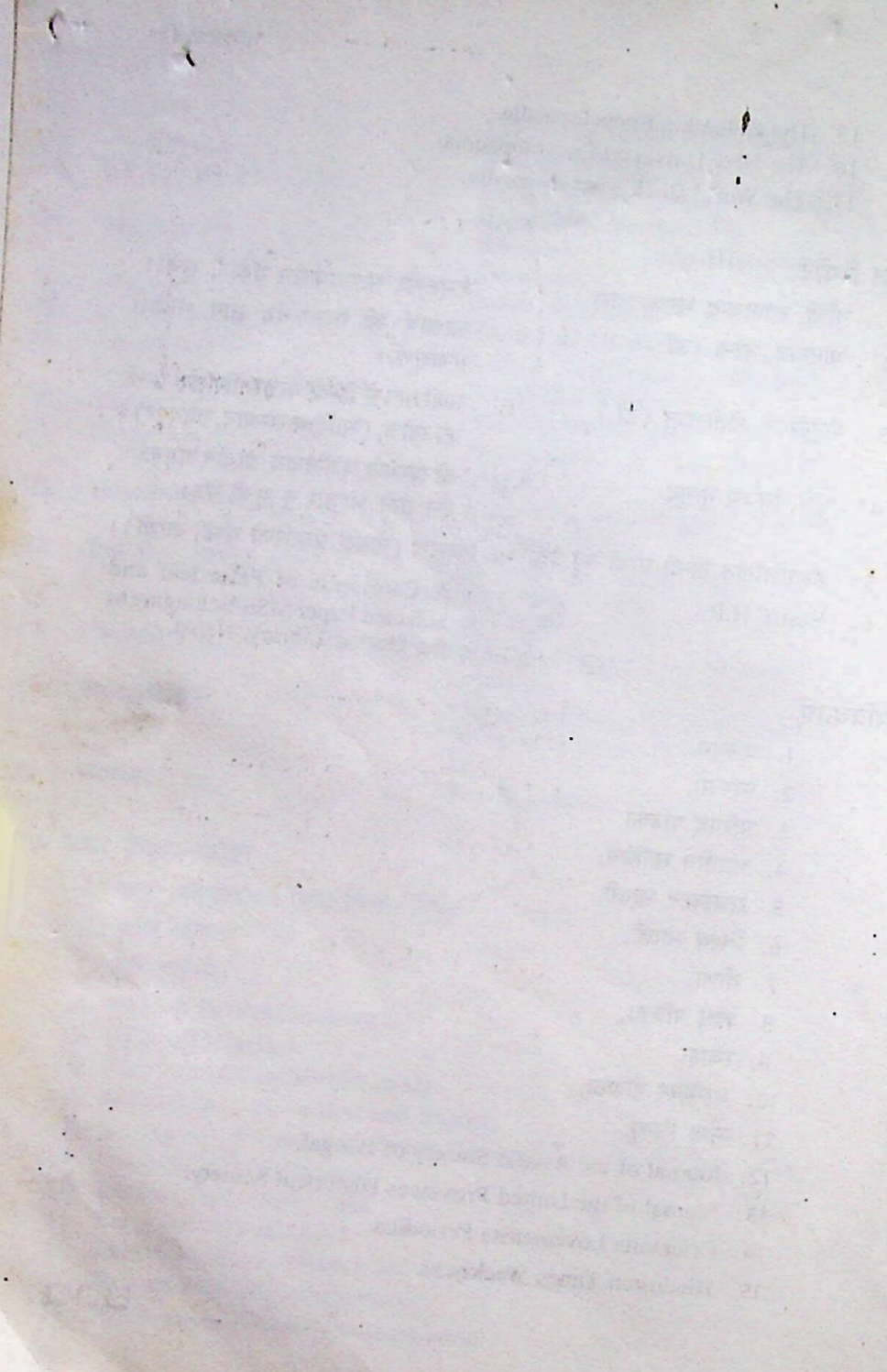
(स्व.) डॉ. सत्येन्द्र

जन्म 1907। एम.ए. 1933, पीएच.डी. 1947।

लेखक कलकत्ता और राजस्थान विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर कार्य कर चुके हैं। हिन्दी जगत् के प्रख्यात एवं मूर्धन्य आलोचक, सम्पादक, शोधक और विद्वान रहे हैं। अनेकानेक शीर्ष कोटि के ग्रन्थों के प्रणेता होने के साथ-साथ लोक साहित्य, पांडुलिपि-विज्ञान, हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि क्षेत्रों में मौलिक शोधों के प्रवर्तक भी रहे हैं।

अकादमी द्वारा प्रकाशित समालोचना तथा भाषा विज्ञान विषयक पुस्तकें

1. बिहारी वैभव .... डॉ. विजयपाल सिंह 22.00
2. राजस्थान की हिन्दी साहित्य को देन .... डॉ. गजानन मिश्र 85.00

   ISBN 81-7137-137-x
3. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास ...... डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' 109.00

   ISBN 81-7137-156-6
4. व्यंग्य विविधा .... डॉ. कमलेश शर्मा 65.00

   ISBN 81-7137-387-9
5. यूटोपिया .... अनु. डॉ. काशी प्रसाद 40.00

   ISBN 81-7137-564-2
6. साहित्यिक निबन्ध (द्वि.सं.) .... डॉ. रेणु वर्मा 200.00

   ISBN 81-7137-969-9
7. पाण्डुलिपि विज्ञान (च.सं.) .... डॉ. सत्येन्द्र 200.00

   ISBN 978-93-5131-027-3

ISBN 978-93-5131-027-3
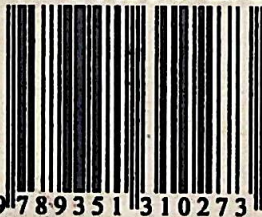
9789351310273

मूल्य : 200.00 रुपये मात्र

Website : www.rajhga.com